First Edition 1100 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samrakshak Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 20-00 per copy, exclusive of postage

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतम चन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होने अनेक जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संगृहीत की, कि कौनसे कार्यमें सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमे स्फुट मत संचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ में ग्रीष्म कालमें सिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोको आमन्त्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सम्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन संस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका संरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' इस नामकी संस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी संस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमें ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ-प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वा पुष्प प्रकाशित हो रहा है।

स्व ब्र जीवराज गौतमचंद दोशी
स्व रो. ता १६-१-५७ (पौष शु १५)

First Edition 1100 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samraksak Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs 20-00 per copy, exclusive of postage.

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतम चन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कार्यमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होने अनेक जैन विद्वानोसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संगृहीत की, कि कौनसे कार्यमे सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमें स्फुट मत सचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ मे ग्रीष्म कालमें सिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल वातावरणमे अनेक विद्वानोको आमन्त्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सन्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन संस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका सरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन सस्कृति सरक्षक संघ' इस नामकी सस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ मे उन्होने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी सस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन सस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमे ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ-प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वा पुष्प प्रकाशित हो रहा है।

स्थानांग सूत्र १७१ में वस्त्र धारणके तीन कारण कहे हैं- लज्जा, जुगुप्सा और परिषह होना, परीषह सहनमें असमर्थता।

इस प्रकारसे आगमानुसार भी विशेष अवस्थामें ही वस्त्र की अनुज्ञा थी। किन्तु श्वेताम्बर के ग्रन्थकारों और टीकाकारोंने इस प्रकारके वचनोंको [illegible] तथा अचेलता अर्थ परक कर मुक्त मार्गको निर्ग्रन्थ ही जैसा कर दिया। जैसे जो [illegible] सूत्रके आचेलक्य का अर्थ करते हुए कहा है—

दुविहा होंति अचेला संताचेला असंतचेला य।
तित्थगरऽसंतचेला संताचेला भवे सेसा ॥१०॥

अचेल दो प्रकारके होते हैं एक वस्त्रके रहते हुए अचेल और एक वस्त्ररहित अचेल। तीर्थंकर वस्त्ररहित अचेल हैं। शेष सब वस्त्र सहित अचेल हैं।

परीषहोंमें एक नाग्न्य परीषह है। जिसके नाग्न्यका अर्थ इस प्रकार किया है—

यो [illegible] प्रमाणाऽनुमानागमभूमिरे।
स सर्वाङ्ग सम्पन्नः स नग्नः परिकीर्तितः ॥

अर्थात् जो सर्व परिग्रहसे रहित है उसे नग्न कहते हैं। टीकाकारोंने अल्प वस्त्रधारीको भी नग्न कहा है।

आगममें परिग्रहका लक्षण मूर्छा-ममत्व भाव कहा है। इसकी आड़में परिग्रह रखकर भी यह कहा जाता है कि हमारा ममत्व भाव नहीं है अतः हम अपरिग्रही हैं।

आराधना और उसकी टीकामें परिग्रह भावका विस्तार से निराकरण किया है। आजकल दिगम्बर परम्परामें भी साधु मात्र शरीरसे तो नग्न रहते हैं किन्तु अन्तरंगसे नग्न नहीं दिखते हैं। परिग्रहसे ममत्व छूटना बहुत कठिन है। वही संसारका कारण है। अतः यदि साधु बनकर भी परिग्रहका मोह नहीं छूटता तो साधुपना ही विडम्बना है। यह आवश्यक नहीं है कि सामर्थ्य न होते हुए भी साधु बनना ही चाहिये। साधु पद स्वयं एक साधना है। उसकी साधना गृहस्थाश्रममें की जाती है। गृहस्थाश्रम उसीके लिये है। जो पांच अणुव्रत पालनका भी अभ्यास नहीं करते वे महाव्रती बन जाते हैं। शरीरकी नग्नताको ही दिगम्बरत्व समझ लिया गया है। दिगम्बरत्वका वेष धारण करके तदनुसार आचरण न करनेसे क्या गति होती है, इसे भी शायद नहीं जानते हैं। सब अपनेको स्वर्गगामी मान लेते हैं। किन्तु गृहस्थाश्रमका पाप जो फल देता है। मुनिपदका पाप उससे भयानक फल देता है। अतः मुनिपद धारण करते हुए सबसे प्रथम उस महान् पापसे डरना चाहिए।

आचार्य शिवार्य महाराजने और उनके अन्यतम टीकाकार अपराजित सूरिने आगम ग्रन्थोंको आंख बन्द करके स्वीकार नहीं किया यह प्रसन्नताकी बात है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आगमोंकी वाचना वलभी वाचनासे, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मानी जाती है अवश्य भिन्न होगी। क्योंकि टीकाकारने जो उद्धरण दिये हैं वे आजके आगमोंमें कम ही मिलते हैं।

'जिस सम्प्रदायका पन्द्रहवीं शताब्दी तक पता लगता है और जिसमें शाकटायन और

प्रस्तावना

१. प्रतियोंका परिचय

भगवती आराधना या मूलाराधनाका प्रथम संस्करण प० सदासुखदासजीकी ढुंढारी भाषाकी टीकाके साथ सन् १९०९ में प्रकाशित हुआ था। उसका दूसरा संस्करण १९३२ में श्री अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। किन्तु विजयोदया टीका, मूलाराधनादर्पण और आचार्य अमितगति रचित संस्कृत पद्योंके साथ उसका प्रथम संस्करण शोलापुरसे १९३५ में प्रकाशित हुआ था। उसका सम्पादन भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट पूनासे प्राप्त प्रतियोंके आधारपर प० जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्रीने हिन्दी अनुवादके साथ किया था।

हमने उसी संस्करणको आधार बनाकर उसका पुन: सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद किया है। उसके सम्पादनके लिये हस्तलिखित प्रतियोंकी खोज करते हुए हमें दो प्रतियाँ शुद्ध प्राप्त हो सकी। उनका परिचय इस प्रकार है—

अ प्रति—यह प्रति आमेर शास्त्रभण्डार जयपुर की है जो श्री महावीरजी अतिशयक्षेत्रके महावीर भवन जयपुरसे डा० कस्तूरचन्द काशलीवाल द्वारा प्राप्त हुई थी। प्रतिका लेख अतिसुन्दर और स्पष्ट है। यद्यपि कागज मटमैला हो गया है और छूनेसे टूटता है किन्तु लिपिपर समयका प्रभाव नही पड़ा है। प्रति प्राचीन और प्रामाणिक प्रतीत हुई। पृष्ठ सख्या ४९८ है। प्रत्येक पत्रमे १० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ४०-४२ अक्षर है। दूसरी आ प्रतिसे उसमे वैशिष्ट्य है अनेक पाठभेद हैं। इसमें गाथा संख्या २१४८ है। पूर्ण संख्या सौ पूरी होनेपर पूर्ण संख्या दी है और आगे एक दोसे प्रारम्भ किया है। इसका लेखनकाल सम्वत् १७६० है यथा—

'सम्वत् १७६० वर्षे माघमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ गुरुवासरे श्री संग्रामपुरमध्ये लिखितमिदम्।'

वि० स० १९१५ मे पण्डित जगन्नाथने इसे भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिको भेंटमे दिया था।

'आ'-प्रति—यह प्रति धर्मपुरा दिल्लीमें स्थित लाला हरसुखराम सुगनचन्दके मन्दिरके दि० जैन सरस्वती भण्डारसे लाला पन्नालालजी अग्रवाल द्वारा प्राप्त हुई थी। इसका नम्बर क ४ (क) है। पृष्ठ सख्या ३१२ है। प्रत्येक पत्रमें १५ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमे ४५ अक्षर हैं। गाथा संख्या २१४८ है। इसमे भी जहाँ संख्या सौ पूरी होती है वहाँ पूर्णाङ्क देकर आगे एक दोसे प्रारम्भ किया है। साधारणतया शुद्ध है किन्तु सयुक्त अक्षर स्पष्टरूपसे नही लिखे गये हैं। इसका लेखनकाल १८६३ सम्वत् है। यथा—

सम्वत् १८६३ मिति फाल्गुन शुक्लपक्षे तृतीया तिथौ शनिवासरे जैनाश्रमिणा तुलसीरामेण लिलेप। श्रीरस्तु।

इस तरह इन दो प्रतियोका ही पूर्णरूपसे उपयोग हो सका है। इनके सिवाय भी जिन प्रतियोंका उपयोग किया जा सका उनका परिचय भी दिया जाता है।

प्रति टोडारायसिंह—हम सन् ७५ में दशलाक्षणीपर्वमे अजमेर गये थे। केकड़ीके पं०

'उक्त च' करके उद्धृत है, मूलमें सम्मिलित कर लेनेसे अन्तर पड़ जाता है। इतना ही दोनोंकी गाथा संख्यामें अन्तर है।

जिन पर विजयोदया टीका नहीं है। उन गाथाओंकी क्रमसंख्या प्रस्तुत संस्करणके अनुसार इस प्रकार है—

५३, १०८, ११४, ११५, ११७, १५०, १८०, ४३२ से ४३८ तक (इन पर आशाधर की टीका है किन्तु विजयाचार्य इन्हें मान्य नहीं करता, ऐसा भी उन्होंने नहीं लिखा है)—५९७, ६८०, ६८१, ७३६, ७३७ (७३६ का अनुवाद अमित गतिने किया है), ७९९, ८०१ (अमित गतिका अनुवाद नहीं), ८०६ (अमित में है), ८१२ (अमित है), ८२९ (अमित में है), ८६९ (अमित में है) ९१२, ९६३ (अमित आशाधर दोनोंको स्वीकृत) ९६५ (आशाधर स्वीकृत, अमित नहीं) ९७३, ९७४, ९७५, ९८१ से ९९९ तक १०३८ (दोनोंसे स्वीकृत)। ११२०, ११२६, ११२७ (११२५, ११२६ में कुछ कथाओंके नाम हैं। इन दोनोंको अमितगति और आशाधरने स्वीकार नहीं किया है। ११२७ के विषयमें आशाधरने लिखा है कि संस्कृत टीकाकार इसे नहीं मानता। किन्तु शेष दोनोंके सम्बन्धमें चुप है। अतः ये दोनों प्रक्षिप्त है, किसी कथा' कोशकारने भी इनको उद्धृत नहीं किया है) १२३२, १२७८ (दोनोंसे स्वीकृत) १२८८ (स्वीकृत), १३०८, १३५८, १४२७, १५४०, १६००, १६०१, १६०२, १६३४, १६३५, १७१०, २०२२।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि इनके सिवाय भी ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिन्हें विजयोदयाके कर्ताने स्पष्टार्थ मानकर उनकी व्याख्या नहीं की है। किन्तु उन्हें उन्होंने स्वीकार किया है।

२ भगवती-आराधना

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम आराधना है और उसके प्रति परम आदरभाव व्यक्त करनेके लिए उसी तरह भगवती विशेषण लगाया गया जैसे तीर्थंकरों और महान आचार्योंके नामोंके साथ भगवान विशेषण लगाया जाता है। ग्रन्थके अन्तम ग्रन्थकारने 'आराहणा भगवदी' (गाथा २१६२) लिखकर आराधनाके प्रति अपना महत् पूज्यभाव व्यक्त करते हुए उसका नाम भी दिया है। फलतः यह ग्रन्थ भगवती आराधनाके नामसे ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु यथार्थमें इसका नाम आराधना मात्र है। इसके टीकाकार श्री अपराजित सूरिने अपनी टीकाके अन्तमें उसका नाम आराधना टीका ही दिया है।

इस भगवती आराधनाको आधार बनाकर आचार्य देवसेनने जो एक ग्रन्थ रचा है उसका नाम उन्होंने आराधनासार[१] दिया है। इस भगवती आराधनाको संस्कृत पद्योंमें निबद्ध करनेवाले आचार्य अमितगति[२] ने भी अपनी प्रशस्तिमें 'आराधनैषा' लिखकर उसका नाम आराधना ही रखा है। तथा उसका एक स्तवन भी साथमें रचा है। दूसरे पंजिकाकार पं० आशाधरने यद्यपि

---

१. देखो बृहत्कथाकोशकी डा० उपाध्येकी प्रस्तावना पृ० ७७। संस्करण १९४३।

२. मा० दि० ग्रन्थमाला बम्बईसे वि० सं० १९७३ में प्रथम बार प्रकाशित।

३. सोलापुर संस्करणमें (१९३५) मुद्रित।

गाथा ६ मे कहा है कि संयमकी आराधना करने पर तपकी आराधना नियमसे होती है किन्तु तपकी आराधनामें चारित्रकी आराधना भजनीय है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि भी यदि अविरत है तो उसका तप हाथीके स्नानकी तरह व्यर्थ है। अत सम्यक्त्वके साथ संयमपूर्वक ही तपश्चरण करना कार्यकारी होता है, इसलिये चारित्रकी आराधनामें सबकी आराधना होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् चारित्र होता है इसलिये सम्यक् चारित्रकी आराधनामे सबकी आराधना गर्भित है। इसीसे आगममें आराधनाको चारित्रका फल कहा है और आराधना परमागमका सार है ॥१४॥ क्योकि बहुत समय तक भी ज्ञान दर्शन और चारित्रका निरतिचार पालन करके भी यदि मरते समय उनकी विराधना कर दी जाये तो उसका फल अनन्त ससार है ॥१६॥ इसके विपरीत अनादि मिथ्यादृष्टि भी चारित्रकी आराधना करके क्षणमात्रमें मुक्त हो जाते हैं। अत आराधना ही सारभूत है ॥१७॥

इसपरसे यह प्रश्न किया गया कि यदि मरते समयका आराधनाको प्रवचनमें सारभूत कहा है तो मरनेसे पूर्व जीवनमें चारित्रकी आराधना क्यो करना चाहिए ॥१८॥ उत्तरमें कहा है कि आराधनाके लिए पूर्वमें अभ्यास करना योग्य है। जो उसका पूर्वाभ्यासी होता है उसकी आराधना सुखपूर्वक होती है ॥१९॥ यदि कोई पूर्वमे अभ्यास न करके भी मरते समय आराधक होता है तो उसे सर्वत्र प्रमाणरूप नही माना जा सकता ॥२४॥

इस कथनसे हमारे इस कथनका समाधान हो जाता है कि दर्शन ज्ञान चारित्र और तपका वर्णन जिनागममें अन्यत्र भी है किन्तु वहाँ उन्हें आराधना शब्दसे नहीं कहा है। इस ग्रन्थमें मुख्यरूपसे मरणसमाधिका कथन है। मरते समयकी आराधना ही यथार्थ आराधना है उसीके लिए जीवन भर आराधना की जाती है। उस समय विराधना करनेपर जीवनभरकी आराधना निष्फल हो जाती है और उस समयकी आराधनासे जीवनभरकी आराधना सफल हो जाती है। अत जो मरते समय आराधक होता है यथार्थमे उसीके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्तपकी साधनाको आराधना शब्दसे कहा जाता है।

इस प्रकार चौबीस गाथाओके द्वारा आराधनाके भेदोका कथन करनेके पश्चात् इस विशालकाय ग्रन्थका मुख्य वर्ण्य विषय मरणसमाधि प्रारम्भ होता है। इसको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि यद्यपि जिनागममे सतरह प्रकारके मरण कहे हैं किन्तु हम यहाँ सक्षेपसे पाँच प्रकारके मरणोका कथन करेंगे ॥२५॥ वे हैं—पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल-पण्डितमरण, बालमरण और बाल-बालमरण ॥२६॥ क्षीणकषाय और केवलीका मरण पण्डित-पण्डितमरण है और विरताविरत श्रावकका मरण बालपण्डितमरण है ॥२७॥ अविरत सम्यग्दृष्टी-का मरण बालमरण है और मिथ्यादृष्टिका मरण बाल-बालमरण है ॥२८॥

पण्डितमरणके तीन भेद है—भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इंगिनी। यह मरण शास्त्रा-नुसार आचरण करनेवाले साधुके होता है ॥२९॥

इसके अनन्तर ग्रन्थकारने सम्यक्त्वकी आराधनाका कथन किया है।

सम्यक्त्वाराधना—गाथा ४३ मे सम्यक्त्वके पाँच अतीचार कहे हैं—शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा। तत्त्वार्थसूत्रमे अनायतन सेवाके स्थानमे 'संस्तव' नामक अतीचार कहा है।

विजयोदयामें इन सबका वर्णन किया है जो अन्यत्र नहीं मिलता। इस प्रकार विहार करते यदि उसकी आयु अल्प शेष रहती है तो वह अपनी शक्तिको न छिपाकर भक्त प्रत्याख्यानका निश्चय करता है ॥१५८॥ तथा संयमके साधनमात्र परिग्रहको रखकर शेषका त्याग कर देता है ॥१६४॥ तथा पाँच प्रकारकी संक्लेश भावना नहीं करता। उन पाँचों भावनाओंका स्वरूप ग्रन्थकारने स्वयं कहा है (१८२-१८६)।

आगे सल्लेखनाके दो भेद कहे हैं बाह्य और आभ्यन्तर। शरीरको कृश करना बाह्य सल्लेखना है और कषायोंका कृश करना अभ्यन्तर सल्लेखना है। बाह्य सल्लेखनाके लिए छह प्रकारके बाह्य तपका कथन किया है।

विविक्तशय्यासन तपका कथन करते हुए गाथा २३२में उद्गम उत्पादन आदि दोषोंसे रहित वसतिकामें निवास कहा है। टीकाकारने अपनी टीकामें इन दोषोंका कथन किया है। ये सर्वदोष मूलाचारमें भी कहे हैं। आगे बाह्य तपके लाभ बतलाये हैं।

गाथा २५१में विविध भिक्षु प्रतिमाओंका निर्देश है। टीकाकार अपराजित सूरिने तो उनका कथन नहीं किया किन्तु आशाधरजीने किया है। उनकी संख्या बारह कही है। मूलाचारमें इनका कथन नहीं है।

इस भक्त प्रत्याख्यानका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष कहा है। चार वर्ष तक अनेक प्रकारके कायक्लेश करता है। फिर दूध आदि रसोंको त्यागकर चार वर्ष बिताता है। फिर आचाम्ल और निर्विकृतिका सेवन करते हुए दो वर्ष बिताता है, एक वर्ष केवल आचाम्ल सेवन करके बिताता है। शेष रहे एक वर्षमेंसे छह मास मध्यम तपपूर्वक और शेष छह मास उत्कृष्ट तपपूर्वक बिताता है (२५४-५६)।

इस प्रकार शरीरकी सल्लेखना करते हुए वह परिणामोंकी विशुद्धिकी ओर सावधान रहता है। एक क्षणके लिए भी उस ओरसे उदासीन नहीं होता।

इस प्रकारसे सल्लेखना करनेवाले या तो आचार्य होते हैं या सामान्य साधु होते हैं। यदि आचार्य होते हैं तो वे शुभमुहूर्तमें सब संघको बुलाकर योग्य शिष्यपर उसका भार सौंपकर सबसे क्षमा याचना करते हैं और नये आचार्यको शिक्षा देते हैं। उसके पश्चात् संघको शिक्षा देते हैं। यथा—

हे साधुओ! आपको विष और आगके तुल्य आर्याओंका संसर्ग छोड़ना चाहिये। आर्याके साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ॥३३२॥ महान् सयमी भी दुर्जनोंके द्वारा किये गये दोषसे अनर्थका भागी होता है अतः दुर्जनोंकी संगतिसे बचो ॥३५०॥

सज्जनोंकी संगतिसे दुर्जन भी अपना दोष छोड़ देते हैं जैसे सुमेरु पर्वतका आश्रय लेने-पर कौवा अपनी असुन्दर छविको छोड़ देता है ॥३ ॥

जैसे गन्धरहित फूल भी देवताके ससर्गसे उसके आशीर्वादरूप सिरपर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोंके मध्यमें रहनेवाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥

गुरुके द्वारा हृदयको अप्रिय लगनेवाले वचन भी कहे जानेपर पथ्यरूपसे ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुँह खोल पिलाया गया घी हितकारी होता है ॥३६०॥

अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करना चाहिए। जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनोंके मध्यमें तृणकी तरह लघु होता है ॥१६१॥ इत्यादि।

इस प्रकार आचार्य संघको उपदेश देकर अपनी आराधनाके लिए अपना संघ त्यागकर अन्य संघमें जाते हैं। ऐसा करनेमें ग्रन्थकारने जो उपपत्तियाँ दी हैं वे बहुमूल्य हैं ॥३८५॥

समाधिका इच्छुक साधु निर्यापककी खोजमें पाँच सौ सात सौ योजन तक भी जाता है ऐसा करनेमें उसे बारह वर्ष तक लग सकते हैं ॥४०३-४०४॥

इस कालमें यदि उसका मरण भी हो जाता है तो वह आराधक ही माना गया है ॥४०६॥

योग्य निर्यापकको खोजते हुए जब वह किसी संघमें जाता है तब उसकी परीक्षा की जाती है।

जिस प्रकारका आचार्य निर्यापक होता है उसके गुणोंका वर्णन विस्तारसे किया है। उसका प्रथम गुण है आचारवत्व।

जो दस प्रकारके स्थितिकल्पमें स्थित होता है वह आचारवान् होता है।

गाथा ४२३ में इनका कथन है—ये दस कल्प हैं—आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्यागृहका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा।

श्वेताम्बर आगमोंमें भी इन दस कल्पोंका विस्तारसे वर्णन मिलता है। विजयोदया टीकाकारने अपनी टीकामें इनका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है। सबसे प्रथम कल्प है आचेलक्य। चेल कहते हैं वस्त्रको, वस्त्रादि समस्त परिग्रहका त्याग आचेलक्य है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके साधु वस्त्र पात्र आदि परिग्रह रखते हैं। अतः टीकाकारने उनके मतका निरसन सप्रमाण किया है। और श्वेताम्बर आगमोंमें—आचारांग, उत्तराध्ययन, आवश्यक आदिसे अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं। किन्तु वर्तमान श्वेताम्बर आगमोंमें उनमेंसे अनेक प्रमाण नहीं मिलते। इस विषयमें आगे अलगसे चर्चा करेंगे।

अहिंसा व्रतकी भावनाओंमें किया है।

प्रतिक्रमणके भेदोंका कथन करते हुए भी टीकाकारने कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमें साधुओंको प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके तीर्थमें साधु दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते थे। इसका कारण भी कहा है कि मध्यम तीर्थंकरोंके साधु दृढबुद्धि, एकाग्रचित्त, और अमूढ़ लक्ष्यवाले थे इसलिए उनका आचरण गर्हा करनेमात्रसे शुद्ध हो जाता था। किन्तु शेष दो तीर्थंकरोंके साधु चलचित्त होनेसे अपने अपराधपर दृष्टि नहीं देते। इसलिए उन्हें सब प्रतिक्रमण करनेका उपदेश है।

मूलाचारमें भी (७।१२९-१३३) यह कथन है।

गाथा ४४८ की टीकामें पंचपरावर्तनका वर्णन है किन्तु द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, और भावसंसारका स्वरूप सर्वार्थसिद्धिसे भिन्न है।

निर्यापक आचार्यके गुणोंमें एक गुण अवपीडक है। समाधि लेनेसे पूर्व दोषोंकी विशुद्धिके लिये आचार्य उस क्षपकसे उसके पूर्वकृतदोष बाहर निकालते हैं। यदि वह अपने दोषोंको छिपाता है तो जैसे सिंह स्यारके पेटमें गये मांसको भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमें छिपे मायाशल्य दोषोंको बाहर निकालता है ॥४७९॥

गाथा ५२८ मे आचार्यके छत्तीस गुण इस प्रकार कहे हैं—

आचारवत्व आदि आठ दस प्रकारका स्थितिकल्प बारह तप, छह आवश्यक। किन्तु विजयोदयामें आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण कहे हैं। पं० आशाधरने अपनी टीकामें विजयोदयाके अनुसार छत्तीस गुण बतलाकर प्राकृत टीकाके अनुसार अट्ठाईस मूलगुण और आचारवत्व आदि आठ इस तरह छत्तीस गुण कहे हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भगवती आराधना और विजयोदयामें अट्ठाईस मूलगुणोंको नहीं गिनाया है। यद्यपि कथनमें आ जाते हैं।

आचार्यके सन्मुख अपने दोषोंकी आलोचना करनेका बहुत महत्त्व है उसके बिना समाधि सम्भव नहीं होती। अतः समाधिका इच्छुक क्षपक दक्षिण पार्श्वमें पीछीके साथ हाथोंकी अंजलि मस्तकमें लगाकर मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक गुरुको वन्दना करके मद दोषोंको त्याग आलोचना करता है। अतः गाथा ५६४ में आलोचनाके दस दोष कहे हैं। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि (९-२२) में भी आई है। आगे ग्रन्थकारने प्रत्येक दोषका कथन किया है।

आचार्य परीक्षाके लिये क्षपकसे तीन बार उसके दोषोंको स्वीकार कराते हैं। यदि वह तीनों बार एक ही बात कहता है तो उसे सरलहृदय मानते हैं। किन्तु यदि वह उलटफेर करता है तो उसे मायावी मानते हैं। और उसकी शुद्धि नहीं करते।

इस प्रकार श्रुतका पारगामी और प्रायश्चित्तके क्रमका ज्ञाता आचार्य क्षपककी विशुद्धि करता है। ऐसे आचार्यके न होनेपर प्रवर्तक अथवा स्थविर निर्यापकका कार्य करते हैं। जो अल्पशास्त्रज्ञ होते हुए भी सभी मर्यादाको जानता है उसे प्रवर्तक कहते है। जिसे दीक्षा लिये बहुत समय बीत गया है तथा जो मार्गको जानता है उसे स्थविर कहते हैं।

निर्यापक—जो योग्य और अयोग्य भोजन पानकी परीक्षामें कुशल होते हैं, क्षपकके चित्तका समाधान करनेमें तत्पर रहते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त ग्रंथोंको सुना है और दूसरोंका उद्धार करनेका महत्त्व जानते हैं ऐसे अड़तालीस यति निर्यापक होते हैं ॥६४७॥

वे क्षपकके शरीरको सहलाते हैं हाथ पैर दबाते हैं, चलने-फिरने, उठने-बैठनेमें सहायता करते हैं। उनमेंसे चार तो परिचर्या करते हैं। चार धर्मकथा करते हैं। चार खानपानकी व्यवस्था करते हैं। वह खानपान उद्गम आदि दोषोंसे रहित होता है और क्षपकके स्वास्थ्यके अनुकूल होता है। चार यति उस लाये गये खानपानकी रक्षा करते हैं। चार यति मलमूत्र उठाते हैं। चार यति क्षपकके द्वारकी रक्षा करते हैं असंयमी जनोंको प्रवेशसे रोकते हैं। चार मुनि उस देशके भले-बुरे समाचारों पर दृष्टि रखते हैं जिससे समाधिमें कोई बाधा उपस्थित न हो। चार यति जो स्वसिद्धान्त और पर सिद्धान्तके ज्ञाता होते हैं, धर्मश्रवणके लिये उपस्थित श्रोताओंको इस तरहसे उपदेश देते हैं कि उससे क्षपकको कोई बाधा न पहुंचे। अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता और

गाथा ११९६ में प्रतिष्ठापन समितिका स्वरूप वही कहा है जो अन्य दिगम्बर ग्रन्थोंमें उत्सर्ग समितिके नाम से कहा है। केवल नाममें भेद है।

गाथा १२०० में अहिंसा व्रतकी भावना कही है। त०सू० ७।४ में वाग्गुप्ति है और यहाँ एषणासमिति है इतना अन्तर है। सत्यव्रतकी भावना त०सू०के अनुरूप ही है। किन्तु तृतीय व्रतकी भावना भिन्न है। दोनोंमें किञ्चित् भी समानता नहीं है।

निदानका निषेध करते हुए गा० १२१८ में कहा है कि मोक्षका इच्छुक मुनि 'मैं मरकर पुरुष आदि होऊँ' ऐसा भी निदान नहीं करता क्योंकि यह पुरुष आदि पर्याय भी भवरूप ही है। अतः मुनिको केवल यही भावना करना चाहिये कि मेरे दुःखोंका नाश हो, कर्मोंका क्षय हो, समाधिपूर्वक मरण हो आदि।

क्षपकको सम्बोधन करते हुए इन्द्रिय आदिकी आसक्तिसे नष्ट होनेवालोंके उदाहरणोंकी एक लम्बी तालिका इस प्रसंगमें दी गई है। यथा—घ्राणेन्द्रियकी आसक्ति वश सरयू नदीमें अयोध्यापति गन्धमित्र विषपुष्प सूंघ कर मरा ॥१३४९॥

पाटलिपुत्रमें गन्धर्वदत्ता वेश्या पांचाल नामक गायकका गान सुनकर मूर्छित हो गई ॥१३५०॥

कंपिल्लाका राजा भीम मनुष्यके मांसका प्रेमी होनेसे मारा गया ॥१३५१॥

सुवेग नामक चोर स्त्रीके रूपमें आसक्त होनेसे मरा ॥१३५२॥

नासिक नगरमें ग्वालेपर आसक्त राष्ट्रकूटकी भार्याने अपने पुत्रको मार दिया। फिर उसकी पुत्रीने अपनी माँको मार दिया ॥१३५३॥

रोषसे द्वीपायनने द्वारिका नगरीको जला दिया ॥१३६८॥

मानके कारण सगरके साठ हजार पुत्र मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

माया दोषसे रुष्ट कुम्भकारने भरतगांवके धान्यको गांव पर्यन्त जलाया ॥१३८२॥

कार्तवीर्यने लोभवश परशुरामकी गायें चुराई। वह परशुरामके द्वारा सकुटुम्ब मारा गया ॥१३८८॥

एणिकापुत्र मुनि गंगामें नावके डूब जानेपर मृत्युको प्राप्त हुए ॥१५३८॥

भद्रबाहु घोर अवमोदर्यके द्वारा उत्तमस्थानको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

कौशाम्बी नगरीमें ललितघट आदि मुनि नदीके प्रवाहमें बह गये ॥१५४०॥

चम्पा नगरीमें गंगाके तटपर घोर प्याससे पीड़ित धर्मघोष मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

पूर्वजन्मके शत्रु द्वारा पीड़ित होकर श्रीदत्तमुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए। उष्णपरीषहको सहनकर वृषभसेन मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए। रोहेडय (रोहतक) नगरमें क्रौंच राजाने अग्नि राजाके पुत्रको शक्तिसे मारा। वह उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

गाथा ८१६ मे अहिंसाणुव्रतमे चण्डालका उदाहरण दिया है। गाथा ८२३ मे असत्य भाषण के फलमें राजा वसुका उदाहरण है। गाथा ८२६ में चोरीके फलमें श्रीभूतिका उदाहरण है। गाथा ९२९ में परस्त्री गमनके फलमे कडारपिंगका उदाहरण है।

गाथा ९३६ में कहा है कि स्त्रीके निमित्तसे हो महाभारत रामायण आदिमे वर्णित युद्ध हुए।

गाथा ९९४ मे कहा है—

वयणे अमयं चिट्ठदि हियए य विसं महिलियाए।

इसी आशयका एक पद्य संस्कृतमे प्रसिद्ध है—

'अधरेऽमृतमस्ति योषिता हृदि हालाहलमेव केवलम्।'

गाथा ९७१ आदिमे स्त्रीके वाचक स्त्री, नारी, प्रमदा, विलया, युवती, योषा, अबला, कुमारी और महिला शब्दोकी व्युत्पत्ति दोषपरक की गई है।

गाथा १००१ मे गर्भमे शरीरकी रचनाका क्रम बतलाया है। तथा १०२१ आदिमे शरीरके अवयवोका परिमाण बतलाया है।

गाथा १०५७ १०५९ मे संसाररूपी वृक्षका चित्रण है जिसमे एक पुरुष वृक्षकी डाल पकड़कर मोहवश लटका हुआ है और दो चूहे उस डालको काट रहे हैं।

गाथा १०९५ मे स्त्रीके कारण भ्रष्ट हुए रुद्र, पाराशर ऋषि, सात्यकि आदिके नाम आते हैं।

गाथा १११९ से परिग्रहत्याग महाव्रतका निरूपण करते हुए कहा है कि पहले जो दस स्थिति कल्प कहे है उनमे प्रथम है वस्त्र आदि समस्त परिग्रहका त्याग। आचेलक्य शब्द देशामर्षक है अत आचेलक्यसे समस्त परिग्रहका त्याग अभीष्ट है। केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेसे संयमी नही होता ॥११११८॥

गाथा ११२३ मे लोभवश चोरोके द्वारा मद्य, मासमे विष मिलाकर परस्परमे एक दूसरेको मार डालनेका उदाहरण है, इस तरहके अनेक उदाहरण हैं।

गाथा ११७८ में महाव्रत शब्दकी व्युत्पत्ति दी है। यह मूलाचारमे भी है।

गाथा ११७९ मे कहा है कि इन महाव्रतोकी रक्षाके लिए ही रात्रिभोजन त्याग नामक व्रत कहा है। यह भी मूलाचारमें है।

भाषा समितिका वर्णन करते हुए गाथा ११८७ मे सत्यके दस भेद कहे हैं। तथा गाथा ११८९-९० मे नौ प्रकारकी अनुभय भाषा कही है। ये दो गाथाएँ जीवकाण्ड गोम्मटसारमे भी हैं और मूलाचारमे भी हैं। गाथा ११९१ की टीकामें टीकाकार ने लिखा है कि दशवैकालिक सूत्रकी विजयोदया टीकामे उद्गम आदि दोषोका कथन किया है इसमे यहाँ नही कहा। यह टीका भी इन्ही टीकाकारकी होनी चाहिये। उसका नाम भी विजयोदया ही है। किन्तु इस ग्रन्थमे भी गाथा २३० की टीकामे उद्गम आदि दोषोका कथन टीकाकारने किया है। किन्तु वह संक्षिप्त है अत विस्तारसे कथन दूसरी टीकामे किया होगा।

टीकाकारने उपकरणवकुश और शरीरवकुशको भी पार्श्वस्थमुनि कहा है। तत्त्वार्थसूत्रमें वकुशमुनिको भी निर्ग्रन्थके भेदोंमें कहा है और तदनुसार ही सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक आदि टीकाओंमें कहा है। किन्तु विजयोदया टीकाकार लिखते हैं—जो रातमें मनमाना सोता है, संस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौडा बनाता है वह उपकरणवकुश है। जो दिनमें सोता है वह देहवकुश है। ये भी पार्श्वस्थ हैं। सारांश यह है कि जो सुखशील होनेके कारण ही अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है।

कुशील—जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है। उसके अनेक भेद टीकाकारने कहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओंमें कुशीलको भी निर्ग्रन्थ मुनियोंमें गिनाया है।

संसक्त—जो नटकी तरह चारित्र प्रेमियोंमें चारित्र प्रेमी और चारित्रसे प्रेम न करनेवालोंमें चारित्रके अप्रेमी बनते हैं वे ससक्त मुनि हैं। वे पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहते हैं। स्त्रियोंके विषयमें रागभाव रखते हैं। ऋद्धिगारव, रसगारव, सातगारवमें लीन रहते हैं।

यथाच्छन्द—जो बात आगममें नहीं कही है उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिए पूरे ग्राममें भ्रमण करनेसे जीवनिकायकी विराधना होती है। जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है। आदि, जो क्षपक मरते समय सन्मार्गसे च्युत हो जाते हैं उसका कारण सात गाथाओंसे कहा है।

मरणोत्तर विधि—गा० १९६८ मे मरणोत्तर विधिका वर्णन है जो आजके युगके लोगोंको विचित्र लग सकती है। यथा—

१ जिस समय साधु मरे उसे तत्काल वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमें मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

२. यदि ऐसा न किया जाये तो कोई विनोदी देवता मृतक को उठाकर दौड सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है ॥१९७१॥

३ अनिष्टकालमें मरण होने पर शेष साधुओंमें से एक दो का मरण हो सकता है इसलिये संघकी रक्षाके लिये तृणोंका पुतला बनाकर मृतकके साथ रख देना चाहिये।

४ शवको किसी स्थान पर रख देते हैं। जितने दिनों तक वह शव गीदड आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्यमें सुभिक्ष रहता है। इस प्रकार सविचार भक्त प्रत्याख्यानका कथन करके अन्तमें निर्यापकोंकी प्रशंसा की है।

अविचार भक्तप्रत्याख्यान—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यानका समय नहीं रहता और सहसा मरण उपस्थित हो जाता है तब मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥ उसके तीन भेद हैं—निरुद्ध, निरुद्धतर और परम निरुद्ध। जो रोगसे ग्रस्त है, पैरोंमें शक्ति न होनेसे दूसरे संघमें जानेमें असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसी प्रकार शेषका भी स्वरूप और विधि कही है।

इस प्रकार सहसा मरण उपस्थित होनेपर कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाश कर मुक्त होते हैं। आराधनामें कालका बहुत होना प्रमाण नहीं है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन राजा

समाधिमरणको सल्लेखना कहते हैं, सम्यक् रीतिसे शरीर और कषायको कृश करनेका नाम सल्लेखना है। शरीर बाह्य है और कषाय अभ्यन्तर है। शरीरका साधन भोजन है। धीरे-धीरे आहारको घटानेसे शरीर कृश होता है और कषायके कारणोंसे बचनेसे कषाय घटती है। शरीरको सुखा डाला और क्रोध मान माया लोभ नहीं घटे तो शरीरका शोषण निष्फल है। आत्मघात करनेवालेकी कषाय प्रबल होती है। क्योंकि जो रागद्वेष या मोहके आवेशमें आकर विष, शस्त्र, आग आदिके द्वारा अपना घात करता है वह आत्मघाती कहलाता है। सल्लेखना करनेवालेके रागादि नहीं होते। तत्त्वार्थसूत्र ७।२२ की टीका सर्वार्थसिद्धिमें एक उदाहरणके द्वारा इसे स्पष्ट किया।

जैसे व्यापारीको अपने व्यापारके केन्द्रका विनाश इष्ट नहीं होता क्योंकि उसके नष्ट होने पर उसका व्यापार ही नष्ट हो जायेगा। यदि किसी कारणवश उसके केन्द्रमें आग लग जाये तो वह उसको बुझाकर उसकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करता है। किन्तु यदि उसको बचाना शक्य नहीं देखता तो उसमें भरे हुए मालको बचानेका प्रयत्न करता है। इसी तरह व्रत शीलरूपी द्रव्यके संचयमें लगा हुआ साधु या गृहस्थ भी अपने शरीरको नष्ट करना नहीं चाहता; क्योंकि वह धर्मका साधन है। यदि शरीर नष्ट होनेके कारण उपस्थित होते हैं तो अपने धर्मके अविरुद्ध उपायोंसे शरीरकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता है किन्तु यदि वह प्रयत्न सफल नहीं होता तो शरीरकी रक्षाका प्रयत्न त्यागकर अपने धर्मकी रक्षाका प्रयत्न करता है। ऐसी स्थितिमें उसे आत्मवध कैसे कहा जा सकता है?

यथार्थमें मरण शरीरधारी प्राणियोंके लिये उतना ही सत्य है जितना जीवन सत्य है। जीवनके मोहमें पड़कर मनुष्य उस सत्यको भुला देता है और जिस किसी भी उपायसे सदा जीवित रहनेका ही प्रयत्न करता है। किन्तु उसका यह प्रयत्न सफल नहीं होता। एक दिन मृत्यु उसके इस प्रयत्नको समाप्त कर देती है। अतः जीवनके साथ मृत्युके सुनिश्चित होनेसे मनुष्यको जीवनके साथ मरणके लिये भी तैयारी करते रहना चाहिये। तथा जीवनमें हर्ष और मृत्युमें विषाद नहीं करना चाहिये। जिनकी मृत्यु शानदार होती है उनका जीवन भी शानदार होता है। रोते धोते हुए प्राणोंका त्याग करना भी कायरता ही है। अतः मृत्युका आलिंगन भी साहसके साथ करना चाहिये। उसीका कथन इस ग्रन्थराजमें है।

५ भ० आराधना और मरणसमाधि आदि

आगमोदय समितिने १९२७ में 'चतुःशरणादि मरण समाध्यन्त प्रकीर्णक दशक' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसमें आतुर प्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संथारगपइण्णय और मरण समाधि इन चारमें प्रायः वही विषय है जो भ० आराधनामें मुख्य है। आतुर प्रत्याख्यानमें ७० गाथाएँ हैं। भक्तपरिज्ञामें १७२ गाथा हैं। संथारगपइण्णयमें १२३ और मरण समाधिमें ६६३ गाथा हैं। इस तरह मरण समाधि बड़ा ग्रन्थ है और उसमें तथा भ०आ० में बहुत सी गाथाएँ समान हैं।

शिष्य आचार्यसे मरण समाधि जानना चाहता है। आचार्य उसे समझाते हैं—

भणइ य जिणवयण भणियाए सुविहिय आराहणा विणिदेहि।
सल्लेहणाम य पढमा नाणचरित्ति हो अप्पा ॥ १९ ॥

इस तरह इसमे तीन ही आराधना कही हैं। इसमें भी गाथा ४४ में पण्डितमरणको कहनेकी सूचना है—

इत्तो जह करणिज्ज पडियमरण तहा सुणह।

आगे मरणसमाधिको गा० ६० से ६६ तथा भ० आ० की गाथा १८१ से १८८ समान हैं।

आचार्य कैसा होना चाहिये यह दो गाथा ८६-८७ मे कहा है और भ०आ० ४१९-४२० गा० मे कहा है। ये गाथाएँ समान नही है कथनी समान है।

मर० स० ९४-९५ में और भ०आ० ५३३-५३४ में आलोचनाका कथन है। तथा म०स० ९६-१०१ में और भ०आ० ५४०-५४२, ५४५, ५४८, ५४९ मे शल्योका कथन है। गाथा ३०१ से आगे कहा है—

इति सिरिमरणविभत्तिसुए सलेहणसुयं सम्मत्तं। अथ आराहणासुय लिख्यते।

अर्थात् मरणविभक्तिश्रुतके अन्तर्गत सल्लेखना श्रुत समाप्त हुआ। अब आराधनाश्रुत लिखते है। इस तरह इसमें दो विभाग किये हैं।

भ० आ० की तरह इसमें भी साधना करनेवालोके उदाहरण दिये हैं। यथा—कचनपुरमे श्रेष्ठि जिनधर्म श्रावक (४२३)। मेतार्य मुनि (४२६), चिलाती पुत्र (४२७), गज सुकुमाल (४३१), अवन्ति सुकुमाल (४३५), धन्य शालिभद्र (४४८), सुकोशल (४६६), वइर ऋषि (४६८), वइर स्वामी (४७२), चाणक्य (४७८), इलापुत्र (४८३), क्षमाश्रमण आर्यरक्षित (४८९), स्थूलभद्र ऋषि (४९०), अर्जुन मालाकार (४९४), आसाढ भूति आचार्य (५०२) आदि।

अन्तिम गाथाओंमे कहा है—एक मरणविभक्ति, दो मरणविशुद्धि, तीसरी मरणसमाधि, चतुर्थ सल्लेखनाश्रुत, पाँच भक्तप्रतिज्ञा, छठा आतुर प्रत्याख्यान, सातवाँ महाप्रत्याख्यान, आठवाँ आराधना पइण्णा इन आठ श्रुतोका भाव लेकर मरणविभक्तिकी रचना की है। इसका दूसरा नाम मरणसमाधि है।

आतुर प्रत्याख्यानका प्रारम्भ बालपण्डितमरणसे होता है। अत भ० आ० की २०७२ से २०८१ तककी गाथाएँ इसमें एकसे दसतक वर्तमान हैं। इसमे आगे कुछ ऐसी गाथाएँ भी हैं जो कुन्दकुन्दके प्राभृतोमे पाई जाती है यथा ममत्तं परिवज्जामि ॥२३॥ आया हु महं नाणे ॥२४॥ एगो मे सासदो अप्पा ॥२६॥ संजोगमूला जीवेण ॥२७॥

भत्तपइण्णामें भी अनेक गाथाएँ भ० आ० के समान हैं। सस्तार पइण्णाका प्रारम्भ क्षपकके लिये आवश्यक सस्तारकको प्रशसासे होता है। इसकी प्रथम गाथामें संस्तारकी प्रशसामे वे ही उपमा दी हैं जो भ० आ० में ध्यानकी प्रशंसामें दी हैं। यथा—

वेरुलिउव्व मणीणं गोसीस चदण व गधाण।
जह व रयणेसु वइर तह सथारो सुविहियाण ॥५॥
× × ×
वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदण च गधेसु।
वेरुलियं व मणीण तह ज्झाण होइ खवयस्स ॥१८९०॥

इसमे भी भ० आ० की तरह ही सुकोशल मुनि (६३), अवन्ति सुकुमाल (६५), रोहेटक नगरमें कोच क्षत्रिय (६८) पाटलीपुत्रमे चन्द्रगुप्त (७०), कोलपुरमे गृद्धपृष्ठ (७१), पाटलीपुत्रमें चाणक्य (७३), काकन्दीपुरोमें अमृतघोष (७६), कौशाम्बीमें ललित घटा (७९), कुरुदत्त (गुरुदत्त) (८५), चिलाती पुत्र (८६), गजसुकुमाल (८७), आदि उदाहरण दिये हैं।

समाधिमरणको सल्लेखना कहते हैं, सम्यक् रीतिसे शरीर और कषायको कृश करनेका नाम सल्लेखना है। शरीर बाह्य है और कषाय अभ्यन्तर है। शरीरका साधन भोजन है धीरे-धीरे आहारको घटानेसे शरीर कृश होता है और कषायके कारणोंसे बचनेसे कषाय घटती है। शरीरको सुखा डाला और क्रोध मान माया लोभ नहीं घटे तो शरीरका शोषण निष्फल है। आत्मघात करनेवालेकी कषाय प्रबल होती है। क्योंकि जो रागद्वेष या मोहके आवेशमें आकर विष, शस्त्र, आग आदिके द्वारा अपना घात करता है वह आत्मघाती कहलाता है। सल्लेखना करनेवालेके रागादि नहीं होते। तत्त्वार्थसूत्र ७।२२ की टीका सर्वार्थसिद्धिमें एक उदाहरणके द्वारा इसे स्पष्ट किया।

जैसे व्यापारीको अपने व्यापारके केन्द्रका विनाश इष्ट नहीं होता क्योंकि उसके नष्ट होने पर उसका व्यापार ही नष्ट हो जायेगा। यदि किसी कारणवश उसके केन्द्रमें आग लग जाये तो वह उसको बुझाकर उसकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करता है। किन्तु यदि उसको बचाना शक्य नहीं देखता तो उसमें भरे हुए मालको बचानेका प्रयत्न करता है। इसी तरह व्रत शीलरूपी द्रव्यके संचयमें लगा हुआ साधु या गृहस्थ भी अपने शरीरको नष्ट करना नहीं चाहता; क्योंकि वह धर्मका साधन है। यदि शरीर नष्ट होनेके कारण उपस्थित होते हैं तो अपने धर्मके अविरुद्ध उपायोंसे शरीरकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता है किन्तु यदि वह प्रयत्न सफल नहीं होता तो शरीरकी रक्षाका प्रयत्न त्यागकर अपने धर्मकी रक्षाका प्रयत्न करता है। ऐसी स्थितिमें उसे आत्मवध कैसे कहा जा सकता है?

यथार्थमें मरण शरीरधारी प्राणियोंके लिये उतना ही सत्य है जितना जीवन सत्य है। जीवनके मोहमें पड़कर मनुष्य उस सत्यको भुला देता है और जिस किसी भी उपायसे सदा जीवित रहनेका ही प्रयत्न करता है। किन्तु उसका यह प्रयत्न सफल नहीं होता। एक दिन मृत्यु उसके इस प्रयत्नको समाप्त कर देती है। अतः जीवनके साथ मृत्युके सुनिश्चित होनेसे मनुष्यको जीवनके साथ मरनेके लिये भी तैयारी करते रहना चाहिये। तथा जीवनमें हर्ष और मृत्युमें विषाद नहीं करना चाहिये। जिनकी मृत्यु शानदार होती है उनका जीवन भी शानदार होता है। रोते धोते हुए प्राणोंका त्याग करना भी कायरता ही है। अतः मृत्युका आलिंगन भी साहसके साथ करना चाहिये। उसीका कथन इस ग्रंथराजमें है।

५ भ० आराधना और मरणसमाधि आदि

आगमोदय समितिसे १९२७ में 'चतुःशरणादि मरण समाध्यन्त प्रकीर्णक दशक' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसमें आतुर प्रत्याख्यान, भत्तपरिण्णय, संथारगपइण्णय और मरणसमाही इन चारमें प्रायः वही विषय है जो भ० आराधनामें मुख्य है। आतुर प्रत्याख्यानमें ७० गाथाएँ हैं। भत्तपरिण्णयमें १७२ गाथा हैं। संथारगपइण्णयमें १२३ और मरण समाधिमें ६६३ गाथा हैं। इस तरह मरण समाधि बड़ा ग्रंथ है और उसमें तथा भ०आ० में बहुत सी गाथाएँ समान हैं।

शिष्य आचार्यसे मरण समाधि जानना चाहता है। आचार्य उसे समझाते हैं—

भणइ य तिविहा भणिया सुविहिय आराहणा जिणिंदेहिं।
सम्मत्तम्मि य पढमा नाणचरित्तेहिं दो अण्णा॥ १५॥

इस तरह इसमें तीन ही आराधना कही हैं। इसमें भी गाथा ४४ में पण्डितमरणको कहनेकी सूचना है—

इत्तो जह करणिज्ज पंडियमरणं तहा सुणह।

आगे मरणसमाधिकी गा० ६० से ६६ तथा भ० आ० की गाथा १८१ से १८८ समान हैं।

आचार्य कैसा होना चाहिये यह दो गाथा ८६-८७ में कहा है और भ०आ० ४१९-४२० गा० में कहा है। ये गाथाएँ समान नहीं है कथनी समान है।

मर० स० ९४-९५ में और भ०आ० ५३३-५३४ में आलोचनाका कथन है। तथा म०गा० ९६-१०१ में और भ०आ० ५४०-५४२, ५४१, ५४८, ५४९ में शल्योंका कथन है। गाथा ३०१ से आगे कहा है—

इति सिरिमरणविभत्तिगुए गल्लेहणसुयं सम्मत्तं। अथ आराहणासुयं लिख्यते।

अर्थात् मरणविभक्तिश्रुतके अन्तर्गत सल्लेखना श्रुत समाप्त हुआ। अब आराधनाश्रुत लिखते है। इस तरह इसमें दो विभाग किये हैं।

भ० आ० की तरह इसमें भी साधना करनेवालोंके उदाहरण दिये हैं। यथा—कांचनपुरमें श्रेष्ठि जिनधर्म श्रावक (४२३)। मेतार्य मुनि (४२६), चिलाती पुत्र (४२७), गज सुकुमाल (४३१), अवन्ति सुकुमाल (४३५), धन्य शालिभद्र (४४४), सुकोशल (४६६), वइर ऋषि (४६८), वइर स्वामी (४७२), चाणक्य (४७८), इलापुत्र (४८३), क्षमाश्रमण आर्यरक्षित (४८९), स्थूलभद्र ऋषि (४९०), अर्जुन मालाकार (४९४), आसाढ भूति आचार्य (५०७) आदि।

अन्तिम गाथाओंमें कहा है—एक मरणविभक्ति, दो मरणविशुद्धि, तीसरी मरणसमाधि, चतुर्थ सल्लेखनाश्रुत, पाँच भक्तप्रतिज्ञा, छठा आतुर प्रत्याख्यान, सातवाँ महाप्रत्याख्यान, आठवाँ आराधना पइण्णा इन आठ श्रुतोंका भाव लेकर मरणविभक्तिकी रचना की है। इसका दूसरा नाम मरणसमाधि है।

आतुर प्रत्याख्यानका प्रारम्भ बालपण्डितमरणसे होता है। अत भ० आ० की २०७२ से २०८१ तककी गाथाएँ इसमें एकसे दसतक वर्तमान हैं। इसमें आगे कुछ ऐसी गाथाएँ भी हैं जो कुन्दकुन्दके प्राभृतोंमें पाई जाती है यथा ममत्तं परिवज्जामि ॥२३॥ आया हु महं नाणे ॥२४॥ एगो मे सासदो अप्पा ॥२६॥ संजोगमूला जीवेण ॥२७॥

भत्तपइण्णामें भी अनेक गाथाएँ भ० आ० के समान हैं। संस्तार पइण्णाका प्रारम्भ क्षपकके लिये आवश्यक सस्तारककी प्रशंसासे होता है। इसकी प्रथम गाथामें सस्तारककी प्रशंसामें वे ही उपमा दी हैं जो भ० आ० में ध्यानकी प्रशंसामें दी हैं। यथा—

वेरुलिउव्व मणीणं गोसीसं चंदण व गंधाण।
जह व रयणेसु वइर तह सथारो सुविहियाण ॥५॥

× × ×

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदण व गंधेसु।
वेरुलियं व मणीण तह ज्झाण होइ खवयस्स ॥१८९०॥

इसमें भी भ० आ० की तरह ही सुकोसल मुनि (६३), अवन्ति सुकुमाल (६५), रोहेटक नगरमें कोंच क्षत्रिय (६८) पाटलीपुत्रमें चन्द्रगुप्त (७०), कोलपुरमें गृद्धपृष्ठ (७१), पाटलीपुत्रमें चाणक्य (७३), काकन्दीपुरीमें अमृतघोष (७६), कौशाम्बीमें ललित घटा (७९), कुरुदत्त (गुरुदत्त) (८५), चिलाती पुत्र (८६), गजसुकुमाल (८७), आदि उदाहरण दिये हैं।

पञ्चाचाराधिकारकी गा० ४०, ४२, ४८, ९८, ९९, ११०, ११७, १२३, १३०, १३१, १३२, १३३, १३५, १३६, १३८, १३९, १४०, १४३, १४५, १४६, १५६, १६२, १७०, १७२, १७४, १७३, १७८, १८२, १८९, १९०, १९४, १९९, २०४, २०५, २१०, २१२, २१३, भ० आ० मे क्रमश १८१९, १८२०, १८४१, ११७१, ११८०, ११८६, ११८८, ८०८, ११९५, ११९६, ११९७, ११९८, ११८१, ११८२, ११८४, ११९९, १२००, १२०४, १२०६, १२०७, २१५, २३८, ११२, ११४, ११९, १२२, १२३, १२७, १३१, १३२, ३०७, १६९८, १७०८, १७०९, १११२, १०६, १०३ है।

दोनो ग्रन्थोंके गाथानुक्रमको देखते हुए यह कहना अति साहस होगा कि किसी एकने दूसरेंसे लिया है या नकल की है। प्राचीन माने जानेवाले ग्रन्थोमे इस प्रकारक क्वचित् साम्य देखकर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि प्राचीन गाथाएँ परम्परासे अनुस्यूत चली आती थी और उनका सकलन ग्रन्थकारोने अपने-अपने ढगसे किया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायमे वस्त्र और पात्रके कारण मुनि आचारमे भेद बड़ा है। किन्तु भ० आ० और मूलाचारके आचारमे साम्य देखकर यह कहना पडता है कि यदि भगवती आराधनाके कर्ता दिगम्बर सम्प्रदायके न होकर यापनीय थे तो भी यापनीय और दिगम्बर साधुओंके आचारमे भेद नही था। आगे इसको चर्चा करेंगे।

७ रचयिताका सम्प्रदाय

स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमी ने 'यापनीयोका साहित्य' शीर्षक लेखमे भगवती आराधनाके रचयिता शिवार्य और टीकाकार अपराजित सूरिको यापनीय सिद्ध किया है।

यहाँ प्रथम यापनीयोंके सम्बन्धमे प्रकाश डालना उचित होगा।

वि० स० ९९० में रचे गये दर्शनसारमे[1] देवसेन ने वि० स० २०५ मे कल्याण नगरमे श्रीकलश नामके श्वेताम्बरसे यापनीय सघकी उत्पत्ति बतलाई है। उसीमे विक्रस० १३६ मे श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति बतलाई है। इस तरह दिगम्बर और श्वेताम्बरकी तरह तीसरा भी जैन सघ था। डा० उपाध्ये ने अपने एक लेखमे[2] यापनीय सघ पर विस्तारसे प्रकाश डाला था।

दिगम्बर साहित्यमे वि० की सोलह शताब्दीके ग्रन्थकार श्रुत सागरसूरि ने अपनी षट् प्राभृत टीकामे यापनीयोका परिचय देते हुए लिखा है—

'यापनीयास्तु वेसरा ? इवोभयं मन्यते रत्नत्रयं पूजयन्ति कल्प च वाचयन्ति। स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष केवलिजिनाना कवलाहार परशासने सग्रन्थानां मोक्ष च कथयन्ति।'

अर्थात् यापनीय दोनोको मानते हैं, रत्नत्रयको पूजते और कल्पसूत्र भी बांचते हैं। स्त्रियोंको उसी भवमे मोक्ष, केवली जिनोके कवलाहार, परशासनमे सग्रथोंको मोक्ष कहते हैं। यह सभी बातें श्वेताम्बर मानते है और इन्हीको लेकर श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदायमे मुख्य भेद है।

---

१. कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पंच उतरे जादे। जावणियसघभावो। सिरिकलसादो दु सेवडदो ॥ २९ ॥

२ बम्बई यूनिवर्सिटी जर्नल जि० १, भाग २, मई १९३३ में प्रकाशित 'यापनीयसघ ए जैन सेक्ट'।

भी (१०।१७) यह गाथा आई है। आशाधरके अनगारधर्मामृतमें (९।८०-८१) भी इसका संस्कृत-रूप मिलता है। इस कथनसे तो दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल नहीं है किन्तु अनुकूल ही है। इसका प्रबल प्रमाण प्रथमकल्प आचेलक्य ही है। जिसका अर्थ श्वेताम्बर टीकाकारोंने अल्पचेल या अल्पमूल्य चेल आदि किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र उक्त गाथाओंको उद्धृत करके लिखते हैं 'पुरुष प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये सदुपदेशात्'। पुरुषके प्रति जो दस प्रकारके स्थितिकल्प कहे हैं उनमें आचेलक्यका उपदेश है। अतः वह दस स्थितिकल्पोंको अमान्य नहीं करते उन्हें मान्य करके ही अपने पक्षका समर्थन करते हैं।

आगे प्रेमीजीने लिखा है—'आराधनाकी ६६२ और ६६३ (इस संस्करणमें ६६१-६६२) नम्बरकी गाथाएँ भी दिगम्बर सम्प्रदायके साथ मेल नहीं खाती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लब्धियुक्त और मायाचाररहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक लावें। इसपर पं० सदासुखजीने आपत्ति की है और लिखा है कि यह भोजन लानेका कथन प्रमाणरूप नाहीं।' इसी तरह 'सेज्जागासणिसेज्जा' (गाथा ३०७) आदि गाथापर (जो मूलाचारमें ३९१ नं० पर है) कविवर बनारसीदासको शङ्का हुई थी और उसका समाधान करनेके लिए दीवान अमरचन्दजीको पत्र लिखा था। दीवानजीने उत्तर दिया था कि इसमें वैयावृत्ति करनेवाला मुनि आहार आदिसे उपकार करें। परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि आहार स्वयं हाथसे बनाकर दे। मुनिकी ऐसी चर्या आचारांगमें नहीं बतलाई है।'

उक्त प्रकरण संस्तरपर समाधिमरणके लिए आरूढ़ क्षपककी वैयावृत्यसे सम्बद्ध है। पहली गाथामें कहा है कि चार परिचारक मुनि क्षपकको इष्ट भोजन लाते हैं जो प्रायोग्य अर्थात् उद्गम आदि दोषोंसे रहित होता है। 'इष्ट' की टीकामें स्पष्ट किया है कि जो क्षपकको भूख प्यास परीषहको शान्त करनेमें समर्थ हो वह इष्ट है। तथा वह भोजन वात पित्त कफकारक न हो। लानेवाले मुनियोंके लिए एक विशेषण दिया है। वे मायाचार रहित होने चाहिए अर्थात् अयोग्यको योग्य मानकर लानेवाले न हों।'

ज्ञानीजन यह जानते हैं कि जब क्षपक संस्तरपर आरूढ़ होता है तब उसकी शारीरिक स्थिति कैसी होती है। वह गोचरी नहीं कर सकता। जबतक गोचरी करनेमें समर्थ होता है तबतक संस्तरारूढ़ नहीं किया जाता। ऐसी स्थितिमें यदि उसे भूख प्यास सता जाये तो उसके परिणाम स्थिर नहीं रह सकते। अतः उस युगमें जब साधु वनोंमें निवास करते थे तब ऐसे मरणासन्न साधुके लिए यही व्यवस्था सम्भव थी कि अन्य साधु उसके योग्य खान-पान-विधिपूर्वक लायें और उसे विधिपूर्वक देवें। आजकी तरह उस समय साधुओंके निवास स्थानपर आकर श्रावकोंके चौके तो लगते नहीं थे। और लगते भी तो इस प्रकारके उद्दिष्ट भोजनको वे स्वीकार नहीं कर सकते थे। गाथामें आहार लानेका स्पष्ट विधान है। अतः बनाकर देनेकी कोई बात ही नहीं है। इसलिए उक्त कथन दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध नहीं है। समाधि एक दो दिनमें नहीं होती। उसमें समय लगता है और वही समय वैयावृत्यका होता है। आगे प्रेमीजीने लिखा है कि 'गाथा १५४४ (इस संस्करणमें १५२९) में कहा है कि घोर अवमोदर्य या अल्पभोजनके कष्टसे बिना संक्लेश बुद्धिके भद्रबाहु मुनि उत्तमस्थानको प्राप्त हुए। परन्तु

अनेक उद्धरण दिये हैं किन्तु उनमेंसे कम ही उनमे मिलते हैं। अपराजितकी टीकाके सम्बन्धमे आगे विचार करेंगे। तब उनकी स्थिति पर विशेष प्रकाश पड सकेगा। किन्तु हमे वे सवस्त्र मुक्ति या स्त्री मुक्तिके समर्थक प्रतीत नही हुए।

भगवती आराधना और कथाकोश

भगवती आराधनामें कहा है कि जब सस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल आता है तब अशुभ मनवचनकायको निर्मूल करनेके लिए चार परिचारक धर्मकथा कहते हैं (६५९)। फलत इस ग्रन्थमें गाथाओंके द्वारा ऐसे अनेक उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु उनमें केवल व्यक्ति और घटनाका उल्लेख मात्र है कथाएँ नही दी हैं। विजयोदया टीकामें भी गाथामे आगत शब्दोंकी व्याख्यामात्र है। आशाधरने कहीं-कहींपर कुछ विशेष कहा है। शोलापुरसंस्करण पृ० ६४३ पर अपनी टीकामे वह लिखते हैं—

'अति दुर्लभत्वे दश दृष्टान्ता' सूत्रेऽनुश्रूयन्ते—

चुल्लय पासं धण्णं जूवा रदणाणि सुमिण चक्क वा।
कुम्भ जुग परमाणु दस दिट्ठंता मणुमलमे॥

एते चुल्ली भोजनादि कथा सम्प्रदाया दशापि प्राकृतटीकादिपु विस्तरेणोक्ताः प्रतिपत्तव्या.'।

अर्थात् मनुष्य जन्मकी दुर्लभताके सम्बन्धमें सूत्रमें दस दृष्टान्त सुने जाते हैं। ये चुल्ली आदिकी दमों कथायें प्राकृत टीका आदिमें विस्तारमे कही है। आशाधरके इस उल्लेखमे प्रकट है कि भगवती आराधनापर प्राकृतमे भी कोई टीका थी और उसमे ये कथाएँ विस्तारसे दी हुई थी। सम्भवतया इसीसे विजयोदया आदिमें नही दी गई है।

स्व० डा० ए० एन० उपाध्येने हरिषेणकृत बृहत्कथाकोशकी अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामे आराधनासे सम्बद्ध कथाकोशों और कथानकोंपर विस्तारसे प्रकाश डाला है। यहाँ उसीके आधारपर सक्षेपमें ज्ञातव्य बातें दी जाती हैं। ऐसे कथाकोश हैं—१. हरिषेण कथाकोश (सं०), २ श्रीचन्द्रका अपभ्रंश कथाकोश, ३ प्रभाचन्द्र कथाकोश (ग०), ४ नेमिदत्तका आराधना कथाकोश (सं० पद्य), ५. नयनन्दिका अपभ्रंश कथाकोश, तथा पुरानी कन्नडमें वड्डाराधने।

इन पाँचोंमे हरिषेण कथाकोशमें सबसे अधिक कथाएँ हैं, परिमाण और विस्तारमे भी यह सबमे बडा है और सबसे प्राचीन भी है।

श्री चन्द्रकी विशेषता यह है कि प्रथम वह आराधनासे गाथा देते हैं उसका सस्कृतमे अर्थ देते है फिर उससे सम्बद्ध कथा कहते है। उनका लिखना है कि जैसे दीवारके बिना उसपर चित्रकारी सम्भव नही है उसी प्रकार गाथाकी शब्दश व्याख्याके बिना पाठक कथाको नही समझ सकता। वह प्रथम गाथाके व्याख्यानसे अपना कथाकोश प्रारम्भ करते हैं।

प्रभाचन्द्रका कथाकोश संस्कृत गद्यमे है। भारतीय ज्ञानपीठसे इसका प्रकाशन हुआ है। ग्रन्थकारने इसका नाम आराधना कथा प्रबन्ध दिया है। प्रत्येक कथाके प्रारम्भमे ग्रन्थकारने सस्कृत गद्यके साथ पद्य या भगवती आराधनाकी गाथाका अश दिया है। प्रारम्भकी ९० कथाएँ प्राय: भ० आ० के गाथाक्रमके अनुसार है। इन कथाओ तक कोशका प्रथम भाग समाप्त होता

है। इसका नाम आराधना कथाप्रबन्ध है। इसके रचयिता प्रभाचन्द्र पण्डित हैं जो जयसिंह देवके राज्यमें धाराके निवासी थे। इसके आदिके प्रारम्भमें मंगल तक नहीं है। तथा कुछ कथाओंमें पुनरुक्ति है। प्रथम भागकी कथा १, २, ४ पाठकोंको अत्यन्त और मनस्तापकी कारण हैं। हरिषेणके कथाकोशमें ये कथाएँ नहीं है।

ब्र० नेमिदत्त स्पष्टरूपमें स्वीकार करते हैं कि उनका संस्कृत पद्यमय आराधना कथाकोश प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशका ऋणी है। किन्तु फिर भी दोनोंमें अन्तर है। प्रभाचन्द्रमें कथा संख्या १२२ है और नेमिदत्तमें ११४। कुछ कथाएँ कम हैं और कुछ कथाएँ ऐसी भी है जो प्रभाचन्द्रमें नहीं हैं।

कन्नडके वड्डाराधनेमें केवल १९ कथाएँ हैं जो भ० आ० की गाथा १५३९-१५५२ तक से सम्बद्ध है। प्रत्येक कथाके प्रारम्भमें गाथा दी है और कन्नडमें उसका व्याख्यान भी है। ये उन्नीस कथाएँ किञ्चित् परिवर्तनके साथ हरिषेणके कथाकोशमें १२६ से १४४ तक पाई जाती हैं और अन्य कथाकोशोंकी अपेक्षा उसके अधिक निकट हैं। किन्तु वड्डाराधनामें उनका विस्तार अधिक है।

हरिषेणका कथाकोश तो सबसे बड़ा और प्राचीन होनेसे अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें १५७ कथाएँ हैं। किन्तु भगवती आराधनाकी कोई गाथा या उसका अंश इसमें नहीं है। केवल प्रशस्तिके श्लोक ८ मे 'आराधनोद्धृत' पद आता है।

हरिषेण कथाकोशमें कथाओंका शीर्षक उस व्यक्तिके नामसे दिया है जिसकी कथा है। किन्तु प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें शीर्षक भ० आ० की गाथाके आधारपर दिया गया है। दोनोंके कथानकोंमें भी अन्तर है।

८ भगवती आराधनाकी टीकाएँ

यहाँ हम भगवती आराधनाकी टीकाओंका परिचय देते हुए सबसे प्रथम विजयोदया टीकाके सम्बन्धमें प्रकाश डालेंगे जो इस संस्करणमें मुद्रित है।

१. विजयोदया टीका—विजयोदया टीकाके अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि उसके टीकाकार अपराजित सूरिका अध्ययन बहुत विस्तीर्ण तथा गम्भीर था। और उन्होंने आगम साहित्यका भी गहरा मंथन किया था। उनकी इस टीकामें प्राकृत और संस्कृतके उद्धरणोंकी बहुलता है। किन्तु उनमेंसे अधिकांशके स्थानका पता नहीं चलता। उनकी लेखन शैली सुलझी हुई है। जो कुछ लिखते हैं खूब खोलकर लिखते हैं। अपनी टीकामें उन्होंने गाथाके पदोंका शब्दार्थ तो दिया ही है किन्तु यथास्थान उससे सम्बद्ध विवेचन देकर विषयको स्पष्ट ही नहीं किया, किन्तु बहुत सी आवश्यक नवीन जानकारी भी दी है। उदाहरणके लिये—

१ गा० २५ में ग्रन्थकारने सतरह मरण कहे हैं। उसकी टीकामें टीकाकारने सतरह मरणोंके नाम और स्वरूप दिये हैं।

२ गा० ४६ मे ग्रन्थकारने संक्षेपसे दर्शनविनयको कहा है। टीकाकारने दर्शनविनयके प्रत्येक अंगको स्पष्ट किया है। उसमें भक्ति और पूजाके साथ एक शब्द है 'वर्णजनन', उसका

अर्थ है महत्ता ख्यापन। इसका वर्णन संस्कृत गद्यशैलीमें विस्तारसे किया है। इसमें सांख्यादि दर्शनोंकी समीक्षा भी है। अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है पुरुष होनेसे। इस अनुमानका निरसन करते हुए कहा है—'जैमिनि आदि सकलवेदार्थज्ञ नहीं है पुरुष होनेसे' ऐसा भी कहा जा सकता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारिलने जो सर्वज्ञका खण्डन किया था, वह उनकी दृष्टिमें है। आगे यह भी लिखा है कि 'अर्हन्तके सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्यत्र कही है इसलिये यहाँ नहीं कहते हैं'। उनका यह कथन अकलंकके प्रकरणोंको लेकर भी हो सकता है। यद्यपि अकलंक आदि किसी दार्शनिक ग्रन्थकारका कोई संकेत नहीं है। किन्तु जिस प्रकार अकलंक देवने तत्त्वार्थ वार्तिकमें सूत्रके पदोंका व्याख्यान किया है। उसी प्रकारकी शैली यहाँ देखनेमें आती है। जैसे वर्ण शब्द रूपवाची है, अक्षरवाची है, ब्राह्मणादि वर्णवाची है आदि।

३. गा० ११८ में ग्रन्थकारने साधुके उत्तरगुणका केवल निर्देश किया है। किन्तु उसकी टीकामें बाह्य तपों और छह आवश्यकोंका स्वरूप बहुत ही सुरुचिपूर्ण दिया है। इसमें जो दो गाथायें उद्धृत हैं वे मूलाचारके षडावश्यक प्रकरणमें पाई जाती हैं।

४. गाथा १४९ की टीकामें जिन भगवानके पञ्च कल्याणकोंका वर्णन संस्कृत गद्यमें बहुत ही भक्तिपूर्ण है।

५. गाथा १५७ की टीकामें आलन्दविधि, परिहार संयम आदिका जो वर्णन किया है वह अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। उसमें हमें सिद्धान्त विरुद्ध कथन कोई प्रतीत नहीं हुआ। प्रत्युत उससे परिहार विशुद्धि संयमकी महत्ता और दुरूहताका ही बोध हुआ। श्वेताम्बर आगमके अनुसार तो जम्बूस्वामीके मुक्तिगमनके पश्चात् जिन कल्पका विच्छेद हो गया। किन्तु टीकाकारने लिखा है कि जिन कल्पी सर्व धर्म क्षेत्रोंमें सर्वदा होते हैं। इसमें भी कुछ गाथायें उद्धृत हैं जिनमें कल्पोक्त क्रम कहा है।

६. गाथा ४२३ की टीका में दस कल्पोंका वर्णन है। उसमें आचेलक्य कल्पका वर्णन करते हुए टीकाकारने आगमोंमें पाये जानेवाले वस्त्रपात्रवादकी समीक्षा करते हुए अचेलकताकी सिद्धि बड़े प्रभावक ढंगसे की है। वह सब उनके वैदुष्यका परिचायक तो है ही, यापनीयोंकी दृष्टिका भी परिचायक है। वही दृष्टि उन्हे श्वेताम्बरोंसे भिन्न करती है। इसमें भी उद्धरणोंकी बहुलता है।

७. गाथा ४४८ की टीकामें पंच परावर्तनका स्थूल वर्णन है। केवल भव-संसारका स्वरूप सर्वार्थसिद्धिसे मेल खाता है। इसमें एक श्लोक भर्तृहरिशतकसे उद्धृत है। कुछ श्लोक टीकाकारके भी हो सकते हैं उनमें चतुर्गतिका स्वरूप कहा है।

८. गाथा ४८९ में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके अतिचारोंका संकेत है। इनमें से टीकामें जो तपके अतिचार कहे हैं वे उल्लेखनीय हैं क्योंकि अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आये।

९. गाथा ११८१ की टीकामें मनोगुप्ति आदिका स्वरूप शंका समाधान पूर्वक स्पष्ट किया है। मनोगुप्तिमें मन शब्द ज्ञानका उपलक्षण है। अतः रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है। यदि ऐसा न माना जाय तो मति आदि ज्ञानके समय मनोगुप्ति नहीं रहेगी।

इस प्रकार टीकाकार ने अपनी टीकामें आवश्यकतानुसार समागत विषयोंको स्पष्ट करके ग्रन्थकी गरिमामें वृद्धि की है।

उनकी टीकाके अवलोकनसे यह स्पष्ट है कि टीका लिखते समय उनके सामने इस ग्रन्थकी एकसे अधिक टीकायें वर्तमान थीं। प्रथम गाथाकी टीकाका प्रारम्भ ही 'अत्रान्ये कथयन्ति' से होता है। इसीमें कहा है 'इति भाष्यपरिहारो केषांचित्।' और इन भाष्य और उसके परिहार दोनोंको ही टीकाकारने अनुचित कहा है।

इसी तरह दूसरी गाथाकी टीकामें भी 'अत्रान्ये व्याचक्षते' आता है।

तीसरी गाथाकी टीकामें आता है—'अस्य सूत्रस्योपोद्घातमेवमपरे वर्णयन्ति।'

चौथी गाथाकी टीकामें आता है—'अत्रापरे सम्बन्धमारम्भयन्ति गाथाया।'

'अत्रापरा व्याख्या',

इस अपर व्याख्याकी परीक्षा करते हुए कहा है कि यदि ऐसा मानेंगे तो—'अरसमरूव-मगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं' इसके साथ विरोध आता है।

यह उल्लेखनीय है कि यह आचार्य कुन्दकुन्दकी प्रसिद्ध गाथाका पूर्वार्द्ध है जो समयसार (४९) और प्रवचनसारमें (२।८०) भी आई है। प्रथम गाथाकी टीकामें भी टीकाकारने उदाहरणरूपसे कुन्दकुन्दके प्रवचनसारकी आद्य दो गाथा तथा पञ्चास्तिकायकी मंगल गाथाका पूर्वार्द्ध उद्धृत किया है। उससे पूर्वमें सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रकी मंगलगाथाका पूर्वार्द्ध उद्धृत किया है।

गाथा ११ की टीकामें समन्तभद्रके स्व० स्तो० का एक श्लोक उद्धृत है। इन्हीं तीन प्राचीन और प्रमुख जैनाचार्योंके उद्धरण ही पहचाननेमें आते हैं। इनके सिवाय पृ० ३०९ पर एक वरांगचरितका पद्य उद्धृत है और पृ० ३४७ पर शृङ्गार शतकका एक पद्य उद्धृत है।

तथा तत्त्वार्थसूत्रसे अनेक सूत्र उद्धृत हैं। विद्वान् जानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं, एक दिगम्बर सम्मत है, दूसरा श्वेताम्बर सम्मत। जितने सूत्र उद्धृत हैं वे दिगम्बर-सम्मत हैं। किन्तु गाथा १८२८ की टीकामें सातावेदनीय, सम्यक्त्वप्रकृति, रति, हास्य और पुंवेदको पुण्य प्रकृति कहा है। श्वेताम्बर सम्मत सूत्रपाठमें आठवें अध्यायके अन्तमें इसी प्रकारका सूत्र है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें घातिकर्मोंकी प्रकृतियोंको पाप प्रकृतियोंमें ही गिनाया है। यहाँ टीकाकारने उस सूत्रको तो प्रमाणरूपसे उद्धृत नहीं किया है किन्तु कथन तदनुसार किया है। पं० आशाधरजीने भी अपनी टीकामें विजयोदयाके अनुसार ही इन्हें पुण्य प्रकृति लिखा है, यह आश्चर्य ही है। तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि टीकाकारके सामने थी यह निर्विवाद है।

सर्वार्थसिद्धिमें चारित्रका लक्षण प्रथम सूत्रकी टीकामें—

'संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्' किया है। विजयोदयामें गा० ६ की टीकामें लिखा है—यथाचाम्यधायि 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवतश्चारित्रम्।'

अन्य भी स्थलोंमें चारित्रका यही लक्षण टीकाकारने दिया है।

गाथा १०५३ में नयस्वरूपका कथन है। इसकी टीकामें टीकाकारने 'अन्ये तु मन्वारि-[illegible] [illegible] [illegible] सर्वार्थसिद्धि (१-३३) में कहे गये नयस्वरूपका स्वरूप उन्हीं शब्दोंमें कहा है।

सा० १६६४ में ध्यानके भेद कहे हैं। इसकी टीकामें सर्वार्थसिद्धि (९।२७) जो 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' की व्याख्या की है उसका खण्डन है। और चिन्ता शब्दका अर्थ चैतन्य किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वार्थसिद्धिको मानते हुए भी उसे एकान्ततः मान्य नहीं करते थे। 'अन्ये' शब्दसे उसका उल्लेख ही यह बतलाता है कि वह उनकी आम्नाय नहीं थी।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि आगमोंको छोड़कर अन्य आचार्यकृत साहित्यमें यापनीय ग्रन्थकार दिगम्बराचार्योंके साहित्यको प्रश्रय देते थे, क्योंकि जिस प्रकार इस टीकामें कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपादके ग्रन्थोंके प्रमाण मिलते हैं उस प्रकार एक भी किसी श्वेताम्बराचार्य प्रणीत ग्रन्थका उद्धरण नहीं मिलता।

श्वेताम्बर-दिगम्बरके मध्यमें तीन प्रमुख मत भेदोंमेंसे स्त्री मुक्ति और केवलिमुक्ति तो सैद्धान्तिक हैं। आज न कोई मुक्ति प्राप्त कर सकता है और न केवली हो सकता है। किन्तु अचेलकत्व या दिगम्बरत्व तो सैद्धान्तिक होनेके साथ वर्तमानमें भी दृश्यरूपमें प्रचलित है। इस दृष्टिसे यापनीय दिगम्बर सम्प्रदायके निकट रहे हैं। इसके सिवाय दक्षिणमें दिगम्बर सम्प्रदायका प्राबल्य था, उधर ही यापनीय सम्प्रदाय भी था। उसके भी मन्दिर और मूर्तियाँ थीं। वे भी नग्न मूर्तियोंके ही उपासक थे। नग्नतामें भेद कैसा। फलतः वे सब दिगम्बरोंमें ही समा गये। उनके साहित्यमें नग्नत्वका ही पोषण था तथा स्त्री मुक्ति और केवलिभुक्तिकी चर्चा नहीं थी। फलतः (उक्त दो प्रकरणोंको छोड़कर) उनका साहित्य भी दिगम्बरोंमें समा गया। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीका है।

मूलाराधना दर्पण—भ० आराधनाकी दूसरी उपलब्धटीका मूलाराधना दर्पण है। शोलापुरसे १९३५ में प्रकाशित संस्करणमें इसका प्रकाशन हुआ था। यह टीका विजयोदया आदि टीकाओंको सामने रखकर लिखी गई है। विजयोदयाका इसपर विशेष प्रभाव है। विशेष कथन क्वचित् ही है। अतः हमने उसे इस संस्करणमें सम्मिलित न करके उसके विशेष कथनोंको विशेषार्थरूपमें ले लिया है। इसके रचयिता प्रसिद्ध ग्रन्थकार पं० आशाधर हैं। उन्होंने वि० सं० १२९५ में रचे गये जिन यज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें मूलाराधना टीकाका निर्देश किया है। अपनी इस टीकामें आशाधरजीने विजयोदया टीकाकारका निर्देश श्री विजयाचार्य, टीकाकार, या संस्कृत टीकाकारके नामसे किया है। जिन गाथाओंपर विजयोदया नहीं है प्रायः उनके लिए आशाधरजीने यह निर्देश किया है कि इसे टीकाकार नहीं मानता। उनके सामने भी कुछ अन्य टीकाएँ थीं, ऐसा उनके उल्लेखोंसे प्रकट होता है। किन्तु उनमें उन्होंने प्राकृत टीकाको विशेष महत्त्व दिया है। उसके मतोंका निर्देश कई स्थानोंमें है और उसीको उन्होंने विशेष अपनाया है। कुछ टीकाएँ संस्कृत पद्यात्मक भी रही हैं। जैसे अमितगतिकी जो शोलापुर संस्करणमें प्रकाशित हो चुकी है। उसके अतिरिक्त भी एक दो पद्यात्मक टीका रही हैं जिनके पद्योंको भी प्रमाणरूपसे आशाधरजीने उद्धृत किया है। उनका विशेष परिचय इस प्रकार है—

१. गाथा १६ की टीकामें अपराजित सूरिने 'अन्ये व्याचक्षते' लिखकर अन्य व्याख्याका निर्देश किया है। आशाधरजीने उक्त मतान्तरका निर्देश करनेके पश्चात् लिखा है कि जयनन्दिपाद इस गाथाको पूर्वगाथाकी संवाद गाथा मानते हैं।

अन्ये तु 'महिलं गभोगिय' इति पठित्वा 'स्थंडिलं दृष्ट्वा' इति व्याख्यान्ति—

अध्ययन प्रश्नविधौ निपुणोऽनावेक्षणादिक प्रतिम ।
स्थण्डिलशायी यायादप्रतिबद्धस्य सर्वत्र ॥

इतरे तु स्थाण्डिल स्थाडिलशायी, गर्भाधीयुनः मधर्मयुक्त इति मन्येद पेट्.—
यह अमितगतिकृत पद्य है। इस तरह दो अनुवाद पाठभेद से हैं।

१४ इसी तरह गाथा ४१२-४१३ (४१०-४११) की टीकामें भी पाठभेदका उल्लेख कर संस्कृत पद्यानुवाद दिये हैं जो अमितगतिसे भिन्न हैं।

१५ गाथा ४२३ (४२१) की टीकामें टिप्पणका उल्लेख करके विजयोदयासे भिन्न अर्थ नवम और दशम कल्पका बतलाया है।

१६ गाथा ४३२ (४३०) की टीकामें मनुष्य जन्मकी दुर्लभतामें दश दृष्टान्त बतलाने वाली गाथा देकर लिखा है कि इनकी कथा प्राकृत टीका आदिमें विस्तरसे कही है। वहाँसे जानना।

१७ गा० ५११ (५०९) की टीकामें श्रीचन्द्रमुनिकृत निबन्धका उल्लेख है कि उसमें ऐसा ही व्याख्यान है।

१८. गा० ५२७ (५२५) में आचार्यको छत्तीस गुण सहित कहा है और गा० ५२८ (५२६) में छत्तीस गुण बतलाये हैं। किन्तु विजयोदयामें गाथासे सर्वथा भिन्न छत्तीस गुण कहे हैं। आशाधरजीने अपनी टीकामें उक्त संस्कृत टीका (विजयोदया) के छत्तीस गुण कहकर प्राकृत टीकामें कहे छत्तीस गुण भी बतलाये हैं जो उससे भिन्न है। उसमें २८ मूलगुण भी हैं। २८ मूलगुणोंकी मान्यता दिगम्बर परम्परामें ही है। अतः प्राकृत टीकाकार दिगम्बर होना चाहिए।

१९. गा० ५५२ (५५०) की टीकामें लिखा है कि सामायिक दण्डक स्तवपूर्वक बृहत् सिद्धभक्ति करके बैठकर लघुसिद्ध भक्ति करता है यह प्राकृत टीकाकी आम्नाय है।

२०. गा० ५६० (५५८) की टीकामें अष्टप्रातिहार्य सहित प्रतिमा अरहन्तकी और आठ प्रातिहार्यरहित प्रतिमा सिद्ध की कही है।

२१. गा० ५६३ (५६१) की टीकामें कहा है कि श्रीचन्द्राचार्य सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शान्ति भक्तिपूर्वक वन्दनाका विधान करते हैं।

२२ गा० ५६९ (५६७) में कृमिरागकम्बलका दृष्टान्त आया है। आशाधरजीने अपनी टीकामें इसका अर्थ संस्कृत टीका (विजयोदया) टिप्पन तथा प्राकृत टीकाके अनुसार पृथक्-पृथक् दिया है।

२३. गा० ५९१ (५८९) में चन्द्रकवेधमें अन्नको प्राप्तिका उदाहरण आया है। उसकी कथा आशाधरजीने श्रीचन्द्रटिप्पणसे दी है। इससे ज्ञात होता है कि उसमें कुछ कथाएँ भी होनी चाहिए।

२४. गा० ९२५ (९३१) की टीकामें आशाधरजीने उस गाथाका अन्य भी अर्थ देकर तदनुसारी अनुवादरूप श्लोक भी दिया है—

अन्ये—'अमणिच्छती महिलां अवसं परिभुंजदे जहिच्छाए।

गद वि विज्जिमदि जं सो'

इति पठित्वा एव व्याख्यातो । तथा चोक्तम् -

मद्यमकामलताना [illegible] ।
[illegible]मूर्तिं [illegible] ॥

अमितगतिका अनुवाद इस प्रकार है—

'भुङ्क्ते [illegible] ।
[illegible] ॥

२५ गा० ९३० मे गोधानुक्रम के दो अर्थ [illegible] करके [illegible] दो [illegible] उद्धृत किये है—

न दृष्टमपि सद्भाव वचनो प्रतिपद्यते ।
गोधान्तर्हि विद्यते सा पृच्छे कुलकुर्वती ॥—अमितगति ।

× × ×

प्रत्येति न सद्भाव दृष्ट्वापि हि कपटनाटक तनुः ।
गोधागुप्ति योषा विश्वासि नरस्य कुलजापि ॥

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विजयोदयामे 'गोधानुक्रम' का अर्थ नही है ।

२६ गा० ११८० (११८६) की टीकामे गाथाके 'आवज्जण' शब्दके प्राप्ति और सर्वथा विनाश ऐसे दो अर्थ लेकर दो संस्कृत श्लोक उद्धृत किये हैं जो उस गाथाके अनुवादरूप हैं तथा अमितगतिका अनुवाद उनसे भिन्न हैं—

'प्राप्तिशङ्का च पचाना हिंसादीना यतेर्भवेत् ।
रात्रिभोजनसद्भावे स्वविपत्तिश्च जायते ॥

अन्ये तु अण्हयाण व्रताना आवज्जणं सर्वथा विनाश इति व्याख्यान्ति । तथा चोक्तम्-

'तेषा पञ्चानामपि महाव्रताना विनाशने शङ्का ।
आत्मविपत्तिश्च भवेद् विभावरीभक्तसगेन' ॥

२७ गा० ११९० (११९६) की टीकामे सिद्धान्त रत्नमालासे नीचे लिखे श्लोक उद्धृत हैं—

यावनी, ज्ञापनी, पृच्छानयनी सशयन्यपि ।
आह्वानीच्छानुकूला वाक् प्रत्याख्यान्यप्यनक्षरा ॥
असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता जिनैः ।
व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञान वक्तु श्रोतुश्च सद्भवेत् ॥
त्वामह याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंचन ।
प्रष्टुमिच्छामि किञ्चित्त्वामानेष्यामि च किंचन ॥
बालः किमेष वक्तीति ब्रूत सन्देग्धि मन्मन ।
आह्वयाम्येहि भो भिक्षो करोम्याज्ञा तव प्रभो ॥
किञ्चित्त्वा त्याजयिष्यामि हुङ्कारोत्यत्र गौ बुत ।
याचन्यापि दृष्टान्ता इत्यमते प्रदर्शिता ॥

यह सिद्धान्त रत्नमाला अन्वेषणीय है ।

अनुवाद भी थे जिनमे प्राकृत गाथाओंका संस्कृत श्लोकोमें रूपान्तर किया गया था। आज तो केवल अमितगति कृत पद्यानुवाद ही उपलब्ध है जो शोलापुर सस्करणमे प्रकाशित हुआ है। उसके सिवाय कम से कम दो अनुवाद आशाधरजीके सामने अवश्य रहे हैं। उनमेसे एक अनुष्टुप् छन्दोंमे था तो दूसरा आर्या छन्दोंमें था। आर्या छन्दोका अनुवाद हमे मूलके अधिक निकट प्रतीत हुआ है। आशाधरजीने जिस विदग्ध प्रीतिवर्धनीका नाम निर्देश करके उससे आर्याच्छिन्द में जो उद्धरण दिया है वह गाथाका ही पद्यानुवाद है। अत एक पद्यानुवादका नाम विदग्ध प्रीतिवर्धनी हो सकता है। किन्तु यह नाम भगवती आराधना जैसे ग्रन्थके पद्यानुवादके अनुकूल प्रतीत नही होता। यह नाम तो किसी सुभाषितसग्रहके उपयुक्त हो सकता है या व्याख्यात्मक टीकाके भी उपयुक्त हो सकता है। अस्तु, कुछ विशेष कहना शक्य नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि कोई एक पद्यानुवाद प्राकृत टीकाके अनुसार था।

६-७. दो टिप्पण—आशाधरजीने दो टिप्पणोका भी उल्लेख किया है। उनमेंसे एक तो श्री चन्द्रकृत टिप्पण है और दूसरा जयनन्दिकृत टिप्पण है। श्री चन्द्रकृत टिप्पणका उपयोग आशाधरजीने विशेष किया प्रतीत होता है। श्री प्रेमीजीने लिखा[1] है कि ये वही श्रीचन्द जान पड़ते है जिन्होंने पुष्पदन्तके उत्तरपुराण और रविषेणके पद्मचरितके टिप्पण तथा पुराणसार आदि ग्रन्थ रचे थे जो भोजदेवके समयमे १०८७ थे और जिनके गुरुका नाम जिननन्दि था।

८. आराधना पञ्जिका—श्री प्रेमीजीने लिखा[2] है कि पूणेके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूटमे इसकी एक प्रति है परन्तु उसके आद्यन्त अंशोसे यह नही मालूम हो सका कि इसके कर्ता कौन है। प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्ता और अनेक ग्रन्थो पर टीकाएँ पञ्जिकाएँ लिखने वाले प्रभाचन्द्रके ग्रंथोंकी सूचीमे भी एक आराधना पंजिकाका नाम है। परन्तु यह वही है या इसके सिवाय कोई दूसरी यह नही कहा जा सकता। इसमें कोई उत्थानिका या मगलाचरणसूचक पद्य नहीं है जैसा कि प्रभाचन्द्रके टीका ग्रंथोमें प्राय रहता है।

प्रेमीजीने यह भी लिखा है कि दूसरे लिपिकर्ताने अपना संवत् १४१६ दिया है और उसने वह प्रति अपनेसे पहलेकी प्रति परसे की है। इससे इसके निर्माण कालके विषयमें इतनी बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है यह पंजिका चौदहवी शताब्दीके बादकी नही है।

---

१ जैं० सा० इ०, पृ० ८६ का टिप्पण।

२. जैं० सा० इ०, पृ० ८०–८१। हमने पूनाके भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधक मन्दिरमें इसकी खोज कराई किन्तु नही मिली। यदि मिलती तो उसे भी इसके साथ प्रकाशित कर देते। प्रेमी जीने उसका अन्त का अंश इस प्रकार दिया है—

अज्जजिणणदि आर्य जिननन्दिगणिन सर्वगुप्तगणिन आचार्यमित्रनन्दिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुत चावगम्य। पुव्वारिएत्यादि। पूर्वाचार्यकृतानि च शास्त्राणि उपजीव्येयमाराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणितल भोजिना। छदुमत्थदाण। छद्मस्थतया यदत्र प्रवचनविरुद्धबद्धं भवेत् तत् सुगृहीतार्था शोधयन्तु प्रवचनवत्सलतया। आराहणा भगवदी। आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता सती सघस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलभव्यजनप्रार्थनीया अव्याबाधसुखा सिद्धि प्रयच्छतु। इत्याराधनापञ्जिका समाप्ता। (यह विजयोदयासे अक्षरश मिलती हुई है।)

यह गाथा १४०६ का पद्यानुवाद है। दूसरी गाथामें चवलाके स्थानमें जो व्याख्या पढ़ते है, उन्होने कहा है—

'इन्द्रिय कषायकलभा विषयवने क्रीडनैकरसरसिका।
उपशमवने प्रवेश्यास्ततो न दोषं करिष्यन्ति॥'

३१ गा० १५६१ (१५६६) की टीकामें—एषा केषाञ्चिदाचार्याणा मतेन व्याख्या। उक्तं च
नरककटे त्व प्राप्तो यद्दुःख लोहकण्टकैस्तीक्ष्णैः।
यन्नारकैस्ततोऽपि च निष्क्रान्त प्रापितो घोरम्॥

अन्येषा त्वय पाठो । तदुक्तम्—
आयसे कण्टके प्राप्तो यद्दुःख नरकावनौ।
नारकैस्तुद्यमान सन्पतितो निशितैर्भवान्॥

३२ प्राय आशाधर जी अपनी टीकामे 'श्रीविजयो नेच्छति' लिखते हैं कि टीकाकार श्रीविजय अमुक गाथाको मान्य नही करते। किन्तु १६३४-१६३५ (१६३९-१६४०) मे लिखा है ये दो गाथाएँ श्रीविजय आदि मान्य नही करते। अर्थात् इन्हे अन्य टीकाकार भी मान्य नहीं करते।

३३ गाथा १८१२ (१८१८) की टीकामे भी एक श्लोक उद्धत करके उसे प्राकृत टीकाकारके मतमे व्याख्या कहा है। और 'अन्ये' करके जो श्लोक उद्धृत किया है वह अमितगतिकी टीकाका है। उसके बाद 'अपरे' करके तीसरा मत दिया है।

३४ आशाधरजीकी तो सभी टीकाएँ ग्रन्थान्तरोंके प्रमाणोंसे भरी हुई है। इसमे भी कुछ उद्धरण उल्लेखनीय है। ध्यानके वर्णनमे आर्ष नामसे महापुराणमे बहुत श्लोक उद्धृत किये हैं। इसी प्रसगमें गाथा १८८१ (१८८७) की टीकामें 'उक्तं च ज्ञानार्णवे' लिखकर सात श्लोक उद्धृत किये हैं। तथा गा० २११८ (२१२४) की टीकामें 'तथा चोक्तं पञ्चसंग्रहे' लिखकर प्राकृत पञ्चसंग्रहसे ७ गाथाएँ उद्धृतकी है। प्राकृत पञ्चसग्रहका यह सर्व प्रथम उल्लेख है जो इसी ग्रन्थमे मिलता है। इससे पूर्व किसी भी ग्रन्थमें नही मिलता।

३ प्राकृत टीका—इस प्रकार मूलाराधनादर्पणमे विजयोदयाके अतिरिक्त कई टीकाओंका पता चलता है उनमेसे एक प्राकृत टीका तो सुनिश्चित थी। और वह किसी दिगम्बराचार्य प्रणीत होनी चाहिये क्योकि उसमे आचार्यके छत्तीस गुणोमे अठाईस मूलगुण गिनाये हैं। २८ मूलगुणोंकी परम्परा दिगम्बर परम्परा है। मूलाचारके प्रारम्भमे तथा कुन्दकुन्दके प्रवचनसारके चारित्राधिकार (गा० ८-९) मे मूलगुणोका कथन आता है। आशाधरजीके उल्लेखोंसे यह भी प्रकट होता है कि उसमे और विजयोदयामे क्वचित् मतभेद भी है। तथा आशाधर जीने ऐसे स्थानोमे प्राकृत टीकाको महत्त्व दिया है। उसमे कथाएँ भी थी। यह टीका अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होनी चाहिये।

४ एक अन्य संस्कृत टीका—आशाधर जीके उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि विजयोदयाके अतिरिक्त अन्य भी संस्कृत टीका उनके सामने थी। वे अनेक भी हो सकती है जैसा कि विजयोदयामे आये उल्लेखोंसे स्पष्ट है। किन्तु एक तो अवश्य थी। उसका उल्लेख आशाधर जीने संस्कृत टीकाकार रूपसे भी किया है।

५ संस्कृत पद्यानुवाद—पद्यात्मक संस्कृत टीकाओंके सिवाय कुछ पद्यात्मक संस्कृत

प्रभाचन्द्रकृत एक गद्यकथा कोश भी है जिसमें भ० आ० की गाथाएँ उद्धृत करके उनसे सम्बद्ध कथाएं दी हैं। सम्भव है यह पंजिका उन्ही प्रभाचन्द्र की हो।

९. भावार्थ दीपिका टीका'—श्री प्रेमीजीने लिखा है कि यह टीका भी पूनेके भण्डारकर इन्स्टीच्यूटमें है, यह टीका शिवजिद् अरुण अर्थात् प० शिवजी लालने अपने पुत्र मणिजिद् अरुणके लिये बनाई है। वे जयपुरकी भट्टारककी गद्दीके पंडित थे। संवत् १८१८ मे टीका समाप्त हुई है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ रची गई थी।

भ० आ० के रचयिता—

इस ग्रन्थके अन्तमे इसके रचयिताने जो अपना परिचय दिया है उससे इतना ही ज्ञात होता है कि आर्य जिननन्दि गणि, सर्वगुप्त गणि और आचार्य मित्र नन्दिके पादमूलमें सम्यक् रूपसे श्रुत और अर्थको जानकर हस्तपुटमे आहार करनेवाले शिवार्यने पूर्वाचार्यकृत रचनाको आधार बनाकर यह आराधना रची है।

इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकारका नाम शिवार्य था और जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि उनके गुरु थे। उनके पादमूलमे ही उन्होने श्रुतका अध्ययन किया था। किन्तु इस ग्रन्थकी रचनामे उनका कोई हाथ प्रतीत नही होता, क्योकि गाथा २१६० में वह 'ससत्तीए' अपनी शक्तिसे पूर्वाचार्य निबद्ध रचनाको उपजीवित करनेकी बात कहते हैं। उपजीवितका अर्थ पुन जीवित करना होता है अत ऐसा भी उनका अभिप्राय हो सकता है कि पूर्वाचार्य निबद्ध जो आराधना लुप्त हो गई थी उसे उन्होने अपनी शक्तिसे जीवित किया है।

यद्यपि अभी तकके विद्वान लेखकों[2] ने 'पुव्वाइरियणिबद्धा उपजीवित्ताका अर्थ 'पूर्वाचार्यों-के द्वारा निबद्धकी गई या रची गई रचनाके आधारसे किया है, और हमने भी तदनुसार ही अर्थ किया है। किन्तु 'उवजीवित्ता इमा ससत्तीए' पद हमें इस अर्थका सूचक प्रतीत नही होता। यदि पूर्वाचार्य निबद्ध आराधना या इस तरहकी कोई रचना उनके सामने थी तो इसके लिये उप-जीवित्ता (उपजीव्य) पदका प्रयोग नही घटित होता और न 'स्वशक्ति' पदका प्रयोग ही वजन-दार प्रतीत होता है। उसका वजन तो तभी बढ़ता है जब रचयिता अपनी शक्तिसे एक पूर्वलुप्त कृतिको जीवनदान देता है। अत शिवार्यने पूर्वाचार्य निबद्ध रचनाको आधार बनाकर आरा-धना नही बनाई किन्तु उसे अपनी शक्तिसे पुनर्जीवित किया है।

टीकाकार अपराजित सूरिने अपनी टीकामें 'पुव्वायरिय' आदिका जो अर्थ किया है वह भी ध्यान देने योग्य है—वह लिखते है—'पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य' यहाँ जो 'इव' पदका प्रयोग है वह उल्लेखनीय है। पूर्वाचार्यकृतकी तरह उपजीवित करके यह आराधना अपनी शक्तिसे शिवार्यने रची। अर्थात् इस रचनाको उन्होने अपनी शक्तिसे इस प्रकार उपजीवित किया मानो वह पूर्वाचार्यकृत है। पूर्वाचार्यकृत रचनाको आधार बनाकर रचने की गन्ध भी टीकामें नही है। अत यह ग्रन्थ शिवार्य की अपनी शक्तिसे रचित मौलिक कृति है। तभी तो यह आगे

---

१ '[illegible] ।
[illegible] ।'

२ जै० सा० इ० पृ० ७१। [illegible] डा० उपाध्येकी प्रस्तावना पृ० ५२।

की गाथामें अपनी छद्मस्थताके कारण आगमविरुद्ध यदि कुछ लिखा गया हो तो उसको शुद्ध करनेकी प्रार्थना करते हैं। अतः उन्होंने अपनी शक्तिसे एक लुप्त कृतिको पुनर्जीवित किया है, यही उनका अभिप्राय हमें प्रतीत होता है। अस्तु,

जहाँ तक हम जानते हैं जैन परम्पराकी किसी पट्टावली आदिमें न तो शिवार्य नाम ही मिलता है और न उनके गुरुजनोंका ही नाम मिलता है। शिवार्य में शिव नाम और आर्य विशेषण हो सकता है, जैसे आर्य जिननन्दि गणि और आर्य मित्रनन्दि गणिमें है। अत अतः यह कह सकते हैं कि इस ग्रन्थके रचयिता आर्य शिव थे।

भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने महापुराणके प्रारम्भमें एक शिवकोटि नामक आचार्यका स्मरण किया है—

'शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाऽऽराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्गं स पायान्न शिवकोटिमुनीश्वर ॥'

अर्थात् जिन की वाणी द्वारा चतुष्टय रूप (दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप रूप) मोक्षमार्ग-आराधना करके जगत् शीतीभूत हो रहा है वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें।

इस श्लोकमें जो 'आराध्य चतुष्टयं' तथा शीतीभूतं पद है ये दोनों पद शिव आर्य रचित भगवती आराधना की ही सूचना करते प्रतीत होते हैं। क्योंकि उसीमें चार आराधनाओंका कथन है। तथा गाथा ११७८ में कहा है कि सर्व परिग्रहको त्यागकर जो 'शीतीभूत' होता है। इसके साथ ही उसके रचयिताका नाम 'शिव' भी है। उसके साथ यद्यपि कोटि शब्दका प्रयोग विशेष किया गया है तथापि इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि जिनसेन स्वामीने भगवती आराधनाके कर्ताका ही स्मरण किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्रकृत कथाकोशमें दर्शन और ज्ञानका उद्योतन करनेमें आचार्य समन्तभद्र की कथा दी है। उसके अनुसार भस्मक व्याधि होने पर वे वाराणसीके राजा शिवकोटिके दरबारमें जाते हैं और उनके शिवालयमें शिवपिण्डीके फटने तथा चन्द्रप्रभु भगवानकी प्रतिमा प्रकट होनेके चमत्कारसे शिवकोटिको प्रभावित करते हैं। शिवकोटि राज्य त्याग कर साधु हो जाते हैं। तथा सकल श्रुतका अवगाहन करके लोहाचार्यरचित आराधनाको, जिसका परिमाण चौरासी हजार था, संक्षिप्त करके अढाई हजार प्रमाण मूलाराधनाकी रचना करते हैं।

प्रभाचन्द्रसे पूर्वमें आचार्य हरिषेणने कथाकोश रचा है उसमें यह कथा नहीं है, यद्यपि उस कथाकोशका आधार भी मूलाराधना या आराधना ही है। आचार्य जिनसेनके उल्लेखसे यह तो स्पष्ट है कि भगवती आराधनाके रचयिता शिवकोटि नामसे ही ख्यात रहे हैं। किन्तु जिनसेनने उन्हें समन्तभद्रका शिष्य नहीं कहा है। ऐसा होता तो समन्तभद्रके पश्चात् ही वे शिवकोटिका स्मरण करते। किन्तु दोनोंके मध्यमें श्रीदत्त और प्रभाचन्द्रका स्मरण है। अत जिनसेन के समय तक शिवकोटिको समन्तभद्रका शिष्य माननेकी कथा प्रवर्तित नहीं हुई थी।

प्रभाचन्द्रके सामने इसका क्या आधार रहा है यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु लोहाचार्य विरचित ८४ हजार प्रमाण वाली आराधनाका भी अन्यत्र कोई संकेत नहीं मिलता।

इसके साथ शिवार्य अपनी प्रशस्तिमें इसका कोई संकेत तक नहीं देते। यदि वह समन्त-

भद्रसे प्रभावित होकर मुनि बने होते तो अपनी इस कृतिमें वे अवश्य ही इस घटनाका कुछ तो संकेत देते। अतः प्रभाचन्द्रकृत कथाकोशमें इस ग्रन्थकी रचनाके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है वह किसी किम्वदन्तीके आधारसे ही लिखा गया प्रतीत होता है। अस्तु,

रचनाकाल

आर्य शिवके सम्बन्धमें कुछ विशेष ज्ञात न होनेसे उसके रचनाकालके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आचार्य जिनसेनके महापुराणसे पूर्वमें आराधनाकी रचना हुई है। किन्तु कितने पूर्व हुई है यह कहना शक्य नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि आचार्य कुन्दकुन्द तथा मूलाचारके रचयिता वट्टकेरके समकक्ष ही शिवार्य होने चाहिये क्योंकि भगवती आराधनामें कुछ नवीन प्रतीत नहीं होता। सब कुछ प्राचीन ही है। उसकी गाथाएँ यदि मेल खाती हैं तो दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके प्राचीन ग्रन्थोंसे ही मेल खातीहैं। उसकी आचार विषयक गाथाएँ मूलाचारमें छुटफुट रूपसे मिलती हैं और मरण समाधि विषयक कुछ गाथाएँ मरण समाधि आदिमें मिलती हैं। उसमें जो मरणोत्तर विधि है जो आजके प्रबुद्ध पाठकोंको भी विचित्र प्रतीत होती है वह भी उसकी प्राचीनताकी द्योतक है। प्राचीन युगमें इस तरहके विश्वास पाये जाते थे। ग्रन्थमें अचेलकता पर बहुत जोर दिया है तथा वस्त्रको परिग्रहका उपलक्षण बतलाकर समस्त परिग्रहके त्यागको अनिवार्य बतलाया है। कमण्डलु और पीछी दो ही उपकरण साधुके लिए अनिवार्य कहे हैं।

यापनीय संघकी उत्पत्ति जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधुसे हुई बतलाई है वह हमें परिग्रहके कारण ही हुई प्रतीत होती है। श्वेताम्बर साधु वस्त्र पात्रको अनिवार्य मानते थे। किन्तु यापनीय उससे सहमत न होंगे। इसीसे वे पृथक् हो गये होंगे। उसी समयकी यह रचना होना संभव है। उसके ऊपर जो संस्कृत और प्राकृतमें तथा गद्य और पद्यमें इतनी टीकायें रची गईं वे भी उसकी प्राचीनताको ही प्रकट करती हैं। अन्तिम उपलब्ध टीका आशाधर की है जो विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें रची गई है। और विक्रमकी नवम शताब्दीमें रचित महापुराणमें भगवती आराधना तथा उसके रचयिता शिवकोटिको स्मरण किया गया है। लगभग इसी कालकी रचना विजयोदया टीका होनी चाहिये। और विजयोदया लिखते समय उसके रचयिताके सामने एक नहीं अनेक व्याख्यायें थीं। अतः भगवती आराधना विक्रमकी प्रारम्भिक शताब्दीके आसपास की रचना होना चाहिये। अतः उसे हम कुन्दकुन्दकी रचनाओंका लगभग समकालीन मान सकते हैं। कुन्दकुन्दके समयसारकी मंगल गाथा 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' और भगवतीकी मंगलगाथा 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' में हमें शब्द और अर्थगत एक-सी ही ध्वनि और भावना गूँजती हुई प्रतीत होती है।

किन्तु कुन्दकुन्दने अपने चारित्रपाहुडमें समाधिमरणको चार शिक्षाव्रतोंमें स्थान दिया है और तत्त्वार्थसूत्रमें सल्लेखनाको अलगसे कहा है। भगवती आराधनामें भी गुणव्रत और शिक्षाव्रत सम्यग्दर्शनके अनुसार कहे हैं। तथा सल्लेखनाको पृथक्से कहा है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें शिक्षाव्रत सल्लेखनाकी कोई चर्चा नहीं है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम टीकाकार पूज्यपाद कहते हैं कि

१ हरि० कथाकोश की डा० उपाध्ये की प्रस्ता० पृ० ५५।

अहिंसाणुव्रतकी भावनामें यह गर्भित है। और भगवती आराधनामें भी अहिंसाव्रतकी भावनामें आलोक भोजन है। फिर भी आराधनामें पंच महाव्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन त्यागको आवश्यक कहा है। अतः यह विषय चिन्तनीय है।

शिवार्यके द्वारा स्मृत गुरुओंमें एक सर्वगुप्त गणि भी है। गाथा २१६२ में आये 'संघस्स' पदका व्याख्यान विजयोदयामें 'सर्वगुप्तगणिन संघस्य' किया है। और अमोघवृत्तिमें एक उदाहरण आता है—'उपसर्वगुप्तं व्याख्यातार.' (१।३।१०४) अर्थात् सर्वगुप्त सत्रसे बड़े व्याख्याता थे। इसके साथ ही तीन उदाहरण और हैं- शाकटायन, सिद्धनन्दि और विशेषवादी। यत शाकटायन यापनीय थे इसलिये अन्य सब भी यापनीय होना चाहिये। और ऐसी स्थितिमें शाकटायनके द्वारा स्मृत सर्वगुप्त भगवती आराधनाके कर्ताके गुरु हो सकते हैं।

टीकाकार अपराजित सूरि

भगवती आराधनाकी जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे देखनेमे आई सबमें अपराजित सूरिकी विजयोदया टीका पाई जाती है। इस टीकाको अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि टीकाकारका नाम अपराजित सूरि था। वे चन्द्रनन्दि महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य थे और बलदेव सूरिके शिष्य थे। आरातीय आचार्योंके चूडामणि थे। नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी सेवाके प्रसादसे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। अर्थात् उनके विद्यागुरुका नाम नागनन्दि था। श्री अपराजित सूरि जिन शासनके उद्धारमे सलग्न थे और उन्हें बहुत यश प्राप्त था। उन्होंने श्रीनन्दिगणि या नागनन्दि गणिकी प्रेरणासे आराधनाकी टीका रची थी। टीकाका नाम श्री विजयोदया है।

केवल इतना ही उन्होंने अपने सम्बन्धमे लिखा है। प० आशाधर ने अनगार धर्मामृतकी टीकामें[1] तथा म० आ० की मूलाराधना[2] दर्पण नामक पंजिकामें श्रीविजय या श्रीविजयाचार्य नामसे इनका उल्लेख किया है। अपराजित और श्रीविजय शब्द परस्परमें सम्बद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है उन्होंने शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्त की थी और उसी पर से उन्हें अपराजित पराजित न होनेवाला नाम प्राप्त हुआ था। संभवतः उसीकी स्मृतिमें उन्होंने अपनी टीकाओंको श्री विजयोदया नाम दिया था। उनकी दशवैकालिककी टीकाका भी यही नाम था।

शिवार्य की तरह अपराजित सूरिकी भी गुरुपरम्परा किसी जैन पट्टावली या गुर्वावलीमें नहीं मिलती। वह अपनेको आरातीय चूडामणि लिखते हैं और सर्वार्थसिद्धि टीकाके अनुसार 'भगवानके साक्षात् शिष्य गणधर और श्रुतकेवलियोके पश्चात् आरातीय आचार्योंने कालदोषसे अल्प आयु और अल्प बुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिए दशवैकालिक आदि रचे।' अतः आरातीय आचार्य विशिष्ट होते थे। अपराजित सूरि भी अपने समयके विशिष्ट आचार्य माने जाते होंगे

---

१ भा० ज्ञानपीठ स०, पृ० ६८४—'एतच्च श्रीविजयोचार्यविरचितमूलाराधनाटीकायां विस्तरत. समर्थित दृष्टव्यमिह न प्रपञ्च्यते।'

२ शोलापुर संस्करण गाथा ४४, ५९५, ६८१, ६८२, १७१२ और १९१९ की टीका।

३ आरातीयै. पुनराचार्यै. कालदोषसंक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्ध ॥ —(१।२०)

क्योंकि उन्होंने भी दशवैकालिक पर टीका रची थी। यापनीय सम्प्रदायमें जैसे शब्दानुशासनके रचयिता शाकटायन श्रुतकेवलिदेशीय कहे जाते थे वैसे ही यह आरातीय चूडामणि कहे जाते होंगे। और उस समय भगवती आराधना पर टीका लिखना भी एक विशिष्ट महत्ताका परिचायक होगा।

इसमें तो सन्देह नहीं कि अपराजित सूरि जिनागमके विशिष्ट अभ्यासी थे। उनकी विजयोदया टीका उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य और रचना शैलीकी विशिष्टताका परिचायक है। संस्कृत और प्राकृत पर उनका समान अधिकार था तथा गद्यकी तरह पद्य रचनामें भी अधिकार था। उनकी इस टीकामें मार्गणाका वर्णन करनेवाले कुछ श्लोक उन्हींके द्वारा रचित प्रतीत होते हैं।

उनकी इस रचनाका एक उद्देश हमें अचेलत्वकी प्रतिष्ठा करना प्रतीत होता है। क्योंकि ४२३ गाथाके व्याख्यानमें उन्होंने आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें उसे जोरसे प्रतिष्ठापित किया है। इसे हम पूर्वमें लिख आये हैं। अतः वह ऐसे समयमें हुए हैं जब वस्त्र पात्रवाद बढ़ रहा था। श्वेताम्बर परम्परामें विशेषावश्यक भाष्य इस विषयक एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें जम्बूस्वामीके पश्चात् जिनकल्पकी व्युच्छित्तिकी घोषणा की गई है। ईसाकी आठवीं शताब्दीके श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरिने तो अपने संबोध प्रकरणमें साधुओंके अकारण कटिबन्ध पर भी [illegible] की है। किन्तु टीकाकारोंके द्वारा अचेलका अर्थ अल्पचेल और अल्पमूल्यचेल किये [illegible] अचेल [illegible] का भी वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया। यह समय नौवीं शताब्दी है [illegible] अपराजित सूरि होना चाहिये। उनकी टीकामें जो उद्धरण खोज निकाले [illegible] उद्धरण [illegible] का है : उसका रचनाकाल सातवीं शताब्दी है [illegible] की गई है। भर्तृहरि शृङ्गार शतकका भी एक श्लोक [illegible] है। [illegible] होना चाहिये। यह उसकी पूर्वावधि है। उत्तरावधि [illegible] इसमें विजयोदयाके अनेक उल्लेख हैं। संस्कृत पद्यानुवादके [illegible] की गयी है। किन्तु उनके पद्यानुवादके सिवाय [illegible] और वे अमितगति पूर्वके हो सकते हैं, क्योंकि [illegible] है फिर भी पूर्व रचनाओंको अपनानेकी उनमें [illegible] संस्कृत पञ्चसंग्रह रचा और उसे मौलिक मान [illegible] पञ्चसंग्रह प्रकाशमें आया तब ज्ञात हुआ कि [illegible] है। [illegible] सामने विजयोदया हो सकती है। अन्य [illegible]

[illegible] [illegible] शताब्दीके पूर्व और छठी शताब्दीके बादका [illegible] है—[illegible] पूर्वी चालुक्य महाराजका एक दानपत्र [illegible] है। [illegible] चन्द्रनन्दि, कीर्तिनन्दि और विमल- [illegible] उल्लेख है। अपराजित शायद इन्हीं चन्द्रनन्दिके [illegible]

[illegible] भा० जैनसंघ मथुरासे प्रकाशित।

[illegible]

[illegible]

उपसंहार

अन्तमें मै उन सबको धन्यवाद देता हूँ जिनके सहयोगसे मुझे इस ग्रन्थके सम्पादन, संशोधन और प्रस्तावना लेखनमें सहयोग मिला। दिल्लीके लाला पन्नालाल जीके सहयोगसे दि० जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा दिल्ली की प्रति प्राप्त हुई। श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जीके अधिकारियोंके सहयोगसे डा० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल जयपुर द्वारा आमेर शास्त्र भण्डारकी प्रति प्राप्त हुई। प० रतनलाल जी कटारिया केकडीके द्वारा टोडा रायसिंहकी प्रतिके पाठान्तर तथा प्रति प्राप्त हुई। सर सेठ भागचन्द जी, प० सुजानमलजी सोनी आदिके प्रयत्नसे भट्टारकजीके मन्दिर अजमेरकी प्रति प्राप्त हुई। तथा जीवराज ग्रन्थमाला के मन्त्री सेठ बालचन्द देवचन्द शाहके सहयोगसे उस ग्रन्थमालासे इसका प्रकाशन हुआ। और पं० बाबूलाल जी फागुल्ल तथा उनके सुपुत्र श्री राजकुमार जीके सहयोगसे एक ही वर्षके मध्यमे इसका मुद्रण हो सका।

यह ग्रंथ महान है। इसके सम्पादन, संशोधन, अनुवाद और मुद्रणमे भूल रहना स्वाभाविक है। यथा गाथा २५१ का अर्थ ही छूट गया है। उसे यहाँ दिया जाता है। पाठक सुधारकर पढनेका कष्ट करें—

२५१ गाथाका छूटा हुआ अर्थ

'यदि क्षपकको आयु शेष हो और शरीरमें बल हो तो जो अनेक भिक्षु प्रतिमायें कही हैं उनको भी धारण करें। जो अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करता है उसे ये भिक्षु प्रतिमायें कष्ट नहीं देतीं। किन्तु जो शक्तिका विचार किये बिना सल्लेखना धारण करता है उसकी समाधि भंग होती है और उसे बड़ा क्लेश उठाना पड़ता है ॥ २५१॥'

आसाढ़ी अष्टाह्निका
वी० नि० स० २५०४

विद्वानोका अनुचर
कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
सिद्धोंको नमस्कार पूर्वक आराधनाका का कथन करनेकी प्रतिज्ञा	१
शास्त्रके आदिमें नमस्कार करनेका प्रयोजन	२
सिद्ध शब्दके चार अर्थ	४
आराधनाकी उपयोगिता	६
आराधनाका स्वरूप	७
उद्योतन, उद्यवन आदिका स्वरूप	८
संक्षेपसे दो आराधना कही हैं	१०
संक्षेपके तीन भेद	११
दर्शनकी आराधना करनेपर ज्ञानकी आराधना नियमसे होती है ज्ञानकी आराधना करनेपर दर्शनकी आराधना भजनीय है	१२
उक्त विषयमें अन्य व्याख्याकारोंके मतकी समीक्षा	१३
मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं	१७
समयका स्वरूप तथा निश्चयनयके निरासके लिए शुद्ध विशेषण	१७
संयमका अर्थ चारित्र	१९
संयमकी आराधना करनेपर तपकी आराधना नियमसे, तपकी आराधनामें चारित्रकी आराधना भजनीय	१९
अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	२०
चारित्रके बिना भी निर्वाणगमन	२१
असंयमी सम्यग्दृष्टीका भी तप व्यर्थ	२२
अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	२३
चारित्रकी आराधनामें सबकी आराधना	२४
अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	२६
चारित्राराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनकी आराधनाका अविनाभाव	२७

विषय	पृष्ठ
चारित्र ज्ञान और दर्शन एक ही हैं	२९
चारित्रमें उद्योग और उपयोग ही तप है	२९
चारित्रकी प्रधानताको लेकर समाधान	३२
दुःख दूर करना ज्ञानका फल	३४
अन्य व्याख्याओंकी समीक्षा	३४
निर्वाणका सार अव्याबाध सुख	३५
समस्त प्रवचनका सार आराधना	३५
आराधनाकी महत्ताका कारण	३६
अन्त समय विराधना करनेपर संसारकी दीर्घता	३७
अन्य व्याख्याकारकी समीक्षा	३७
समिति, गुप्ति, दर्शन और ज्ञानके अतिचार	३८
आराधना ही सारभूत है	३९
यदि मरते समयकी आराधना सारभूत है तो अन्य समयमें आराधना क्यों करना, इसका समाधान	४०
उदाहरण द्वारा समर्थन	४१
योग शब्दके अनेक अर्थ	४४
मिथ्यात्व आदिको जीतकर ही श्रामण्य भावनावाला आराधना करनेमें समर्थ	४५
मिथ्यात्वके भेदोंका स्वरूप और उनको जीतनेका उपाय	४६-४७
मरणके सतरह भेद	४९
सम्यग्दृष्टि और संयतासंयतका बाल-पण्डितमरण	५६
सशल्यमरणके दो भेद	५६
निदानके तीन भेद	५६
वशार्तमरणके चार भेद	५७
कषायवश आर्तमरणके चार भेद	५८

विषय	पृ०
इन सत्तरह मरणोंमेंसे यहाँ पाँच मरणोंका ही कथन करनेकी प्रतिज्ञा	६०
क्षीणकषाय और अयोग केवलीका पण्डित पण्डितमरण	६१
अन्य व्याख्याकारोंकी समीक्षा	६२
पण्डितमरणके तीन भेद—पादोपगमन, भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी	६४
पादोपगमनमरण आदिकी व्युत्पत्ति	६४
अविरत सम्यग्दृष्टीका बालमरण	६५
मिथ्यादृष्टिका बाल-बालमरण	६५
दर्शन आराधनाका कथन	६६
सम्यग्दर्शनके भेदोंका स्वरूप	६७
सम्यग्दृष्टी गुरुनियोगसे असत्का भी श्रद्धान करता है	६८
सूत्रसे दिखलानेपर भी यदि वह असत् श्रद्धान नहीं छोड़ता तो मिथ्यादृष्टि है	६९
किसके रचित सूत्र प्रमाण है ?	६९
प्रत्येक बुद्ध-अभिन्न दसपूर्वीका स्वरूप	७०
सूत्रोंका अविपरीत अर्थ कौन कर सकता है ?	७१
जो षट्द्रव्योंका और तत्त्वोंका श्रद्धानी है वह सम्यग्दृष्टी है	७२
जो सूत्रनिर्दिष्ट एक भी अक्षरका श्रद्धान नहीं करता है वह मिथ्यादृष्टि	७५
मिथ्यादृष्टीका स्वरूप	७७
मिथ्यात्वका फल अनन्तमरण	७७
अतः निर्ग्रन्थ प्रवचनकी श्रद्धा ही कार्यकारी	७८
सम्यक्त्वके अतिचार	७९
सम्यग्दर्शनके चार गुण	८१
दर्शन विनय	८३
अरहन्त, सिद्ध, चैत्य आदिका स्वरूप	८३
भक्तिपूजा तथा वर्णजनन	८७
सिद्ध, चैत्य, श्रुत, तथा धर्मका माहात्म्य	८८
साधु, आचार्य, आदिका माहात्म्य	९०

विषय	पृ०
अर्हन्त सिद्ध, चैत्य, श्रुत, धर्म, साधु और प्रवचनका अवर्णवाद	९२
दर्शनका आराधक अल्पसंसारी	९३
सम्यक्त्वकी आराधना जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट	९४
उत्कृष्ट केवली, जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टी	९५
सराग सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व	९५
प्रशस्तराग अप्रशस्तराग	९६
जघन्य सम्यक्त्व आराधनाका माहात्म्य	९६
मिथ्यादृष्टि किसीका भी आराधक नहीं	९७
मिथ्यादर्शनका स्वरूप और भेद	९८
मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसादि गुण भी निष्फल	९९
मिथ्यात्वीका चारित्र और तप भी व्यर्थ	१०१
अभव्यके अनन्तभव	१०२
प्रथम भक्तप्रत्याख्यानमरणका कथन	१०३
भक्तप्रत्याख्यानके दो भेद	१०४
यहाँ सविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन चालीस सूत्रों द्वारा	१०४
चार गाथाओंसे चालीस सूत्र कहते हैं	१०५
असाध्यव्याधिमें या संयमको घातक वृद्धावस्थामें या उपसर्गमें	१०८
चारित्रके नाशक शत्रुओंके होनेपर या दुर्भिक्षमें या घोर जंगलमें फँस जानेपर	११०
चक्षु और श्रोत्रके दुर्बल हो जानेपर	१११
पैरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेपर भक्त-प्रत्याख्यान करना योग्य है। उक्त भयोंके न होनेपर भी जो मुनि मरना चाहता है वह मुनिधर्मसे विरक्त है	११२
भक्तप्रत्याख्यानका इच्छुक निर्ग्रन्थ लिंग-धारण करता है।	११३
जिसके पुरुषचिन्हमें दोष हो वह भी उस समय निर्ग्रन्थ लिंगधारण करे	११४
औत्सर्गिक लिंग (वेष) का स्वरूप	११४

विषय	पृ०
…हार संयमकी विधि	२०१
…कलाकी विधि	२०५
… प्रत्याख्यान करनेका निर्णय	२०७
…मके साधनमात्र परिग्रहके सिवाय शेष परिग्रहका त्याग	२१०
… प्रकारकी शुद्धि	२१२
… प्रकारका विवेक	२१४
…ग्रह त्यागका क्रम	२१६
…श्रिति और भावश्रितिका स्वरूप	२१७
…श्रिति शुभपरिणामकी रक्षाके उपाय तथा	२१९
…तिका क्रम	,,
…निके अनन्तर संघका त्याग	२२०
…च प्रकारकी संक्लिष्टभावना	२२१
…न्दर्प भावनाका कथन	२२२
…ल्विषभावनाका कथन	,,
…भियोग्य भावनाका कथन	२२३
…ासुरी भावनाका कथन	,,
…मोहभावनाका कथन	२२४
…न भावनाओंका फल	२२५
…टी तपभावना ग्राह्य	,,
…पोभावना ही समाधिका उपाय	२२६
…पोभावनासे रहितके दोष	२२७
…ुत भावनाका माहात्म्य	२२८
…ानभावनाके होने पर ही तप-संयम होते हैं	२२९
…त्वभावनाके गुण	२३०
एकत्व भावनाके गुण तथा स्वरूप	२३३
धृतिबल भावना	२३५
सल्लेखनाके दो भेद	२३६
बाह्य सल्लेखनाके उपाय	२३६
बाह्यतप	,,
अनशन तपके भेद	२३६
अद्धानशनके भेद	२३७
आहारका प्रमाण	२३७
अवमौदर्य तप	२३८
रस परित्याग तप	,,
वृत्ति परिसंख्यान तप	२४०
कायक्लेश तप	२४२
स्थानयोगका कथन	२४३
आसनयोगका कथन	,,
विविक्त शय्यासन तप	२४४
उद्गम दोष	२४५
उत्पादन दोष	२४६
एषणा दोष	२४७
विविक्त वसति कौन	२४८
विविक्तवसतिमें दोषोंका अभाव	२४९
निर्जराके इच्छुक यतिके द्वारा करने योग्य तप	२५०
प्रकारान्तरसे सल्लेखनाके उपाय	२५७
उनमें आचाम्ल उत्कृष्ट	२५८
आचाम्लका स्वरूप	२५९
भक्तप्रत्याख्यानका काल बारह वर्ष	,,
बारह वर्षोंमें क्या करना चाहिये	,,
शरीर सल्लेखनाका क्रम कहकर अभ्यन्तर सल्लेखनाका क्रम	२६०
अभ्यन्तर शुद्धिके अभावमें दोष	२६१
परिणाम विशुद्धिका नाम कषाय सल्लेखना	२६१
चारों कषायोंको कृश करनेका उपाय	२६२
रागद्वेषकी शान्तिके उपाय	२६३
कषायरूप अग्निकी शान्तिके उपाय	२६४
सल्लेखनाके पश्चात्का कर्तव्य	२६५
यदि आचार्य सल्लेखना धारण करें तो अपना संघ योग्य शिष्यको सौंप कर सबसे क्षमा ग्रहण करें	२६६
तत्पश्चात् शिक्षा दें कि	२६९
गणधर (आचार्य) कैसा होता है	२७१
ऐसा करनेवाला भ्रष्टमुनि होता है	२७३
राजा विहीन क्षेत्र त्याज्य है	,,

विषय	पृ०
नये आचार्यको शिक्षा देनेके बाद संघको शिक्षा देते हैं	२७४
बहुत सोना नहीं, हास्य क्रीडा नहीं करना आलस्य त्याग श्रमणधर्ममें लगना	२७७
तपस्या में उद्योग करना	२७८
बालवृद्ध मुनियोंकी वैयावृत्य करना	२८०
वैयावृत्य न करनेवालोंकी निन्दा	२८१
वैयावृत्यके गुण	,,
वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमें भक्ति व्यक्त होती है	२८५
वैयावृत्यका एक गुण पात्रलाभ	२८६
आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य	२८८
वैयावृत्य करनेवाला जिनाज्ञाका पालक है	२८९
आर्याका संसर्ग करनेका निषेध	२९१
स्त्रीवर्गका विश्वास न करनेवाला ही ब्रह्मचारी	२९२
पार्श्वस्थ आदि कुमुनियोंसे दूर रहो	२९३
उनके संसर्गसे स्वयं भी वैसे बन जाओगे	२९४
दुर्जनोंकी गोष्ठीमें दोष	२९६
सज्जनोंके संसर्गमें गुण	२९६
हितकारी कटुक वचन भी सुनने योग्य है	२९९
अपनी प्रशंसा न करो	३००
अपनी प्रशंसा न करनेमें गुण	३००
आचरणसे गुणोंका प्रकट करनेका महत्त्व	३००
परनिन्दामें दोष	३०३
गुरुका उपदेश सुनकर गण आनन्दाश्रु गिराता है	३०४
[illegible]	३०५
आचार्य स्वगणको छोड़ दूसरे गणमें क्यों जाते हैं ?	३०७
अपने गणमें रहनेमें दोष	३०८
[illegible] निर्यापककी खोज	३११
[illegible] जाते हुए— [illegible] क्रम	३१२
रास्तेमें मरण होनेपर भी वह आराधक है	३१३
खोजमें जाते हुए क्षपकके गुण	३१४
क्षपकको आता देख दूसरे गणके साधुओंकी सामाचारीका क्रम	३१५
प्रथम वे उसकी परीक्षा करते हैं	३१५
तीन दिनके पश्चात् गुरु अपनाते हैं	३१७
बिना परीक्षाके अपनानेका निषेध	,,
निर्यापक आचार्य कैसा होना चाहिये	३१८
आचार्यके आचारवत्त्व गुणका कथन	३१९
दस कल्पोंका कथन	३२०
टीकाकारके द्वारा अचेलकताका विस्तारसे सप्रमाण समर्थन	३२१-३२७
उद्दिष्ट त्याग दूसरा कल्प	३२७
शय्याधरका भोजन ग्रहण न करना	,,
राजपिण्डका त्याग चतुर्थ कल्प	३२८
कृतिकर्म नामक पाँचवा कल्प	३२९
जीवोंके भेद-प्रभेदोंको जानने वालोंको ही व्रत देना, छठा कल्प	३३०
प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमें रात्रिभोजन त्याग नामक छठा महाव्रत	३३०
पुरुषकी ज्येष्ठता सातवाँ कल्प	३३१
प्रतिक्रमण आठवाँ स्थिति कल्प	,,
प्रतिक्रमणके भेद	३३२
छह ऋतुओंमें एक-एक मास ही एक स्थानमें रहना नवम कल्प	३३२
वर्षाकालके चार मासोंमें एकत्र निवास, दसवाँ स्थिति कल्प	३३३
इन दस कल्पोंसे युक्त आचार्य ग्राह्य	३३५
निर्यापकाचार्यके आचारवान होनेसे क्षपकको लाभ	३३५
आचारवानका आश्रय न लेनेमें दोष	३३५
दूसरे आधारवत्त्व गुणका व्याख्यान	३३६

विषय	पृ०
जो ज्ञानी नहीं, उसका आश्रय लेनेमें दोष	३३७
ज्ञानी आचार्यके लाभ	३३९
द्रव्य संसारका स्वरूप	३४१
क्षेत्र संसारका स्वरूप	३४२
काल संसारका स्वरूप	३४२
भव संसारका स्वरूप	३४२
भाव संसारका स्वरूप	३४३
मनुष्य पर्यायकी दुर्लभता	३४३
देशकी दुर्लभता	३४४
कुलकी दुर्लभता	३४५
नीरोगताकी दुर्लभता	३४६
साधु समागमकी दुर्लभता	३४८
श्रद्धान और संयमकी दुर्लभता	३४९
आचार्यके व्यवहारवत्त्व गुणका कथन	३५५
पाँच प्रकारका व्यवहार	,,
प्रायश्चित्त दानका क्रम	३५६
प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त देनेमें दोष	३५८
आचार्यके प्रकुर्वित्व गुणका कथन	३५९
आचार्यका आय अपाय विदर्शित्व गुण	३६०
,, के अवपीडकत्व गुणका कथन	३६६
अवपीडक आचार्यका स्वरूप	३६८
क्षपकको पीडित किये बिना दोषोंको निकालना शक्य नहीं	३६९
आचार्यके अपरिस्रावी गुणका कथन	३७०
सम्यग्दर्शनके अतीचार	३७०
अनशन आदि तपोंके अतिचार	३७१
षडावश्यकोंके अतिचार	३७१
प्रायश्चित्तके अतिचार	३७२
क्षपकके दोष दूसरोंसे कहनेवाले आचार्यके दोष	३७३
आचार्यको कषाय रहित होना चाहिये	३७६
ऐसा आचार्य ही क्षपकका चित्त शान्त करता है	३७७
ऐसा गुणयुक्त आचार्य निर्यापक होता है	३७९
ऐसा आचार्य खोजकर ही क्षपक उसके पास सल्लेखनाके लिए जाता है	३८०
उसका सादर समाचारका क्रम	३८१
क्षपककी परीक्षा	३८३
परीक्षा न करनेमें दोष	३८४
परीक्षा के पश्चात् परिचर्या करनेवाले यतियोंसे पृच्छा	३८५
एक आचार्य एक समयमें एक ही क्षपकको सल्लेखनाका भार लेते हैं	३८६
फिर क्षपकको शिक्षा देते हैं	३८७
आचार्यके छत्तीस गुण	३८८
गुरुसे दोषोंको निवेदन करके प्रायश्चित्त लेना आवश्यक कर्तव्य	३८९
निरवशेष आलोचना	३९१
आलोचनाके दो प्रकार	३९२
सामान्य आलोचनाका स्वरूप	,,
विशेष आलोचना	३९३
शल्यके तीन भेद	,,
भावशल्य दूर न करनेमें दोष	३९४
शल्यसहित मरणमें दोष	३९५
शल्यको निकालनेमें गुण	,,
आलोचनासे पूर्व कायोत्सर्ग	३९७
ऐसा करनेका कारण	३९८
अप्रशस्त स्थानोंमें आलोचना नहीं करनी चाहिये	४००
आलोचना करनेके योग्य स्थान	४०१
पूर्व दिशाकी ओर मुख क्यों ?	४०२
आलोचनाकी विधि	४०३
आलोचनाके गुण-दोष	,,
आकम्पित दोष	४०३
दूसरा अनुमानित दोष	४०७
दृष्ट दोष	४०८
बादर दोष	४०९

विषय	पृ०
अब्रह्मके दस भेद	५१४
वैराग्यके उपाय	५१५
कामजन्य दोष	५१५
कामके दस वेग	५१८
कामातुर गोरसंदीपका उदाहरण	५२२
परस्त्रीगमनके दोष	५२५
ब्रह्मचारी इन दोषोंसे मुक्त	५२८
स्त्रियोंके निमित्तसे ही महाभारत रामायण आदिके युद्ध हुए	५२९
दुराचारिणी स्त्रियोके उदाहरण	५३०
स्त्रियोंके दोषोंके साथ ही पतिव्रता स्त्रियोकी प्रशंसा	५४१
गर्भमें शरीरके निर्माणका क्रम	५४३
शरीरमे सिरा वगैरहका प्रमाण	५४८
शरीरकी अशुचिता दूर नही हो सकती	५५२
शरीरमे कुछ भी सार नही	५५३
शरीरकी अनित्यता	,,
वृद्ध सेवाका कथन	५५९
केवल अवस्थासे वृद्धता नही	,,
केवल अवस्थासे वद्धोका संसर्ग भी उत्तम	,,
तीन कारणोंसे काम सेवनकी भावना	५६१
स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोष	५६३
रुद्र, पाराशर, सात्यकि आदिका उदाहरण	५६६
स्त्री व्याघ्रके समान है	५६९
अन्तरग और बहिरग परिग्रहका त्याग	५७०
आगममें परिग्रह त्यागका उपदेश है	५७२
केवल वस्त्र त्यागका ही नही है	,,
आचेलक्यका अर्थ सर्व परिग्रह त्याग है	५७३
तालपलबका उदाहरण	,,
परिग्रहके सद्भावमें अहिंसादि व्रत नही	५७४
परिग्रहके ग्रहणमें अशुभभाव	५७५
सहोदर भाईयोका उदाहरण	५७६
साधुपर सन्देह करनेवाले श्रावकका उदाहरण	५७७
लोभी पिण्याक गन्धका उदाहरण	५७८
पटस्सन नामक वणिकका उदाहरण	५७९
सचित्त परिग्रहके दोष	५८३
महाव्रत संज्ञाकी सार्थकता	५९१
उन महाव्रतोकी रक्षाके लिये रात्रि भोजन त्याग	५९२
मनोगुप्ति और वचनगुप्ति	५९५
कायगुप्ति	५९७
ईर्या समिति	५९९
भाषा समिति	६०१
सत्यवचनके भेद	६००
अनुभय वचनके नौ भेद	६०२
एषणा समिति	६०४
आदान निक्षेपण समिति	,,
प्रतिष्ठापन समिति	६०५
अहिंसा व्रतकी पाँच भावना	६०७
एषणा समितिका विस्तृत स्वरूप	६०८
सत्यव्रतकी भावना	६१०
अचौर्यव्रतकी भावना	,,
ब्रह्मचर्य व्रतकी भावना	६११
परिग्रह त्याग व्रतकी भावना	,,
भावनाओका महत्त्व	६१२
नि शल्यके ही महाव्रत होते हैं	,,
निदानके तीन भेद	६१३
प्रशस्त निदानका स्वरूप	६१४
अप्रशस्त निदानका स्वरूप	,,
भोग निदानका कथन	६१५
कुलाभिमानको दूर करनेका उपाय	६१८
भोग निदानके दोष	६२४
भोग निदान वालेके मुनिपदकी निन्दा	६२५
भोगजन्य सुखकी निन्दा	६२७
भोग शत्रु हैं	६३४
निदानमें दोष, अनिदानमे गुण	६३८
मायाशल्य दोषमें पुष्पदन्ता आर्यिकाका उदाहरण	६३९

विषय	पृ०	विषय	पृ०
सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणकषाय	८९२	सिद्ध क्षेत्रका स्वरूप	,,
केवलज्ञानका स्वरूप	८९३	लोकके अग्रभागसे ऊपर गमन न करनेका कारण	९००
केवलज्ञानीका विहार	८९४	सिद्ध जीवोंका स्वरूप	९०१
समुद्घातका विधान	,,	सिद्धजीवोंमें सुख आदि	९०३
समुद्घातका कार्य	८९५	उत्कृष्ट आराधनाका फल	९०६
समुद्घातका समय	८९६	मध्यम आराधनाका फल	,,
केवलीके योगनिरोधका क्रम	,,	जघन्य आराधनाका फल	,,
अयोगकेवली अवस्था	८९७	ग्रन्थकार द्वारा आत्मपरिचय आदि	९०७
मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगति	८९८		

■

भगवती आराधना

अपराजितसूरिकृता

विजयोदया टीका सहिता

दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधनायाः स्वरूपं, विकल्पं, सदुपायं, साधकान्, सहायान्, फलं च प्रतिपादयितुमुद्यतस्याचार्यस्य शास्त्रकारो मङ्गलं स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकृतौ क्षमं शुभपरिणामं विदधता सूत्रामन्वेनेदमाह गाथा—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते ।
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका । अत्रान्ये कथयन्ति—"निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुष्कस्य सम्यगाराधनाविधानावबोधनार्थमिदं शास्त्रं" तस्याविघ्नप्रसिद्ध्यर्थमिदं मङ्गलस्य कारिका गाथेति । असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतादयोऽप्याराधका एव । इति सूत्रे निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्येति । न ह्यसंयतसम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निवृत्तविषयरागता, सकलपरिग्रहत्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति चानुपपन्नं । अक्षीणायुषोऽप्याराधकतां दर्शयिष्यति सूत्रं 'अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स' इति ।

शास्त्रान्तरे पञ्चानां गुरूणां नमस्क्रिया प्रारभ्यते । तत्र चार्हन्नामेवोपादानमासी । इह तु पुनर्द्वयोरेव

इस शास्त्रमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपकी आराधनाका स्वरूप, भेद, उसके उपाय, साधक, सहायक और फलका कथन किया जायगा। अतः अपने और उसको सुनने वालोंके प्रारब्ध कार्यमें आने वाले विघ्नोंको दूर करनेमें समर्थ मङ्गलस्वरूप शुभ परिणामको करते हुए आचार्यने उसके उपायभूत 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' इत्यादि गाथा रची है।

इसके सम्बन्धमें अन्य टीकाकार कहते हैं कि विषयोंमें रागसे निवृत्त और समस्त परिग्रहके त्यागी जिस साधककी आयु समाप्त होनेवाली है, उसको आराधनाके विधानका सम्यक् बोध करानेके लिये यह शास्त्र रचा है तथा उसकी निर्विघ्न प्रसिद्धिके लिये यह मंगलकारक गाथा है।

(इसपर हमारा कहना है कि) असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत आदि भी आराधक ही हैं। तब यह क्यों कहते हैं कि विषयोंके रागसे निवृत्त, समस्त परिग्रहके त्यागी साधकके लिये यह ग्रन्थ रचा है। असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत न तो विषयानुरागसे निवृत्त होते हैं और न समस्त परिग्रहके त्यागी ही होते हैं। तथा 'जिसकी आयु समाप्त होनेवाली है' यह कथन भी यथार्थ नहीं है क्योंकि आगे 'अणुलोमा वा सत्तू' इत्यादि गाथासूत्रके द्वारा ग्रन्थकार, जिनकी आयु समाप्त होनेवाली अभी नहीं है उनकी भी आराधकता दिखलायेंगे।

शङ्का—अन्य शास्त्रोंके प्रारम्भमें पाँचों गुरुओंको नमस्कार किया गया है और उनमें

[illegible] निर्णीयते । [illegible] —[illegible] । [illegible]
सिद्धसाधकभेदेन जीवा । अर्हन्तो सिद्धाः [illegible] पूर्वमेव [illegible]
[illegible] प्रवृत्त इति सिद्धानां [illegible] पूर्व [illegible]
[illegible] । तावदयमाचार्य [illegible] । [illegible]
अविघ्नप्रसिद्धये । कथं निहन्ति विघ्नमसौ ? न हि [illegible] भवतु ? [illegible]
'विघ्नकरणमन्तरायस्य' [त. सू.] इति वचनात् । [illegible]
तत्र वक्तुर्दानान्तरायकर्मोदयेन [illegible] । [illegible]
श्रोतुर्लाभान्तरायस्योदयो विघ्न [illegible] न [illegible] तथा [illegible]
रश्मिनिकरसमवायाधीनजन्मा व्रीह्याङ्कुरः [illegible]
तथेहापि । अथैवं द्रूषे अन्तरायोऽशुभप्रकृतिः । [illegible]
मात्रमिति । यद्येवं शुभपरिणाममात्रस्यापेक्षा [illegible] सिद्धादिगुणानुराग [illegible]

प्रारम्भमे अरहन्तोंको ही ग्रहण किया है। किन्तु यहां सिद्ध और अरहन्त दो का ही ग्रहण किया है और वह भी विपरीत क्रमसे किया है अर्थात् सिद्धोंका ग्रहण प्रथम और अरहन्तोंका पश्चात् किया है। इस प्रकारकी विपरीतताका क्या कारण है?

इसका कोई इस प्रकार उत्तर देते हैं—अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति करनेका कारण है। यहाँ सिद्ध और साधकके भेदसे जीवोंके दो प्रकार है। अरहन्त और सिद्ध तो आराधनाका फल प्राप्त कर चुके हैं अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन साधकोंके अनुग्रहके लिये यह शास्त्र रचा गया है, इसलिये सिद्धोंका मगल रूपसे ग्रहण युक्त है, आचार्य आदिका नहीं, क्योंकि उन्हींके लिये यह ग्रन्थ रचा गया है। ऐसा कोई आचार्य भाष्य और उसका परिहार करते हैं। किन्तु वे दोनों ही असगत जैसे प्रतीत होते हैं। उनमेंसे प्रथमकी अयुक्तताके सम्बन्धमें निवेदन करते हैं—

शास्त्रादिमे नमस्कार क्यों किया जाता है? निर्विघ्नताकी प्रसिद्धिके लिये। वह विघ्नोंको कैसे दूर करता है? विघ्न वक्ता या श्रोताको होता है। दोनोंका भी कारण अन्तराय कर्म है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—'विघ्न करनेसे अन्तराय कर्मका आस्रव होता है।' दान, लाभ, उपभोग और वीर्यके विघ्न करनेमें कारण होनेके भेदसे अन्तरायके पाँच भेद हैं। उनमेंसे दानान्तराय वक्ताके दानमें विघ्न करता है क्योंकि दानान्तराय तीन प्रकारके दानमें बाधक होता है। लाभान्तराय श्रोताके ज्ञान लाभमें रुकावट डालता है, क्योंकि जब विघ्न अन्तराय कर्मके अधीन है तो उसके होते हुए विघ्न क्यों नहीं होगा, भले ही नमस्कार किया गया हो। जैसे धान्य आदिके अंकुरकी उत्पत्ति बीज, जल, पृथ्वी और सूर्यकी किरणोंके समूहके अधीन है। अतः अपनी कारण सामग्रीके परिपूर्ण होनेपर उसकी उत्पत्ति साल, तमाल आदिके रहते हुए भी अवश्य होती है। उसी तरह यहाँ भी जानना।

यदि आप कहें कि अन्तराय अशुभ कर्म है, शुभ परिणामके द्वारा उसकी अनुभाग शक्ति क्षीण कर दिये जानेपर वह अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, तब तो यहाँ शुभपरिणाम मात्र उपयोगी हुआ। और ऐसा होनेपर विघ्नोंको दूर करनेकी इच्छा करने वालेको सिद्ध आदिके गुणोंमें अनुराग आदि सब उपयोगी हुए। तब विचारशील पुरुषके द्वारा अपनाया गया क्रम

१. विघ्ननिराचि–मु० ।

क्वचिदनियमस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिणः क्रमाश्रयणमन्याय्यम् ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमात्रनिबन्धनमुपायाना-मुपायत्वं, तच्च यत्रास्ति तस्य तदुपायता । तेन सर्वे एवार्हदादिगोचरा गुणानुरागपुरस्सरवाक्कायक्रिया अनाद्युक्रमा भवन्ति वाञ्छितस्य साधना एकैकशो बहवोऽपि । इमामानुपूर्वीमन्तरेणैषा सिद्धिः साध्यस्या-न्यथा न विद्यत इति यत्र तत्रार्थीयते उपायक्रमः । यथा घटं निष्पादयितुं मृन्मर्दनपिण्डकरणचक्रारोपणादयः । युगपदनेकवचनप्रवृत्त्यसंभविन्येकस्य वक्तुरिति नान्तरीयकतया क्रमाश्रयणे तत्र च कामचारः । तथाहि, 'सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवमसुहमुवगयाणमिति' (–सन्मति १।१) । शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं । सर्वतीर्थ-कृत्स्वपि वीरस्वामिन एव प्रथमं नमस्क्रिया—

'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं । पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे । समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ इति
—प्रव० सा० १।१-२ ।

क्वचिदेकप्रघट्टेन,
'इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणमिति ।' —पञ्चास्ति० १ ।
क्वचिज्जीवगुण एवानाश्रितार्हदादिस्वामिविशेषो निरूपितः "धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं" इति ।

अन्याय्य कैसे है ? उपेय अर्थात् कार्यके आत्म लाभमें हेतु होना मात्र उपाय अर्थात् कारणोंके उपायपनेका निबंधन है। अर्थात् कारणोंमें कारणपना इसीसे होता है कि उनसे कार्य उत्पन्न होता है। वह जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ कारणपना है। अतः अर्हन्त आदि विषयक सभी गुणानुराग और उस पूर्वक वचन और कायकी क्रिया, विना क्रमके भी इच्छित फलकी साधक होती है चाहे वह एक-एक रूप हो या बहुत हों। किन्तु जहाँ कार्यकी सिद्धि क्रमको अपनाये बिना नहीं होती वहाँ उपायोंका क्रम अपनाना होता है। जैसे जो घड़ा बनाना चाहता है। वह पहले मिट्टीको मलता है, फिर उसका पिण्ड बनाता है, फिर उसे चाक पर रखता है आदि। इस क्रमके बिना घड़ा नहीं बन सकता। इसलिए यहाँ क्रम आवश्यक है। किन्तु सर्वत्र क्रम आवश्यक नहीं है।

तथा एक वक्ता एक साथ अनेक वचन व्यवहार नहीं कर सकता, इसलिए नमस्कार करने-में क्रमका आश्रय लेना होता है। किन्तु उसमें यह अपेक्षित नहीं है कि पहले किसे नमस्कार करना। नमस्कार करनेवाला अपनी अपनी इच्छानुसार नमस्कार करता है। जैसे सन्मतिसूत्रके प्रारम्भमें 'सिद्धं सिद्धट्ठाणं' आदिमें केवल जिनशासनके गुणोंका ही स्मरण किया है। कहीं पर तीर्थंकरोंमें से भी वीर स्वामीको ही प्रथम नमस्कार किया है। जैसे प्रवचनसारके प्रारम्भमें कहा है—'यह मैं सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रोंसे वन्दित तथा घाति कर्ममलको धो डालनेवाले और धर्मके कर्ता वर्धमान तीर्थंकरको नमस्कार करता हूँ। तथा विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थंकरोंको, समस्त सिद्धोंके साथ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारसे युक्त श्रमणोंको नमस्कार करता हूँ।'

कहीं एक साथ सब जिनोंको नमस्कार किया है। जैसे पञ्चास्तिकायके प्रारम्भमें कहा है—'सौ इन्द्रोंके द्वारा वन्दित और तीनों लोकोंका हित करनेवाले मिष्ट और स्पष्ट वचन बोलने-वाले, अनन्तगुणशाली भवजेता जिनोंको नमस्कार हो।'

कहीं अर्हन्त आदि स्वामीविशेषका आश्रय न लेकर जीवके गुणका ही कथन किया है जैसे दशवैकालिकसूत्रके प्रारम्भमें 'धर्म उत्कृष्ट मंगल है' आदि कहा है।

एवं सति वैचित्र्ये का विपर्ययाशङ्का ? यच्चोक्तं साधकानुग्रहाधिकारे सिद्धानामेव मङ्गलत्वेनाधिकारो युक्त इति । इदं पर्यनुयोज्योऽस्य श्रुतसाधकार्थमुत (?) यद्येवं सकलस्य श्रुतस्य सामायिकादेर्लोकबिन्दुसारान्तस्यादौ मङ्गलं कुर्वद्भिर्गणधरैः 'णमो अरहंताणमित्यादिना कथं पञ्चानां नमस्कारः कृतः ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेण विरुध्यते, 'वंदित्ता अरहंते' इति अर्हतामुपादानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपादानानर्थक्यं । अथैकदेशसिद्धास्त इति पृथगुपात्ता आचार्यादयोऽपि किमिति नोपात्तास्तेषामप्येकदेशसिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धतया अर्हतामप्याराधकत्वे सत्युपादानं स्वव्याख्याविरोधमादधत इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् ''जगप्पसिद्धे'' जगति प्रसिद्धान् 'चदुव्विधाराधणाफलं' चतुर्विधाराधनाफलं 'पत्ते' प्राप्तान्, 'वंदित्ता' वन्दित्वा 'अरहंते' 'वोच्छं' वक्ष्यामि 'आराधणं' आराधनां 'कमसो' क्रमशः ॥

सिद्धशब्दस्य चत्वारोऽर्था नामस्थापनाद्रव्यभावा इति । तत्र नामसिद्धं क्षायिकं सम्यक्त्वं, ज्ञानं, दर्शनं, वीर्यं, सूक्ष्मता, अतिशयवतीमवगाहना, सकलबाधारहितता चानपेक्ष्य सिद्धशब्दप्रवृत्तेर्निमित्तं यस्मिन्कस्मिंश्चित्प्रवृत्तः सिद्धशब्दः ।

ननु स्वरूपनिर्वृत्तिः सिद्धशब्दस्य प्रवृत्तेर्निमित्तं न सम्यक्त्वादय इति चेत् सत्यं, व्यावर्णितपर्यायनिचयस्वरूपात्मस्वरूपनिर्वृत्तिनिमित्ततः एष्यत एव । पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया चरमशरीरानुप्रविष्टो य आत्मा क्षीरानु-

---

इस प्रकारकी विविधताके होते हुए विपरीतता की—अर्हन्तोंसे पहले सिद्धोंको क्यों नमस्कार किया—इस प्रकारकी आशङ्का कैसी ?

तथा यह जो कहा है कि साधकोंके अनुग्रहके लिए रचे गये इस ग्रन्थमें मंगल रूपसे सिद्धोंका ही अधिकार उचित है। इस विषयमें यह प्रश्न है कि ये साधक क्या श्रुत के हैं ? यदि ऐसा है तो सामायिकसे लेकर लोकबिन्दुसार पर्यन्त सकल श्रुतके आदिमें मंगल करनेवाले गणधर देवने 'णमो अरहंताणं' इत्यादि रूपसे पाँचोंको नमस्कार क्यों किया ? इसलिए आपकी व्याख्या सूत्र विरोधिनी है। तथा इसी गाथासूत्रसे भी विरुद्ध है; क्योंकि इसी गाथामें 'वंदित्ता अरहंते' कहकर अर्हन्तोंका भी ग्रहण किया है। यदि कहोगे कि वे भी सिद्ध हैं तो उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है। यदि कहोगे कि वे एकदेश सिद्ध है इसलिए उनका पृथक् ग्रहण किया है तो आचार्य आदिका ग्रहण क्यों नहीं किया, क्योंकि वे भी एकदेश सिद्ध हैं। एकदेश सिद्ध होने पर अर्हन्तोंका भी आराधक रूपसे ग्रहण अपनी ही व्याख्याके विरुद्ध जाता है। अस्तु,

गा०—'जगत्में प्रसिद्ध और चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तोंको नमस्कार करके क्रमसे आराधनाको कहूँगा ॥१॥'

टीका—सिद्ध शब्दके चार अर्थ हैं—नाम सिद्ध, स्थापना सिद्ध, द्रव्य सिद्ध और भावसिद्ध।

क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, सूक्ष्मता, अतिशयवती अवगाहना और सकलबाधारहितता अर्थात् अव्याबाधत्व, ये गुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त हैं अर्थात् जिनमें ये गुण होते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। इन गुणोंकी अपेक्षा न करके किसीमें प्रवृत्त सिद्ध शब्द नाम सिद्ध है।

शंका—सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त उसके स्वरूपकी निष्पत्ति है, सम्यक्त्व आदि गुण नहीं ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है, पूर्व शरीरके आकारसे विशिष्ट कम जो आत्म रूप रहा है सिद्धका, उसकी निष्पत्तिके निमित्तको हम स्वीकार करते हैं। पूर्व भाव प्रज्ञापन नयकी

प्रविष्टोदकमिव संस्थानवत्तामुपगत, शरीरापायेऽपि समात्मान चरमशरीरान् किञ्चिन्न्यूनात्मप्रदेशमवस्थानं बुद्धावारोप्य तदेवेदमिति स्थापिता मूर्ति स्थापनासिद्ध.। सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यासित आत्मा आगमद्रव्यसिद्ध । नोआगमद्रव्यसिद्धस्त्रेधा ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदात् । ज्ञायकशरीरसिद्ध सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूतं भवत् भावि वा । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्ध । तद्व्यतिरिक्तम-सम्भवि, कर्मनोकर्मणो सिद्धत्वस्य कारणत्वाभावात् । सिद्धप्राभृतगदितस्वरूपसिद्धज्ञानमागमभावसिद्ध । क्षायिकज्ञानदर्शनोपयुक्त. परिप्राप्ताव्याबाधस्वरूपस्त्रिविष्टपशिखरस्थो नोआगमभावसिद्ध । स इह गृह्यते ।

ननु सामान्यशब्दस्यान्तरेण प्रकरण विशेषण वाऽभिमतार्थवृत्तिता दुरवगमा ? अत एव विशेषणमुपात्त चतुर्विधाराधनाफल प्राप्तानिति । सम्यक्त्व केवलज्ञानदर्शने सकलकर्मविनिर्मुक्ततेति चतुर्विध, चतुर्विधाया आराधनाया. फल साध्य तत्प्राप्तिरात्मन सम्यग्दर्शनादिरूपेण समवस्थानम् । ततोऽयमर्थ —'फल पत्ते' इत्यस्य क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शननिरवशेषकर्मविनिर्मुक्ततारूपेणावस्थितानिति । जगति आसन्नभव्यजीवलोके समीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्धान् प्रतीतान् विदितान् । 'अरहृते' इत्यत्र च शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्थो गति । 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति' द्रव्याणीत्येवं यथा । निहतमोहनीयतयाप्तज्ञान-

---

पेक्षा अन्तिम शरीरमे प्रविष्ट हुआ जो आत्मा दूधमे मिले पानीकी तरह आकारवत्ताको प्राप्त हुआ, शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उस आत्माको अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून आकार वाला बुद्धिमे स्थापित करके 'यह वही है' इस प्रकारसे स्थापित मूर्तिको स्थापना सिद्ध कहते है।

सिद्धो के स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी परिणतिकी सामर्थ्यसे युक्त आत्मा आगम-द्रव्यसिद्ध है । नोआगम-द्रव्यसिद्धके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त । सिद्ध विषयक शास्त्रके ज्ञाताके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायक शरीर सिद्ध कहते हैं । भविष्य-मे सिद्ध पर्यायको प्राप्त करनेवाले जीवको भाविसिद्ध कहते हैं। इसमे तद्व्यतिरिक्त भेद सम्भव नहीं है क्योकि कर्म और नोकर्म सिद्धत्वके कारण नही होते ।

सिद्ध प्राभृतमे कहे गये सिद्ध स्वरूपके ज्ञानमें उपयुक्त आत्मा आगम भावसिद्ध है । क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनमे उपयुक्त तथा अव्याबाध स्वरूपको प्राप्त और लोकके शिखर पर विराजमान सिद्ध परमेष्ठी नो आगमभावसिद्ध है। यहाँ उसीका ग्रहण किया है ।

शङ्का—प्रकरण अथवा विशेषणके विना सामान्यमे अभिमत अर्थका बोध होना कठिन है अत यहां सिद्धसे नो आगम भावसिद्धका ग्रहण कैसे संभव है ?

समाधान—इसीलिये आचार्यने 'चतुर्विध आराधनाके फलको प्राप्त' यह विशेषण दिया है। सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मोसे सर्वथा मुक्तता ये चार, चार प्रकारकी आराधनाके फल हैं। आत्माका सम्यग्दर्शन आदि रूपसे सम्यक् अवस्थान ही उनकी प्राप्ति है। अत. 'फल पत्ते' का अर्थ है—जो क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मो से विनिर्मुक्तता रूपसे स्थित है उन सिद्धोको । 'जगत्' अर्थात् निकट भव्य जीवरूपी लोकमे, जिनकी आँख समीचीन श्रुतज्ञान हैं, उनमे जो प्रसिद्ध है जाने माने हैं।

'अरहृते' यहाँ यद्यपि 'च' शब्द नही है फिर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है। जैसे 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाश कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि' इस सूत्रमे 'च' शब्द नही होने पर भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य हैं इस प्रकारसे समुच्चयका ज्ञान होता है उसी प्रकार जानना ।

वरणात् अतिशयितपूजाभाज इत्ययमर्थोऽनेन 'अरहंते' इत्यनेनोक्तः। अनुगतार्थत्वादर्हन्निति संज्ञाया' सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दार्थसंज्ञाभावमुपयाति। अथवा 'जगप्पसिद्धे' इति अर्हतां विशेषणं, यतः पञ्चमहा णस्थानेषु त्रिलोकमेणाधिगता महात्मानः, नैवमितरे सिद्धाः। सर्वस्यैव हि वस्तुनः कथंचित्प्रतीतत्वे सति तीतस्य कस्यचिदभावात् प्रसिद्धग्रहणमुपात्तप्रकर्षमिति गम्यते। यथाऽभिरूपाय कन्या देयेति। तेनायमर्थो ति प्रसिद्धतमानिति। अर्हतामेव च प्रतीततरत्वमुक्तेन क्रमेण।

अनधिगतप्रयोजनः श्रोता न यतते श्रवणेऽध्ययने वा। परोपकारसंपादनाय चेदं प्रस्तूयते मया तत जनं प्रकटयामीत्याह 'वोच्छं आराहणं' मिति। एतेनाराधनास्वरूपावगमनं प्रयोजनं शास्त्रश्रवणाद्भवता तीत्यावेदितम्।

ननु आराधनास्वरूपावगमनं तु पुरुषार्थः। पुरुषार्थो हि प्रयोजनं, पुरुषार्थश्च सुखं दुःखनिवृत्तिर्वा, न नयोरन्यतरतास्य। अयमस्याभिप्रायः, यो येनार्थेनार्थी स तत्प्राप्तये तदीयोपायमधिगन्तुमुपादेयं वा यतते प्रयुक्तः क्रियायां प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, ज्ञानेन प्रयुज्यते श्रवणादिक्रियायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञानं प्रयोजनं भवतु, राधना तु कथमुपयोगिनी? सकलसुखरूपकेवलज्ञानपरमाव्याबाधतां जनयतीत्युपयोगिनी। तथा चोक्तं— तुर्विधाराधनाफलं प्राप्तानिति'। ततोऽयमर्थः, अनन्तज्ञानादिफलनिमित्ताराधनास्वबोधनार्थमिदं शास्त्रमा-

---

मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणके चले जानेसे जो अति-य युक्त पूजाके भाजन हैं, यह अर्थ 'अरहंते' पदसे यहाँ कहा गया है; क्योंकि 'अर्हन्' यह नाम र्थक है। जैसे सर्वनाम शब्द स्वीकार किये गये शब्दार्थोके संज्ञापनेको अपनानेसे सार्थक हैं।

अथवा जगत् प्रसिद्ध' यह पद अर्हन्तोका विशेषण है, क्योंकि ये महात्मा पाँच महा-कल्याणक स्थानोंमें तीनों लोकोंके द्वारा जैसे प्रख्यात होते हैं वैसे अन्य सिद्ध नहीं होते। सभी स्तु किसी न किसी रूपमें प्रतीत होती हैं, सर्वथा अप्रतीत कोई नहीं है। अतः यहाँ 'प्रसिद्ध' पदका हण प्रकर्षताका परिचायक है। जैसे 'रूपवानको कन्या देना'। यहाँ रूपवान् शब्द विशिष्ट पका बोधक है। अतः 'जगत् में सबसे' अधिक प्रसिद्ध यह अर्थ यहाँ लेना। और उक्त प्रकारसे र्हन्त ही सबसे अधिक या सिद्धोंसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

प्रयोजनको जाने बिना श्रोता श्रवण या अध्ययनमें प्रयत्न नहीं करता। और मैं (ग्रंथकार) रोपकार करनेके लिये यह ग्रन्थ बनाता हूँ, अतः प्रयोजन प्रकट करता हूँ—'वोच्छं आराहणं' समे यह प्रयोजन सूचित किया है कि शास्त्रश्रवणसे आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होता है।

शंका—आराधनाके स्वरूपको जानना तो पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि पुरुषार्थ प्रयोजन है और पुरुषार्थ है सुख अथवा दुःखनिवृत्ति। आराधनाके स्वरूपको जानना न तो सुख है और न दुःख निवृत्ति है। हमारे इस कथनका अभिप्राय यह है कि जो जिस अर्थका इच्छुक होता है वह उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपाय या उपादेयको जाननेका प्रयत्न करता है। जिसके द्वारा प्रेरित होकर, मनुष्य क्रियामें लगता है वह प्रयोजन है। ज्ञानके द्वारा श्रवण आदि क्रियामें लगता है अतः उपयोगी वस्तुका ज्ञान प्रयोजन हो सकता है परन्तु आराधना कैसे उपयोगी है?

समाधान—समस्त सुख रूप केवलज्ञान और परम अव्याबाधताको उत्पन्न करनेसे आरा-धना उपयोगी है। कहा है 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त।'

अतः अभिप्राय यह है कि अनन्त ज्ञानादि रूप फलकी प्राप्तिमें निमित्त आराधनाके स्वरूप-

रूपत्व इति शास्त्रमाराधनास्वरूपज्ञानं साधनमिदं शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपसम्बन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत्र एव वाक्याल्लभ्यते । अभिधेयमुक्तमस्य चतस्र आराधना । शास्त्रमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रयसमन्वितत्वात् व्याकरणादिवदिति । एवमनया गाथया मङ्गलं प्रयोजनादित्रयं च सूचितं 'कमसो' क्रमेण पूर्वशास्त्रनिर्दिष्टेन । एतेन स्वमनीषिकारचितमिदं न भवति । आप्तवचनानुसारितया प्रमाणमिदमित्याख्यातं भवति । 'पुव्वसुत्ताणं' इति वाक्यशेषादिदं लभ्यते ॥१॥

का आराधना कस्य वा ? न ह्याराध्यापरिज्ञाने तदात्मभूताराधना शक्या प्रतिपत्तुं इत्यारेकायामाह—

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।
दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया ॥ २ ॥

उज्जोवणमुज्जवणमित्यादिकं । 'उज्जोवणं' उद्योतनं शङ्कादिनिरसनं सम्यक्त्वाराधना श्रुतनिरूपिते वस्तुनि किमित्थं भवेन्न भवेदिति समुपजाताया शङ्काया संशयप्रत्ययजनिताया अपाकृतिः । कथं ? हेतुबलेन आप्तवचनेन वा समुपजाताया इत्थमेवेदमिति निश्चितेः । यद्धि यस्य विरोधि तस्योपजातं तत्र नेतरदास्पदं बध्नाति, यथा शीतस्पर्शो व्याप्ते हिमनिकरे उष्णता । विरोधि च निश्चयज्ञानं । सप्रतीतेर्विरोधता च नियोगतस्तद्भावे तत्रैकस्य तदा असम्भवात् । यस्याम शङ्कादीनां स्वरूप सम्यग्गमनं च प्रत्याये । अतिशयो

का ज्ञान करानेके लिये इस शास्त्रको प्रारम्भ करते हैं। आराधनाके स्वरूपका ज्ञान साध्य है और उसका साधन यह शास्त्र है। इस प्रकार शास्त्र और प्रयोजनमें साध्य साधनरूप सम्बन्ध है यह भी इसी वाक्यसे ज्ञात होता है। इस शास्त्रका अभिधेयभूत अर्थात् जो इसके द्वारा कहा गया है वह है चार आराधना। अतः प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयसे युक्त होनेसे यह शास्त्र उसी तरह उपादेय है जैसे व्याकरणशास्त्र उपादेय है।

इस प्रकार इस गाथासे मंगल प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयको सूचित किया है।

'कमसो' का अर्थ है क्रमसे अर्थात् पूर्व शास्त्रोंमे जैसा कहा है वैसा ही कहूँगा। इससे यह सूचित किया है कि यह ग्रन्थकारकी अपनी बुद्धिकी उपज नहीं है किन्तु आप्त पुरुषोंके वचनोंके अनुसार होनेसे प्रमाण है। 'कमसो' के साथ 'पुव्व सुत्ताणं' पूर्व शास्त्रोंके इस वाक्यांशका अध्याहार करनेसे उक्त अर्थ निकलता है ॥१॥

आराध्यको जाने बिना उसकी आत्मभूत आराधनाको जानना शक्य नहीं है। अतः आराधना किसे कहते हैं और वह किसके होती है इस शंकाके समाधानके लिये आचार्य कहते हैं—

गाथा—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और (णिच्छरणं) निस्तरणको (आराहणा) आराधना कहा है ॥२॥

टीका—'उज्जोवण' का अर्थ है उद्योतन अर्थात् शंका आदि दोषोंको दूर करना। यह सम्यक्त्व आराधना है। शास्त्रमे कही गई वस्तुके विषयमें 'क्या ऐसा है अथवा नहीं है' इसप्रकार से उत्पन्न हुई शंकाको, जिसका दूसरा नाम संशय है, दूर करना सम्यक्त्वाराधना है। युक्तिके बलसे अथवा आप्त वचनके द्वारा यह इसी प्रकार है ऐसा निश्चय करके उत्पन्न हुई शंकाको दूर करना सम्यक्त्वका उद्योतन है। जिसका विरोधी जहाँ होता है वहाँ वह ठहर नहीं सकता। जैसे शीत स्पर्शसे व्याप्त चन्द्रमामें उष्णता नहीं ठहरती। निश्चयात्मक ज्ञान संशयका विरोधी है अतः इन दोनोंमे नियमसे विरोध है; क्योंकि एकके रहते हुए वहाँ उस समय दूसरा नहीं रहता।

वैपरीत्यं वा ज्ञानस्य मल, निश्चयेनाधिगमेन [illegible] । [illegible] वैपरीत्यस्य [illegible] । [illegible] विगलो मलं चारित्रस्य, तस्य भावनया [illegible] चारित्रस्य । [illegible] स्यास्तपसि संयमभावनया तस्य उद्योतनम् । [illegible]

ननु मिश्रणं युधातोरर्थः [illegible] । [illegible] इति प्रतीयते । संयोगश्च विभिन्नयोर्भावयोरेव [illegible] रूपाभावात् । तत्कथं दर्शनादिभिरात्मनो मिश्रणमिति ? [illegible] यथा काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरित्यत्र [illegible] शब्दाभिधेयं । असकृद्दर्शनादिपरिणतिर्यवनम् ।

निराकुलं वहनं धारणं निर्वहणं परिषहाद्युपनिपातेऽपि [illegible] दर्शनादिपरिणतौ वृत्तिः । [illegible] योगान्तरेणान्तर्हितानां दर्शनादिपरिणामानां निष्पादनं साधनम् । भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम् । एवमाराधनाशब्दस्यानेकार्थत्वे सति प्रस्तावानुरूपेण व्याख्या कार्या ।

आगे हम बाधा आदिका स्वरूप और उनके निराकरण कहेंगे। अनिश्चय अथवा विपरीतता ज्ञानका मल या दोष है। निश्चयके द्वारा अनिश्चयका परिहार होता है। और यथार्थतामें विपरीतताका निरास होता है। यह ज्ञानका उद्योतन है अर्थात् ज्ञानका निश्चयात्मक और विपरीततारहित होना ही ज्ञानका उद्योतन है।

भावनाका न करना चारित्रका मल है। अतः उन भावनाओंमें लगना चारित्रका उद्योतन है। असंयमरूप परिणाम तपका कलंक है। संयमकी भावनाके द्वारा उसको दूर करना तपका उद्योतन है।

उत्कृष्ट यवनको उद्यवन कहते हैं।

शंका—'यु' धातुका अर्थ मिश्रण है। संयोगपनेको मिश्रण कहते हैं। जैसे 'गुडमें मिश्रित धान' कहने पर गुडमें संयुक्त धानकी प्रतीति होती है। दो विभिन्न पदार्थ जो एक दूसरेसे अलग हैं उनके मिलनेको संयोग कहते हैं। किन्तु दर्शन आदि तो आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं हैं क्योंकि दर्शन आदिसे रहित आत्माका अभाव है। तब दर्शन आदिके साथ आत्माका मिश्रण कैसे संभव है ?

समाधान—जिस शब्दका जो विशेष अर्थ होता है वह भी उपलक्षणसे सामान्य रूप लिया जाता है। जैसे 'कौओंसे घी को बचाओ' यहाँ काक शब्दका अर्थ उपघातक सामान्य ही है अर्थात् जो घी को हानि पहुँचा सकते हैं उन सबसे घी को बचाओ। इसी तरह यहाँ 'यवन' शब्दका अर्थ सम्बन्ध मात्र है, कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। अतः बार बार आत्माका दर्शन आदि रूप परिणत होना उद्यवन है। निराकुलतापूर्वक 'वहन' अर्थात् धारण करनेको 'निर्वहण' कहते है। परीषह आदि आने पर भी आकुलताके विना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणतिमें संलग्न रहना निर्वहण है। अन्य कार्योंमें उपयोग लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोंको पुनः उत्पन्न करना साधन है। और सम्यग्दर्शन आदिको दूसरे भवमें भी साथ ले जाना निस्तरण है।

इस प्रकार आराधना शब्दके अनेक अर्थ होने पर अवसरके अनुसार व्याख्या करना चाहिये।

अत्रान्ये व्याचक्षते—निस्तरणशब्द सामर्थ्यवाची स प्रत्येकं सम्बध्यते उद्योतनादिभिर्योतनादीना-तद्दर्शनादिभिश्चतुर्भिरपि यथासङ्ख्येन सबन्ध । उद्योतन मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरण अविघ्नेन दर्शनाराधनेत्यादिना क्रमेण । त एव पर्यनुयोज्या. किमत्र ज्ञानादीना निर्मलीकरणमिष्टमनिष्ट वा । इष्ट चेद्दर्शनेनैव किमिति सम्बध्यते निर्मलीकरण ? उत्कर्षेण यवनमपि सर्वेषामिष्यते । अनाकुल वहनमपि साधारण किमुच्यते व्रतगुप्तिसमितीना निश्चयेनानाकुल वहनमिति ? न च निस्तरणशब्दात्सामर्थ्य प्रतीयते । उद्योतन सामर्थ्यमित्यादिषु न च वक्षिदर्थ , अविघ्नेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उज्जोवणादिशब्दैरनुपात्तो । मरणकालश्च क: ? मनुष्यभवपर्यायविनाशसमयो मरणकालसमयेन यद्युच्यते, न तत्र भावनोत्कर्ष., मारणान्तिकसमुद्घाते परिणाममान्द्यात् । अत्र भावनाकालो मरणकालशब्देनोच्यते सोऽनुपात्तोऽत्र तस्य कथमिह लभ्यते । भावना-कालगतव्यापारकथनायेद शास्त्र प्रस्तुतमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽसूत्रितत्वात् । 'दसणणाणचरित्ततवाण-मुज्जोवणमाराहणा भणिया' 'दंसणणाणचरित्ततवाणुज्जवणमाराधणा' इति, इति प्रत्येकमभिसबन्धोऽत्र कार्य । अन्यथा अनमासेन निर्देशं कुर्यात् ॥२॥

यहाँ अन्य व्याख्याकार कहते हैं—निस्तरण शब्द सामर्थ्यवाचक है । अत उद्योतन आदि-मेंसे प्रत्येकके साथ उसका सम्बन्ध होता है । और उद्योतन आदिका दर्शन आदि चारोके साथ क्रमसे सम्बन्ध होता है । जैसे मरणकालमे पूर्वकी अवस्थाका उत्कृष्ट रूपसे निर्मल करना सम्यग्दर्शनका उद्योतन है अर्थात् निर्विघ्नतापूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधना उद्योतन है, इस प्रकार-क्रमसे करना चाहिये ।

उनसे पूछना चाहिए कि क्या यहाँ ज्ञानादिका निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट ? यदि इष्ट है तो निर्मल करनेका सम्बन्ध अकेले दर्शनके साथ ही क्यो जोडा जाता है ? उत्कृष्ट रूपसे यवन भी सभी दर्शन आदिका इष्ट है । निराकुलतापूर्वक धारण करना भी सामान्य है । तब आप व्रत, गुप्ति और समितिके निश्चयपूर्वक निराकुल धारणाकी बात क्यो कहते है ? तथा निस्तरण शब्दसे सामर्थ्यकी प्रतीति भी नही होती । उसे उद्योतन आदिके साथ जोड़ने पर उद्योतन सामर्थ्य, उद्यवन सामर्थ्य इत्यादिमे कोई अर्थ सिद्ध नही होता । तथा उद्योतन आदिसे तो निर्विघ्नता अर्थ नही निकलता । तब यह अर्थ आप कैसे लेते हैं ? तथा मरणकालसे आपका क्या अभिप्राय है ? यदि मरणकाल समयसे मनुष्य पर्यायके विनाशका समय लेते है तो उस समय तो भावनाकी उत्कृष्टता सम्भव नहीं हैं क्योकि मारणान्तिक समुद्घातमे परिणामोमे मन्दता होती है । यदि यहाँ मरणकाल शब्दसे भावना काल लेते हो तो उसका तो यहाँ ग्रहण नही है । तब जिसका प्रकरण नहीं है उसे कैसे लिया जा सकता है ?

शंका—भावना कालमे होनेवाले व्यापारका कथन करनेके लिए यह शास्त्र रचा जाता है ?

समाधान—नही, ऐसा ग्रन्थकारने नही कहा है । ग्रन्थकारने तो 'दसणणाणचरित्ततवाण उज्जोवण आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्योतनको आराधना कहा है । 'उज्जवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्यवनको आराधना कहा है अतः प्रत्येकके साथ सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए । यदि ग्रन्थकारको ऐसा इष्ट न होता तो वे 'दसण' इत्यादिका निर्देश समासपूर्वक न करते ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन आदिके उद्योतनको चार प्रकार की आराधना कहा है । सम्यग्दर्शन आदिके निर्मल करनेको उद्योतन कहते हैं । उत्कृष्ट यवन अर्थात् मिश्रणको—बार बार दर्शनादि-

कि चतुर्विधैवाराधनेत्याशङ्कायामाह—

दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ।
सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य हवे चरित्तंमि ॥ ३ ॥

'दुविहा पुण जिणवयणे समासेण दुविधा आराधणा भणिया' इति पदसम्बन्धः । आवरणमोहजयाज्जिना । ज्ञानदर्शनावरणजयात्सर्वज्ञा सर्वदर्शिन । मोहपराजयाद्वीतरागद्वेषा । सर्वज्ञानां सर्वदर्शिनां वीतरागद्वेषाणां वचनं जिनवचनं । एतेन असत्यवचनकारणाभावात् प्रामाण्यमाख्यातमागमस्य । वक्तुरज्ञानाद्रागद्वेषाभ्यां वा प्रवृत्तं वचः अयथार्थविबोधनादप्रामाण्यमास्कन्दति । तत्र च 'समासेण' सक्षेपेण 'दुविधा' द्विप्रकारा 'भणिदा' कथिता 'आराहणा' आराधना । का प्रथमा आराधना का द्वितीयेत्यत आह—'सम्मत्तम्मि य पढमा' श्रद्धानविषया प्रथमाराधना । 'विदिया य' द्वितीया च 'हवे' भवेत् 'चरित्तं मि' चारित्रविषया आराधना । दर्शनचारित्राराधनयो प्रथमद्वितीयव्यपदेश उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया नेति । केचित्तु दर्शनपरिणामोत्पत्त्युत्तरकाले हि चारित्रपरिणाम उत्पद्यत इति प्राथम्य दर्शनाराधनाया । असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं पूर्वं

रूप परिणमन करनेको उद्यवन कहते हैं। परीषह आदि आने पर भी निराकुलतापूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निर्वहन कहते हैं। अन्य तरफ उपयोग लगनेमे दर्शन आदिसे मनके हटने पर पुनः उनमें उपयोग लगाना साधन है। अर्थात् नित्य या नैमित्तिक कार्य करते समय सम्यग्दर्शन आदिमे व्यवधान आ जाये तो पुनः उपायपूर्वक उसे करना साधन है। दूसरे भवमे भी सम्यग्दर्शनादिको साथ ले जाना अथवा उस भव मे मरणपर्यन्त धारण करना निस्तरण है। तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। स्व और परके निर्णयको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। पापका बन्ध करानेवाली क्रियाओंके त्यागको चारित्र कहते है और इन्द्रिय तथा मनके नियमनको तप कहते हैं ॥२॥

क्या आराधना चार ही प्रकारकी होती है ऐसी आशङ्कामें आचार्य कहते हैं—

गा०—जिनागममें सक्षेपसे आराधना दो प्रकारकी कही है। श्रद्धान विषयक प्रथम आराधना है। और दूसरी चारित्रविषयक आराधना है॥ ३ ॥

टी०—जिनवचनमे सक्षेपसे दो प्रकारकी आराधना कही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहको जीतनेसे जिन होते हैं तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणको जीतनेसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। मोहको जीतनेसे वीतरागी और वीतद्वेषी होते हैं। सर्वज्ञ सर्वदर्शी और वीतराग तथा वीतद्वेषी महापुरुषोंका वचन जिनवचन कहलाता है। इससे असत्य बोलनेके कारणोंका अभाव होनेसे आगमके प्रामाण्यको स्थापित किया है। वक्ताके अज्ञानसे अथवा रागद्वेषसे कहा गया वचन अयथार्थका बोध करानेसे अप्रमाण होता है।

उस जिनवचनमे 'समासेण' अर्थात् सक्षेपसे 'आराहणा' अर्थात् आराधना, 'दुविधा' अर्थात् दो भेदरूप, 'भणिदा' अर्थात् कही है। पहली आराधना कौन है और दूसरी कौन है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'सम्मत्तम्मि य पढमा' अर्थात् श्रद्धानविषयक प्रथम आराधना है और 'विदिया हवे चरितम्मि' चारित्र विषयक दूसरी आराधना है।

उत्पत्तिकी अपेक्षा और गुणस्थानकी अपेक्षा दर्शनाराधनाको प्रथम तथा चारित्राराधनाको द्वितीय कहा है ऐसा कोई कहते हैं। उनका कहना है कि सम्यग्दर्शनरूप परिणामकी उत्पत्ति

प्रमत्तसंयतादिकं तु परमिति । श्रद्धानविरतिपरिणामयोर्युगपदप्युत्पत्ति प्रादुर्भावे, श्रद्धानवतो वा असंयतस्य पश्चाद्विरतिरपि जायते । तत्किमुच्यते 'उत्पत्त्यपेक्षयेति'। असंयतसम्यग्दृष्टिना कृतः क्रमो येन तदपेक्षया प्रथमद्वितीयव्यपदेशवृत्तिः स्यात् । उत्पत्त्यपेक्षया तत्रोक्त एव नियमः । अथागमे वचनपौर्वापर्यापेक्षया 'असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजदपमत्तसंजदा' इति वचनात् । तदेव वचनं किमर्थं क्रममाश्रित्य प्रवृत्तमुत नान्तरीयकतया ? न तावदस्ति परिणामानां नियोगभावी क्रमः । यदि स्यान्न यौगपद्यं कदाचित्स्यात् । दृश्यते च सम्यग्दृष्टिसंयतासंयतता इति चेदत्र । अथ नानेकवचनमेकः प्रयोक्तुं समर्थ इति वक्तुरिच्छानुविधायी क्रमः सूत्रविवक्षाकृत प्राथम्यं द्वितीयता चेति वाच्यं न गुणस्थानापेक्षयेति । किं चोपजातदर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्गतातिशयवृत्तिराराधना प्राक्प्रस्तुता । तत्र च प्राथम्यं द्वितीयता वा, तत्किमुच्यते उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति ।

अस्य सूत्रस्योपोद्घातमेवमपरे वर्णयन्ति—अस्मिन् शास्त्रे किमयमेव निश्चयश्चतुर्विधैवाराधनेति, उतान्योऽपि विकल्पः सम्भवतीति ? अस्तीत्याहेति तदयुक्तम् 'दंसणणाणचरित्ततवाणमाराधणा भणिया' इत्यतीत-

---

होनेके उत्तरकालमें चारित्ररूप परिणाम उत्पन्न होता है इसलिये दर्शनाराधना प्रथम है। असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पहले होता है प्रमत्तसंयत आदि बादमें होते हैं।

किन्तु श्रद्धानरूप और विरतिरूप परिणाम एक साथ भी प्रकट होते हैं। अथवा सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न असंयतके पीछेसे भी चारित्र उत्पन्न होता है, तब उत्पत्तिकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय हैं ऐसा कैसे कहते हैं ? असंयत सम्यग्दृष्टियोंका क्रम कैसे संभव है जिससे उसकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय व्यवहार हो सके। उत्पत्तिकी अपेक्षासे उनके सम्बन्धमें नियम कहा ही है।

पूर्वपक्ष—आगममें वचनके पौर्वापर्यकी अपेक्षासे दर्शनाराधनाको प्रथम और चारित्राराधनाको द्वितीय कहा है, क्योंकि आगममें 'असंयतसम्यग्दृष्टी, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत' ऐसा वचन क्रम है।

उत्तर—वही वचन किसलिये क्रमका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ है ? क्या यह क्रम परस्परमें अविनाभावी होनेसे रखा गया है ? परिणामोंके क्रमसे ही होनेका तो कोई नियम नहीं है। यदि होता तो एक साथ श्रद्धान और चारित्र भी नहीं होते। किन्तु सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत एक कालमें होते देखे जाते है।

पूर्वपक्ष—एक व्यक्ति एक साथ अनेक वचनोंका प्रयोग नहीं कर सकता इसलिये क्रम वक्ताकी इच्छाका अनुसरण करता है।

उत्तर—तब प्रथम और द्वितीयपनेको सूत्रकी विवक्षाकृत कहना चाहिये अर्थात् सूत्रमें जिसकी प्रथम विवक्षा है वह प्रथम है और जिसकी विवक्षा बादमें है वह द्वितीय है। गुणस्थानकी अपेक्षा नहीं कहना चाहिये।

दूसरे, जिस आत्मामें दर्शनादि परिणाम उत्पन्न हो गये हैं उसका दर्शन आदिके विषयमें विशेष अतिशय उत्पन्न करनेका नाम आराधना है। वही आराधना यहाँ प्रस्तुत है। उसके विषयमें उत्पत्तिकी अपेक्षा या गुणस्थानकी अपेक्षा प्रथमपना और द्वितीयपना कैसे आप कहते है ?

अन्य कुछ व्याख्याकार इस गाथासूत्रका उपोद्घात इस प्रकार कहते हैं—इस शास्त्रमें क्या यही निश्चय है कि आराधना चार ही प्रकार की है अथवा कोई दूसरा भी विकल्प सम्भव है ? यदि कहते हो 'है' तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि गाथामें दर्शन ज्ञान चारित्र और तप आरा-

कालाभिधानक्रियातः प्रतीयते नास्य शास्त्रस्य व्यापार इति । यद्यस्य व्यापारः शास्त्रस्य वक्तुमिष्टः स्यात् 'भण्णदि' इति ब्रूयात् । 'जिणवयणे भणिया दुविहा आराधणा' इति वचनात् । संक्षेपनिरूपणापि 'तत्थवेति' नेह संक्षेपवाच्यम् । वस्तु बहुग्रन्थस्तु दुरवगमः मन्दबुद्धीनामिति । तदनुग्रहाय स्वल्पस्योपन्यासः । स संक्षेपस्त्रिप्रकार —वचनसंक्षेपोऽर्थसंक्षेपस्तदुभयसंक्षेपश्चेति । वचनबहुत्वस्यार्थनिश्चयो न जायते जडानामिति वचनं संक्षिप्यते । अर्थस्तु संक्षेप एव । अनुयोगद्वारादीनां बहूनामुपन्यासमकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यासः प्रस्तुतस्यार्थसंक्षेपः । वचनानि तु बहूनि । तस्योभयसंक्षेपः पाश्चात्यः । द्विविधाराधनेति वचनसंक्षेपो नार्थसंक्षेपः । ज्ञानस्याराधना तपसश्च विद्यमानापि न वचनेनोच्यते । परमुखेनैवावबोधयितुं शक्यत इति ।

दंसणमाराहंतेण णाणमाराहियं हवे णियमा ।
णाणं आराहंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं ॥ ४ ॥

'दंसणमाराहंतेण' दर्शनाराधनायां कथितायां ज्ञानाराधनापि शक्यते प्रतिपत्तुम्, अन्यानयनचोदनायां

धना 'भणिता' 'कही है' इस प्रकार अतीत काल सम्बन्धी क्रियाका प्रयोग किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इस शास्त्रका उसमें व्यापार नहीं है। यदि उसको कथन करनेमें इस शास्त्रका व्यापार इष्ट होता तो 'भण्णदि' ऐसा लिखते। किन्तु वे कहते हैं 'जिणवयणे भणिया दुविहा आराधणा।' जिनवचनमें दो प्रकारकी आराधना कही है। उसीमें संक्षेप भी कथन किया है इसलिये यहाँ संक्षेप भी नहीं कहना चाहिये।

इसका समाधान यह है कि बहुत विस्तारसे कथन मन्दबुद्धियोंके लिये दुरवगम होता है। वे उसे समझनेमें असमर्थ होते हैं। उनके कल्याणके लिये संक्षेप कथन किया जाता है। उस संक्षेपके तीन प्रकार हैं—वचन संक्षेप, अर्थ संक्षेप और उभय संक्षेप। वचनका विस्तार होने पर जड़बुद्धि अर्थका निश्चय नहीं कर सकते। इसलिये वचनका संक्षेप किया जाता है। अर्थका तो विस्तार रहता ही है। बहुतसे अनुयोगद्वार आदिका उपन्यास न करके केवल दिशामात्रका बतलाना प्रस्तुत विषयका अर्थ संक्षेप है। वचन तो बहुत है। उन दोनोंका अर्थात् वचन और अर्थका संक्षेप उभय संक्षेप है। 'दुविहा आराधणा' यह वचन संक्षेप है, अर्थ संक्षेप नहीं है। ज्ञानकी आराधना और तपकी आराधनाएँ विद्यमान होते हुए भी उन्हें वचनसे नहीं कहा। उन्हें परमुखसे ही अर्थात् दर्शन और चारित्राराधनाके द्वारा ही जाना जा सकता है।

भावार्थ—पहले विस्तारमें रुचि रखने वाले शिष्योंकी दृष्टिसे रखकर चार प्रकारकी आराधना कही। पीछे संक्षेप रुचि शिष्योंकी अपेक्षा उसे दो प्रकारका कहा, क्योंकि दर्शनका ज्ञानके साथ तथा चारित्रका तपके साथ अविनाभाव होनेसे दर्शनाराधनामें ज्ञानाराधनाका और चारित्राराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव होता है। तथा सम्यग्दर्शन आराधनाके होने पर ही ज्ञानाराधनापूर्वक चारित्राराधना होती है ॥ ३ ॥

गा०—दर्शनकी आराधना करने वालेके द्वारा नियमसे ज्ञानकी आराधना होती है। किन्तु ज्ञानकी आराधना करने वालेके द्वारा दर्शनकी आराधना भजनीय है, होती भी है, नहीं भी होती ॥ ४ ॥

टी०—'दंसणमाराहंतेण' अर्थात् दर्शन आराधनाका कथन करने पर ज्ञान आराधनाकी भी

१ [illegible] । २ [illegible] ।

शरावाद्यन्यतमभाजनमात्रप्रतिपत्तिवत् । ननु चान्तरेणाधारमानयनं न सम्भवतीति भवत्यनभिहितेऽपि भाजन-मात्रे प्रतिपत्तिरिह कथम् ? इहाप्यविनाभावादित्याचष्टे 'दंसणमाराधंतेण' ।

अत्रापरे सम्बन्धमारम्भयन्ति गाथायाः । यदि द्विविधा आराधना 'चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्ता सिद्धा' इति प्रतिज्ञा हीयते द्वयोरसंग्रहात् इति चेत् नास्मिन्नपि विकल्पे तयोरपि संग्रहार्थम् । कथं 'दंसणमाराधंतेण' इति प्रतिज्ञा हीयते इति । अत्र प्रतिज्ञा शब्देन किमुच्यते ? साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति तावन्न गृहीतम् । चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वस्येह साध्यता नास्ति । सिद्धमेव हि चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वमनूद्यत इति । अथाभ्युपगति प्रतिज्ञा सा किन्नोपपद्यते ? सन्ति चतस्र आराधनास्तासां च फलं ते प्राप्तवन्तस्तत सत्यभ्युपगन्तव्ये कथमभ्युपगमानुपपत्तिः ? चतुर्विधेत्युक्तवन्तः द्विविधेति कथं न विरुद्धमिति पूर्वापरव्याहतिरिति चोद्यते । तथा यच्चोद्यमेव चोद्यते समासेन द्विविधेति वचनात्, प्रपञ्चनिरूपणाया चतुर्विधा सतो विरोध ? तेन विरोधपरिहाराय चागतेयं गाथा ।

'दंसण' श्रद्धान रुचि, 'आराधतेण' आराधयता, 'णाणं' सम्यग्ज्ञान, 'आराधिद' आराधित 'हवे' भवेत् 'णियमा' निश्चयेन । यस्य हि यद्विषया श्रद्धा तस्य कथंचिदप्यज्ञाने न सा भवति । न हि निर्विषया रुचि

जानना शक्य है। जैसे आग लानेकी प्रेरणा करने पर उसको लानेके लिए सकोरा आदि किसी एक पात्र मात्रका बोध हो जाता है।

शङ्का—विना किसी आधारके आगका लाना सभव नही है इसलिये पात्रमात्रका कथन न करने पर उसका बोध हो जाता है। किन्तु यहाँ यह कैसे सभव है ?

समाधान—यहाँ भी अविनाभाव होनेसे 'दसणमाराहतेण' इत्यादि कहा है।

यहाँ अन्य व्याख्याकार गाथाके सम्बन्धका आरम्भ इस प्रकार करते हैं—यदि आराधनाके भेद दो है तो 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्ध हैं' यह प्रतिज्ञा पूर्ण नही होती; क्योकि इसमे शेष दोका सग्रह नही किया है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि यहाँ यह बतलाते हैं कि उन दोमे भी शेष दोका सग्रह होता है। उसीके लिये 'दसणमाराहतेण' आदि कहा है।

तथा आप कहते हैं कि प्रतिज्ञाकी हानि होती है। यहाँ प्रतिज्ञा शब्दसे आप क्या कहते हैं ? साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहते हैं। उसका तो यहाँ ग्रहण नही किया है; क्योकि 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त' यह यहाँ साध्य नही है। चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त होना तो सिद्ध है, साध्य नही है। उसीका यहाँ अनुवाद मात्र किया है। यदि प्रतिज्ञाका अर्थ स्वीकृति है तो वह यहाँ क्यो नही उत्पन्न होती ? चार आराधनाएँ हैं और उनका फल सिद्धोने प्राप्त किया है ऐसा स्वीकार करने पर स्वीकृतिकी अनुपपत्ति कैसे हुई।

शंका—पहले कहा आराधनाके चार भेद हैं अब कहते हैं दो भेद हैं। तो यह पूर्वापर विरुद्ध कैसे नहीं है ?

समाधान—आप व्यर्थ ही तर्कमे कुतर्क लगाते है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सक्षेपसे आराधनाके दो भेद हैं और विस्तारसे कहने पर चार भेद है इसमे विरोध कैसा ? अतः विरोध दूर करनेके लिये ही यह गाथा आती है। अस्तु

'दंसण' अर्थात् श्रद्धान या रुचिको 'आराधतेण' आराधना करनेसे 'णाण' अर्थात् सम्यग्ज्ञान 'आराधिद' आराधित, 'हवे' होता है। 'णियमा' निश्चयसे। जिसकी जिस विषयमे श्रद्धा होती है उसका उस विषयमे अज्ञान होने पर किसी भी तरह वह श्रद्धा नही होती। रुचि विषयके विना

प्रवर्तते । बुद्धिपरिगृहीतवस्तुविषया श्रद्धे[illegible] [illegible] ।

अत्रापरा व्याख्या—आत्मनो विषयाकारपरिणाम[illegible] [illegible] । [illegible] तोयजन्मवत् । तद्गतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः श्रद्धा । [illegible] [illegible] । तद्दर्शनमोहोपशमक्षयोपशमनिमित्त [illegible] [illegible] । [illegible] भाविनी निराश्रयधर्मस्य चैकत्वसिद्धयभावादिति ।

तदेतं परीक्ष्यते, विषयाकारपरिणा[illegible] [illegible] च—

'अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं'—[समय० ४९]

इत्यनेन विरोधः । विरुद्धयोः नीलपीतादिपरिणामयोः नैकत्र वृत्तिः । [illegible]—बाह्यस्यैव नीलादिविज्ञानगतस्य[illegible] । विषयागतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचि[illegible] [illegible] चैतन्यस्य धर्मः श्रद्धानं न तु ज्ञानं, ज्ञानधर्मत्वे क्षायोपशमिकज्ञाननिवृत्तौ [illegible] । न हि धर्मिणि विनष्टे धर्मस्यावस्थितिः । चैतन्यमविनाशि [illegible] ज्ञानस्य [illegible] । [illegible] धर्मः स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य धर्मिणो [illegible] प्रभवति । न हि [illegible] कुन्दकुसुमस्य कदाचन । एवं मते प्रसन्नता श्रुतादर्शनं स्यात्, श्रुतादेर्वा प्रसन्नता [illegible] । एवं आत्मे

नही होती । बुद्धिके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुमें श्रद्धा होती है अतः श्रद्धाका ज्ञानके साथ अविनाभाव है ।

इस गाथाको लेकर एक अन्य व्याख्या इस प्रकार है—आत्माके विषयाकार परिणमनको ज्ञान कहते हैं । वह ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है । जैसे भूमिरूप आवरणको हटा देने पर पृथ्वीसे पानीका जन्म होता है । उस ज्ञानमें जो निर्मलता होती है उसे प्रसन्नता या स्वच्छता कहते हैं । और उसमें अभिरुचिको श्रद्धा कहते हैं । शास्त्रमें निरूपित अर्थात् विषयमें सत्य-भावना श्रद्धा है । वही दर्शन है । वह दर्शनमोहके उपशम या क्षयोपशमसे होता है । जैसे पानीमें मिश्रित कीचड़के अभावमें जल निर्मल होता है ।' उस दर्शनकी आराधना करने पर ज्ञानकी सिद्धि अवश्य होती है क्योंकि जिस धर्मका कोई आश्रय नही है उसकी सिद्धि एकाकी नही होती ।

अब इस व्याख्याकी परीक्षा करते हैं—

यदि आत्मा विषयाकार रूप परिणमन करता है तो विषयकी तरह आत्मा रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिमय हो जायेगा । और ऐसा होने पर जो आत्माको अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला कहा है उसके साथ विरोध आता है । तथा नील पीत आदि रूप परिणाम परस्परमें विरुद्ध होनेसे एक जगह नही रह सकते । तथा एक ही कालमें दो आकारोंको जाननेका प्रसंग आता है एक बाह्य नीलादि और दूसरा ज्ञानगत आकार । तथा ज्ञानमें जो विशुद्धि या प्रसन्नता है उसे अभिरुचि या श्रद्धा कहना भी समीचीन नही है । श्रद्धान चैतन्यका धर्म है, ज्ञानका नही । यदि उसे ज्ञानका धर्म माना जायगा तो क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट होने पर दर्शन कैसे रह सकेगा । धर्मीके नष्ट होने पर धर्म नही रहता । यदि कहोगे कि चैतन्य अविनाशी है अतः दर्शनका वही आश्रय है तो वह ज्ञानका धर्म नही हो सकता । तथा जो जिसका धर्म होता है वह उसका स्वरूप होता है एक धर्मीका स्वरूप दूसरे धर्मीका नही हो सकता । बगुलोंकी पंक्तिका धर्म धवलता कभी भी कुन्दके फूलोंका धर्म नही हो सकती । इसी तरह मतिज्ञानकी निर्मलता

१ तोयादय–आ० । २. सिद्धता–अ० आ० । ३. यदि न स्या–अ० आ० ।

तद्गोचरायाः अपि प्रसत्तेर्भेद इति क्षायिक्यां का वार्ता न तस्याः प्रत्यग्राया प्रादुर्भूति प्रलयो वा।

न हि दर्शनमोहोदय विना दर्शनस्याभावो युज्यते। यदि स्याद्दर्शनमोहनीयकल्पना अघटमाना भवेत्। अथ याथात्म्यविषया श्रद्धा आत्मप्रतिबंधकसद्भावान्नोदेति, तदपाये उद्गच्छति, यदि प्रतिबंधकारि किंचिन्न स्यात्। आत्मनि परिणामिनि सति किमिति सदा न भवेत् ? अतत्परिणामत्वे नात्मनि कदाचिदपि भवेत्। तत् अनुभवसिद्धश्चासौ सहकारिकारणानामसान्निध्यादात्मा श्रद्धानरूपेण न परिणमते। न तु किंचित्प्रतिबंधकमस्येति चेत् किं तत्सहकारि यस्याभावादनुत्पत्ति श्रद्धायाः ? अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभाव सर्व एव, तावंतरेण हेतुता प्रतिज्ञामात्रत एव कस्यचित्सा वस्तुचिंतायामनुपयोगिनीति प्रतिबंधकसद्भावानुमानमागमेऽभिमतं, [1]तदेवं सति न घटते। किंचित् श्रुतप्ररूपितार्थविषया सत्यभावनेति वा मवद्धम्। अवध्यादिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना किं न दर्शनं ? अवध्यादिकमपि वस्तुयाथात्म्यस्पर्शि। अथ श्रुतग्रहणं समीचीनज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यसे भवतु अलमतिप्रसंगेन—

"सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वाबाहमट्ठगुणा होन्ति सिद्धाणं॥" [ ]

इत्यनेन च व्याख्या विरुध्यते। गुणान्तरत्वेन उपन्यासानुपपत्तेः। क्षायिकक्षायोपशमिकयोर्भेदोऽस्ति

श्रुतादि ज्ञानोको नही हो सकेगी और न श्रुतादि ज्ञानकी निर्मलता मतिज्ञानकी। इस प्रकार ज्ञान भेद होने पर उन ज्ञानोमे होने वाली निर्मलतामें भी भेद होता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञानोकी बात है। क्षायिककी क्या बात है। क्षायिकी निर्मलता न तो नवीन उत्पन्न होती है न नष्ट होती है।

दर्शन मोहके उदयके बिना दर्शनका अभाव नही होता। यदि हो तो दर्शन मोहनीय कर्मकी मान्यता नही बनती।

यदि कहोगे कि प्रतिबन्धकका सद्भाव रहनेसे आत्मामें यथार्थ विषयक श्रद्धा नही होती, यदि कोई प्रतिबन्धक नही होता तो उसके अभावमे श्रद्धा प्रकट होती है। यदि आत्मा परिणामी है तो सदा श्रद्धा क्यों नही रहती। यदि आत्मा अपरिणामी है तो कभी भी श्रद्धा प्रकट नही होगी। इसलिये यह अनुभव सिद्ध है कि सहकारी कारणोंके न रहनेसे आत्मा श्रद्धान रूपसे परिणमन नही करता, उसका प्रतिबन्धक कोई नही है।

तब प्रश्न होता है कि वह सहकारी कौन है जिसके अभावके कारण श्रद्धाकी उत्पत्ति नही होती। सर्वत्र कार्यकारणभाव अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा ही जाना जाता है। अन्वय व्यतिरेकके विना केवल कहने मात्रसे ही यदि किसीमें कार्यकारणभाव हो तो वस्तु विचारमे उसका कोई उपयोग सभव नही है उसमे वह अनुपयोगी है। इसीसे आगममें प्रतिबधकके सद्भावके अनुमानको मान्य किया गया है। अर्थात् प्रतिबन्धकके होनेसे श्रद्धा प्रकट नही होती और उसके अभावमे प्रकट होती है। ऐसा होने पर आपका उक्त कथन घटित नही होता।

तथा शास्त्रमें निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन है यह कहना भी ठीक नही है क्योकि तब प्रश्न होता है कि अवधि आदि ज्ञानोंके द्वारा निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन क्यो नही है ? क्योकि अवधि आदि ज्ञान भी यथार्थ वस्तुको विषय करते हैं। यदि कहोगे कि समीचीन ज्ञानोपयोग लक्षण वाला श्रुत ज्ञान है इसलिये उसका ग्रहण किया है तो आगममे जो सिद्धोंके आठ गुण-सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु

---

१ तावदसति–आ० मु०।

वा न वा ? यदि नास्ति भावपंचकनिरूपणकारिणा आगमेन विरोधः । अथ अस्ति भेदः परिणामः परिणामान्तरस्य स्वरूपं न भवति । परिणामकलापस्य परिणामिस्वरूपता न्याय्या । यौ भिन्नप्रतिबन्धकापायजन्मौ, न तावन्योऽन्यस्य धर्मधर्मिणौ यथा अवधिकेवले भिन्नप्रतिबन्धकापायजन्मने, तथा न ज्ञानदर्शने ।

ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति द्वैविध्यं कस्मान्नोपन्यस्तं इत्यत्र चोद्ये प्रतिविधानमाह—'णाणमाराधंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं ।' ज्ञानशब्दः सामान्यवाची संशये, विपर्यये, समीचीने च वृत्तः । संशयज्ञानं, विपर्यासज्ञानं, सम्यग्ज्ञानमिति प्रयोगदर्शनात् । तेन ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्तत्त्वश्रद्धाने परिणमत एवेति न नियोगोऽस्ति, मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वश्रद्धाया अभावात् । ततो ज्ञानस्य दर्शनाविनाभावित्वस्याभावात् न ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनावगतु सारेति न तथा संक्षेपाभिधानमागमे प्रक्रान्तमिति भावार्थः । 'णाणं' ज्ञानं । 'आराधंतेण' आराधयता । 'दंसणं' दर्शनं । 'होदि' भवति । 'भयणिज्जं' भजनीयं विकल्प्यम् । अत्र दंसणशब्देन दर्शनविषयमाराधनमुच्यते । ततोऽयमर्थः दर्शनाराधना भाज्येति भजनीयतया अविनाभाविताभावः सूचितः । सम्यग्ज्ञाने आराधिते भवत्याराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनायां नेति भजनीयता । अथवा ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति च शक्यते संक्षेप्तुम् ।

और अव्याबाध कहे हैं उसके साथ उक्त व्याख्याका विरोध आता है। क्योंकि एक गुणका अन्य गुणरूपसे उपन्यास नहीं किया जा सकता।

तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकमें भेद है या नहीं ? यदि नहीं है तो पाँच भावोंका निरूपण करनेवाले आगमसे विरोध आता है। यदि भेद है तो एक परिणाम दूसरे परिणामका स्वरूप नहीं होता, इसलिए परिणामोंके समूहको परिणामीका स्वरूप मानना न्याय है।

तथा जो भिन्न प्रतिबन्धकोंके अभावमें उत्पन्न होते हैं वे परस्परमें एक दूसरेके धर्म-धर्मी नहीं हो सकते। जैसे अवधिज्ञान और केवलज्ञान, अवधिज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण रूप भिन्न प्रतिबन्धकोंके अभावमें उत्पन्न होनेसे परस्परमें धर्म-धर्मी नहीं है उसी तरह ज्ञान और दर्शन भी परस्परमें धर्म-धर्मी नहीं हैं।

शंका—ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इस प्रकारसे दो आराधना क्यों नहीं कही ?

समाधान—इसका उत्तर देते हैं—'णाणमाराधंतेण दसणं होइ भयणिज्जं।' यहाँ ज्ञान शब्द सामान्यवाची है क्योंकि संशय, विपर्यय और समीचीनमें रहता है। संशयज्ञान, विपरीतज्ञान, सम्यग्ज्ञान ऐसा प्रयोग देखा जाता है। इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला आत्मा नियमसे तत्त्व श्रद्धान रूपसे परिणमन करता ही है ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि जो आत्मा मिथ्याज्ञान रूपसे परिणमन करता है उसके तत्त्व श्रद्धाका अभाव होता है, इसलिए ज्ञान दर्शनका अविनाभावी नहीं है। अतः ज्ञानाराधनाके कहनेसे दर्शनाराधनाका ग्रहण शक्य नहीं है। इसलिए आगममें उस प्रकारसे संक्षेप कथन नहीं किया है। अतः ज्ञानकी आराधनासे दर्शनकी आराधना भजनीय है। यहाँ दर्शन शब्दसे दर्शन विषयक आराधनाको कहा है। अतः यह अर्थ हुआ कि दर्शन आराधना भजनीय है। इससे ज्ञानाराधनाके साथ दर्शनाराधनाके अविनाभावके अभावको सूचित किया है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर तो दर्शनकी आराधना होती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधना करने पर दर्शनकी आराधना नहीं होती है। अथवा ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इस प्रकारसे भी संक्षेप किया जा सकता है।

भावार्थ—दर्शन श्रद्धानको कहते हैं। श्रद्धान अज्ञात वस्तुमें नहीं होता। अतः श्रद्धाके

ननु च ज्ञानमन्तरेणापि दर्शनं वर्तते, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति। अतोऽविनाभावाभाव इत्यत आह—

सुद्धणया पुण णाणं मिच्छादिट्ठिस्स बेंति अण्णाणं।
तम्हा मिच्छादिट्ठी णाणस्साराहओ णेव ॥ ५ ॥

शुद्धनयाः पुनः। अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदव्यापृतोऽविनाभाविधर्मबलप्रसूतो नयः। तथा चोक्तम् इति। "उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नय" इति। शुद्धो नयो येषां ते शुद्धनयाः। निरपेक्षनयनिरासाय शुद्धविशेषणम्। नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेति ये परिच्छेदास्ते विपरीतरूपास्तथाविधस्य प्रतिपक्षधर्मानपेक्षस्य वस्तुनि रूपस्याभावात्। सापेक्षं रूपं निरपेक्षतारूपेण दर्शयतः प्रत्ययस्य अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं भ्रान्तिरिति भ्रान्तता। तद्दोषरहितता शुद्धता। तथा हि—कृतकत्वेन अनित्यतामेव वस्तुनः प्रत्येति ज्ञानं न सत्त्व-

---

ज्ञानके साथ अविनाभाव है। अतः गाथा सूत्रमें ठीक ही कहा है कि तत्त्व श्रद्धानकी आराधना करने पर *सम्यग्ज्ञानकी आराधना अवश्य होती है। इस पर प्रश्न होता है कि ज्ञानाराधना और* चारित्राराधना ऐसे दो भेद क्यों नहीं रखे ? इसके उत्तरमें कहा है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर सम्यग्दर्शनकी आराधना होती है किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधनामें सम्यक्त्वकी आराधना नहीं होती। इस प्रकार ज्ञान और दर्शनमें अविनाभाव न होने से ज्ञानाराधनामें दर्शनाराधना भाज्य है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि जब 'सम्यग्ज्ञानकी आराधना' कहने पर सम्यक्त्वकी आराधनाका बोध हो सकता है तो वैसा क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर है कि ज्ञानके सम्यक् व्यपदेशमें सम्यक्त्व मुख्य हेतु है। सम्यक्त्वके बिना ज्ञान सम्यक् नहीं कहलाता। अतः सम्यग्ज्ञानका प्राधान्य नहीं है ॥४॥

'ज्ञानके बिना भी सम्यग्दर्शन होता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानका आराधक होता है। अतः ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शनका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। इस आशंकाका उत्तर देते हैं—

गा०—किन्तु शुद्धनय दृष्टि वाले ज्ञानी जन मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं ही होता ॥५॥

टी०—अनन्त धर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मके जाननेको नय कहते हैं। यह नय उस धर्मके साथ ही रहनेवाले अन्य धर्मोंके बलसे उत्पन्न होता है। अर्थात् नय जिस धर्मको जानता है उस धर्मके साथ जो अनन्त धर्म उस वस्तुमें रहते हैं उनका निषेध नहीं करता। किन्तु उनको गौण करके एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुको जाननेका नाम नय है। कहा भी है—युक्तिके बलसे वस्तुके जाननेको नय कहते हैं। शुद्ध नय जिनका है वे शुद्धनय होते हैं। यहाँ निरपेक्ष नयके निरासके लिए 'शुद्ध' विशेषण लगाया है। वस्तु सर्वथा नित्य ही है अथवा सर्वथा क्षणिक ही है इस प्रकारके जो ज्ञान हैं वे विपरीत रूप हैं क्योंकि इस प्रकारके प्रतिपक्षी धर्मोंसे निरपेक्ष रूपका वस्तुमें अभाव है। वस्तुका स्वरूप सापेक्ष है उसे जो निरपेक्ष रूपसे दिखलाने वाला ज्ञान है, वह भ्रान्त है। क्योंकि जो जिस रूप नहीं है उसे उस रूप दिखलाता है वह ज्ञान भ्रान्त होता है। और जो उस दोषसे रहित है वह शुद्ध है। इसका खुलासा इस प्रकार है—वस्तुकी उत्पत्तिको देखकर मिथ्याज्ञान वस्तुको सर्वथा अनित्य ही मानता है। किन्तु वह सर्वथा अनित्य नहीं है। समस्त

चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम् । स्वकृतापराधगूहनत्यजनं आलोचना । स्वकृतादशुभयोगात्प्रति-निवृत्तिः प्रतिक्रमणं । तदुभयोज्झनं उभयं । येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततोऽपगमनं विवेकः । देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः । तपोऽनशनादिकं यथा भवति चारित्रं तथोक्तमेव । असंयमजुगुप्सार्थमेव प्रव्रज्या-हापनं छेदः । मूलं पुनश्चारित्रादानम् । ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रियाः । तासामपोहनं विनयः । चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्त्यं ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया । इत्थं चारित्राराधनयोक्तया प्रत्येतुं शक्या तपस आराधना । अशनादिकं यदि नाम त्यक्तं न नियोगतोऽविरतिः प्रत्याख्याता भवति । कृताशन-त्यागा अपि हि दृश्यते असंयता इत्येतच्चेतसि कृत्वाह—आराधयतेति 'आराधंतेण' आराधयता । 'तवं' तपः । 'चारित्तं' चारित्रं सकलविरतिरूपं । 'होदि' भवति । 'भयणिज्ज' भजनीयम् । तपस्युद्यतः करोति वा न वा असंयमपरिहारं इति यावत् । अत्रान्येषां व्याख्या—चारित्राराधनायां तपस आराधनायाः सिद्धिरवश्यंभा-विनीत्युक्तं तत्कथं ? तदिदं संयममाराधयतेत्यादि एवं सूत्रोपोद्घातं कृतं स नोपपद्यते । चारित्राराधनायां तपस आराधनया सिद्धिर्भवतीति नोक्तं क्वचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्यते उक्तमिति ? 'विदियाय हवे चरित्तंहि' इति वचनेनोक्तमिति चेन्न अशब्दार्थत्वात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्तं वक्तुं । अपि च भवतु

कहते हैं। चित्तकी व्याकुलताके दूर करनेको विविक्त शयनासन तप कहते हैं। अपने द्वारा किये गये अपराधको छिपानेका त्याग करना आलोचना है। अपने द्वारा किये गये अशुभ मन वचन कायके व्यापारका प्रतीकार करना प्रतिक्रमण है। इन दोनोंको ही करना उभय है। जिसके द्वारा अथवा जिस स्थान पर अशुभ उपयोग हुआ हो उनसे अलग होना विवेक है। शरीरमें ममत्वका त्याग कायोत्सर्ग है। अनशनादि तप जिस प्रकार चारित्र है ऊपर कहा ही है।

असंयमके प्रति ग्लानि प्रकट करनेके लिये दीक्षाके कालको कम कर देना छेद प्रायश्चित्त है। और पुनः चारित्र ग्रहण करना मूल प्रायश्चित्त है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके अती-चारोंको अशुभ क्रिया कहते हैं उनका त्याग अर्थात् ज्ञानादिमें दोष न लगाना विनय है। चारित्रके कारणोंमें अनुमति देना वैयावृत्य है। इसी प्रकार स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र है क्योंकि ये सब अविरति, प्रमाद और कषायके त्यागरूप हैं।

इस प्रकार चारित्राराधनाके कथनसे तप आराधनाको जाना जा सकता है। यदि भोजन आदिका त्याग किया तो अविरतिका त्याग नियमसे नहीं किया। 'भोजनका त्याग करने वाले भी असंयमी देखे जाते हैं' यह बात चित्तमें रखकर आचार्य कहते हैं—

तपकी आराधना करने वालेके द्वारा, सकलविरतिमें सम्बन्धरूप चारित्र, 'भयणिज्ज' भज-नीय है। अर्थात् तपमें जो संलग्न है वह असंयमका त्याग करता भी है और नहीं भी करता।

अन्य टीकाकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—चारित्रकी आराधनामें तपकी आरा-धनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा जो कहा वह कैसे ? उसीके समाधानके लिये 'संजममाराधंतेण' इत्यादि कहा है। ऐसा वे इस गाथाकी उत्थानिकामें कहते हैं। उनका कथन ठीक नहीं है—क्योंकि चारित्रकी आराधना करनेपर तप आराधनाकी सिद्धि होती है ऐसा ग्रन्थकारने कहीं भी नहीं कहा। तब कैसे कहते हैं कि ग्रन्थकारने ऐसा कहा है ? यदि कहोगे कि—

'विदियाय हवे चरित्तम्मि' इस कथनके द्वारा कहा है ? तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि

तेनोक्तं इह तदेवोक्तं किमिति पुनरुपन्यस्यते ? तदयुक्तमिति वा युक्तं सूत्रे चारित्रसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुपन्यासात् ॥ प्रतिज्ञामात्राद्विप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यते इति युक्तिप्रश्नोऽयं स च युज्यते व्याख्यान्तरसूचिते प्रतिविधाने । यच्च व्याख्यानं "त्रयोदशात्मके चारित्रे सर्वथा प्रयतनं संयम" । स च बाह्यतपः संस्कारिताभ्यन्तरतपसा विना न सम्भवति । तदुपाधानभावात्संयमस्वरूपस्येति" तदघटमानं । न हि प्रयतनं संयमशब्दस्यार्थः । क्वचिदपि संयमशब्दस्य तथाप्रयुक्तत्वात् । प्रयोगानुवृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । 'विदिया य हवे चरित्तम्हि' इति सूत्रे चारित्रशब्देन सामान्यवाचिना सकलचारित्रमिति किमर्थं विशेषोच्यते ? सर्वस्य हि सामायिकादेश्चारित्रस्याराधना चारित्राराधना भवति । यथाह–'पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो', इत्यन्ये यथाख्यातचारित्राराधनामपि कथयति । बाह्यतपःसंस्कारिताभ्यन्तरतपसा इति चासंबद्धं । अन्तरेणापि बाह्यतपोऽनुष्ठानं अन्तर्मुहूर्तमात्रेणाधिगतरत्नत्रयाणां भद्दणराजप्रभृतीनां पुरुदेवस्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमनमागमे प्रतीतमेव ॥

इन शब्दोंका यह अर्थ नहीं है। शब्दोंके द्वारा जिसकी प्रतीति हो, उसे उनका कथन कहना युक्त है। तथा, यदि उन्होंने ऐसा कहा है तो पुन. उसीका उपन्यास वह क्यों करते और वह कैसे युक्त हो सकता है ? क्योंकि गाथामें चारित्रकी सिद्धिमें अन्यकी सिद्धिके क्रमका कथन नहीं है। 'प्रतिज्ञामात्रसे विवादग्रस्त व्यक्ति नहीं समझता' इस प्रकारका युक्तिप्रश्न अन्य व्याख्याओंके द्वारा सूचित प्रतिविधानमें कैसे युक्त हो सकता है ?

एक अन्य व्याख्यामें कहा है—'तेरह प्रकारके चारित्रमें सर्वथा प्रयत्नशील होनेका नाम संयम है। यह संयम बाह्यतपके द्वारा संस्कार किये गये अभ्यन्तर तपके बिना नहीं होता अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर तपके होनेपर ही संयम होता है; क्योंकि संयमका स्वरूप तपके द्वारा उपहृत होता है' किन्तु उक्त कथन घटित नहीं होता; क्योंकि संयम शब्दका अर्थ प्रयत्नशील होना नहीं है। किसी ग्रन्थमें संयम शब्दका प्रयोग इस अर्थमें नहीं हुआ है। शब्दका अर्थ उसके बारबार प्रयोगसे जाना जाता है।

'विदिया य हवे चरित्तम्मि' इस गाथा सूत्रमें आगत चारित्र शब्द सामान्य चारित्रका वाचक है, उसका सकल चारित्र रूप विशेष अर्थ आप कैसे कहते हैं ? समस्त सामायिक आदि चारित्रकी आराधना चारित्राराधना है। आगे कहेंगे कि क्षीणकषाय और केवलीके पण्डित पण्डित मरण होता है। अतः यथाख्यातचारित्राराधना भी उसमें आती है। तथा 'बाह्य तपके द्वारा संस्कारित अभ्यन्तर तपसे' इत्यादि कथन भी असम्बद्ध है क्योंकि बाह्य तपके अनुष्ठानके बिना भी अन्तर्मुहूर्तमात्रमें रत्नत्रयको प्राप्त करके, भगवान् ऋषभदेवके शिष्य भद्दणराज वगैरहका निर्वाण गमन आगममें प्रसिद्ध ही है।

भावार्थ—संयम शब्दमें 'सं' का अर्थ है सम्यक् अर्थात् मन वचन कायके द्वारा पापको लाने वाली क्रियाओंका 'यमन'—त्याग संयम है। अतः संयमका अर्थ चारित्र है। वह बाह्य अनशन आदि और अभ्यन्तर प्रायश्चित्तादिके भेदसे बारह प्रकारका है। उस तपकी आराधना चारित्राराधनामें आती है क्योंकि उसमें भी अविरति, प्रमाद और कषायका त्याग होता है। किन्तु तप आराधनामें चारित्राराधना नहीं आती; क्योंकि तपस्वी असंयमका त्यागी होता भी है और नहीं भी होता। भोजनादिका त्याग करने वाले भी कोई-कोई असंयमी देखे जाते हैं। इस ग्रन्थ पर अन्य भी टीकाएँ थीं। उन्हींके मतका निराकरण ऊपर टीकाकार अपराजित सूरिने किया है।

संवरे प्रतिसमयमुपचीयमानकर्मसंहतेः का मुक्तिः ? ननु सत्यपि संयमे विना निर्जरां न निर्वृतिरिति । तपस एवैत-न्माहात्म्यमभिप्रायेण 'सम्मादिट्ठिस्स वि अकदतवो भावणाविहीणस्स ण चारित्तं महागुणं होदित्ति' । सत्यमेवमेतत् चारित्रप्राधान्यविवक्षापरा इयं चोदना । असिश्छिनत्तीत्यत्र छेत्तारमन्तरेण नासिनैव सम्पद्यते छिदा, तथा तदीय-तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्यादिगुणविशेषनिमित्ततया तस्यैव स्वातन्त्र्यं विवक्ष्यते । एवमिहापीति न दोषः । कुत ? यस्मात् 'होदि हु हत्थिण्हाणं' होदि भवति । 'हु' शब्द एवकारार्थः । न हस्तिस्नानमित्यनेन संबन्धनीयः । हस्तिस्नानमेवेति । यथा हस्ती स्नातोऽपि न नैर्मल्यं वहति पुनरपि करावर्जितपांशुपटलमलिनतया तद्वत्तपसा निर्जीर्णेऽपि कर्मांशे बहुतरादानं असंयममुखेनेति मन्यते । दृष्टान्तान्तरमाचष्टे—चुंदच्छिदकम्म मन्थनचर्मपालिकेव तदसंयमहीनं तप । दृष्टान्तद्वयोपन्यासः किमर्थम् इति चेत् । असंयमाद्बहुतरोपादानं कर्मणोऽसंयमनिमित्त-स्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः । आर्द्रतनुतया बहुतरमुपादत्ते रजः । बन्धरहिता निर्जरा स्वास्थ्यं प्रापयति नेतरा बन्धसहभाविनीति । किमिव मन्थनचर्मपालिकेव । सा हि बन्धसहिता मुक्तिं वर्तयति । अत्रान्ये व्याचक्षते—संयमभेदमनपेक्ष्य शुद्धिमशुद्धिं च दर्शयता प्रथम उदाहृतः । तदयुक्तं सकलकर्मापायो हि शुद्धिः,

---

अभावमें प्रति समय बन्धनेवाले कर्मोंका संचय होते हुए मुक्तिकी बात ही क्या है ?

शङ्का—संयमके होनेपर भी निर्जराके विना मुक्ति नहीं होती। अतः ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिसने तपकी भावना नहीं की उस सम्यग्दृष्टीका चारित्र महान् उपकारी नहीं है ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ ही है। यह कथन चारित्रकी प्रधानताकी विवक्षाको लिये हुए है। जैसे 'तलवार काटती है' ऐसा कहा जाता है। किन्तु काटनेवाले व्यक्तिके विना केवल अकेली तलवार नहीं काटती। परन्तु तलवारकी तीक्ष्णता, गौरव और कठोरता आदि अतिशयोंको बतलानेकी इच्छा होनेपर 'तलवार काटती है' इस प्रकार तलवारके स्वातन्त्र्यको कहा जाता है। इसी तरह यहाँ भी है अतः कोई दोष नहीं है।

उक्त कथनके समर्थनमें ग्रन्थकार दृष्टान्त देते हैं—जैसे हाथी स्नान करके भी निर्मल नहीं होता, वह अपनी सूँडके द्वारा धूल उठाकर अपनेपर डालता है। उसी तरह तपके द्वारा कुछ कर्मोंकी निर्जरा होनेपर भी असंयमके द्वारा उससे अधिक कर्मोंका बन्ध होता रहता है। ऐसा माना गया है।

दूसरा दृष्टान्त देते हैं—मन्थनचर्मपालिकाकी तरह संयमहीन तप होता है।

शङ्का—दो दृष्टान्त किस लिये दिये हैं ?

समाधान—तपके द्वारा जितनी कर्मनिर्जरा होती है, असंयमके निमित्तसे उससे बहुत अधिक कर्मोंका बन्ध होता है, यह बतलानेके लिए हस्तिस्नानका दृष्टान्त दिया है क्योंकि स्नानके पश्चात् शरीरके गीले होनेसे बहुत-सी धूल उसपर जम जाती है। तथा बन्धरहित निर्जरा मोक्ष प्राप्त कराती है, बन्धके साथ होनेवाली निर्जरा नहीं। जैसे मन्थनचर्मपालिका। वह तो बन्ध-सहित मुक्ति देती है अर्थात् मथानी चलाते समय एक ओरसे रस्सी छूटती जाती है किन्तु साथ ही दूसरी ओरसे लिपटती जाती है।

दूसरे टीकाकार कहते हैं—संयमभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखलानेके लिये प्रथम दृष्टान्त दिया है। किन्तु ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि समस्त कर्मोंके विनाशको शुद्धि

अहवेति । एकद्वयादिसंख्येयासंख्येयानंतरूपेण हि जैनी निरूपणा ॥ चरन्ति यान्ति तेन हितप्राप्ति अहितनिवारण चेति चारित्र, चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिक, तस्याराधनाया तत्परिणतौ सत्या आराधित निष्पादितं । 'हवइ' भवति । 'सव्व' सर्वं ज्ञान दर्शन तपश्च, प्रकारकात्स्न्र्ये सर्वशब्दोऽत्र प्रवृत्त. । यथा सर्वमोदन भुंक्ते इति व्रीहिशाल्योदनप्रकारकात्स्न्र्यं भुजिक्रियाया कर्मत्वेन प्रतीयते । एवमिहापि मुक्त्युपायप्रकाराणा ज्ञानादीना सामस्त्यमाख्यायते । चारित्राराधनैकैवेत्यनेन गाथार्द्धेन कथितम् । अत्रेयमाशंका—कस्मादेकत्वनिरूपणाराधनायाश्चारित्रमुखेनैव क्रियते नान्यमुखेनेत्यत आह—'आराधणाए' आराधनाया । 'सेसस्स' शेषस्य । ज्ञानदर्शनतपसा अन्यतमस्य । चारित्ताराधणा । 'भज्जा' भाज्या विकल्प्या । कथ ? असयतसम्यग्दृष्टिर्भवति ज्ञानदर्शनयोराराधको नेतरयो. । मिथ्यादृष्टिस्त्वनशनदावुद्यतोऽपि न चारित्रमाराधयति । कश्चित्पुन ज्ञानादीनि च चारित्रमपि संपादयतीति नाविनाभाविता इतराराधनाया चारित्राराधनाया इति न तन्मुखेनैकत्वनिरूपणेति भाव ॥ ननु क्षायिकवीतरागसम्यक्त्वाराधनाया, क्षायिकज्ञानाराधनाया च इतरेषामप्याराधना नियोगतः सभवति तत्किमुच्यते शेषाराधनाया चारित्राराधना भाज्येति ? क्षायोपशमिक-

---

गा०—अथवा चारित्रकी आराधनामें ज्ञान, दर्शन, तप सब आराधित होता है। ज्ञान दर्शन और तपमेसे किसीकी भी आराधनामें चारित्रकी आराधना भाज्य होती है ॥ ८ ॥

टी०—जैनधर्ममें वस्तुके कथन करनेके एक, दो, संख्यात, असख्यात और अनन्तरूप है। जिसके द्वारा जीव हितकी प्राप्ति और अहितका निवारण करते हैं उसे चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जनोंके द्वारा जो 'चर्यते' सेवन किया जाता है वह सामायिक आदिरूप चारित्र है। उसकी आराधना करनेपर अर्थात् उस रूप परिणतिके होनेपर सब-ज्ञान दर्शन और तप आराधित—निष्पादित होता है। यहाँ 'सर्व' शब्द समस्त प्रकारोंमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे 'सब ओदनको खाता है', यहाँ ओदन अर्थात् भात या चावलके व्रीहि, शालि आदि जितने प्रकार हैं वे सब खानेरूप क्रियाके कर्मरूपसे प्रतीत होते हैं। अर्थात् सब प्रकारके चावलोका भात खाता है यह 'सब ओदन' से अभिप्राय है। इसी प्रकार यहाँ भी 'सर्व' शब्दसे मुक्तिके उपायोके जो प्रकार ज्ञानादि हैं उन सबका ग्रहण इष्ट है। इस तरह 'एक चारित्राराधना ही है' यह इस आधी गाथासे कहा है। यहाँ यह शंका होती है कि चारित्रकी मुख्यतासे ही आराधनाका एक प्रकार क्यो कहा है अर्थात् आराधनाके एक प्रकारमे चारित्रको ही क्यो लिया है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—शेष अर्थात् ज्ञान दर्शन और तपमेसे किसी एककी आराधना करनेपर चारित्रकी आराधना भाज्य है; क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि ज्ञान और दर्शनका ही आराधक होता है, चारित्र और तपका नहीं। और मिथ्यादृष्टि तो अनशन आदिमें तत्पर रहते हुए भी चारित्रकी को आराधना नहीं करता। कोई ज्ञानादिकी आराधना करता है और कोई चारित्रकी भी आराधना करता है। इस प्रकार अन्य आराधनाओंके साथ चारित्रकी आराधनाका अविनाभाव नहीं है अर्थात् चारित्राराधनाके बिना भी अन्य आराधना होती है। इसलिए उनकी मुख्यतासे आराधनाका एक प्रकार नहीं कहा है। यह उक्त कथनका भाव है।

शङ्का—क्षायिक वीतराग सम्यक्त्वकी आराधनामे और क्षायिकज्ञानकी आराधनामें अन्य चारित्रादिकी भी आराधना नियमसे होती है तब कैसे कहते हैं कि शेष आराधनाओंमे चारित्राराधना भाज्य है ?

गामिना शास्त्रकाराणा न्यायादपेतेच्छा अयुक्ता ।

कथं चारित्राराधनायां कथितायां इतरासा प्रतिपत्तिरविनाभावात् तावज्ज्ञानदर्शनाराधनयोरन्तर्भाव-इत्युत्तरगाथाया पूर्वार्द्धेन कथयति—

काथव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो ।
तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

'कायव्वं' कर्तव्यं । 'इणं' इद । 'अकायव्वयत्ति' अकर्तव्यमिति । 'णादूण' ज्ञात्वा । 'हवदि' भवति । 'परिहारो' परिवर्जन चारित्रमिति शेष । कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञान पूर्वं तदुत्तरकाल अकर्तृपरिहरण यत्तच्च चारित्रमिति सूत्रार्थ । ननु परिहार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थ । तथा हि–परिहरति सर्पमित्यत्र सर्प वर्जयतीति गम्यते । ततश्च यद्वर्जनीय तत्परिज्ञानमेव वर्जनमुपयुज्यते । तत एव वक्तव्य–अकादव्वत्ति[1] णादूण हवदि परिहारो इति, कादव्वमित्येतत्किमर्थमुपन्यस्त ? कर्तव्यपरिज्ञान करणे एवोपयुज्यते इति ॥ अत्र प्रतिविधीयते—कादव्वमिणति णादूण हवदि परिहारो इति पदघटनैका, अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो इत्यपरा ॥ तत्राद्याया पदघटनाया परिशब्द समन्ताद्भाववृत्ति । यथा परिधावतीत्यत्र हि समन्ताद्धावतीति गम्यते । हरति मुपादानवचन । तथाहि प्रयोग –कपिलिका[2] हरति–कपिलिकामुपादत्त इति यावत् । मनसा, वचसा, कायेन कर्तव्यस्य सवरहेतोरुपादान गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयाना उपादान चारित्रमिति

कहोगे कि यह उनकी इच्छा है सो ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योकि न्यायका अनुसरण करनेवाले शास्त्रकारोकी इच्छा न्यायसे रहित नही होती ॥ ८ ॥

चारित्राराधनाके कहनेपर अन्य आराधनाओका ज्ञान कैसे सम्भव है ? इस प्रश्नका समाधान है कि चारित्राराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनका अविनाभाव है अत उसमें उनका अन्तर्भाव होता है । यही वार्ता आगेकी गाथाके पूर्वार्द्धसे कहते हैं—

गा०—यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है इस प्रकार जानकर त्याग होता है । वही चैतन्यज्ञान है और वही सम्यक्त्व है ॥ ९ ॥

टी०—पहले कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होता है । उसके पश्चात् अकर्तव्यका त्याग किया जाता है । यही चारित्र है । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

शंका—'परिहारो' में परिहार शब्दका अर्थ त्याग है । इसका खुलासा इस प्रकार है—'सर्पका परिहार करता है' ऐसा कहनेपर 'सर्पको त्यागता है' यही अर्थ ज्ञात होता है । अत जो त्यागने योग्य है उसीका जानना योग्य है । ऐसी स्थितिमे ऐसा कहना चाहिए कि 'अकर्तव्यको जानकर उसका परिहार होता है ।' तब कर्तव्यको जाननेको क्यो कहा ? कर्तव्यका परिज्ञान तो करनेके लिए होता है छोड़नेके लिए नही होता ?

उत्तर—गाथामें 'कादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो' यह एक पद सम्बन्ध है । और 'अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो' यह दूसरा पद सम्बन्ध है । उनमेसे प्रथम पद सम्बन्धमे 'परि' शब्दका अर्थ अच्छी तरह या पूर्णरूपसे होता है । जैसे 'परिधावति' का अर्थ अच्छी तरहसे, या पूर्णरूपसे दौड़ता है । 'हरति' का अर्थ ग्रहण करना है । जैसे 'कपिलिका हरति' का अर्थ कपिलिकाको ग्रहण करता है । अतः इस वाक्यका अर्थ होता है—मनसे, वचनसे, कायसे, सवरके

---

१. व्व पि त्ति–ज० । २ कपलिका–न० ।

वाचरणं । आस्रवबन्धहेतवो ये परिणामास्ते न कर्तव्या [illegible] परिहारं [illegible] सबधनीयम् । परिहार एव परिज्ञानसंबन्धोऽपि [illegible] । [illegible] परिहार्यं [illegible] तेषां [illegible] परिहरति [illegible] चेदयमभिप्राय सूरे—सामान्यशब्दा अपि विशेषवृत्तयो दृश्यन्ते । तथाहि—गोशब्दो गोसामान्य[illegible] पेन प्रवृत्तो गौर्न हन्तव्या, गौर्न [illegible] विशेषार्थाभिधायी[illegible] । तथाहि गोमण्डले गोपालकमासीनमेत्य कश्चित्पृच्छति गौर्दृष्टा भवतेति । [illegible] कालानी [illegible] या प्रत्याययति । एवमत्र परिहारशब्दः परित्यजनसामान्य[illegible] परिहरणे वृत्तः । न च नियोगभाव्यनेकपरिहार्यविषयपरिहरणं [illegible] विना युज्यते । इति मिथ्यादर्शनं, असं-यमा, कषाया, अशुभाश्च योगा प्रत्येकमनेकविकल्पा सततं परिहरणीया । [illegible] । ननु ज्ञान-चारित्रयोरविनाभाविता द्योत्या 'णादूण हवदि परिहारो' इत्यनेन [illegible]—'त चेव हवइ' इत्यादिकं । तं चेव तदेव चैतन्यं । हवइ भवति, णाणं ज्ञानं । 'तं चेव य' तदेव च 'हवइ' भवति, 'सम्मत्तं' तत्त्वश्रद्धानं चेति चैतन्य[illegible] ज्ञानदर्शनयो[illegible] । ततो ज्ञान-

हेतु कर्तव्यको ग्रहण करना, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयको अंगीकार करना चारित्र है । आस्रव और बन्धके हेतु जो परिणाम हैं वे नही करने चाहिए । अतः उनका परिहार अर्थात् त्याग चारित्र है । इस प्रकार सम्बन्ध लगाना चाहिये । जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है उसे जाने विना भी उसका त्याग देखा जाता है जैसे कोई शत्रुओंसे युक्त स्थानको छोड़ता है। यद्यपि वह उस स्थान मे उनके आवासको नही जानता, फिर भी दूसरे मार्गसे चला जाता है। इस प्रकार त्यागने योग्यको नही जानते हुए भी त्यागना चाहिए ।

शङ्का—तव तो 'त्याज्य पदार्थको जानकर छोड़ना चाहिये' इस प्रकारका अविनाभाव नही रहा ?

समाधान—आचार्यका अभिप्राय यह है कि सामान्य शब्दोंकी भी प्रवृत्ति विशेषमें देखी जाती है । जैसे 'गौ' शब्द गौसामान्यको लेकर प्रवृत्त होता है जैसे गौका वध नही करना चाहिए गौको छूना चाहिए । किन्तु अन्यत्र वही सामान्यवाची गौ शब्द विशेष गौके अर्थमें प्रवृत्त होता देखा जाता है । जैसें—किसी बड़े गोमण्डलमे बैठे हुए ग्वालेके पास जाकर कोई पूछता है—आपने गौ देखी है क्या ? इस वाक्यमे गौ शब्द उस व्यक्तिको इष्ट काली गाय या अमुक प्रकारकी गायका बोध कराता है । इसी तरह परिहार शब्द यद्यपि त्याग सामान्यका वाचक है तथापि यहाँ उसका प्रयोग निश्चित अनेक त्यागने योग्य विषयोंके त्यागमे हुआ है । और नियमसे त्यागने योग्य अनेक विषयोका त्याग बार-बार जाने विना सम्भव नही है । इस प्रकार मिथ्यादर्शन, असयम, कषाय, अशुभयोग और इनमेसे प्रत्येकके अनेक भेद निरन्तर त्यागने योग्य है । जो अनजान है वह कैसे उनका त्याग कर सकता है ?

शङ्का—'जानकर परिहार होता है' इस वचनसे ज्ञान और चारित्रकी अविनाभाविता प्रकट होती है, श्रद्धानकी अविनाभाविता प्रकट नही होती ?

इस आशङ्काका आचार्य उत्तर देते है—वही चैतन्य ज्ञानरूप है और वही चैतन्य सम्यक्त्व रूप है । अतः चैतन्यरूप द्रव्यसे अभिन्न होनेसे ज्ञान और दर्शनकी एकता बतलाई है । अतः

१ एवमन्यत्रापि परिहार्यान् परि–आ० । २. नेन श्रद्धा–अ० ज० मु० ।

विनाभाविता कथनेन श्रद्धानस्यापि कथितैव भवति । चारित्रमेव ज्ञानदर्शने इति कल्पनाया 'नादूण हवइ परिहारो' इति पूर्वं ज्ञानं पश्चात्परिहार इति अत्र भेदोपन्यास [1] सूत्रकारस्य अघटमान [2] स्यात् । तं चेवेति नपुंसकलिंगनिर्देशश्च न स्यात् । 'सो चेव हवइ णाणं' इति वक्तव्यं भवति परिहारशब्दस्य पुल्लिंगत्वात् । अथवा कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञाने सत्यकर्तव्याना मिथ्यादर्शन, ज्ञान, असयम, कषाया, योग इत्यमीषा परिहारश्चारित्रमित्येतस्मिन्नर्थे परिगृह्यते 'त चेव' परिहरणमामान्य चारित्र, ज्ञान दर्शन इत्येकमेवेति । चारित्राराधनायामेव भेदवादिनोऽभिमतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्लीनतया चारित्राराधनैकेवेति सूत्रार्थ ॥

चारित्राराधनायामतर्भावो ज्ञानदर्शनाराधनयोरेव निगदितो न तपस आराधनाया इत्यत आह—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो आउंजणा य जो होई ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥१०॥

'चरणम्मि' चारित्रे । 'तम्मि' एतस्मिन् अकर्तव्यपरिहरणे । 'जो य उज्जमो' उद्योग । 'आउंजणा य' उपयोगश्च । 'जिणेहि तवो होदित्ति भणिदो' इति पदघटना । चरणोद्योगोपयोगावेव तपो भवतीति जिनै कृतकर्मारिपराजयैरुक्तमिति यावत् । कृतसुखपरिहारो हि चारित्रे प्रयतते न सुखामक्तचित्तस्ततश्च बाह्यानि

चारित्रकी ज्ञानके साथ अविनाभाविता बतलानेसे श्रद्धानकी भी अविनाभाविता कही गई समझना ।

यदि चारित्रको ही ज्ञान और दर्शनरूप माना जाता है तो 'जानकर परिहार होता है' इस कथनमें जो पहले ज्ञानका और पश्चात् परिहारका भेदरूपसे उपन्यास ग्रन्थकारने किया है वह नही बन सकेगा । तथा 'तं चेव' इस पदमें जो नपुसक लिंगका निर्देश किया है वह भी नही बनेगा, किन्तु 'सो चेव हवइ णाण' ऐसा प्रयोग करना होगा क्योकि 'परिहार' शब्द पुल्लिंग है और वही चारित्र है ।

अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होने पर अकर्तव्य जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, कपाय और योग है उनका परिहार चारित्र है, ऐसा अर्थ लेने पर 'त चेव' अर्थात् परिहार-सामान्य ही चारित्र, ज्ञान और दर्शन है इस प्रकार एक ही है । इस प्रकार चारित्राराधनामें ही भेदवादियोको इष्ट आराधनाके प्रकारोका अन्तर्भाव होनेसे चारित्राराधना एक ही है यह इस गाथासूत्रका अर्थ है ॥

भावार्थ—चारित्रके दो प्रकार हैं—कर्तव्यको स्वीकार करना और अकर्तव्यको त्यागना । ज्ञान और दर्शन पूर्वक हितकी प्राप्ति तथा अहितके परिहाररूपसे परिणत चैतन्य ही ज्ञान और दर्शनरूप है । अत' चारित्रका ज्ञान और दर्शनके साथ अविनाभाव होनेसे चारित्रमें दोनोका अन्तर्भाव होता है ॥ ९ ॥

चारित्राराधनामे ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका ही अन्तर्भाव कहा है, तप आराधनाका नही कहा । अत. कहते हैं—

गा०—उस अकर्तव्यके त्यागरूप चारित्रमे जो उद्योग है और उपयोग होता है, उन उद्योग और उपयोगको ही छल कपट त्यागकर करने वालेका जिनेन्द्रदेवने तप कहा है ॥ १० ॥

टी०—उस अकर्तव्यके परिहाररूप चारित्रमे जो उद्योग और उपयोग है जिनदेवने उसे तप कहा है । अर्थात् चारित्रमे उद्योग और उपयोग ही तप है, ऐसा कर्मरूपी शत्रुओको पराजित करने

---

१. भेदोप नासने-आ० । २. अघटमान-आ० ज० ।

तपांसि चारित्रप्रारंभं प्रति परिकरतामुपयान्तीति । तथा च वक्ष्यति 'बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता' इति । तथा स्वाध्यायश्रुतभावना पञ्चविधा तत्र वर्तमानश्चारित्रे परिणतो भवति । तथा च वक्ष्यति 'सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणमदि' त्ति । परिणाम एव उपयोगः । 'कृतातिचारजुगुप्सापुरःसरं वचनमालोचनेति' अकर्तव्यपरिहरणोपयोगः कथं न चारित्रं ? कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखता योगत्रयेण हा दुष्टं कृतं चिन्तितमनुमतं चेति परिणामः प्रतिक्रमणम् । उभयं चरणोपयोगः । एवमतिचारनिमित्त-द्रव्यक्षेत्रादिकात्मनसा अपगतिस्तत्र अनादृतिर्विवेकः । इति उपयोगता विवेकस्य दुस्त्यजशरीरममत्वनिवृत्तिर्म-मेदं शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्रम् । तपोऽनशनादिश्चा-रित्रपरिकरतोक्तैव । सातिचारं चारित्रमचारित्रमेवेति बुद्ध्या निश्चित्यात्मनो, न्यूनतापादनं, क्रियास्वावश्यका-वन्दनादिकासु असंयमपरिहारेण वृत्तेश्चारित्रपरिकरः । पुनः प्रव्रज्यादानमपि चारित्रोपयोग एवेति । विनयस्तु पञ्च प्रकारः ज्ञानदर्शनविनययोर्ज्ञानदर्शनपरिकरतया तदुपयोगरूपतया च ज्ञानदर्शनाभ्यामभेदात्तद्वदेव चारित्रा-राधनान्तर्भावः ।

इन्द्रियविषयस्य रागद्वेषयोः कषायाणां च परित्यागः, अयोग्यवाक्कायक्रियायाः त्यागः, ईर्यादिषु निर-वद्या च वृत्तिश्चारित्रोपयोग एवेति चारित्रे विनयस्यान्तर्भावः । तपोऽधिके तपसि च भक्तिः, अनासादना च

आगे जिनदेवने कहा है। जो सुखको त्यागता है वही चारित्रमें प्रयत्नशील होता है, जिसका चित्त सुखमें आसक्त है वह चारित्र धारण नहीं कर सकता। अतः बाह्य तप चारित्रको प्रारम्भ करनेमें सहायक होते हैं। आगे कहेंगे—'बाह्य तपसे समस्त सुखशीलता छूट जाती है'। तथा स्वाध्यायके पाँच भेद पाँच श्रुत भावनारूप हैं। जो उसमें प्रवृत्ति करता है वह चारित्रमें प्रवृत्ति करता है। आगे कहेंगे—'श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमरूप परिणत होता है।' परिणामका ही नाम उपयोग है। किये हुए दोषोंके प्रति ग्लानि पूर्वक जो वचन होता है वह आलोचना है। तब अकर्तव्यके त्यागमें जो उपयोग होता है वह चारित्र क्यों नहीं है। जिस साधुने अपने व्रतोंमें दोष लगाया है उसका उन दोषोंसे विमुख होकर, हाँ, मैंने बुरा किया, या बुरा विचारा या उसमें अनु-मति दी, इस प्रकारके परिणामोंको प्रतिक्रमण कहते हैं। आलोचना और प्रतिक्रमणको उभय कहते हैं। अतिचारमें निमित्त द्रव्य, क्षेत्र आदिको मनसे हटाना, उनमें अनादर भावका होना विवेक प्रायश्चित्त है। इस प्रकार विवेककी उपयोगिता है। जिसको छोड़ना कठिन है उस शरीर-से ममत्व न करना 'यह शरीर मेरा नहीं है, न मैं इसका हूँ' इस प्रकारकी भावना व्युत्सर्ग है वह भी परिग्रहके त्यागरूप उपयोग ही है अतः चारित्र है।

अनशन आदि तप चारित्रके परिकर हैं—उसके सहायक हैं, यह पहले कहा ही है। सदोष चारित्र अचारित्र ही है ऐसा बुद्धिके द्वारा निश्चय करके आत्मामें पूर्णताका लाना, छेद होना, वन्दना आदि क्रियाओंमें असंयमका परिहार करते हुए प्रवृत्त होना, ये सब भी चारित्रका परिकर है। दोष लगाने पर पुनः दीक्षा ग्रहण करना भी चारित्रमें उपयोग ही है। विनयके पाँच भेद हैं। उनमेंसे ज्ञानविनय और दर्शनविनय ज्ञान और दर्शनके परिकर होनेसे तथा ज्ञान और दर्शनमें उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे अभिन्न है अतः ज्ञान और दर्शनकी तरह उनका अन्तर्भाव चारित्राराधनामें होता है।

इन्द्रियोंके विषयोंमें राग द्वेषका तथा कषायोंका त्याग, अनुचित वचन और कायकी क्रिया-का त्याग, तथा ईर्या समिति आदिमें निर्दोष प्रवृत्ति चारित्रोपयोगरूप होनेसे चारित्रविनयका

परेषां तपोविनयः, तं विना तपसोऽभावात् तपसः परिकरता तया सपरिकरं हि तपश्चारित्रस्य परिकरः । उपयोगो वा नाम्ना सहितस्ति[1] (?) मन्यते । 'अगदं चरंतस्स' इत्यमुमन्तरेण वर्तमानस्य सर्वेत्तया च चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा, वा आराधना स्यात् तस्मान्न निरूप्यते ।

पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारी प्रयोजनायत्तचेष्टः सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयतते नान्यथा, ततश्चेयमाराधना व्याख्या प्रयोजिका[2] इत्यपास्येत्याशंकायां, निर्वाणसुखस्याव्याबाधात्मकस्य पुरुषार्थस्योपायत्वप्रदर्शनेन आराधनाख्यानस्य तदर्थिनामुपयोगिता इत्येतन्निरूपणायोत्तरप्रबंधः । अथवा चतुर्विधविकल्पा या आराधना तस्यां चेष्टा कर्तव्येत्येतदाख्यानायोत्तरसूत्राणि, तथा चोपसंहारे 'कादव्वा खु तदत्थं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा' इति ॥

अन्ये त्वाचक्षते ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमिति चोद्ये चारित्रप्राधान्यख्यापनायोत्तरसूत्रमिति तदयुक्तम्—

णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं ।
चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ॥११॥

'णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं जहाखादं' इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्यां प्रधानं चारित्रं इति प्रतीतेरनु-

---

अन्तर्भाव चारित्रमें होता है । विशिष्ट तपस्वियोंमें और तपमें भक्ति तथा दूसरोंकी आसादना न करना तपविनय है । उसके बिना सम्यक् तप नहीं हो सकता । अतः तपविनय तपका परिकर है । और अपने परिकरके साथ तप चारित्रका परिकर है । उसके बिना गति नहीं है । जो कपट त्याग कर ऐसा करता है उसीके यह तप होता है । इस प्रकार आराधनाके चार, दो और एक भेद है ।

भावार्थ—चारित्र वही धारण करता है जो सुखको त्याग देता है । चारित्रमें उद्यम करना बाह्य तप है । इस तरह बाह्य तप चारित्रका परिकर है उसकी सहायक सामग्री है । और चारित्र-रूप परिणाम अन्तरंग तप है । अन्तरंग तपके भेद प्रायश्चित्त आदि पाप प्रवृत्तियोंको दूर करते हैं अतः तप चारित्रसे भिन्न नहीं है ॥११॥

पुरुष सोच-विचारकर काम करता है । उसकी चेष्टा प्रयोजनके अधीन होती है । प्रयोजन होने पर उसकी सिद्धिके लिये वह प्रयत्न करता है । प्रयोजन न होने पर नहीं करता । तब यह आराधनाका व्याख्यान कैसे उसका प्रयोजक है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं बाधा-रहित मोक्ष सुख पुरुषार्थ है वह पुरुषका प्रयोजन है । जो मोक्ष सुखके अभिलाषी हैं उनको उसका उपाय बतलानेके लिये आराधनाका कथन उपयोगी है । यह बतलानेके लिए आगेका कथन करते हैं । अथवा जिस आराधनाके भेदोंका कथन किया है उसमें चेष्टा करना चाहिये यह कहनेके लिये आगेका कथन है । इसीलिये ग्रन्थकारने उपसंहारमें कहा है कि आत्महितके अन्वेषकको उसके लिये चेष्टा करना चाहिये—

गा०—ज्ञानका और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र होता है । उस यथाख्यात चारित्रका सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण कहा है ॥ ११ ॥

टी०—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें कौन प्रधान है ऐसा

---

१. नान्यथास्तिना–आ० मु० । २ प्रयोजिता–आ० मु० ।

तमास्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवकरणं । चारित्रमोहजन्यौ रागद्वेषौ तदनुन्मिश्रं ज्ञानं दर्शनं च यथाख्यातचारित्र-मित्युच्यते" इति सूत्रार्थः । 'चरणस्स' चारित्रस्य, 'तस्स' तस्य, यथाख्यातचरणस्य, 'सारो' अतिशयितं फलं साध्यसाधनलक्षणसंबंधनिमित्ता षष्ठीयं तेन साध्यफलं लब्धं, सारशब्दस्तु तस्यातिशयमाचष्टे । ततोऽयमर्थो तः यथाख्यातचारित्रस्य फलमतिशयितमिति । किं तत् 'णिव्वाणं' निर्वाणं विनाशः । तथा प्रयोगः—निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत् । विनाशसामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दश्चरणशब्दस्य निर्जितकर्मशातन-सामर्थ्याभिधायिनः प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति । स च कर्मणां विनाशो द्विप्रकारः, कतिपयप्रलयः सकल-प्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे—'अणुत्तरमिति' न विद्यतेऽन्यदुत्तरमधिकं अस्मादित्यनुत्तरं । 'भणिदं' उक्तं 'प्रवचने' इति शेषः ।

अथवा ज्ञानश्रद्धानयोः फलं दुःखहेतुक्रियापरिहारः । यत्र[1] च फलं तत्र सन्निहितो हेतुस्ततश्चारित्राराध-नायां इतरान्तर्भाव[2] इत्याख्यातमिदं सूत्रं 'णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं' इति ॥ पापक्रिया दुःखहेतुः तत्परिहारश्च भवति ज्ञाने श्रद्धाने वा न संभवति, कस्मिंश्चिन्मनसो रंजनं अप्रीतिर्वा पापक्रियाभिनव-कर्मग्रहणं चिरंतननिरासं च विदधाति चरणमतो युक्तमुच्यते 'चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं' इति ।

श्रद्धान उत्पन्न होना है । आत्मा, मोक्ष आदिके अस्तित्वमें शङ्काका होना, विषयभोगोंकी इच्छा, धर्मात्माको देखकर ग्लानि, मिथ्यादृष्टीकी मनमें प्रशंसा और वचनमें स्तुति करना, ये सब उस श्रद्धानके रूप हैं । चारित्रमोहसे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं । उनसे रहित ज्ञान और दर्शनको यथाख्यात चारित्र कहते हैं । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

उस यथाख्यात नामक चारित्रका सार अर्थात् सातिशय फल । यहाँ यह षष्ठी विभक्ति साध्य-साधनरूप सम्बन्धके निमित्तको लेकर है । उससे साध्यफलका बोध होता है । और 'सार' शब्द उसके अतिशयको कहता है । अतः यह अर्थ हुआ कि यथाख्यात चारित्रका सातिशयफल निर्वाण है । निर्वाणका अर्थ विनाश है । कहा जाता है दीपकका निर्वाण हो गया अर्थात् दीपक नष्ट हो गया । इस तरह यद्यपि निर्वाण शब्दका अर्थ विनाशमात्र है तथापि उत्पन्न हुए कर्मोंको नष्ट करनेकी शक्तिवाले चारित्र शब्दका प्रयोग होनेसे कर्मोंका विनाश अर्थ लिया जाता है। कर्मोंका विनाश दो प्रकारका है—कुछ कर्मोंका विनाश और सब कर्मोंका विनाश । यहाँ दूसरेका ग्रहण किया है क्योंकि 'अणुत्तर' शब्दका प्रयोग किया है । जिससे अधिक कोई नहीं है उसे अनुत्तर कहते हैं । 'भणिदं' अर्थात् आगममें कहा है ।

अथवा श्रद्धान और ज्ञानका फल दुःखकी कारण क्रियाओंका त्याग है । यहाँ जो फल है त्याग उसमें उसके हेतु ज्ञान और दर्शन समाविष्ट हैं । अतः चारित्राराधनामें अन्य आराधनाओंका अन्तर्भाव होनेसे 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यातचारित्र है' यह गाथा सूत्र आया है ।

पापकर्म दुःखके कारण हैं । उनका त्याग ज्ञान और श्रद्धानके बिना सम्भव नहीं है । किसीमें मनका अनुरक्त होना और किसीसे द्वेष करना पापक्रिया है । चारित्र नवीन कर्मोंके आने-को रोकता है और पुराने कर्मोंका विनाश करता है । अतः उचित ही कहा है कि उस चारित्रका सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण है ॥११॥

भावार्थ—रागद्वेषसे रहित ज्ञान और दर्शनको ही आगममें यथाख्यात चारित्र कहा है । उसका सार निर्वाण अर्थात् समस्त कर्मोंका विनाश है । निर्वाणसे उत्कृष्ट अन्य नहीं है ॥११॥

---

१. यतश्च–आ० मु० । २. इतरेतरान्त–आ० मु० ।

जायते ? एवमिति तदनुभवविरुद्धमाचरतोरुपेक्ष्यते, न चेत्कथमुक्तमित्युच्यते । किञ्च तस्य सूत्रस्य या पातनिका कृता ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमित्यत्र प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यनया च विरुध्यते ।

चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं' इत्युक्तं चारित्रस्य समनाख्यस्य फलमशेषकर्मापाय इत्युक्तं । कर्मापायो हि कथं पुरुषार्थं दुःखनिवृत्तिः सुखं चाभिमत फलमित्याशंकाया प्रधानपुरुषार्थस्य अखिलबाधाव्यपगमरूपस्य सुखस्य निबंधनत्वोपयोगितामाचष्टे सकलकर्मापायस्य—

णिव्वाणस्स य सारो अव्वाबाहं सुहं अणोवमियं ॥
कायव्वा हु तदट्ठं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा ॥१३॥

'णिव्वाणस्स य सारो' इति । निरवशेषकर्मापायस्य सार फलं । अव्याबाह कर्मजन्यसकलदुःखाय कारणाभावे कार्यस्य अनुत्पत्ते । 'अणोवमियं' उपमातीत । 'कायव्वा' कर्तव्या । 'चेट्ठा' चेष्टा । 'तदट्ठं' अव्याबाधसुखार्थम् । 'आदहिदगवेसिणा' आत्महितं मृगयता । क्व चेष्टा कार्या ? आराधनायां सुभावनतिचारज्ञानदर्शनचारित्रपरिणतिरूपायां । कस्मात् ?

जम्हा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि ।
सव्वस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तम्हा ॥१४॥

'जम्हा' यस्मात् 'चरित्तसारो' चारित्रस्य ज्ञाने दर्शने पापक्रियानिवृत्तौ च प्रयतस्य, चरणे प्रवृत्ति

गाथासूत्रमें कहा है तो यह मिथ्या कथन है 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' इस वाक्यमें 'ज्ञान और दर्शनसे चारित्र विशेष उपकारी है' ऐसा बोध होता है क्या ? यदि कहोगे 'होता है' तो आपका आचरण अनुभव विरुद्ध है अतः वह उपेक्षणीय है। यदि कहोगे 'नहीं होता' तो आपने ऐसा क्यों कहा ?

दूसरे, उस गाथासूत्रकी जो उत्थानिका है उसमें 'ज्ञान दर्शन चारित्रमें कौन प्रधान है' ऐसा प्रश्न करनेपर प्रधानका कथन करनेके लिए गाथासूत्र कहते हैं ऐसा कहा है, उससे भी विरोध आता है ॥१२॥

'चरणस्स तस्स सारो' इत्यादिमें समतारूप चारित्रका फल समस्त कर्मोंका विनाश कहा है। किन्तु कर्मोंका विनाश पुरुषार्थ कैसे है ? दुःखकी निवृत्ति और सुखको फल कहा है ऐसी आशङ्का होनेपर ग्रन्थकार प्रधान पुरुषार्थ जो बाधारहित सुख है, उसका कारण होनेसे समस्त कर्मोंके विनाशकी उपयोगिता बतलाते हैं—

गा०—निर्वाणका सार बाधारहित उपमारहित सुख है। अतः आत्महितके खोजीको उस अव्याबाध सुखकी प्राप्तिके लिए चेष्टा करना चाहिए ॥१३॥

टी०—समस्त कर्मोंके विनाशका फल कर्मजन्य समस्त दुःखोंसे रहित, उपमारहित सुख है। अतः आत्महितके खोजीको, उस बाधारहित सुखके लिये, चेष्टा करना चाहिए। अर्थात् निरतिचार ज्ञानदर्शनचारित्रकी परिणतिरूप आराधनाको अपनाना चाहिए ॥१३॥

गा०—क्योंकि प्रवचनमें चारित्रका फल आराधना कहा है। इसलिए समस्त प्रवचनका सार आराधना ही है ॥१४॥

टी०—ज्ञानमें, दर्शनमें, और पापकर्मसे निवृत्तिमें जो प्रयत्नशील है उसकी परिणतिको

परिणतिरिह चारित्रशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लब्ध 'सारः' फलमिति । 'भणिदा' कथिता । 'आराहणा' आराधना मुक्तो अनतिचाररत्नत्रयता । 'पवयणम्मि' प्रोच्यते दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्धेन जीवादयः पदार्था अनेनास्मिन्निति प्रवचनं जिनागमस्तस्मिन् । अतिशयवदाराधनाया प्रकृताया उपसंहरत्युत्तरार्द्धेन सव्वस्स इत्यादिना । 'सव्वस्स' समस्तस्य । 'पवयणस्स' जिनागमस्य । 'सारो' अतिशय । 'आराहणा' आराधना ज्ञातव्या निश्चिता । 'तम्हा' तस्मात् । च शब्द एवकारार्थ । स चाराधनाशब्दात्परतो द्रष्टव्यः आराधनैव सार इति ।

अन्यत्र व्याख्या—यदिदमुक्त फलं एतच्चारित्रमात्रादुत विशिष्टाज्जायते इत्याह—जम्हा चरित्तसारो इति । किं पातनिकार्थो गाथाया सवादमुपयाति न वेतीत्यत्र श्रोतारः प्रमाणं ॥१४॥

कस्मात् ? अतिशयवत्याराधनागमेऽभिहिता यस्मात्—

सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते ॥
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥१५॥

'सुचिर' अतिचिरकालमपि । 'णिरदिचार' अतिचारमन्तरेण । 'विरहित्ता' विहृत्य । क्व ? 'णाणदंसणचरित्ते' ज्ञाने श्रद्धाने समतायां च । 'मरणे' भवपर्यायविनाशकाले । विराधयित्ता रत्नत्रयपरिणामान्विनाश्य मिथ्यादर्शनेऽज्ञानेऽसंयमे परिणतो भूत्वा । 'अणंतससारिओ' अनंतभवपर्यायपरिवर्तने उद्यतः । 'दिट्ठो' दृष्टः । तेनातं पूर्वकालेऽनन्तकाल अनतिचाररत्नत्रयप्रवृत्तानामपि मरणकाले ततः प्रच्युतानां मुक्त्यभावं संसारे चिरपरिभ्रमणं च मरणविराधनाफलेन दर्शयति सूत्रकारः ॥१५॥

यहाँ चारित्रशब्दसे ग्रहण किया है। तब यह अर्थ प्राप्त होता है कि चारित्रका फल, प्रवचनमें—जिसके द्वारा अथवा जिसमें जीवादि पदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविरुद्ध कहे जाते हैं वह प्रवचन अर्थात् जिनागम है उसमें, आराधनाको कहा है। गाथाके उत्तरार्धद्वारा प्रकरण प्राप्त आराधनाकी अतिशयताका उपसंहार करते हैं—इस कारण से समस्त जिनागमका सार आराधना है। गाथामें जो 'य' च शब्द है वह एवकार (ही) के अर्थमें है और उसे आराधना शब्दके आगे लगाना चाहिए अर्थात् जिनागमका सार आराधना ही है।

अन्यत्र इस गाथाकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—यह जो फल कहा है वह चारित्र मात्रसे प्राप्त होता है या विशिष्टचारित्रसे प्राप्त होता है। इसके उत्तरमें आचार्यने 'जम्हा चरित्तसारो' आदि गाथा कही है। हमारा प्रश्न है कि इस आपकी उत्थानिकाके अर्थका गाथाके साथ मेल खाता है क्या ? इस विषयमें श्रोतागण ही प्रमाण हैं। हम अधिक क्या कहें ॥१४॥

आगममें आराधनाकी अतिशयता क्यों कही है इसका समाधान करते हैं—

गा०—ज्ञान श्रद्धान और चारित्रमें बहुत कालतक भी अतिचार बिना विहार करके मरणकालमें विराधना करके अनन्त भव धारण करनेवाला देखा गया है ॥१५॥

टी०—ज्ञानमें दर्शनमें और समतारूप चारित्रमें सुदीर्घकालतक अतिचार रहित विहार करके भी अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्रका निर्दोष पालन करके भी जब उस पर्यायके विनाशका समय आता है अर्थात् मरते समय यदि रत्नत्रयरूप परिणामोंको नष्ट करके मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयमरूप परिणामोंको अपनाता है तो उसका संसार अनन्त होता है। अर्थात् कर्मभूमिमें मनुष्यपर्यायकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटी होती है। आठ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् संयम धारण करके कुछ कम एक पूर्वकोटि तक उसका निरतिचार पालन किया। किन्तु मरणकाल आनेपर

अनुपगतमिथ्यात्वस्य अविचलितचारित्रस्यापि परीषहपरिभवादुपगतसंक्लेशस्य महती संसृतिरिति भयोपदर्शनेन संक्लेशः परित्याज्य इति निगदति सूत्रकारः 'समिदीसु य' इत्यादिना—

समिदिसु य गुत्तीसु य दंसणणाणे य णिरदिचाराणं ।
आसादणबहुलाणं उक्कस्सं अंतरं होई ॥ १६ ॥

अन्ये व्याचक्षते—"उक्तस्यानन्तसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गाथा अनन्तस्यानन्तविकल्पत्वात् अनन्तविशेषः प्रतिपादनीय" इति । अस्यां व्याख्यायां उक्कस्स अंतर होदीत्येतावदुपयुज्यते । इतरस्य वचनसंदर्भस्य अनर्थकत्वं प्रसज्यत इति । समिदीसु य सम्यगयनादिषु अयनं समितिः, सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्तिः समितिः । सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं गुप्तिः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं । अपेतमिथ्यात्वकलङ्कस्यात्मनो वस्तुतत्त्वपरिज्ञानं मत्यादिक्षायोपशमिकं ज्ञानं । क्षायिके सति ज्ञाने आसादनाया असंभवः । मोहजन्यत्वात्संक्लेशस्य, मोहस्य च केवलज्ञानोत्पत्तेः प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोक्तं—'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' [त० सू० १०।१] इति । वीतरागसम्यक्त्वं चेह न गृहीतम् । मोहप्रलय-

---

उससे च्युत हो गया तो संसारमें चिरकालतक भ्रमण करना पड़ता है। इस चिरकाल परिभ्रमणके बहानेसे सूत्रकार उसकी मुक्तिका अभाव बतलाते हैं ॥१५॥

जो मिथ्यात्वभावको प्राप्त नहीं हुआ है जिसका चारित्र भी निश्चल है फिर भी यदि वह परीषहसे घबराकर संक्लेशभावको प्राप्त होता है तो उसका संसार सुदीर्घ है, ऐसा भय दिखलाकर ग्रन्थकार संक्लेशको त्यागनेका उपदेश देते हैं—

गा०—समितियोंमें और गुप्तियोंमें और दर्शन और ज्ञानमें जो अतिचार रहित प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु मरणकाल आने पर परीषहके भयसे समिति आदिमें बारम्बार दोष लगाते हुए संक्लेश परिणाम करते हैं उनका अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर होता है। अर्थात् मरते समय रत्नत्रयसे च्युत होकर पुनः उतना काल बीतने पर रत्नत्रय प्राप्त करते हैं ॥१६॥

टीका—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि 'ऊपर जो अनन्त संसार कहा है उसका प्रमाण बतलानेके लिए यह गाथा आई है। क्योंकि अनन्तके अनन्त भेद होते हैं अतः अनन्तविशेषका कथन करना आवश्यक था। इस व्याख्यामें 'उत्कृष्ट अन्तर होता है' गाथाके इस अन्तिम चरणकी उपयुक्तता तो होती है, किन्तु शेष वचन रचना निरर्थक पड़ जाती है। अस्तु।

सम्यक् अयनको समिति कहते हैं। सम्यक् अर्थात् श्रुतज्ञानमें कहे गये क्रमके अनुसार चलने आदिमें प्रवृत्ति करना समिति है। सावद्य योगोंसे अर्थात् सदोष मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षण करना गुप्ति है। वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। मिथ्यात्वरूप कलंकसे रहित आत्माके वस्तुतत्त्वके परिज्ञानको मति आदिरूप क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं। यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानको ही लेनेका हेतु यह है कि क्षायिकज्ञानके होने उसमें दोष लगाना असम्भव है। क्योंकि संक्लेश मोहके उदयसे होता है और मोहकर्म केवलज्ञानके उत्पन्न होनेमें पहले ही नष्ट हो जाता है। कहा भी है—'मोहके क्षयसे तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान होता है।'

यहाँ दर्शनसे वीतराग सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि मोहका नाश हुए बिना वीतरागता नहीं होती।

मन्तरेण वीतरागता नाप्नोति। ईर्यासमितेरतिचारः मन्दालोकगमनं, पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनम्, अन्यगतचित्तादिकम्। इदं वचनं मम गदितुं युक्तं न वेति अनालोच्य भाषणं, अज्ञात्वा वा। अत एवोक्तं 'अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे' इति। अपृष्टश्रुतधर्मतया मुनिः अपृष्ट इत्युच्यते। भाषासमितिक्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात् इत्यर्थः। एवमादिको भाषासमित्यतिचारः। उद्गमादिदोषैः दुष्टं भोजनमनुमननं वचसा, कायेन वा प्रशंसा, तैः सहवासः, क्रियासु प्रवर्तनं वा एषणासमित्यतिचारः। आदानस्थस्य, स्थाप्यस्य, वा अनालोचनं, किमत्र जंतवः सन्ति न सन्ति वेति दुःप्रमार्जनं च आदाननिक्षेपणसमित्यतिचारः। कायभूम्यशोधनं, मलक्षपणदेशानिरूपणादि, पवनगनिवेशादिनत्वगादिपूत्क्रमेण वृत्तिश्च प्रतिष्ठापनासमित्यतिचारः। असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्तिः कायगुप्तेरतिचारः। एकपादादिस्थानं वा जनसंचरणदेशे, अशुभध्यानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता। आप्ताभासप्रतिबिम्बाभिमुखतया वा तदाराधनाव्यापृत इवावस्थानं। सचित्तभूमौ सपतन्सु गमनेन अशेषेषु महति वा वाते हरितेषु, रोषाद्वा दर्पाद्वा तूष्णी अवस्थानं निश्चला स्थितिः कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममतायाः अपरित्यागः कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचारः। रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचारः। [1]शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातीचाराः। द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमन्तरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः। अक्षरपदादीनां न्यूनताकरणं, अतिवृद्धिकरणं, विप-

मन्द प्रकाशमें चलना, पैर रखनेके स्थानको अच्छी तरह न देखना, गमन करते समय चित्तका उपयोग अन्यत्र होना, ये ईर्यासमितिके अतीचार हैं। यह वचन मुझे कहना युक्त है अथवा नहीं, ऐसा विचार किये बिना बोलना, या बिना जाने बोलना। इसीसे कहा है—'बोलनेवालेके बीचमें बिना समझे नहीं बोलना चाहिये।' ऐसे मुनिको जिसने शास्त्रकी बातको पुष्ट रूपसे नहीं सुना है अपुष्ट कहा है। अपुष्ट मुनिको बीचमें नहीं बोलना चाहिये। भाषासमितिके क्रमसे जो अनजान है उसे मौन ले लेना चाहिये। इत्यादि भाषा समितिके अतीचार हैं। उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचन से उसकी अनुमति देना, कायसे उसकी प्रशंसा करना, ऐसे मुनियोंके साथ रहना, या क्रियाओंमें उनके साथ प्रवृत्ति करना, एषणासमितिके अतीचार है। जो वस्तु ग्रहण करने योग्य या रखने योग्य है, उसे ग्रहण करते या स्थापित करते समय 'यहाँ जन्तु है या नहीं' ऐसा नहीं देखना या पिच्छिकासे सावधानता पूर्वक प्रमार्जन न करना आदाननिक्षेपण समितिके अतीचार हैं। शरीर और भूमिका शोधन न करना, मलत्याग करनेके स्थानको न देखना आदि प्रतिष्ठापना समितिके अतीचार हैं। चित्तके असावधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगुप्तिका अतीचार है। जहाँ मनुष्य आते जाते हैं वहाँ एक पैर आदिसे खड़े होना, अशुभ ध्यानमें लीन होकर निश्चल होना, मिथ्या देवताओंकी मूर्तिके सन्मुख ऐसे खड़े होना मानो उनकी आराधनामें लगे हैं, सचित्त भूमिमें जहाँ चारों ओर हरित वनस्पति फैली है, क्रोध या घमण्डसे मौनपूर्वक निश्चल खड़े होना कायगुप्तिके अतीचार हैं।

जो कायोत्सर्गको कायगुप्ति मानते हैं उनके पक्षमें शरीरसे ममत्वको न छोड़ना अथवा जो कायोत्सर्गके दोष कहे हैं वे कायगुप्तिके अतीचार हैं। स्वाध्यायमें रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतीचार है। शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा, संस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। द्रव्य क्षेत्र, काल और भावकी शुद्धिके बिना श्रुतका पढ़ना श्रुतका अतीचार है। अक्षर

१ 'शंका॰॰॰ सम्यग्दृष्टेरतीचाराः'—त॰ सू॰ ७।२३।

तीनतोर्वर्णरचनाविपरीतार्थनिरूपणा ग्रंथार्थयोर्वैपरीत्यं अमी ज्ञानातिचाराः । उक्तातिचारविगमो निरतिचारता चारित्रादीनाम् ।

मरणकाले रत्नत्रयपरिणामाभावे दोष उक्तः । इदानीमाराधनायाः फलातिशयख्यापनायाह—

दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खणेण सिद्धा य ॥
आराहया चरित्तस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

दिट्ठा इत्यादि । 'दिट्ठा' दृष्टा उपलब्धाः । 'अणादिमिच्छादिट्ठी' अनादिमिथ्यादृष्टयः । भद्दणादयो राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्नाः अत एवानादिमिथ्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसारा समारोपितरत्नत्रयाः । 'जम्हा' यस्मात् खणेन क्षणग्रहणं कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम्, अन्यथा क्षणस्यात्यल्पकालतया कर्मनाशनस्य कर्तुमशक्यत्वात्, सकलकर्मशातनपुरस्सरं सिद्धत्वमेव न स्यात् । 'सिद्ध य' सिद्धाश्च परिप्राप्ताशेषज्ञानादिस्वभावाः, चशब्देन निरस्तद्रव्यभावकर्मसंहतयश्च, दृष्टा आराधनासंपादकाः । चरित्तस्स चारित्रस्य । चारित्रग्रहणं रत्नत्रयोपलक्षणं । एतेन चारित्राराधनां स्तौमि इत्येतद्व्याख्यानं निरस्तं । चारित्राराधनास्तवनस्य नायं प्रस्तावः । आयुरन्ते रत्नत्रयपरिणतिरिह प्रक्रान्ता स्तोतुं, किमुच्यते चारित्राराधनां स्तौमीति ।

पद आदिको कम करना या उनको बढ़ाना, आगेको पीछे और पीछेके पाठको आगे करके पौर्वापर्य रचनामें विपरीतता करना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ और अर्थमें विपरीतता करना, ये ज्ञानके अतीचार हैं । चारित्र आदिमें कहे अतिचारोंको न लगाना निरतिचारता है ।

विशेषार्थ—पं० आशाधरने अपने मूलाराधना दर्पणमें लिखा है कि जयनन्दि इस गाथाको पूर्वकी गाथाकी संवादगाथा मानते हैं ॥१६॥

मरते समय रत्नत्रयरूप परिणामोंका अभाव होनेमें दोष कहा । अब आराधनाके फलका अतिशय कहते हैं—

गा०—यतः रत्नत्रयके आराधक अनादिमिथ्यादृष्टि क्षणमात्रमें अर्थात् अल्पकालमें द्रव्य-कर्म भावकर्मसे रहित सिद्ध देखे गये हैं । इसलिये आराधना सार है ॥१७॥

टीका—भद्रण आदि राजपुत्रोंने उसी भवमें त्रसपर्याय प्राप्त की थी । अतएव वे अनादि-मिथ्यादृष्टि थे । उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें धर्मका सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया था और क्षणमात्रमें सिद्धत्व पद प्राप्त किया था । यहाँ 'क्षण' शब्दका ग्रहण कालकी अल्पताके उपलक्षणके लिये किया है । अन्यथा 'क्षण' बहुत छोटा काल है उतने कालमें समस्त कर्मोंका नाश करना अशक्य है और तब समस्त कर्मोंके विनाशपूर्वक होनेवाला सिद्धत्व ही प्राप्त नहीं हो सकता । जिन्होंने समस्त ज्ञानादिस्वभावको प्राप्त कर लिया है और 'च' शब्दसे द्रव्यकर्म और भावकर्मोंके समूहको नष्ट कर दिया है उन्हे सिद्ध कहते हैं । यहाँ चारित्रका ग्रहण रत्नत्रयका उपलक्षण है ।

अतः जो 'चारित्राराधनाका स्तवन करते हैं' ऐसा व्याख्यान करते हैं उसका निरास कर दिया है । यह प्रकरण चारित्राराधनाके स्तवनका नहीं है । यहाँ तो आयुके अन्त समयमें रत्नत्रय-रूप परिणतिका स्तवन है । तब चारित्राराधनाके स्तवनकी बात क्यों करते है ।

भावार्थ—अनादिकालसे मिथ्यात्वका उदय होनेसे नित्यनिगोदपर्यायमें रहकर भद्र-विवर्द्धन आदि ९२३ भरतचक्रवर्तीके पुत्र हुए और उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें धर्म सुनकर

रीतपौर्वापर्यरचनाविपरीतार्थनिरूपणा यथार्थयोर्वैपरीत्य अमी ज्ञानातिचारा'। उक्तातिचारविगमो निरतिचारता चारित्रादीनाम् ।

मरणकाले रत्नत्रयपरिणामाभावे दोष उक्त.। इदानीमाराधनाफलातिशयख्यापनायाह—

दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खणेण सिद्धा य ॥
आराहया चरित्तस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

विट्ठा इत्यादिक। 'दिट्ठा' दृष्टा उपलब्धा'। 'अणादिमिच्छादिट्ठी' अनादिमिथ्यादृष्टयः। भद्दणादयो राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्ना. अत एवानादिमिथ्यादृष्टय प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसारा समारोपितरत्नत्रयाः। 'जम्हा' यस्मात्क्षणेन क्षणग्रहण कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम्, अन्यथा क्षणस्याल्पकालतया कर्मघातनस्य कर्तुमशक्यत्वात्, सकलकर्मशातनपुरस्सरं सिद्धत्वमेव न स्यात्। 'सिद्धा य' सिद्धाश्च परिप्राप्ताशेषज्ञानादिस्वभावा, चशब्देन निरस्तद्रव्यभावकर्मसंहतयश्च, दृष्टा आराधनामपादका। चरित्तस्स चारित्रस्य। चारित्रग्रहण रत्नत्रयोपलक्षणं। एतेन चारित्राराधनां स्तौति इत्येतद्व्याख्यानं निरस्तं। चारित्राराधनास्तवनस्य नाय प्रस्तावः। आयुरंते रत्नत्रयपरिणतिरिह प्रक्रान्ता स्तोतुं, किमुच्यते चारित्राराधना स्तौतीति।

पद आदिको कम करना या उनको बढाना, आगेको पीछे और पीछेके पाठको आगे करके पौर्वापर्य रचनामे *विपरीतता करना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ और अर्थमे विपरीतता करना, ये* ज्ञानके अतीचार हैं। चारित्र आदिमे कहे अतिचारोंको न लगाना निरतिचारता है।

विशेषार्थ—पं० आशाधरने अपने मूलाराधना दर्पणमे लिखा है कि जयनन्दि इस गाथाको पूर्वकी गाथाकी संवादगाथा मानते हैं ॥१६॥

मरते समय रत्नत्रयरूप परिणामोंका अभाव होनेमें दोष कहा। अब आराधनाके फलका अतिशय कहते हैं—

गा०—क्योंकि रत्नत्रयके आराधक अनादिमिथ्यादृष्टि क्षणमात्रमे अर्थात् अल्पकालमे द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित सिद्ध देखे गये है। इसलिये आराधना सार है ॥१७॥

टीका—भद्दण आदि राजपुत्रोने उसी भवमे त्रसपर्याय प्राप्त की थी। अतएव वे अनादिमिथ्यादृष्टि थे। उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे धर्मका सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया था और क्षणमात्रमें सिद्धत्व पद प्राप्त किया था। यहाँ 'क्षण' शब्दका ग्रहण कालकी अल्पताके उपलक्षणके लिये किया [illegible] कालमें समस्त कर्मोंका नाश करना अशक्य है [illegible] सिद्धत्व ही प्राप्त नहीं हो सकता। जिन्होंने समस्त [illegible] शब्दसे द्रव्यकर्म और भावकर्मोंके समूहको नष्ट कर दिया है उन्हे सिद्ध कहते हैं। यहाँ चारित्रका ग्रहण रत्नत्रयका उपलक्षण है।

अत' जो 'चारित्राराधनाका स्तवन करते हैं' ऐसा व्याख्यान करते हैं उसका निरास कर दिया है। यह प्रकरण चारित्राराधनाके स्तवनका नही है। यहाँ तो आयुके अन्त समयमे रत्नत्रयरूप परिणतिका स्तवन है। तब चारित्राराधनाके स्तवनकी बात क्यो करते है।

भावार्थ—अनादिकालसे मिथ्यात्वका उदय होनेसे नित्यनिगोदपर्यायमें रहकर भद्र-विवर्द्धन आदि ९२३ भरतचक्रवर्तीके पुत्र हुए और उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे धर्म सुनकर

न्तरेण वीतरागता नास्तीति । ईर्यासमितेरतिचारः [illegible] । इदं वचनं मम वक्तुं युक्तं न वेति [illegible] अभणनं, [illegible] । [illegible]
न्ययतिचारादिकम् । [illegible] वचनं मम वक्तुं युक्तं न वेति [illegible] अज्ञात्वा [illegible] । [illegible]
अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे इति । अपृष्टः [illegible] इत्युक्तो । भाषासमिति-
क्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात् इत्यादिकं । भाषासमितेरतिचारः । उद्गमादिदोषदुष्टस्य भोजनस्य भु-
जनं वचसा, कायेन वा प्रशंसा वै सहवास [illegible] एषणासमितेरतिचारः । ग्रहणनिक्षेप-
व्यापारस्य, वा अनालोचनं [illegible] आदाननिक्षेपणसमितेरतिचारः ।
कायभूम्यशोधनं, मलसंत्यागदेशानिरूपणादि प्रतिष्ठापनासमितेरतिचारः [illegible] ।
असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्तिः कायगुप्तेरतिचारः । जनसंचरणस्थाने वा [illegible], अशुभध्याना-
भिनिविष्टस्य वा निश्चलता । [illegible] । सचित्तभूमौ
[illegible] समन्तात् अंकुरेषु महति वा वाते [illegible] निश्चला स्थितिः कायो-
त्सर्गं कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममतायाः अपरित्यागः कायोत्सर्गदोषा वा कायगुप्तेरतिचारः । रागादि-
सहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचारः । [1]शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातीचाराः ।
द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमन्तरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः । अक्षरपदादीनां न्यूनताकरणं, अतिवृद्धिकरणं, वि-

---

मन्द प्रकाशमे चलना, पैर रखनेके स्थानको अच्छी तरह न देखना, गमन करते समय चित्तका उपयोग अन्यत्र होना, ये ईर्यासमितिके अतीचार है। यह वचन मुझे कहना युक्त है अथवा नही, ऐसा विचार किये विना बोलना, या विना जाने बोलना। इसीसे कहा है—'बोलनेवालेके बीचमे विना समझे नही बोलना चाहिये।' ऐसे मुनिको जिसने शास्त्रकी वातको पुष्ट रूपसे नही सुना है अपुष्ट कहा है। अपुष्ट मुनिको बीचमे नही बोलना चाहिये। भाषासमितिके क्रमसे जो अनजान है उसे मौन ले लेना चाहिये। इत्यादि भाषा समितिके अतीचार हैं। उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचन से उसकी अनुमति देना, कायसे उसकी प्रशसा करना, ऐसे मुनियोंके साथ रहना, या क्रियाओंमे उनके साथ प्रवृत्ति करना, एषणासमितिके अतीचार है। जो वस्तु ग्रहण करने योग्य या रखने योग्य है, उसे ग्रहण करते या स्थापित करते समय 'यहाँ जन्तु हैं या नही' ऐसा नही देखना या पिच्छिकासे सावधानता पूर्वक प्रमार्जन न करना आदाननिक्षेपण समितिके अतीचार हैं। शरीर और भूमिका शोधन न करना, मलत्याग करनेके स्थानको न देखना आदि प्रतिष्ठापना समितिके अतीचार है। चित्तके असावधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगुप्तिका अतीचार है। जहाँ मनुष्य आते जाते हैं वहाँ एक पैर आदिसे खड़े होना, अशुभ ध्यानमे लीन होकर निश्चल होना, मिथ्या देवताओंकी मूर्तिके सन्मुख ऐसे खड़े होना मानो उनकी आराधनामे लगे हैं, सचित्त भूमिमें जहाँ चारो ओर हरित वनस्पति फैली है, क्रोध या घमण्डसे मौनपूर्वक निश्चल खडे होना कायगुप्तिके अतीचार हैं।

जो कायोत्सर्गको कायगुप्ति मानते हैं उनके पक्षमे शरीरसे ममत्वको न छोडना अथवा जो कायोत्सर्गके दोष कहे हैं वे कायगुप्तिके अतीचार हैं। स्वाध्यायमे रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतीचार है। शङ्का, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशसा, सस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी शुद्धिके विना श्रुतका पढना श्रुतका अतीचार है। अक्षर

---

१. 'शंका''' सम्यग्दृष्टेरतीचाराः'—त० सू० ७।२३।

इय सामण्णमिदि । 'इय' एव । 'सामण्णं' समणस्य भावो सामण्णं समता इत्यभियुक्ता निरुक्तिमाहुः । यत्तोऽस्मादभिधानप्रत्ययौ इति भावशब्देन द्रव्यशब्दस्य वृत्तौ निमित्तभूतो गुण उच्यते । तथा चोक्तम्—'यस्य गुणस्य भावाद्‌द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति', ततोऽत्रापि समण इत्यस्य शब्दस्य जीवे प्रवृत्तौ किं निमित्तं गुणः समता, क्व जीविते, मरणे, लाभेऽलाभे, सुखे, दुःखे, बन्धुषु, रिपौ च । एतेषु राग-द्वेषाकरणं विद्वेषस्य वासमानता, तदुभयाकरणं जीवितादिस्वरूपपरिज्ञानं समचित्तता । अयंथायात्म्यग्राहित्वेन जीवितादिविषयाणां ज्ञानानां समता । जीवितं नाम प्राणधारणं तदायुरायत्तं न मदिच्छया वर्तते, सत्यामपि इच्छायां प्राणानामनवस्थानात् । सर्वं हि जगदिच्छति प्राणानामनपायं न च तेऽवतिष्ठन्ते । मरणं नाम इन्द्रियादिप्राणेभ्यो वियम आत्मनः । तथा चोक्तम्—'मृङ् प्राणत्यागे' [ ] इति । त्यागो हि वियोग आत्मनः सकाशात् प्राणानां पृथग्भावः । स चायुःसंज्ञितानां पुद्‌गलानां क्षयोपगमनात् । अत्र द्रव्येन्द्रियाणां उपघातकशरादिविध्वंसनाद्भावेन्द्रियस्य चोपयोगस्य विनाशः तदावरणोदयात् । तदुदयादेव च लब्धेरभावः । वीर्यान्तरायोदयान्मिविधबलप्राणहानिः । मुखस्य नासिकायाश्च पिधानात् श्लेष्मादिनावरोधात् उच्छ्‌वासनिश्वासहानिः । अनिष्टस्य लाभो लाभान्तरायक्षयोपशमात् । अलाभस्तदुदयात् । सुखं नाम प्रीतिः सद्वेद्योदयात् अभिलषितविषयप्राप्तिर्वा । दुःखं तु बाधात्मकमसद्वेद्योदयहेतुकम् । बन्धवो नाम न नियताः केचन सन्ति । सगुतो

करता है, कि इसके पश्चात् मनको वशमें करके मैं मरते समय ध्यानमें समर्थ होऊंगा ॥२१॥

टी०—समणके भावको सामण्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति विशेषज्ञोंने की है। 'सामण्ण'का अर्थ समता है। द्रव्य शब्दमें प्रवृत्तिका निमित्त जो गुण होता है उसे भाव शब्दसे कहते हैं। कहा भी है—जिस गुणके होनेसे द्रव्यमें शब्दका निवेश होता है उसके वाचक शब्दसे त्व और तल प्रत्यय होते है। यहाँ भी समण शब्दकी जीवमें प्रवृत्तिका गुण समता है अर्थात् समता गुणके कारण ही जीवको समण कहा जाता है। जीवनमें मरणमें, लाभमें अलाभमें, सुख और दुःखमें, बन्धुमें और शत्रुमें समान भावको समता कहते हैं। और इनमें किसीसे राग और किसीसे द्वेष करना असमानता है। और राग-द्वेषका न करना तथा जीवन आदिके स्वरूपको जानना समचित्तता है। जीवन आदि विषयोंके ज्ञान यथार्थग्राही होनेसे समतारूप है।

प्राणधारणको जीवन कहते हैं। वह आयुके अधीन है मेरी इच्छाके अधीन नहीं है। मेरी इच्छाके होने पर भी प्राण नहीं ठहरते। सर्व जगत चाहता है कि हमारे प्राण बने रहें। किन्तु वे नहीं रहते। आत्माके इन्द्रिय आदि प्राणोंके चले जानेको मरण कहते हैं। कहा भी है—मृङ् धातु प्राणत्यागके अर्थमें है। त्याग वियोगको कहते है। आत्मासे प्राणोंका पृथक् होना वियोग है। वह आयुकर्म सम्बन्धी पुद्‌गलोंके पूर्णरूपसे समाप्त होनेसे होता है। उपघातक वाण आदिके लगनेसे द्रव्येन्द्रियोंका विनाश होता है और उपयोगरूप भावेन्द्रियका विनाश ज्ञानावरणके उदयसे होता है। उसीके उदयसे लब्धिरूप भावेन्द्रियका विनाश होता है। वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे मनोबल, वचनबल और कायबल रूप प्राणोंकी हानि होती है। मुख और नाकको बन्द करनेसे या जुखामसे उनकी रुकावट होनेसे श्वासोच्छ्‌वास प्राणकी हानि होती है। लाभान्तरायके क्षयोपशमसे इष्ट वस्तुका लाभ होता है और उसके उदयसे लाभ नहीं होता। सुख प्रीतिको कहते हैं वह सातावेदनीयके उदयसे इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे होता है। दुःख बाधारूप होता है उसमें असाता वेदनीयका

१. निवृत्त हतो आ० मु० । २. विपयस्त्वाम—आ० मु० ।

रभ्रमत उपकारापेक्षा हि ते। यदि त एव अन्यदा कृतापकारा इति रिपवस्ते ? अरयोऽपि कदाचिदु-
पादितानुग्रहा इति किं न बन्धव ? अपि च स्नेहस्य सर्वासंयममूलस्य हेतुतया सन्मार्गप्रतिबंधकारितया च ते
महाशत्रव । किं च पुण्योदयादेव सम्पद्यते सकलं सुखं सुखहेतुवस्तुसान्निध्यं च। विपुण्यस्य न ते किंचिदपि
तुं क्षमा । न च कुर्वन्ति। तथा हि—मातरः त्यजन्ति पुत्रं सा च सुतं। तथाऽसत्यसद्वेद्योदये न कश्चित्कि-
दप्यपकारं करोति। बाह्या हि शत्रवो नाभ्यन्तरकर्मणि असति पीडामुपजनयन्ति। इत्येवंभूता सर्वत्र सम-
त्तता सामण्णं। 'साधू वि' साधुरपि। 'कुणदि' करोति। 'णिच्चमवि' नित्यमपि सर्वदापि। 'जोगपरिकम्मं
गशब्दोऽनेकार्थ। 'योगनिमित्तं ग्रहणं' इत्यात्मप्रदेशपरिस्पन्द त्रिविधवर्गणासहायमाचष्टे। क्वचित्सम्बन्धमात्र-
चन. 'अस्यानेन योग' इति। क्वचिद्ध्यानवचन यथा 'योगस्थित' इति। इहाय परिगृहीत । ततो ध्यान-
रिकर करोतीति यावत्। रागद्वेषमिथ्यात्वासंश्लिष्ट अर्थयाथात्म्यस्पर्शि प्रतिनिवृत्तविषयान्तरसंचारं ज्ञानं
यानमित्युच्यते। अभावितसमानभावोऽनधिगतवस्तुसद्भावश्च न ध्यातुं क्षम इति भाव । "तो' तत पश्चा-
जिनकरणो' इत्यत्र करणशब्द अंत करणे मनसि वर्तते। ततोऽयमर्थ स्ववशीकृतचित्तोऽहं मरणे भवपर्यायनाश
लाया। 'झाणसमत्थो' ध्यानस्यैकाग्रचिन्तानिरोधस्य। ध्यानशब्दोऽत्र प्रशस्तध्यानविषये ग्राह्यो नाशुभ-
तिनारकतिर्यग्गतिनिर्वर्तनप्रवणयो। योगे परिकर्मणि सदात्मन प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता धर्मशुक्लयोर्निर्वर्तने
समत्थो' शक्त. "भविस्सदि' भविष्यामीति ॥

उदय हेतु है। बन्धु कोई नियत नहीं है। संसारमें भ्रमण करते हुए जीवका जो उपकार करते हैं
वे बन्धु कहे जाते हैं। यदि वे ही कभी अपकार करते हैं तो शत्रु हो जाते हैं। शत्रु भी कभी-कभी
उपकार करते हैं तो वे बन्धु क्यों नहीं हैं ? तथा स्नेह समस्त असंयमका मूल हेतु और सन्मार्गमें
रुकावट डालने वाला है। अत जिन्हें हम बन्धु मानते हैं वे ही महाशत्रु हैं। तथा पुण्यकर्मके उदय-
से ही सर्व सुख और सुखकारक वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। जो पुण्यहीन हैं उसको सुखके साधन
भी कुछ नहीं कर सकते। माता पुत्रको त्याग देती है और पुत्र माताको त्याग देता है। तथा
असाता वेदनीयके उदयके अभावमें कोई किंचित् भी अपकार नहीं कर सकता। अभ्यन्तर कर्मके
अभावमें बाह्य शत्रु पीडा नहीं पहुँचाते। इस प्रकारसे सर्वत्र समचित्तताको सामण्ण कहते हैं।
'जोगपरिकम्म में योग शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'योगनिमित्त ग्रहण' यहाँ मनोवर्गणा, वचनवर्गणा
और कायवर्गणाके निमित्तसे होने वाले आत्माके प्रदेशोंके हलनचलनको योग कहा है। कहीं योग
शब्दका अर्थ सम्बन्धमात्र है। जैसे 'इसका इसके साथ योग है।' कहीं योगका अर्थ ध्यान है। जैसे
'योगस्थित में योगका अर्थ ध्यान है। यहाँ योगका अर्थ ध्यान लिया है। राग-द्वेष और मिथ्यात्व
से अछूते, वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ग्रहण करने वाले और अन्य विषयोंमें संचार न करने वाले
ज्ञानको ध्यान कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिसने समानताकी भावना नहीं भायी है
और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाना है वह ध्यान नहीं कर सकता। 'जितकरणो' में करण शब्द
अन्त करण मनके अर्थमें है। अत यह अर्थ हुआ कि 'मरते समय मेरा चित्त मेरे वशमें है'। 'झाण-
समत्थो' में ध्यान शब्दका अर्थ एक ही विषयमें चिन्ताका निरोध करना है। यहाँ ध्यानसे प्रशस्त
ध्यान ग्रहण करना, नरक गति और तिर्यञ्चगतिमें ले जाने वाले अशुभ ध्यान नहीं लेना। योगके
परिकर्ममें भी आत्मा सदा लगा रहता है अत उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यहाँ योगसे
शुभध्यान लिया गया है। अत उसका परिकर्म—अभ्यास करना होता है जिससे मरते समय मैं

---

१ [illegible]

कृतपरिकरो राजपुत्रो व्यधनादिकासु क्रियासु उपगतकौशल: क्रियां प्रहरणादिकां समाप्य यथाफलं प्राप्नोति इति एतदुत्तरगाथया चष्टे जोगाभाविद इत्यनया—

जोगाभाविदकरणो सत्तू जेदूण जुद्धरंगम्मि ।
जह सो कुमारमल्लो रज्जपडायं बला हरदि ॥२२॥

जोगाभाविदकरणो परिकर्मणा अभ्यस्तलक्ष्यवेधनताडनप्रहरणादिक्रिय: । आभावित इत्यत्राङ् भृशार्थे प्रयुक्त: । तथा च प्रयोग:—आपूर्णमिव भृशं धूमेन परिपूर्णमित्यर्थ: । 'सत्तू' शत्रून् । 'जेदूण' जित्वा । 'जुद्धरंगम्मि' युद्धार्थं संस्कृतो देशो युद्धरंगमित्युच्यते तत्र । 'जह' यथा । 'सो' स भावितात्मा । 'कुमारमल्लो' प्राणिनां कालकृतोऽवस्थाविशेषो द्वितीय: कुमारत्वं नाम । तद्योगाद्राजपुत्र: कुमार: स एव मल्ल: । 'रज्जपडायं' राज्यध्वजं । 'बला' बलात्कारेण । हरदि' हरति गृह्णाति ॥२२॥

दार्ष्टान्तिके योजयितुं उत्तरगाथा—

तह भाविदसामण्णो मिच्छत्तादी रिवू विजेदूण ।
आराहणापडायं हरइ सुसंथाररंगम्हि ॥२३॥

'तह भाविदसामण्णो' इति । 'तह' तथैव राजपुत्रवदेव । 'भाविदसामण्णो' भावितसमानभाव । पूर्वमिति शेष: । 'मिच्छत्तादी' मिथ्यात्वासंयमकषायाशुभयोगा इत्येतान् । 'रिवू' रिपून् । 'विजेदूण' भृशं जित्वा । विशब्दो भृशार्थे प्रयुक्त: । यथा विवृद्धो मल्ल: भृशं वृद्ध इति यावत् । अथवा 'विजेदूण' नानाप्रकारं जित्वा यथा विचित्रमिति नानाचित्रमिति यावत् । एकान्तमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व

धर्म और शुक्ल ध्यान करनेमें समर्थ हो सकूँ ॥२१॥

'जैसे अभ्यास किया हुआ राजपुत्र लक्ष्यको वेधने आदिकी क्रियामें कुशलता प्राप्त करके शस्त्रप्रहार आदिके द्वारा राज्य लाभ करता है' यह आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जैसे अभ्यासके द्वारा बार-बार लक्ष्यवेध शस्त्रप्रहार आदि क्रियामें दक्ष वह योद्धा राजपुत्र युद्धभूमिमें शत्रुको जीतकर राज्यके ध्वजको बलपूर्वक हरता है ॥२२॥

टी०—'जोगाभाविदकरणो' में आभावित शब्दमें जो 'आ' है उसका अर्थ बार-बार या बहुत अधिक है। जैसे 'आपूमित' का अर्थ धुएँसे अच्छी तरह भरा हुआ है। जो स्थान युद्धके लिए तैयार किया गया हो उसे युद्धरंग कहते हैं। प्राणियोंकी कालकृत जो दूसरी अवस्था विशेष होती है उसे कुमार अवस्था कहते हैं। उस अवस्थाके सम्बन्धसे यहाँ राजपुत्रको कुमार कहा है। अर्थात् जैसे युद्धमें दक्ष राजपुत्र शत्रुको जीतकर बलपूर्वक उसकी राज्यपताका हर लेता है वैसे ही आगे इस दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमें लगानेके लिए उत्तरगाथा कहते हैं—

गा०—उस राजपुत्रकी ही तरह पूर्वमें समानभावका अभ्यासी साधु मिथ्यात्व आदि शत्रुओंको पूरी तरहसे जीतकर शोभनीय संस्तररूपी रंगभूमिमें आराधनारूपी पताकाको ग्रहण करता है ॥२३॥

टी०—मिथ्यात्व आदिमें आदि शब्दसे मिथ्यात्व असंयम, कषाय और अशुभयोग लेना। 'विजेदूण' में 'वि' शब्दका अर्थ बहुत या पूरी तरह है। जैसे 'विवृद्धो मल्ल:' का अर्थ बहुत अधिक बढ़ा हुआ योद्धा है। अथवा 'विजेदूण' का अर्थ 'नानाप्रकारसे जीतकर' होता है। जैसे विचित्रका अर्थ नानाचित्र होता है।

त्यनेकधा मिथ्यात्वपरिणामा स्थिता । तत्रैकान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवादेर्नित्यत्वमेव स्वभावो न
ानित्यत्वादिकम् । असदुत्पत्त्या सतो निरोधे वा अनित्यता भवति । न चासत उत्पत्तिर्यदि स्यात् गगनकुसुमा-
दक किन्नोपजायते ? असत्त्वाविशेषे गगनकुसुमादेर्घटादेश्च घटादिकमुपजायते न वियत्कुसुमादिक इत्यत्र न
नियामक हेतु पश्याम । न च सद्विनश्यति, विनाशो ह्यसत्त्व, भावाभावौ हि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणौ
ैकता यात । न भावोऽभावो भवति, इत्थमसत्त्वे उत्पादनिरोधयोरभावान्नित्यतैवावतिष्ठते इति इदमेक
मिथ्यात्व । एतस्य जय उच्यते—न नित्यतैव वस्तुनो रूप, अनित्यताया अपि प्रमाणसमधिगम्यत्वात् । रागद्वेष-
मिथ्यात्वसंशयविपर्ययादीना आत्मनि सता पश्चादनुभवप्रतिष्ठापितमसत्त्वमनुभवोपनीत[1] नासत्त्व प्रागनुभूताना-
मत्यनित्यता । पुद्गलद्रव्यस्यापि मेघादेर्वर्णान्यथाभाव आम्रफलादीना रूपरसगन्धाद्यन्यथाभावश्च प्रत्यक्षग्राह्योऽ-
शक्यापन्हव । तथानुमानग्राह्यश्च—यत्सत्तत्सर्वं नित्यानित्यात्मक यथा घटस्तथा च जीवादिकं सदिति कारणाना
प्रतिनियतजननस्वभावकार्यत्वात् । घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युत्पत्ति न खरविषाणादे । न च भावाभावयो·
विरोध. एकस्मिन्वस्तुन्येकदा प्रवृत्ते रूपरसादीनामिव । अपररूपेणासत्त्वं सति विद्यते न वा । यद्यस्ति न
विरोध , न चेत्सर्वात्मकता । न ह्यभावो नाम भावादन्य । अपि तु भावस्यैव रूपान्तरम् । ततोऽयुक्तो

एकान्तमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व, इत्यादि मिथ्यात्वपरिणाम अनेक प्रकार है। जीवादिवस्तुका स्वभाव नित्यता ही है, अनित्यता नही है इसे एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं। असत्की उत्पत्ति नही होती। यदि होती है तो आकाशका फूल क्यों नही उत्पन्न होता ? जब आकाशका फूल और घट दोनो ही असत् है तो घटादि तो पैदा होते हैं और आकाशका फूल पैदा नही होता, इसमे कोई नियामक हेतु हम नही देखते। तथा सत्का विनाश नही होता। विनाश कहते है असत्त्वको। किन्तु भाव और अभाव दोनो भिन्न हैं, दोनोंके लक्षण भिन्न हैं। वे कभी एक नही हो सकते। भाव-अभाव नही होता। इस प्रकार असत्वमें उत्पाद और विनाशका अभाव होनेसे नित्यता ही ठहरती है। यह एक मिथ्यात्व है। अब इसको जीतनेका कथन करते हैं।

वस्तुका रूप केवल नित्यता ही नही है, अनित्यताका भी प्रमाणसे बोध होता है। राग, द्वेष, मिथ्यात्व, संशय, विपर्यय आदि आत्मामे पहले सत् प्रतीत होते हैं। पीछे अनुभवके द्वारा उनका असत्त्व प्रतिष्ठापित होता है। तथा पहले उनका आत्मामें अनुभव होता है और पीछे अनुभवसे ही उनका असत्व ज्ञात होता है। इसलिए ये अनित्य है। पुद्गलद्रव्य मेघ आदिका रूप भी बदलता देखा जाता है। आम्रफल आदिमे रूप, रस, गन्ध आदिका बदलना प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसका लोप करना अशक्य है। तथा अनुमान प्रमाणसे भी उसका ग्रहण होता है, जो इस प्रकार है—जो सत् है वह सब नित्यानित्यात्मक है, जैसे घट। उसी तरह जीवादि भी सत् होनेसे नित्यानित्यात्मक है। कारणोंका स्वभाव प्रतिनियत कार्योंको ही उत्पन्न करना है। घटादिके उत्पन्न करनेवाले कारण हैं इसलिए उनकी उत्पत्ति होती है। गधेके सीग जैसे असम्भव कार्योको उत्पन्न करनेवाले कारण नहीं हैं इसलिए उनकी उत्पत्ति नही होती। तथा भाव और अभावमे कोई विरोध नहीं है, रूप रस आदिकी तरह एक वस्तुमे दोनो एककालमे रहते हैं। जो वस्तु सत् है वह अपनेसे भिन्न वस्तुकी अपेक्षा असत् है या नही ? यदि है तो भाव अभावमें विरोध नही रहा। और यदि कहोगे कि नही है तो वह वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी; क्योंकि उसमे किसी

[1] न सत्त्व प्रागननुभू–आ॰ मु॰।

नित्यत्वैकान्तवाद' इति। एवंभूतया तत्त्वश्रद्धया पराभूयते नित्यमेवेति मिथ्यात्वम्। (तथा क्षणिकमेव सर्वं कथं कार्यकारि, यद्वस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहोऽभावलक्षणं) कार्यकारिता च न नित्यस्य। तथ तद्धि नित्यं स्वकार्यं क्रमेण वा कुर्याद्युगपदेव वा? न तावत्क्रमेण कार्योत्पत्तिलाभस्य कारणस्वभावमात्रसाधीनत्वात्। सर्वं कार्यप्रादुर्भूतिहेतूनां सामर्थ्यानां सदा सान्निध्यत्वात् कुत कार्याणां क्रम। समर्थहेतुभावेऽप्यभावे न तस्य कार्यं स्यात्। यथा सन्निहितेऽपि यवबीजेऽनुपजायमानस्य शाल्यङ्कुरस्य न यवबीजकार्यता। युगपत्करोति चेत् द्वितीयादौ क्षणेऽकिंचित्करता स्यान्न च तथा दृश्यते। इत्थं नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्याभावात्, अनित्ये तद्भावात् क्षणिकमेवेत्यध्यवसायो मिथ्यात्वमेव। तस्य जय उच्यते—सत्यं सर्वथा नित्ये वस्तुन्यस्ति सामस्त्यतः तीरा नित्यानित्यात्मके तु सम्भविनी कार्यकारिता। एकान्तेन क्षणिकत्वे वस्तुनो यदि रूप कार्यकारिता नास्ति। एकस्य वस्तुन एकमेव रूपं नापरमिति प्रतिज्ञानात्। एवमन्यत्रापि योज्य[1] एकान्तमिथ्यात्वजय। संशयमिथ्यात्वं वस्तुस्वरूपावधारणात्मकं तस्य जय कथंचिन्नित्यानित्यात्मका सर्वे भावा इति भावनया। विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्गतिवर्तिन्या स्वर्गादिहेतुतावगतिविज्ञानम्, अहिंसायाश्च प्रत्यवायहेतु-

---

वस्तुका अभाव नहीं है। अभाव भावसे भिन्न नहीं है। किन्तु भावका ही रूपान्तर अभाव है। अतः एकान्तनित्यवाद अयुक्त है। इस प्रकारकी तत्वश्रद्धासे 'नित्य ही है' यह मिथ्यात्व हट जाता है।

तथा सब क्षणिक भी कैसे कार्यकारी है? वस्तुमें सब सामर्थ्यका अभाव तो अभावका लक्षण है इसपर बौद्ध कहता है—

नित्यपदार्थ कार्यकारी नहीं है। वह नित्यपदार्थ अपना कार्य क्रमसे करता है अथवा एकसाथ करता है? क्रमसे तो कार्य कर नहीं सकता क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति कारण स्वभावमात्रके अधीन है। जब नित्यपदार्थमें सब कार्योंको उत्पन्न करनेकी शक्तियाँ सदा वर्तमान हैं तब कार्य क्रमसे कैसे हो सकते हैं? समर्थकारणके रहते हुए भी यदि कार्य नहीं होता तो उसे उस कारणका कार्य नहीं माना जा सकता। जैसे जौ बीजके रहते हुए भी उसमें धानका अंकुर नहीं उगता। अतः धानका अंकुर जौबीजका कार्य नहीं होता। यदि कहोगे कि नित्य एकसाथ सब कार्यों को उत्पन्न करता है तो दूसरे आदि क्षणोंमें वह नित्यपदार्थ अकिंचित्कर हो जायेगा, क्योंकि सब कार्य पहले क्षणमें ही उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमें उसे करनेके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इस प्रकार नित्यवस्तुमें वस्तुका लक्षण कार्यकारीपना नहीं बनता। अतः अनित्यमें कार्यकारीपना होनेसे सब क्षणिक ही है। जैन कहते हैं—इस प्रकार निश्चय करना भी मिथ्यात्व ही है। अब उस मिथ्यात्वको जीतनेका उपाय कहते है—

यह सत्य है कि उक्तनीतिसे अनुसार सर्वथा नित्यवस्तुमें कार्यकारिता नहीं है किन्तु नित्यानित्यात्मकवस्तुमें कार्यकारिता है। यदि वस्तुका स्वरूप सर्वथा क्षणिकता है तो उसमें कार्यकारीपना नहीं है। क्योंकि आपने एकवस्तुका एक ही रूप माना है दूसरा नहीं माना। इसी प्रकार अन्यत्र भी एकान्तमिथ्यात्वको जीतनेकी योजना करनी चाहिए।

वस्तुके स्वरूपका कुछ भी निश्चय न करना संशयमिथ्यात्व है। सब पदार्थ कथंचित् नित्यानित्यात्मक है इस भावनासे उसको जीतना चाहिए। दुर्गतिमें ले जानेवाली हिंसाको

---

१. योज्य आ० मु०।

नेति एतस्य जय। परोक्ष्योपायोपेयभावस्य अप्रत्यक्षत्वात्। अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभाविनस्तत्रावृत्तेः। आगम सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीत उपेयोपायतत्त्वस्य ख्यापक आश्रयणीयः। कपिलादीनामसर्वज्ञतया न तत्प्रणीत आगमोऽदृष्टप्रतिपत्तावुपाय। तदसर्वज्ञता दृष्टेष्टप्रमाणविरुद्धवचनतया रथ्यापुरुषवत्। नित्यस्तु न शब्दो विद्यते। यदि स्यात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषदोषानुपश्लिष्टतास्तीति प्रामाण्यं भवेत् ततो जिनागमेन हिंसाया दुःखहेतुत्वप्रतीतेर्विपर्ययमिथ्यात्वप्रसिद्धि तस्य जय अविपरीतज्ञानेन। 'आराधणापज्जायं' आराधनापर्यायं। 'हरदि' गृह्णाति। 'सुगंधारंगम्मि' शोभनास्तरङ्गे उद्गमादिदोषानुपहतता शोभनता ॥

चिरमभावितरत्नत्रयाणामन्तर्मुहूर्तकालभावनाना सिद्धिरिष्यते ततः किं चिरभावनयेत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पुव्वमभाविदजोग्गो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई।
खण्णुगदिट्ठंतो सो तं खु पमाण ण सव्वत्थ ॥२४॥

'पुव्व' पूर्वं मरणकालात्। 'अभावितजोग्गो' अभावितपरिकर। 'आराधेज्ज' आराधयेत्। किं मरणे रत्नत्रयानुगतभवपर्यायप्रलय। 'जदि वि' यद्यपि। 'कोई' कश्चित्। 'खण्णुगदिट्ठंतो' स्थाणुदृष्टान्त। 'सो' स। 'तं खु' तदेव। आकस्मिकस्य रत्नत्रयसमापन्न। 'सव्वत्थ' सर्वत्र। 'ण पमाणं' न प्रमाणं। सर्वोऽप्यनभ्यस्तरत्नत्रय [illegible] ॥२४॥

एवं पीठिका समाप्ता ॥

स्वर्गादिका हेतु मानना और अहिंसाको दुर्गतिका कारण मानना विपर्ययमिथ्यात्व है। इसको जयका उपाय कहते हैं—

उपायता और उपेयता परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला अनुमान भी उसे नहीं जान सकता। रागद्वेषसे रहित सर्वज्ञके द्वारा कहा गया आगम ही उपाय और उपेयभावको बतलाता है उसीका आश्रय लेना चाहिए। कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं थे। अतः उनके द्वारा कहा गया आगम अदृष्टको जाननेका उपाय नहीं है। कपिलादिके वचन सड़कपर घूमने वालोंकी तरह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्ध हैं अतः वे सर्वज्ञ नहीं हैं। तथा यह कहना कि वेद नित्य है ठीक नहीं है क्योंकि शब्द नित्य नहीं होता। यदि शब्द नित्य हो तो सभी शब्दोंके नित्य होनेसे पुरुषके दोष उनमें नहीं प्रवेश कर सकते अतः सभी शब्द प्रमाण मानने होंगे। अतः जिनागमसे प्रसिद्ध है कि हिंसा दुःखका कारण है अतः उसे सुखका कारण मानना विपर्ययमिथ्यात्व है। अविपरीत सम्यग्ज्ञानसे उसको जीता जाता है ॥२३॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि जिन्होंने चिरकाल तक रत्नत्रयकी भावना नहीं भायी है, केवल अन्तर्मुहूर्तकाल ही रत्नत्रयकी आराधना की है, उनको भी मुक्ति मानी जाती है तब आप चिरकाल भावनाकी बात कैसे करते हैं, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—मरण समयसे पहले ध्यानके परिकरका अभ्यास न करनेवाला यद्यपि कोई मरते समय आराधना कर ले तो वह स्थाणुदृष्टान्तमात्र है। सर्वत्र (पमाणं ण) प्रमाण नहीं है ॥२४॥

टी०—जैसे यदि किसीको किसी ठूँठमें अचानक धनका लाभ हो जाये तो उसे सर्वत्र प्रमाण नहीं माना जाता। इसी तरह यदि किसीने मरनेसे पूर्व रत्नत्रयका अभ्यास नहीं किया और अन्तर्मुहूर्त काल तक आराधना किया और उसे सिद्धि प्राप्त हो गई तो उसे सर्वत्र प्रमाणके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥२४॥

इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ॥

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे ॥
तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥२५॥

मरणान्यनेकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्दिष्टानि । तेष्विह निरूप्याणीमानीति निरूपयितुं इदमुक्तं सूत्रं मरणादीनि । मरणं विगमो विनाशः विपरिणाम इत्येकोऽर्थः । तच्च मरणं जीवितपूर्वकम् । जीवितं स्थिति-रविनाशोऽवस्थितिरिति यावत् । स्थितिपूर्वको विनाशः । यदस्थितिकं तन्न विनश्यति यथा वन्ध्यासुतः । तथा च स्थितिरहितं वस्तु क्षणिकवादिभिरभ्युपगतं जीवितं जन्मपूर्वकं अनुत्पन्नस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिविगमौ ध्रौव्यं च सर्वेषां रूपाणि । अनया च प्रक्रियया मरणं नामोत्पन्नपर्यायविनाशः । देवत्वं, तिर्यक्त्वं, नारकत्वं, मनुष्यत्वं, इत्यमीषां पर्यायाणां प्रध्वंस इह मरणशब्दवाच्यः । अथवा प्राणपरित्यागो मरणं । तथा चाभ्यधायि-मृङ् प्राणत्यागे इति । एवमेव प्राणग्रहणं जन्म, प्राणानां धारणं जीवितं । प्राणा द्विविधा द्रव्यप्राणा भाव-प्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, बलं, उच्छ्वास, आयुरित्येतानि पुद्गलद्रव्याणि । भावप्राणा ज्ञानदर्शन-चारित्राणि । एतत्प्राणापेक्षया सिद्धानां जीवितं । तत्रायुर्द्विभेदं अद्धायुर्भवायुरिति च । भवधारणं भवायुर्भव शरीरं तच्च ध्रियते आत्मना[1] आयुष्योदयेन । ततो भवधारणमायुःकर्म कर्म तदेव भवायुरित्युच्यते । तथा चोक्तम्—

देहो भवोत्ति वुच्चदि धारिज्जइ आउगेण य भवो सो ।
सो वुच्चदि भवधारणमाउगकम्मं भवाउत्ति ॥ [ ]

गा०—जिनागममें तीर्थङ्करोंने मरण सतरह कहे हैं। उन सतरह प्रकारके मरणोंमेंसे भी यहाँ (संगहेण) संक्षेपसे पाँच मरणोंको कहूँगा ॥२५॥

टी०—मरण अनेक प्रकारके हैं ऐसा अन्य शास्त्रोंमें कहा है। उनमेंसे यहाँ इन मरणोंको कहना है यह बतलानेके लिए यह गाथासूत्र आया है। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम इन सब शब्दोंका अर्थ एक है। वह मरण जीवनपूर्वक होता है। जीवन, स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ये सब एकार्थक हैं। स्थितिपूर्वक विनाश होता है। जिसकी स्थिति नहीं है उसका विनाश नहीं है जैसे बाँझका पुत्र नहीं होता तो उसका विनाश भी नहीं होता। क्षणिकवादी बौद्धोंने जिस वस्तुको कहा है उसकी स्थिति नहीं है अर्थात् वह वस्तु ही नहीं है। जीवन जन्मपूर्वक होता है। जो उत्पन्न नहीं हुआ उसकी स्थिति नहीं है। इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यरूपको लिए हुए है। इस प्रक्रियाके अनुसार उत्पन्न हुई पर्यायके विनाशका नाम मरण है। देवपना, तिर्यञ्चपना, नारकपना और मनुष्यपना इन पर्यायोंका विनाश यहाँ मरणशब्दसे लिया है। अथवा प्राण छोड़नेका नाम मरण है। कहा भी है—'मृङ्धातु' प्राणत्यागके अर्थमें है। इसी तरह प्राणग्रहणको जन्म कहते हैं। प्राणोंको धारण करना जीवन है। प्राणोंके दो भेद हैं—द्रव्य-प्राण और भावप्राण। इन्द्रिय पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये पुद्गलद्रव्य द्रव्यप्राण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भावप्राण हैं। इन भावप्राणोंकी अपेक्षा सिद्धोंमें जीवन होता है। उन प्राणोंमें आयुप्राणके दो भेद हैं—अद्धायु और भवायु। भवधारणको भवायु कहते हैं। भव शरीरको कहते हैं। आयुकर्मके उदयमें आत्मा भवधारण करता है। अतः आयुकर्म भवधारणरूप है उसे ही भवायु कहते हैं। कहा भी है—शरीरको भव कहते हैं। वह भव आयुकर्मके द्वारा धारण किया

---

१. आत्मना आ० मु० ।

इति आयुषैव जीवो जायते जीवति च आयुष उदयेन। अन्यस्यायुष उदये म्रियते। पूर्वस्य चायुषो विनाशे।

तथा चोक्तम्—

आउगवसेण जीवो जायदि जीवदि य आउगस्सुदये।
अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे वा॥ इति॥ [ ]

अद्धाशब्देन काल उच्यते, आउगशब्देन द्रव्यस्य स्थितिः। तेन द्रव्याणां स्थितिकाल अद्धायुरित्युच्यते। [१]द्रव्यार्थिकतया द्रव्याणामनादिनिधनं अद्धायुः। पर्यायार्थिकापेक्षया चतुर्विधं अनादिअनिधनं, सादिअनिधनं, सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति। चैतन्यरूपादिमत्त्वगतिहेतुत्वस्थितिहेतुत्वादिसामान्यापेक्षया अनाद्यनिधना स्थितिः। केवलज्ञानादिकाना सादिअनिधनता। भव्यत्वस्य अनादिसनिधनता। सादिसनिधनता क्रोधादीनाम्। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य चतुर्विधा भवति स्थितिः। एतत्याद्धायुषो भवधारणरूपस्यायुषो निरूपणं भवति। आयुःसंज्ञितानां कर्मणां पुद्गलद्रव्यतया आयुःस्थितेर्न द्रव्यस्थितेरत्यन्तभेदः। अथवा अनुभूयमानायुःसंज्ञपुद्गलगलनं मरणं। तानि मरणानि 'सत्तरस' सप्तदश। 'देसिदाणि' कथितानि। 'तित्थंकरेहिं' तीर्थकरैः। 'जिणवयणे' जिनानां वचने। ननु तीर्थकरैः कथितानि इत्यनेनैव गते किं जिनवचनग्रहणेन? अत्र केचित् जिनशब्देन गणधरा

जाता है। इसलिए भवधारणमें कारण आयुकर्मको भवायु कहते हैं।

इस प्रकार आयुके वशसे ही जीव जन्म लेता है और आयुके उदयसे ही जीवित रहता है। पूर्व आयुका विनाश और आगेकी अन्य आयुका उदय होनेपर मरण होता है।

कहा है—आयुके वशसे जीव जन्म लेता है। आयुके उदयमें जीवित रहता है। अन्य आयुका उदय होनेपर अथवा पूर्वआयुका नाश होनेपर मरता है।

अद्धाशब्दसे काल कहा जाता है और आयुशब्दसे द्रव्यकी स्थिति। अतः द्रव्योंके स्थितिकालको अद्धायु कहते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा द्रव्योंकी अद्धायु अनादिनिधन है। और पर्यायार्थिककी अपेक्षा चार प्रकार की है—अनादिअनिधन, सादिअनिधन, अनादिसान्त और सादिसान्त। चैतन्य, रूपादिमत्ता, गतिहेतुता, स्थितिहेतुता आदि सामान्यकी अपेक्षा द्रव्योंकी स्थिति अनादि अनिधन है अर्थात् जीवादिद्रव्योंका अपना-अपना स्वभाव सदासे है और सदा रहेगा अतः वे सब इस दृष्टिसे अनादिअनन्त हैं। केवलज्ञान आदिकी अद्धायु सादिअनिधन है क्योंकि वह प्रकट होकर नष्ट नहीं होता। भव्यत्वकी अद्धायु अनादिसनिधन (सान्त) है क्योंकि भव्यत्व भाव यद्यपि अनादि होता है किन्तु मुक्त होनेपर नष्ट हो जाता है। क्रोध आदि सादि सनिधन हैं।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे स्थिति चार प्रकारकी होती है। इस अद्धायुके द्वारा भवधारणरूप आयुका कथन होता है। जिन कर्मोंकी आयुसंज्ञा होती है वे कर्मपुद्गलद्रव्यरूप होनेसे आयुस्थिति द्रव्यस्थितिसे अत्यन्त भिन्न नहीं है। अथवा जो आयु संज्ञावाले पुद्गल उदयमें आ रहे हैं उनके गल जानेको मरण कहते हैं। वे मरण जिनवचनमें तीर्थङ्करोंने सतरह कहे हैं।

शङ्का—तीर्थङ्करोंने कहे हैं इतना ही कहना पर्याप्त है, जिनवचनके कहनेकी क्या आवश्यकता है?

१. द्रव्यार्था–आ० मु०।

उच्यन्ते। अन्तरेण चशब्द समुच्चयार्थगति। तत्रायं सबन्ध—जिनवचने च किं? सप्तदशमरणानि। एतेन तीर्थकृतो गणधराश्च मरणविकल्पानुपपादितवन्तः। तदुभयवचनसिद्ध प्रमाणमविशङ्कनीयमित्येतदाचष्टे १ आवीचिमरण २ तद्भवमरण ३ अवधिमरण ४. आदिअंताय ५ बालमरणं ६ पंडितमरण ७ आसण्णमरण ८. बालपंडिदं ९ ससल्लमरण १० बलायमरणं ११ वसट्टमरण १२. विप्पाणसमरणं १३ गिद्धपुट्ठमरणं १४. भत्तपच्चक्खाण १५ पाउवगमणमरण १६. इगिणीमरण १७. केवलिमरणं चेति। एतेषां स्वरूपता यथागम संक्षेपतो निरूप्यते॥

वीचिशब्दस्तरगाभिधायी इह तु वीचिरिव वीचिरिति आयुष उदये वर्तते। यथा समुद्रादौ वीचयो नैरन्तर्येणोद्गच्छन्ति एव क्रमेण आयुष्काख्य कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय आवीचिशब्देन भण्यते। आयुष अनुभवनं जीवितं, तच्च प्रतिसमयं जीवितभंगस्य मरण। अतो मरणमपि अत्र आवीचि, उदयादनन्तरसमये मरणमपि वर्तते इति। तत्पुनरावीचिकामरणं अनादिसनिधन भव्यानाम्। ननु च सिद्धानामेव मरणं विच्छित्तिमुपयान्ति नेतरेषा ते च न भव्या। भविष्यत्सिद्धत्वपर्याया हि भव्या। सिद्धास्त्वधिगतसिद्धत्वपर्यायास्तत किमुच्यते भव्यानामनादिसनिधनमिति। 'भवियाणमणादियं मरणं आवीचिगं सणिधणं च' इति यदेवाधिगतभव्यत्वपर्याय द्रव्य तदेवेदमिति कृत्वा भव्यानामित्युक्त इति नियनम्। अभव्याना पुनरुदय प्रति सामान्या-

---

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं है। यहाँ जिनशब्दसे गणधर कहे गये हैं। 'च' शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है। अत: ऐसा सम्बन्ध लेना और जिनवचनमें सतरह मरण कहे हैं। इससे यह बोध होता है कि तीर्थंकरों और गणधरोंने मरणके भेद कहे हैं। अतः उन दोनोंके वचनोंमें सिद्ध होनेसे प्रमाण है उसमें किसी प्रकार शङ्का नहीं करना चाहिए। वे हैं—१. आवीचिमरण, २ तद्भवमरण, ३ अवधिमरण, ४. आदि अन्तमरण, ५ बालमरण, ६. पंडितमरण, ७ आसण्णमरण, ८ बालपंडितमरण, ९ ससल्लमरण, १० बलायमरण, ११ वसट्टमरण, १२ विप्पाणसमरण, १३ गिद्धपुट्ठमरण, १४ भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५. प्रायोपगमन मरण, १६ इगिणीमरण और १७. केवलीमरण। उनका स्वरूप आगमके अनुसार संक्षेपसे कहते हैं—वीचीशब्द तरंगको कहता है। किन्तु यहाँ वीचिके समान ऐसा अर्थ करनेसे वीचीका अर्थ आयुका उदय है। जैसे समुद्र वगैरहमें तरंगे निरन्तर उठा करती हैं उसी प्रकार क्रमसे आयु नामक कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है इसलिए उसके उदयको आवीचि शब्दसे कहा है। आयुके अनुभवनको जीवन कहते हैं। वह प्रतिसमय होता है। उसका भंग मरण है। अतः जीवनकी तरह मरण भी आवीची है क्योंकि आयुका उदय प्रतिसमय होता है अत. प्रत्येक अनन्तर समयमें मरण भी होता है। उसी प्रति समय होनेवाले मरणको आवीचिमरण कहते हैं। वह भव्यजीवोंके अनादिसान्त है।

शङ्का—सिद्धोंके ही मरणका अन्त होता है, दूसरोंके नहीं। किन्तु सिद्ध भव्य नहीं हैं। जिनकी भविष्यमें सिद्धपर्याय होनेवाली है उन्हें भव्य कहते हैं। सिद्ध तो सिद्धपर्याय प्राप्तकर चुके हैं। तब कैसे कहते हैं कि भव्यजीवोंका मरण अनादिसान्त है?

समाधान—ऐसा कहा है कि भव्योंका आवीचिमरण अनादि और सान्त है। अतः जो द्रव्य भव्यत्वपर्यायको प्राप्त था वही यह है ऐसा मानकर भव्योंके अनादिसान्त मरण कहा है ऐसा निश्चित है। अभव्यजीवोंके सामान्य अपेक्षासे आयुका उदय बराबर रहता है अतः उनका आवीचिमरण अनादिनिधन है। किन्तु भवकी अपेक्षा और क्षेत्रादिकी अपेक्षा सादि है। चार

पेक्षयाऽवीचिकमनादिनिधनं । भवापेक्षया क्षेत्रापेक्षया च सादिकं । चतुर्णामायुष्काणां मध्ये द्वयोर्द्वयोः
सत्ता तथापि एकस्यैवायुष उदयः । द्वयोः प्रकृत्योः सत्कर्मता सह भवति । उच्यते—तिर्यङ्मनुष्यायुष्कयोः स
युष्कैः सह सत्कर्मता देवनारकायुष्कयोस्तिर्यङ्मानवायुष्काभ्यां सत्कर्मता । भवतु नाम्नैषा सत्कर्मव्यवस्था ।
रायुष्कप्रकृत्योः किं न युगपदुदयः ? अत्रोच्यते—अनुभूयमानप्रकृतिस्थितीनामुपरि इतरस्यायुषो निषेको यत
न युगपदायुषः प्रकृत्योरुदयः । किं च यस्मादेकस्य जीवस्य द्वयोर्भवयोर्गत्योर्वा न संभवः । भवं गतिं च प्र
अपेक्ष्य आयुष उदयो नान्यथा ततो नायुष्कद्वयोदयः । एवमेकस्यायुष्कर्मण एकैव प्रकृतिरुदेत्येकस्यात्म
स्मादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपामेव मृतिमुपैति । तदेतत्प्रकृतिमरणं कालभेदेन एकस्यापि चतुर्विधं भवति
वीचिकमेव । एवं प्रकृत्यावीचिमरणं व्याख्यानम् । द्वितीयं स्थित्यावीचिकमरणं ।

भवधारणकारणत्वपरिणतानां पुद्गलानां स्नेहादात्मप्रदेशेष्ववस्थितिरित्युच्यते । आत्मनः कषाय
णाम सहकारी पुद्गलानां स्निग्धतायां परिणामिकारणं तु तदेव पुद्गलद्रव्यं । सा चैषा स्थितिरेकादि
सा रा देशानत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणा यावन्तः समयास्तावद्भेदा उत्कर्षस्थितिः । अन्तर्मुहूर्तमस्या परा ।
वीचय इव क्रमेणावस्थितायाः विनाशादात्मनो भवति स्थित्यावीचिकमरणं ।

आयुकर्मोंमेसे यद्यपि एकजीवके दो ही आयुकर्मोंकी सत्ता रहती है (एक जिसे भोगता है
दूसरी जिसे परभवके लिए बांधा है)। तथापि उदय एक ही आयुका होता है। दो प्रकृ
सत्तामें एकसाथ रह सकती है। यही कहते है—तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु सब आयुओंके
सत्तामें रहती है अर्थात् देवायु और नरकायु दूसरी देवायु और नरकायुके साथ सत्तामें
रहती, क्योंकि देव मरकर देव या नारकी नही हो सकता और न नारकी मरकर नारकी
देव होना है।

शङ्का—आयुकर्मोंकी यह सत्कर्मव्यवस्था रहो, किन्तु दो आयुकर्मोंका एकसाथ
क्यों नही होता ?

समाधान—आयुकर्मकी जिस प्रकृतिकी स्थिति अनुभवमें आ रही है और जिस आ
स्थितिका उदय हो रहा है उसकी स्थिति जहाँ समाप्त होती है उससे ऊपर दूसरी आयुके नि
रहते है। अतः जबतक पहली आयुकी स्थिति समाप्त नही होती तबतक दूसरी उदयमें आ
सकती। इसलिए एकसाथ आयुकी दो प्रकृतियोंका उदय नही होता। तथा एक जीवके एक
दो भव या दो गति सम्भव नही है। और भव तथा गतिको लेकर उसके अनुसार आयुका उ
होता है, अन्यथा नही होता, इसलिए भी दो आयुका उदय एकजीवके नही होता। इस प्र
एक आयुकर्मकी एक ही प्रकृति एकजीवके उदयमें आती है अतः एक-एक आयुकर्मके गल
ही मरण होता है। यह प्रकृतिमरण कालभेदसे एक भी जीवके चार प्रकारका होता है।
आवीचिकमरण ही है। इस प्रकार प्रकृति आवीचिमरणका व्याख्यान किया।

दूसरा स्थिति आवीचिकमरण है। भवधारणमें कारणरूपसे परिणत हुए पुद्गलोंके स
वश आत्माके प्रदेशोंमें ठहरनेको स्थिति कहते हैं। आत्माका कषायरूप परिणाम पुद्गलों
स्निग्धताका सहकारी होता है। परिणामी कारण तो स्वयं पुद्गलद्रव्य ही है। यह स्थिति
समयसे लेकर एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते कुछ कम तेतीस सागरोंके जितने समय है उतने
वाली होती है। यह उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। तरं
समान क्रमसे अवस्थित उस स्थितिके विनाशसे आत्माके स्थिति आवीचिकमरण होता है।

भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविगमन तद्भवमरण। तच्चनन्तश प्राप्त जीवेनेति ज्ञातव्य तेन तद्भवमरण न दुर्लभम्।

अनुभवावीचिकामरणमुच्यते—कर्मपुद्गलाना रस अनुभव इत्युच्यते, स च परमाणुपु षोढा वृद्धिहानि-रूपेण वीचय इव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरण।

आयु सज्ञिताना पुद्गलाना प्रदेशा जघन्यनिषेकादारभ्य एकादिवृद्धिक्रमेणावस्थितवीचय इव तेषा गलन प्रदेशावीचिकामरण।

अवधिमरण नाम कथ्यते—यो यादृश मरण साप्रतमुपैति तादृगेव यदि मरण भविष्यति तदवधिमरण। तद्द्विविधं देशावधिमरण सर्वावधिमरण इति।

तत्र सर्वावधिमरण नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति साप्रत प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैस्तथानुभूतमेवायु. प्रकृत्या-दिविशिष्ट पुनर्बध्नाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरण।

यत्साप्रतमुदेत्यायुर्यथाभूत तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरण। एतदुक्त भवति देशत सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषित मरणमवधिमरणमिति। साप्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्य-तमरण उच्यते, आदिशब्देन साप्रत प्राथमिक मरणमुच्यते तस्य अतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्य-तमरण अभिधीयते। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतं साप्रतमुपैति मृति तथाभूता यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यतमरण।

बालमरणमुच्यते—बालस्य मरण बालमरण, स च बाल पञ्चप्रकार अव्यक्तबाल व्यवहारबाल,

---

भवान्तर प्राप्तिपूर्वक उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भवका विनाश तद्भवमरण है। वह तो इस जीवने अनन्तवार प्राप्त किया है। अतः तद्भवमरण दुर्लभ नहीं है।

अनुभव आवीचिमरण कहते हैं—कर्मपुद्गलोंके रसको अनुभव कहते हैं। वह अनुभव परमाणुओंमे छह प्रकारकी वृद्धि हानिके रूपसे तरगोकी तरह क्रमसे अवस्थित है। उसका विनाश अनुभव आवीचिमरण है। आयुसज्ञावाले पुद्गलोंके प्रदेश जघन्य निषेकसे लेकर एक आदि वृद्धिके क्रमसे तरगोकी तरह अवस्थित है उनके गलनेको प्रदेश आवीचिकामरण कहते हैं।

अवधिमरणको कहते हैं—जो वर्तमानमे जैसा मरण प्राप्त करता है यदि वैसा ही मरण होगा तो उसे अवधिमरण कहते हैं। उसके दो भेद हैं—देशावधिमरण और सर्वावधिमरण। वर्तमानमे जो आयु जैसे प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशोको लेकर उदयमे आ रही है वैसी ही प्रकृति आदिको लिए हुए यदि पुन आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्यमें उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधिमरण कहते है। और वर्तमानमे जैसा आयुका उदय होता है वैसा ही यदि एक देश बन्ध करता है वह देशावधिमरण है। इसका अभिप्राय यह है एक देशसे अथवा सर्वदेशसे मर्यादाको लिए हुए सादृश्यसे विशिष्ट मरणको अवधिमरण कहते हैं। वर्तमानमरणसे यदि भाविमरण असमान होता है तो उसे आद्यन्तमरण कहते हैं। यहाँ आदि शब्दसे वर्तमानका प्राथमिकमरण कहा जाता है। उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस उत्तरमरणमे होता है उसे आद्यन्तमरण कहते हैं। वर्तमानमे जिस प्रकारके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा मरण-को प्राप्त होता है यदि एकदेश या सर्वदेशसे उस प्रकारके मरणको प्राप्त नहीं होता तो वह आद्यन्तमरण है।

बालमरणको कहते है—बालके मरणको बालमरण कहते हैं। वह बाल पाँच प्रकारका

ज्ञानबाल: दर्शनबाल:, चारित्रबाल इति। अव्यक्त: शिशु: धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति न च तदाचरणसमर्थशरीर: सोऽव्यक्तबाल:। लोकवेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति शिशुर्वा स व्यवहारबाल:। मिथ्यादृष्टय: [१]सर्वथा तत्त्वश्रद्धानरहिता दर्शनबाला:। वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूना ज्ञानबाला:। अचारित्रा: प्राणभृतश्चारित्रबाला:। एतेषां बालानां मरणं बालमरणम्। एतानि च अतीते काले अनन्तानि [illegible]। इह दर्शनबालो गृहीत: नेतरे बाला: [illegible] सम्यग्दृष्टे: इतरबालत्वे सत्यपि दर्शनपण्डितत्वात् पण्डितमरणमेवेष्यते।

दर्शनबालस्य पुन: संक्षेपतो द्विविधं मरणं। इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च। तत्रेच्छाप्रवृत्तं अग्निना धूमेन, शस्त्रेण, विषेण, उदकेन, मरुत्प्रपातेन उच्छ्वासनिरोधेन अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, क्षुधा, तृषा, जिह्वोत्पाटनेन, विरुद्धाहारसेवनया च बाला मृतिं ढौकन्ते। कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागैषिणां काले अकाले वा अध्यवसानादिना यन्मरणं जिजीविषो: तदनिच्छीयम्। एतैर्बालमरणैर्दुर्गतिगामिनो म्रियन्ते विषयव्यसनासक्ता अज्ञानपटलावगुण्ठिता, ऋद्धिरससातगुरुका:। बहुतीव्रपापकर्मास्रवद्वाराणि बालमरणानि जातिजरामरणव्यसनोत्पादनक्षमाणि ॥

पण्डितमरणमुच्यते—व्यवहारपण्डित:, सम्यक्त्वपण्डित:, ज्ञानपण्डितश्चारित्रपण्डित इति चत्वारो विकल्पा:। लोकवेदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपण्डित: अथवा अनेकशास्त्रज्ञ: शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वित: व्यवहारपण्डित:,

---

है—अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल। अव्यक्त छोटे बच्चेको कहते है। जो धर्म, अर्थ और कामको नही जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करनेमें समर्थ है वह अव्यक्तबाल है। जो लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारोंको नही जानता अथवा इन विषयोंमे शिशु समान है वह व्यवहारबाल है। अर्थ और तत्त्वके श्रद्धानसे रहित सब मिथ्यादृष्टि दर्शनबाल है। वस्तुको यथार्थरूपसे ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे जो हीन है वे ज्ञानबाल हैं। जो चारित्रपालन किये बिना जीते है वे चारित्रबाल है। इन बालोंके मरणको बालमरण कहते है। अतीतकालमे ये बालमरण अनन्त हो चुके हैं। अनन्तजीव इस मरणको प्राप्त होते हैं। यहाँ इनमेसे दर्शनबालका ग्रहण किया है, अन्य बालोंका नही, क्योंकि सम्यग्दृष्टि में इतर बालपना रहते हुए भी दर्शनपण्डितपना रहता है इसलिए उसके पंडितमरण ही स्वीकार किया है।

संक्षेपमे दर्शनबालका मरण दो प्रकार का है एक इच्छापूर्वक, दूसरा अनिच्छापूर्वक। आगसे, धुएँसे, शस्त्रसे, विषसे, जलसे, पर्वतसे गिरनेसे, श्वासके रुकनेसे, अति शीत या अति गर्मी पड़नेसे, रस्सीसे, भूखसे, प्याससे, जीभ उखाड़नेसे और प्रकृति विरुद्ध आहारके सेवनसे बालपुरुष मरणको प्राप्त होते हैं यह इच्छापूर्वक मरण हैं अर्थात् ऐसे उपाय स्वयं करके वे मरते हैं।

किसी निमित्त वश जीवनको त्यागनेकी इच्छा होने पर भी अन्तरगमें जीनेकी इच्छा रहते हुए काल या अकालमें अध्यवसान आदिसे जो मरण होता है वह अनिच्छापूर्वक दर्शनबाल मरण है। जो दुर्गतिमे जानेवाले है, विषयोंमे अतिआसक्त है, अज्ञान पटलसे आच्छादित हैं, ऋद्धि, रस और सुखके लालची है वे इन बालमरणोंसे मरण करते है। ये बालमरण बहुत तीव्र पापकर्मोंके आस्रवके द्वार हैं, जन्म, जरा, मरणके दु:खोंको लानेवाले है।

पण्डितमरणको कहते हैं—इसके चार भेद है, व्यवहार पण्डित, सम्यक्त्व पण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्र पण्डित। जो लोक, वेद और समयके व्यवहारमें निपुण है वह व्यवहारपण्डित

---

१ सर्वथा तत्त्व-आ० मु०।

क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनौपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणतः दर्शनपण्डितः। मत्यादिपञ्चप्रकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणतः ज्ञानपण्डितः। सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातचारित्रेषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तश्चारित्रपण्डितः। इह पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्रपण्डितानां अधिकारः। व्यवहारपण्डितस्य मिथ्यादृष्टेः बालमरणमेतो भवति सम्यग्दृष्टेस्तदेव दर्शनपण्डितमरणं भवति। तद्दर्शनपण्डितमरणं नरके, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिष्केषु, वानव्यन्तरेषु, द्वीपसमुद्रेषु च। ज्ञानपण्डितमरणानि च तेष्वेव। मनुष्यलोके एव केवलमनःपर्ययज्ञानपण्डितमरणं भवति।

ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात्संयतसार्थाद्यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति। तस्य मरणं ओसण्णमरणमिति। ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्थाः, स्वच्छन्दाः, कुशीलाः संसक्ताश्च गृह्यन्ते। तथा चोक्तम्॥

पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा॥
जं सिद्धिपच्छिदादो [2]ओहीणा साधु सत्थादो॥—[ ]

के पुनस्ते? ऋद्धिप्रियाः, रसेष्वासक्ताः, दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः, कषायेषु परिणताः, संज्ञावशगाः, पापश्रुताभ्यासकारिणः, त्रयोदशविधासु क्रियास्वलसाः, सदा संक्लिष्टचेतसः, भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धाः, निमित्तमंत्रौषधयोगोपजीविनः, गृहस्थवैयावृत्त्यकराः, गुणहीना गुप्तिषु समितिषु चानुद्यताः मन्दसंवेगा दशप्रकारे धर्मे अकृतबुद्धयः शबलचारित्रा ओसण्णा इत्युच्यन्ते। एवंभूताः सन्तो मृत्वा वराका भवसहस्रेषु

है। अथवा जो अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता है, सेवा आदि बौद्धिक गुणोंसे युक्त है वह व्यवहारपण्डित है। क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्शनसे जो युक्त है वह दर्शनपण्डित हैं। जो मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञान रूपसे परिणत है वह ज्ञानपण्डित है। जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रमेंसे किसी एक चारित्रका पालक है वह चारित्रपण्डित है। यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र पण्डितोंका अधिकार है। व्यवहारपण्डित मिथ्यादृष्टि का जो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टिका मरण दर्शनपण्डित मरण है। वह दर्शनपण्डित मरण नरकमें भवनवासी देवोंमें, वैमानिक देवोंमे, ज्योतिष्क देवोंमे, व्यन्तर देवोंमें और द्वीप समुद्रोंमे होता है। ज्ञानपण्डित मरण भी इन्हींमे होता है। किन्तु केवलज्ञान और मनःपर्ययज्ञान पण्डितमरण मनुष्य लोकमें ही होता है।

ओसण्णमरणको कहते है—निर्वाण मार्गपर प्रस्थान करनेवाले संयमियोंके सघसे जो हीन हो गया है उसे निकाल दिया गया है वह ओसण्ण कहलाता है। उसके मरणको ओसण्णमरण कहते हैं। ओसण्णके ग्रहणसे पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्तोंका ग्रहण होता है। कहा भी है—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द कुशील और ससक्त ये ओसण्ण होते हैं क्योंकि ये मोक्षके लिए प्रस्थान करनेवाले साधुसघसे बाहर होते हैं।

ऋद्धियोंके प्रेमी, रसोंमें आसक्त, दुःखसे भीत, सदा दुःखसे कातर, कषायोंमे सलग्न, आहारादिसज्ञाके अधीन, पापवर्धक शास्त्रोंके अभ्यासी, तेरह प्रकारकी क्रियाओंमे आलसी, सदा संक्लेशयुक्त चित्तवाले, भोजन और उपकरणोंसे प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मन्त्र, औषध आदिसे आजीविका करनेवाले, गृहस्थोंका वैयावृत्य करनेवाले, गुणोंसे हीन, गुप्तियो और समितियोंमे उदासीन, संवेग भावमें मन्द, दस प्रकारके धर्ममें मनको न लगानेवाले तथा सदोष चारित्रवाले मुनियोंको अवसन्न कहते हैं। इस प्रकारसे रहते हुए ये बेचारे मरकर हजारों भवोंमे भ्रमण करते

१. यथा आ० मु०। २ आहीणा आ०।

भ्रमन्ति। दुःखानि भुक्त्वा भुक्त्वा पार्श्वस्थरूपेण सुचिरं विहृत्यान्ते आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति।

सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य बालपंडितमरणं यतोसावुभयरूपो बालः पंडितश्च। स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्विरमणलक्षणं चारित्रमस्ति दर्शनं च इतश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च[1]। कुतश्चित्सूक्ष्मादसंयमाद-निवृत्त इति चारित्रबालः। तत् बालपंडितमरणं गर्भजेषु पर्याप्तकेषु तिर्यक्षु मनुजेषु भवति। दर्शनपंडितमरणं तु तेषु देवनारकेषु च।

सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति। मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्यं। द्रव्यशल्येन सह मरणं पंचानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च। ननु द्रव्यशल्यं सर्वत्रास्ति तत्किमुच्यते स्थावराणामिति। भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्ष्यते। एतदुक्तं—सम्यक्त्वातिचाराणां दर्शनशल्यत्वात्सम्यग्दर्शनस्य च स्थावरेषु अभावात् त्रसेषु च विकलेंद्रियेषु। इदमेव स्यादनागते काले इति मनसः प्रणिधानं निदानं न च तदसंज्ञिष्वस्ति। मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, उन्मार्गप्ररूपणं, मार्गस्थानां भेदकरणं च मिथ्यादर्शनशल्यानि।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रशस्तमप्रशस्तं भोगकृतं इति। परिपूर्णं संयममाराधयितुकामस्य जन्मांतरे पुंस्त्वादिप्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकषायप्रेरितस्य कुलरूपादिप्रार्थनमनागतभवविषयं अप्रशस्तं निदानं। अथवा

है। किन्तु दुःख उठाते-उठाते पार्श्वस्थरूपमें चिरकाल तक विहार करके अन्तमें आत्माकी शुद्धि करके यदि मरते है तो प्रशस्तमरण ही होता है।

सम्यग्दृष्टि संयतासंयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं क्योंकि यह बाल और पण्डित दोनों ही होता है। इसके स्थूल हिंसा आदिसे विरतिरूप चारित्र और दर्शन दोनों होते हैं अतः यह चारित्रपण्डित भी है और दर्शनपण्डित भी है। किन्तु कुछ सूक्ष्म असंयमसे निवृत्त नहीं होता, इसलिए चारित्रमें बाल है।

यह बालपण्डित मरण गर्भज और पर्याप्तक तिर्यञ्चों तथा मनुष्योंमें होता है। दर्शनपण्डित मरण तो इनमें भी होता है और देव तथा नारकियोंमें भी होता है।

सशल्य मरणके दो भेद हैं क्योंकि शल्यके दो भेद हैं—द्रव्यशल्य और भावशल्य। मिथ्यादर्शन, माया और निदान इन शल्योंका कारण जो कर्म है उस कर्मको द्रव्यशल्य कहते हैं। द्रव्यशल्यके साथ मरण पाँचों स्थावरों, असंज्ञियों और त्रसोंका होता है।

शंका—द्रव्यशल्य तो सर्वत्र है तब स्थावरोंके क्यों कहा?

समाधान—यहाँ भावशल्यसे रहित द्रव्यशल्यकी अपेक्षा है। यह कहा है कि सम्यग्दर्शनके अतिचारोंका कारण दर्शनशल्य है और सम्यग्दर्शन स्थावरोंमें तथा विकलेन्द्रिय त्रसोंमें नहीं होता।

आगामीकालमें यही होना चाहिए इस प्रकारके मनके उपयोगको निदान कहते हैं। असंज्ञियोंमें इस प्रकारका निदान नहीं होता। मोक्षमार्गको दोष लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका कथन करना, या मोक्षमार्गका कथन न करना, और जो मोक्षमार्गी हैं उनमें भेद डालना ये मिथ्यादर्शनशल्य हैं। उनमेंसे निदानके तीन भेद हैं—प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत। परिपूर्ण संयमकी आराधना करनेकी इच्छासे परभवमें पुरुषत्व आदि प्राप्तिकी प्रार्थना प्रशस्त

---

१. अथवा। स्थूलवधादिभ्यो विरतिभावः शीलकः बुन-आ०।

क्रोधाविष्टस्य स्वशत्रुवधप्रार्थना वशिष्ठस्येवोग्रसेनोन्मूलने । इह परत्र च भोगा अपि इत्थंभूता अस्माद् व्रतशीलादिकाद् भवन्त्विति मनःप्रणिधानं भोगनिदानं । असंयतसम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निदानशल्यं भवति । पार्श्वस्थादिरूपेण चिरं विहृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरणं तस्य भवति । एतच्च संयते, संयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति ।

बलायमरणमुच्यते—विनयवैयावृत्यादावकृतादरं, प्रशस्तयोगोद्वहनालसं, प्रमादवान्व्रतेषु, समितिषु, गुप्तिषु च स्ववीर्यनिगूहनपरं, धर्मचिंतायां निद्रया घूर्णित इव ध्यानतमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरणं बलायमरणं । सम्यक्त्वपंडिते, ज्ञानपंडिते चरणपंडिते च बलायमरणमपि[१] संभवति । ओसण्णमरणं सशल्यमरणं च यदभिहितं तत्र नियमेन बलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि बलायमरणं भवति । निःशल्यं संविग्नो भूत्वा चिरं रत्नत्रयप्रवृत्तस्य संस्तरमुपगतस्य शुभोपयोगात्पलायमानस्य भावस्य शुभस्यानवस्थानात् ।

वसट्टमरणं नाम—आर्ते रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं । तत्पुनश्चतुर्विधं—इंद्रियवसट्टमरणं, वेदणावसट्टमरणं, कसायवसट्टमरणं, नोकसायवसट्टमरणं इति । इंद्रियवसट्टमरणं यत् तत्पंचविधं इंद्रियविषयापेक्षया । सुरैर्नरैस्तिर्यग्भिरजीवैश्च कृतेषु ततविततघनसुषिरशब्देषु मनोज्ञेषु रक्तोऽमनोज्ञेषु द्विष्टो मृतिमेति । यथा चतुःप्रकारे आहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणं, पूर्वोक्तानां सुरनरादीनां गंधे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरणं, तेषामेव

निदान है। मानकषायसे प्रेरित होकर आगामी भवमें उच्चकुल, सुन्दररूप आदिकी प्रार्थना अप्रशस्त निदान है। अथवा क्रोधके आवेगमें आकर अपने शत्रुके वधकी प्रार्थना, जैसे वशिष्ठने उग्रसेनके विनाशकी प्रार्थना की थी, अप्रशस्त निदान है। इस व्रतशील आदिके प्रभावसे इस भवमें और परभवमें इस प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार मनके संकल्पको भोगनिदान कहते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टी अथवा संयतासयतके निदानशल्य होता है। चिरकालतक पार्श्वस्थ आदि साधुके रूपमें विहार करनेके पश्चात् भी जो आलोचना किये बिना मर जाता है उसका वह मायाशल्य मरण होता है। ऐसा मरण संयत, संयतासयत और अविरत सम्यग्दृष्टिमें होता है।

बलायमरणको कहते हैं—जो विनय वैयावृत्य आदिमें आदरभाव नहीं रखता, प्रशस्त योगके धारणमें आलसी है, प्रमादी है, व्रतोंमें, समितियोंमें और गुप्तियोंमें अपनी शक्तिको छिपाता है, धर्मके चिन्तनमें निद्राके वशीभूत जैसा रहता है, उपयोग न लगनेसे ध्यान नमस्कार आदिसे दूर भागता है, उसका मरण बलायमरण है। दर्शनपण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्रपण्डितके बलायमरण भी सम्भव है। ओसण्णमरण और सशल्यमरणमें नियमसे बलायमरण होता है। उनके अतिरिक्त भी बलायमरण होता है। जो शल्यरहित विरक्त होकर चिरकालतक रत्नत्रयका पालन करता है किन्तु मरते समय सस्तरपर आरूढ होकर शुभोपयोगसे दूर भागता है, उसके शुभभावके स्थिर न रहनेसे बलायमरण होता है।

वसट्टमरण कहते हैं—आर्त और रौद्रध्यानपूर्वक मरणको वसट्टमरण कहते हैं। उसके चार भेद हैं—इन्द्रियवसट्टमरण, वेदनावसट्टमरण, कषायवसट्टमरण, और नोकसायवसट्टमरण। इन्द्रियवसट्टमरण इन्द्रियोंके विषयोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। देवों, मनुष्यों, पशु-पक्षियों और अजीवोंके द्वारा किये गये तत, वितत, घन, और शुषिर शब्दोंमें, मनोज्ञ शब्दोंमें राग और अमनोज्ञ शब्दोंमें द्वेष करते हुए मरण होता है। यह श्रोत्रेन्द्रियवसट्टमरण है। चार प्रकारके

१. मरणं भवति अ० ।

स्पर्शे संस्थाने वा [illegible] मरणं, [illegible] इति इन्द्रियवशार्तमरणविकल्पा ।

वेदनावशार्तमरणं द्विभेदं सातवेदनावशार्तमरणमसातवेदनावशार्तमरणमिति । शारीरे मानसे वा दुःखे उपयुक्तस्य मरणं दुःखवशार्तमरणमुच्यते । यो दुःखेन मोहमुपागतस्तस्य मरणमिति यावत् । [illegible] शारीरे मानसे वा सुखे उपयुक्तस्य मरणं सातवशार्तमरणम् ।

कषायभेदात्कषायवशार्तमरणं चतुर्विधं भवति । आत्मनः परस्य उभयस्य वा मारणार्थो [illegible] भवति । तस्य क्रोधवशार्तमरणं भवति । मानवशार्तमरणमष्टविधं भवति । कुलेन, रूपेण, बलेन, श्रुतेन, ऐश्वर्येण, लाभेन, प्रज्ञया, तपसा वा आत्मानमुन्नतं [illegible] [illegible] कुले समुत्पन्नोऽस्मीति मन्यमानस्य मृतिः कुलमानवशार्तमरणम् । [illegible] प्रत्यग्रयौवन [illegible] सम्मर्दकरूप इति भावयतो मृतिः रूपवशार्तमरणं । वृक्षपर्वताद्युत्पाटनसमर्थोऽहं योधसमर्थः, मित्राणां च बलं ममास्ति इति बलाभिमानोऽहमिति मानवशार्तमरणं । बहुपरिवारो बहुशासनोऽहं इति ऐश्वर्यमानोन्मत्तस्य मरणं ऐश्वर्यमानवशार्तमरणं । लोकवेदसमयसिद्धान्तशास्त्राणि शिक्षितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरणं श्रुतमानवशार्तमरणमुच्यते । तीक्ष्णा मम बुद्धिः सर्वत्राप्रतिहता इति प्रज्ञामदस्य मरणं प्रज्ञामानवशार्तमरणमुच्यते । [illegible]

आहारमें राग या द्वेष करते हुए मरण रसनेन्द्रियवशार्तमरण है। पूर्वोक्तरूप मनुष्य आदिकी गन्धमें रागद्वेष करते हुए मरण घ्राणेन्द्रियवशार्तमरण है। उन्हींके रूप आकार आदिमें रागद्वेष करनेवालेका मरण चक्षुइन्द्रियवशार्तमरण है। उन्हींके स्पर्शमें रागद्वेष करनेवालेका मरण स्पर्शनेन्द्रियवशार्तमरण है। इस प्रकार इन्द्रिय और मनके वशसे होनेवाले आर्तध्यानपूर्वक मरणके भेद हैं।

वेदनावशार्तमरणके संक्षेपसे दो भेद हैं—सातवेदनावशार्तमरण और असातवेदनावशार्तमरण। शारीरिक अथवा मानसिक दुःखमें उपयोग रहते हुए होनेवाले मरणको दुःखवशार्तमरण कहते हैं। अर्थात् जो दुःखमें मोहको प्राप्त हुआ उसका मरण दुःखवशार्तमरण है। तथा शारीरिक अथवा मानसिक सुखमें उपयोग रहते हुए होनेवाला मरण सातवशार्त मरण है।

कषायके भेदसे कषायवशार्तमरणके चार भेद होते हैं। अपनेमें, दूसरेमें अथवा दोनोंमें मारनेके लिए उत्पन्न हुआ क्रोध मरणका कारण होता है। वह क्रोधवशार्तमरण है। मानवशार्तमरणके आठ भेद हैं—कुल, रूप, बल, शास्त्र, ऐश्वर्य, लाभ, बुद्धि अथवा तपसे अपनेको बड़ा मानते हुए मरण होनेकी अपेक्षा ये आठ भेद होते हैं। मैं अति प्रसिद्ध विशाल उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा मानते हुए होनेवाले मरणको कुलमानवश आर्तमरण कहते हैं। मेरा शरीर सशक्त पाँच इन्द्रियोंसे पूर्ण है, तेजस्वी और नवयौवनसे सम्पन्न है, मेरा रूप समस्त जनताके चित्तका मर्दन करता है, ऐसी भावना होते हुए जो मरण होता है वह रूपवश आर्तमरण है। मैं वृक्ष पर्वत आदिको उखाड़नेमें समर्थ हूँ, लड़नेमें समर्थ हूँ, मेरे साथ मित्रोंका बल है, इस प्रकार बलके अभिमानको धारण करते हुए होनेवाला मरण बलमानवश आर्तमरण है। मैं बहुत परिवारवाला हूँ मेरा शासन बहुतोंपर है इस प्रकार ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्तका मरण ऐश्वर्यमान वशार्तमरण है। मैंने लोक, वेद, समय और सिद्धान्त सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़ा है इस प्रकार शास्त्रके मानसे उन्मत्तका मरण श्रुतमानवश आर्तमरण है। मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सब विषयोंमें उसकी

---

१. वा मरणवशो भवति अ० । वा मारणवशो भवति आ० ।—वशोऽपि मरणवशः भ—मु० ।

मम सर्वत्र लाभो जायते इति लाभमान भावयतो मरण लाभवशार्तमरणम् । तपो मयानुष्ठीयते अन्यो मत्सद्-
शश्चरणे नास्ति इति सकल्पयतस्तपोमानवशार्तमरण भवति । माया पचविकल्पा निकृति, उपधिः, साति-
प्रयोग, प्रणिधि- प्रतिकुचनमिति । अतिसंधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वचना निकृति- उच्यते ।
सद्भाव प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिसंज्ञिता माया । अर्थेषु विसवादः स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्या-
पहरण, दूषण, प्रशसा वा सातिप्रयोग । प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमानं; सयोजनया द्रव्यविनाशन-
मिति प्रणिधिमाया । आलोचन कुर्वतो दोषविनिगूहन प्रतिकुचनमाया । एवविध मायावशार्तमरणं । उपकरणेषु,
भक्तपानक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छा मूर्च्छा च वहतो मरण लोभवशार्तमरण । हास्यरत्यरतिशोक-
भयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुसकवेदे मूढमतेर्मरण नोकषायवशार्तमरण । नोकषाय [1]वशार्तमरणमुपगतो जायते मनुजतिर्य-
योनिषु, असुरेषु, कदर्पेषु, किल्बिषिकेषु च । मिथ्यादृष्टेरेतदेव बालमरण भवति । दर्शनपंडितोऽपि अविरत-
सम्यग्दृष्टि सयतासंयतोऽपि वशार्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपडितं भवति दर्शनपडित वा ।

अप्रतिषिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरणे 'विप्पाणसगिद्धपुट्ठमितिसज्ञिते कृते प्रवर्तेते । दुर्भिक्षे, कातारे,
दुरुत्तरे, पूर्वशत्रुभये, दुष्टनृपभये, स्तेनभये, तिर्यगुपसर्गे एकाकिन सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषण च

वेरोक गति है इस प्रकार प्रज्ञाके मदसे मत्तके मरणको प्रज्ञामानवश आर्तमरण कहते हैं। व्यापार
करनेपर मुझे सर्वत्र लाभ होता है इस प्रकार लाभका मान करते हुए होनेवाले मरणको लाभ-
मानवशार्तमरण कहते हैं। मैं तप करता हूँ, तपश्चरणमें मेरे समान दूसरा नहीं है। ऐसा सकल्प
करते हुए होनेवाले मरणको तपमानवशार्तमरण कहते हैं।

मायाके पाँच भेद हैं—निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणधि और प्रतिकुञ्चन। दूसरोंकी
गुप्त बातोंको खोजमें कुशलता, तथा धन अथवा किसी कार्यकी अभिलाषावालेको ठगना निकृति
है। समीचीन भावको छिपाकर धर्मके बहानेसे चोरी आदि दोषोंमें प्रवृत्तिको उपधिनामक माया
कहते है। अर्थ (धन) के विषयमें झगड़ा करना, अपने हाथमें रखे द्रव्यको हर लेना, प्रयोजनके
अनुसार दोष लगाना या प्रशसा करना सातिप्रयोग माया है। असली वस्तुमें उसके समान नकली
वस्तु मिलाना, कमती बढ़ती तोलना, मिलावटके द्वारा द्रव्यका विनाश करना ये प्रणिधिमाया
है। आलोचना करते समय दोषोंको छिपाना प्रतिकुंचन माया है। इस प्रकारके मायाचारपूर्वक
होनेवाले मरणको मायावशार्तमरण कहते है। उपकरणोंमें, खानपानके क्षेत्रोंमें, शरीरमें, निवास
स्थानोंमें इच्छा और ममत्व रहते हुए होनेवाले मरणको लोभवशार्तमरण कहते है। हास्य, रति,
अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुसकवेद और पुरुषवेदको लेकर जिसकी बुद्धि मूढ हो
गई है उसका मरण नोकषायवशार्तमरण है। नोकषायवशार्तमरणसे मरा हुआ प्राणी मनुष्य
योनि, तिर्यञ्चयोनि, तथा असुर, कन्दर्प और किल्बिषजातिके देवोंमें उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि-
के होनेवाला यही मरण बालमरण होता है। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयतके
भी वशार्तमरण होता है उनका वह मरण बालपण्डितमरण अथवा दर्शनपण्डितमरण होता है।

पिप्पणास और गिद्धपुट्ठ नामके दो मरण ऐसे है जिनका निषेध भी नहीं है अनुज्ञा भी
नहीं है। दुर्भिक्षमें, भयानक जंगलमें, पूर्वशत्रुका भय होनेपर, या दुष्ट राजाका भय होनेपर,
चोरका भय होनेपर, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होनेपर जिसे अकेले सहन करना अशक्य है, या ब्रह्मचर्य-

---

१. वशाति-अ० आ० ज० ।

कोऽत्रभरः पंचस्वस्य । प्राणिनः प्राणेभ्यो वियोगो मरणं इति चेत्तदेकविधमेव सामान्येन । प्राणभेदापेक्षयेति दशप्रकारतापद्यते । उदयप्राप्तकर्मपुद्गलगलनं मरणं इति यदि गृह्यते प्रतिसमयं गलनान्न पंचता । गुणभेदापेक्षया जीवानां पंचधा व्यवस्थाप्य तत्सम्बन्धेन पंचविधं मरणमुच्यते ।

अत्रान्ये व्याख्या—प्रशस्ततमं, प्रशस्ततरं, ईषत्प्रशस्तं, अविशिष्टं, अविशिष्टतरं इति पंडितपंडित-मरणादीनि केचिद् । व्याचक्षते । पंडितशब्दः प्रशस्तमित्यस्मिन्नर्थे क्व प्रयुक्तो दृष्टो येनैवं व्याख्यायते ? किं च आगमान्तरानुगतं चेदं व्याख्यानं ।

ववहारे सम्मत्ते णाणे चरणे य पंडिदस्स तहा ।
पंडिदमरणं भणिदं चदुव्विधं समणवदि हि ॥' [ ]

इति चरणा चतुःप्रकाराः पंडिता उपदर्शिताः । तेषां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनचारित्रेषु स पंडितपंडित इत्युच्यते । एतत्पांडित्यप्रकर्षरहितं पांडित्यं यस्य स पंडित इत्युच्यते । व्याख्यातं बाल्यं पांडित्यं च यस्य स भवति बालपंडितः तस्य मरणं बालपंडितमरणं । यस्मिन्न सम्भवति पांडित्य चतुर्णामेकं असौ बालः । सर्वतो न्यूनो बालबालः तस्य मरणं बालबालमरणं ।

अथ के पंडितपंडिता येषां मरणं पंडितपंडितमिति भण्यते इत्यारेकायामाह—

पडिदपंडितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ॥२७॥

जीवोंकी अपेक्षा पाँच भेद कैसे संभव हैं ? यदि कहोगे कि प्राणोका प्राणोंसे वियोग मरण है तो वह सामान्यसे एक ही प्रकार का है । प्राणभेदकी अपेक्षा लेना हो तो दस भेद हो सकते हैं ? यदि उदय प्राप्त कर्म पुद्गलोंके गलनेका नाम मरण है तो कर्म पुद्गलोका गलन तो प्रति समय होता है अतः पाँच भेद नहीं बनते ?

समाधान—गुणभेदकी अपेक्षा जीवोंके पाँच भेद करके उनके सम्बन्धसे मरणके पाँच भेद कहे हैं।

अन्य व्याख्याकार पण्डितपण्डितमरण आदि पाँच मरणोंको प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत् प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर कहते हैं । हम उनसे पूछते हैं कि पण्डित शब्दका प्रशस्त अर्थमें प्रयोग कहाँ देखा है जिससे आप ऐसी व्याख्या करते हैं । तथा यह व्याख्यान अन्य आगमोंके अनुकूल नहीं है ।

आगममें कहा है—व्यवहारमें, सम्यक्त्वमें, ज्ञानमें और चारित्रमें पण्डितके मरणको पण्डित-मरण कहते हैं अतः उसके चार भेद हैं । इस प्रकार चार प्रकारके पण्डित कहे हैं । उनके मध्यमें जिसका पाण्डित्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें अतिशयशाली है उसे पण्डितपण्डित कहते हैं । उसके पाण्डित्यके प्रकर्षसे रहित जिसका पाण्डित्य होता है उसे पण्डित कहते हैं । पूर्वमें व्याख्यात बालपन और पाण्डित्य जिसमें होते हैं वह बालपण्डित है । उसका मरण बालपण्डितमरण है । और जिसमें चारों प्रकारके पाण्डित्यमें से एक भी पाण्डित्य नहीं है वह बाल है और जो सबसे हीन है वह बालबाल मरण है ॥२६॥

वे पण्डितपण्डित कौन हैं जिनका मरण पण्डितपण्डित कहा जाता है ? ऐसी शङ्का होनेपर आचार्य कहते हैं—

पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो। सामान्यभूतेविशेषमृति कर्मतया निर्दिष्टा पंडितपंडितमरणमिति। यथा गोणीव पुट्ट इति। 'खीणकसाया', कषन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कषायाः। अथवा कषायशब्देन वनस्पतीनां त्वक्पत्रमूलफलरस उच्यते। स यथा वस्त्रादीनां वर्णमन्यथा संपादयति एवं जीवस्य क्षमामार्दवार्जवसंतोषाख्यगुणान्विनाशयन्यथा व्यवस्थापयतीति क्रोधमानमायालोभाः कषाया इति भण्यते। ते क्षीणा कषाया येषां ते क्षीणकषायाः। द्रव्यकर्मणां कषायवेदनीयानां विनाशात्तन्मूला अपि भावकषाया प्रलयमुपगता इति क्षीणकषाया इति भण्यन्ते। केवलमसहायं ज्ञानं इंद्रियाणि मनःप्रकाशादिकं चानपेक्ष्य युगपदशेषद्रव्यपर्यायभासनसमर्थं सदत[1] प्रवर्तते तदेषामस्ति ते केवलिनः। यद्यपि केवलज्ञानवस्तुसामान्ये न प्रवर्तते केवलिशब्दस्तथापि सयोगकेवलिनो मरणस्यासंभवादयोगकेवलिनो ग्रहणं। अत्रान्ये क्षीणकषाया श्रुतकेवलिनश्चेति व्याचक्षते। तेषां तद्व्याख्यानमसमंजसं श्रुतशब्दमंतरेण केवलिशब्दस्य क्वचिदप्यागमे समस्तश्रुतस्त्वत्यपि प्रयोगादर्शनात्। प्रसिद्धशब्दार्थासंभवो यदि स्यात् यथा कथंचिदन्योऽर्थो व्याख्येयः स्यात्। संभवति प्रतीतेऽर्थे कथं तत्परित्यागः। अपि च पाण्डित्यप्रकर्षः क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रापेक्षस्तत्र संनिहितो न श्रुतकेवलिनि। विरदाविरदा जीवा स्थूलकृतात्प्राणनिपातादेर्व्यावृत्ता इति विरता सूक्ष्मात्ताव्यावृत्तेरविरता। विरता यदि कथमविरता अविरताश्चेत्कथं विरता इति विरोधाशंका न कार्या। विरत-

गा०—पण्डितपण्डितमरणसे क्षीण कषाय और अयोगकेवली मरते हैं। विरताविरत जीव तीसरे मरणसे मरते हैं ॥२७॥

टी०—'पण्डितपण्डितमरण मरते हैं' यहाँ पण्डितपण्डित नामक विशेष मरणको 'मरते हैं' इस सामान्य मरणके कर्मरूपसे कहा है। जैसे बैलके समान पुष्टको सामान्य पुष्ट शब्दसे कहा है। जो 'कषन्ति' अर्थात् आत्माका घात करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं। कषाय शब्दसे वनस्पतियोंके छाल, पात्र, जड़ और फलका रस कहा जाता है। वह रस जैसे वस्त्रादिके रंगको बदल देता है इसी प्रकार जीवके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष नामक गुणोंको नष्ट करके अन्यथा कर देते हैं इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभको कषाय कहते हैं। वे कषाय जिनकी क्षीण हो गई हैं—नष्ट हो गई हैं वे क्षीणकषाय होते हैं। कषाय वेदनीय नामक द्रव्यकर्मोंका विनाश होनेसे उनका निमित्त पाकर होने वाली भावकषाय जिनकी नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय कहे जाते हैं। केवल अर्थात् असहाय ज्ञान, जो इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश आदि की अपेक्षा न करके एक साथ समस्त द्रव्य-पर्यायोंको जाननेमें समर्थ हैं वह केवलज्ञान है। वह जिनके हैं वे केवली होते हैं। यद्यपि केवली शब्द केवलज्ञान रूप वस्तुसामान्यमें प्रवृत्त नहीं होता, तथापि सयोगकेवलीका मरण असम्भव होनेसे अयोगकेवलीका ग्रहण होता है। दूसरे व्याख्याकार 'क्षीणकषाय और श्रुतकेवली' ऐसा व्याख्यान करते हैं। उनका वह व्याख्यान ठीक नहीं है। श्रुत शब्दके बिना केवली शब्दका प्रयोग किसी भी आगममें समस्त श्रुतधारीके लिए नहीं देखा गया। यदि शब्दका प्रसिद्ध अर्थ असम्भव ही हो तो जिस किसी तरह अन्य अर्थ किया जा सकता है। जब सम्भव अर्थ प्रतीतिसिद्ध है तो उसे कैसे छोड़ा जा सकता है? दूसरे, पाण्डित्यका प्रकर्ष वहाँ क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और क्षायिक चारित्रकी अपेक्षा लिया गया है, वह श्रुतकेवलीमें नहीं है।

जो स्थूल हिंसा आदिसे निवृत्त होनेसे विरत और सूक्ष्म हिंसा आदिसे अनिवृत्त होनेसे अविरत होते हैं वे जीव विरताविरत होते हैं। यदि वे विरत हैं तो अविरत कैसे हैं और अविरत

१ सदत–अ० ब० मु०।

त्वाविरतत्वयोः अपेक्षाभेदाद्विरोधो नास्पदं बध्नाति । यथा द्रव्यपर्यायरूपापेक्षे नित्यानित्यत्वे एकद्रव्याधि-करणे एकस्मिन्नपि समये न विरोधमुपयातः । अथवाऽप्रत्याख्यानावरणानां क्षयोपशमे सति स्थूलात्प्राणातिपाता-देर्विरतोऽस्मि न सूक्ष्मादिभ्य इत्येक एव परिणाम उपजायते । विरोधश्च नाम अनेकाधिकरणः यथा शीतोष्णस्पर्शा-दीनां । द्रव्यभावप्राणधारणाज्जीवा इति निरूप्यते । 'तइएण' तृतीयेन मरणेन म्रियन्ते । वस्तुपरिणाम-वृत्तिक्रमो यदि स्यात्तदा गण्यमाने[1] द्वित्वं त्रित्वं वा प्रतिपद्येरन् । गुणस्थानापेक्षाया सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरेव तृती-यता न संयतासंयतस्य तत्किमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणस्य तु सामान्यापेक्षया एकत्वमेवेति न तृतीयता । विशेषापेक्षायां च अतीतानां च अनन्त्यादनागतानां चातिबहुत्वसंभवात् । अत्रोच्यते-सूत्रनिर्दिष्टक्रमापेक्षया तृतीयता ग्राह्या ।

विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीवद्रव्यस्य गते जीवा इति सूत्रे वचनमपार्थकमिति चेन्ना-नर्थकं मतान्तरनिवृत्तिपरत्वात् । सांख्या हि प्रकृतिधर्मतां मरणस्याभ्युपयन्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात् । तत्तथा न, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वादात्मन । अत्रोच्यते—पण्डितपण्डितमरणादनन्तरं पण्डितमरणं तदुल्लंघ्य

हैं तो विरत कैसे है इस प्रकारकी विरोधकी आशङ्का नहीं करना चाहिए । अपेक्षा भेदसे विरतपने और अविरतपनेमें विरोधको कोई स्थान नहीं है । जैसे एक द्रव्यमें एक ही समयमें द्रव्यरूपकी अपेक्षा नित्यपना और पर्यायरूपकी अपेक्षा अनित्यपनामें कोई विरोध नहीं आता । अथवा अप्रत्या-ख्यानावरण कषायोंका क्षयोपशम होनेपर स्थूल हिंसा आदिसे मैं विरत हूँ किन्तु सूक्ष्म हिंसादिसे विरत नहीं हूँ इस प्रकारका एक ही परिणाम होता है । विरोध तो उनमें होता है जो एक आधारमें न रहकर अनेक आधारोंमें रहते हैं जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श आदिमें विरोध है । अस्तु,

द्रव्यप्राण और भावप्राणोंको धारण करनेसे जीव कहे जाते हैं । विरताविरत जीव तीसरे मरणसे मरते हैं ।

शंका—यहाँ तृतीयसे यदि वस्तुके परिणामोंकी वृत्तिका क्रम लेते हैं तो गणना करनेपर दोपना या तीनपना प्राप्त होता है । गुणस्थानकी अपेक्षा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही तीसरा है, संयतासंयत नहीं है तब कैसे तीसरा कहते हैं । तथा सामान्यकी अपेक्षा मरण तो एक ही है, तीसरापना कैसे ? विशेषकी अपेक्षा अतीतमरण अनन्त हैं और भाविमरण उससे भी अधिक सम्भव हैं ?

समाधान—सूत्रमें जिस क्रमसे मरणोंका निर्देश किया है उसकी अपेक्षा तीसरा लेना चाहिए ।

शंका—विरताविरत परिणाम विशेषका निर्देश करनेसे ही जीवद्रव्यका ज्ञान हो जाता है तब गाथामें जीवा पद व्यर्थ है ?

समाधान—व्यर्थ नहीं है यह मतान्तरकी निवृत्तिके लिए है । सांख्य मतवाले मरणको प्रकृतिका धर्म मानते हैं क्योंकि उनके मतमें पुरुष सर्वथा नित्य है । किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है ।

शंका—पण्डितपण्डितमरणके अनन्तर पण्डितमरण आता है । उसे छोड़कर तीसरे मरणका

---

१. गणने आ० मु० ।

तृतीयस्य स्वामित्वं कस्मात्प्रदर्शितं क्रमोल्लंघने प्रयोजनं वाच्यम् ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टजघन्यपंडितत्वमध्य-वर्तिपंडितत्वमिदमिति ख्यापनायोभयावधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पंडितमरणे बहुवक्तव्यमस्तीति तत्स्थाप्य अल्पवक्तव्यतया बालपंडितमेव प्राग् व्याचष्टे ।

कतिविधं पंडितमरणं किं स्वामिकं वा इत्यारेकायां इयं गाथा पायोपगमणमरणं इत्यादिका—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥२८॥

पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणं । इतरमरणयोरपि पादाभ्यामुपगमन-मस्तीति चेद्विरूढानुसारतो [illegible] मरणविशेषे वक्ष्यमाणलक्षणे रूढिवशेनायं प्रवर्तते, रूढौ च क्रिया व्यु-त्पत्त्यर्थैव । यथा गच्छतीति गौरिति शब्दव्युत्पत्तौ क्रियमाणायामपि गमनक्रियानुपात्तेति

स्वामी क्यों कहा ? क्रमका उल्लंघन करनेका प्रयोजन क्या है यह कहना चाहिए ?

समाधान—उत्कृष्ट और जघन्य पंडितत्वके मध्यमें रहनेवाला पण्डितत्व है यह कहनेके लिए दोनों अवधियोंको बतलाया है। अथवा पण्डितमरणके सम्बन्धमें बहुत कहना है इसलिए उसे अलग रखकर थोड़ा कथन होनेके कारण बालपण्डितमरण को ही पहले कहा है ॥२७॥

पण्डितमरणके कितने भेद हैं और वह किसके होता है, यह कहते हैं—

गाथा—पादोपगमन मरण भक्तप्रतिज्ञा और इंगिणीमरण इस प्रकार पण्डितमरण तीन प्रकार का है। वह आगममें कहे अनुसार आचरण करनेवाले साधु के होता है ॥२८॥

टी०—पाद अर्थात् पैरों से, उपगमन पूर्वक होनेवालेको पादोपगमन मरण कहते हैं।

शंका—इन दोनों मरणोंमें भी पैरोंसे उपगमन होता है अतः तीन भेद नहीं बनते ?

समाधान—यह पादोपगमन रूढ़िसे मरण विशेषमें प्रवृत्त होता है, इसका लक्षण आगे कहेंगे। रूढ़ शब्दोंमें की गई क्रिया शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए ही होती है। जैसे, जो चलती है वह गौ है। इस प्रकार गौ शब्दकी व्युत्पत्ति करने पर भी यद्यपि यह व्युत्पत्ति गमन क्रियाको

१० [illegible] गाथा आती है उसका नम्बर भी २८ है। [illegible] इस २८ नम्बरकी उत्थानिका है। तथा ऊपर टीकामें [illegible] टीकाका भाग [illegible] है। गाथा इस प्रकार है—

[illegible]

अर्थ—[illegible] पंडित मरण, [illegible] मरण और [illegible] पंडित मरण इन तीन मरणोंको जिनदेव [illegible]

[illegible] सम्बन्ध है और न टीकाका कोई सम्बन्ध है। [illegible] किया भी है—[illegible]

योगाभ्येन न शक्यन्त इति भण्यते। अथवा पाउग्गगमणमरणं इति पाठः। भवान्तरप्राप्तियोग्यं संहननं संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते। तस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन निर्वर्त्यं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमण-मरणमिति। भज्यते सेव्यते इति भक्तं, तस्य पइण्णा त्यागो भत्तपइण्णा। इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसम्भवे-ऽपि रूढिवशान्मरणविशेषे एव प्रयोगः प्रवर्तते। इंगिनीशब्देन इंगितमात्मनो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्तमानं मरणं इंगिनीमरणं। तिविहं त्रिविधं त्रिप्रकारं। पंडितमरणं कस्य भवतीति? 'साधुस्स' साधोः 'जधुत्तचारिस्स' यथा येन प्रकारेण उक्तं सूत्रे तथा चरितुं शीलं यस्य साधोस्तस्येति यावत्। सदा-चाराः सर्व एव अत्र संयतासंयताश्च लोके साधुशब्दवाच्याः, इति संयतानां ग्रहणार्थं यथोक्तचारित्वविशेषणं कृतम्।

इतरयोर्बालमरणबालबालमरणयोः स्वामिनिरूपणार्थं गाथा—

अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥२९॥

अविरदसम्मादिट्ठी इति प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्येयं। अवान्तरे इदं चोद्यमाशङ्कते। वोच्छं आराधनं कमसो इति प्रतिज्ञातं। सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति। तद्व्याख्यानमकृत्वा मरणविकल्पा-

---

सेवन है किन्तु जो इससे भेद आदि नहीं कहे जा सकते। अथवा 'पाउग्गगमणमरणं' पाठ है। यहाँ प्रायोग्य शब्दसे संसारका अन्त करनेके योग्य संहनन और संस्थान कहे जाते हैं। उनके गमन अर्थात् प्राप्तिको प्रायोग्यगमन कहते हैं। उसके कारण होनेवाले मरणको प्रायोग्यगमन मरण कहते हैं। 'भज्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाये वह भक्त है। उसकी 'पइण्णा' अर्थात् त्याग भत्त-पइण्णा है। भोजनका त्याग शेष दोनों मरणोंमें भी सम्भव है। फिर भी रूढ़िवश भत्तपइण्णा शब्द मरण विशेषका ही बोधक होता है। इंगिनी शब्दसे आत्माका इंगित अर्थात् संकेत कहा जाता है। अपने अभिप्रायके अनुसार रहकर होनेवाला मरण इंगिनीमरण है। इस तरह पण्डितमरण तीन प्रकार का है। पण्डितमरण किसके होता है? सूत्रमें जिस प्रकारसे कहा है उसी प्रकारसे आचरणशील साधुके होता है। सभी सदाचार वाले मनुष्य, वे संयमी हों या असंयमी, लोकमें साधु शब्दसे कहे जाते हैं। इसलिये संयमीका ग्रहण करनेके लिए 'यथोक्तचारी' विशेषण दिया है ॥२८॥

विशेषार्थ—अपने संघसे चलकर अर्थात् संघसे निकल कर योग्य देशमें आश्रय लेना पादोपगमन है। इसमें न स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरेसे कराता है। भक्त प्रतिज्ञा-मरणमें स्वयं भी अपनी वैयावृत्य करता है और दूसरेसे भी कराता है। इंगिणीमरणमें अपनी वैयावृत्य स्वयं ही करता है, दूसरेसे नहीं कराता। पादोपगमनको प्रायोपगमन भी कहते हैं और प्रायोपवेशन भी कहते हैं। 'प्राय' का अर्थ सन्यास है॥

अब शेष बालमरण और बालबालमरणके स्वामियोंको कहते हैं—

गाथा—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ बालमरणमें मरते हैं। मिथ्यादृष्टि पाँचवें बालबाल-मरणमें मरते हैं ॥२९॥

टी०—इस गाथाका अर्थ प्रसिद्ध होनेसे इसकी व्याख्या नहीं करते।

शंका—यहाँ यह शंका करते हैं। ग्रन्थकारने 'क्रमसे आराधना को कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की है। वह आराधना दो प्रकार की है—दर्शनाराधना और चारित्राराधना। उनका व्याख्यान

[illegible]

[illegible]—

ससारसमावण्णा य सिद्धा सिद्धिमधिगदा जीवा ।
जीवणिकाया एदे सद्दहिदव्वा हु आणाए ॥३६॥

[illegible]

टी०—जीव और पुद्गलके आने जाने में आकाशके अन्य देशमें गमन रूप चलन रूप पर्यायोंके द्वारा परके प्रयोगसे अथवा स्वभावसे होता है। अतः गतिमान ये दो ही द्रव्य हैं। क्रिया रहित होनेसे अन्य द्रव्योंमें गति नहीं है। इन दोनों द्रव्योंकी गतिपर्यायका बाह्य गति हेतुत्व नामक गुण जो धारण करता है वह धर्म है। और जो उस गुणको धारण नहीं करता वह अधर्म है। यद्यपि जीवादिमें भी गतिहेतुताका साधारण धर्म रहता है तथापि उनमें धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं है, उन्हे धर्मके नामसे नही कहते, क्योंकि रूढ़ि शब्द प्रतिनियत विषयोंमें रहते हैं यह पहले कहा ही है। अथवा जो स्थितिका उदासीन हेतु है वह अधर्मद्रव्य है। जीवादि द्रव्य स्थितिके उदासीन हेतु नही हैं। ये दोनों धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है, एक एक हैं, सूक्ष्म और निष्क्रिय हैं तथा इनमें रूप रस आदि गुण नही रहते। आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेश वाला है और सब द्रव्योंको अवकाश देनेकी शक्तिसे युक्त है। पुद्गल सो रूप रस गन्ध और स्पर्श गुण वाले हैं। उनके अणु और स्कन्धके भेदसे दो भेद हैं। कालके निश्चयकाल और व्यवहारकाल भेद हैं। जीव उपयोगगुण वाले हैं। इन द्रव्योका जो आप्तकी आज्ञासे ही श्रद्धान करता है कि छह द्रव्य है, निक्षेप नय आदिके द्वारा जानकर श्रद्धान नही करता, वह भी सम्यक्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

जीव द्रव्य विषयक श्रद्धान नियमसे करना चाहिये, यह कहनेके लिए आगेकी गाथा—

गा०—ससार अवस्थाको प्राप्त छह प्रकारके और सिद्धिको प्राप्त जीव होते है। ये जीवनिकाय आप्त की आज्ञाके बलसे श्रद्धान करनेके योग्य हैं ही ॥३६॥

टी०—चतुर्गतिमें परिभ्रमणको संसार कहते हैं। उसे जो प्राप्त हैं वे ससारी हैं। ससारी जीव अच्छा बुरा शरीर ग्रहण करने और त्यागनेमें लगे रहते हैं। अपने मन वचन काय योगके द्वारा बाँधे गये पुण्य पाप कर्मके उदयसे होने वाले सुख दु ख को भोगनेमें लीन रहते हैं। त्रसनाम

ानावरणोदयेन तत्क्षयोपशमविशेषेण च एकेंद्रियाः, विकलेंद्रिया, समग्रेन्द्रियाः पर्याप्तपर्याप्तिकर्मोदयनिर्वर्तित-
ड्विधपर्याप्तयस्तदितरे च, पृथिव्यादिशरीरभारोद्वहनचतुरा, आयुराख्यप्रकृतिघनशृङ्खलावगाढबन्धनपराधीन-
ृत्तय.। नवविकल्पयोनिसमाश्रयोपजाततनुश्यामलबुद्धयः। जराडाकिनीपीतरूपरक्ता., मृत्युदुर्वारक्रूराशनि-
पातचकितचेतस: संसारिण. 'छव्विधा' षट्प्रकारा पृथिव्यादिशरीरसंबंधत। 'सिद्धि' सम्यक्त्वकेवलज्ञान-
दर्शनवीर्याव्याबाधत्वपरमसूक्ष्मत्वावगाहनादिस्वरूपनिष्पत्तिम्। 'अस्सिदा' आश्रिता। 'जीवा' जीवा। ननु
जीव प्राणधारणे इति वचनात् जीवति प्राणान्धारयति इति जीव। प्राणाश्चेंद्रियादय कर्मनिर्वर्त्या पुद्गल-
स्कंधधारणभूतेषु कर्मस्वसत्सु न विद्यन्ते। तत कथ सिद्धाना जीवतेति ? नैष दोष, द्विविधा प्राणा. द्रव्यप्राणा
भावप्राणाश्चेति। द्रव्यप्राणा इंद्रियादय कर्महेतुका। भावप्राणास्तु ज्ञानदर्शनादय.। न ते कर्मनिमित्तकाः।
कर्माभावे प्रसूते.। तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धाना। अथवा यदेव कृतप्राणधारण वस्तु तदेवेद-
मिति प्रत्यभिज्ञोपदर्शितमेकत्वमाश्रित्य जीवव्यपदेश सिद्धानाम्। अथवा जीवशब्दश्चेतनावति रूढिशब्द.।
रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव तदसंभवेऽपि तदुपलक्षणगृहीत सामान्यमाश्रित्य वर्तत एव। यथा गच्छतीति
गौरिति व्युत्पादितोऽपि गोशब्दोऽसत्यामपि गतौ स्थिरता गौर्निषण्णेत्यत्र वर्तते। गमनेनाध्रुवेणोपलक्षितस्य
गोत्वस्य सद्भावात्। एव प्राणधारणोपलक्षितचैतन्याश्रयाज्जीवशब्दस्य सिद्धेषु वृत्ति। 'जीवनिकाया' जीव-

---

कर्मके उदयमे त्रस और स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर भावको प्राप्त होते हैं। अनेक प्रकारके मतिज्ञानावरणके उदयसे और उसके क्षयोपशमके विशेषसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते हैं। पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे बनी छह पर्याप्तियोसे यथायोग्य युक्त होते हैं और अपर्याप्ति नाम कर्मके उदयमे अपर्याप्त होते हैं। पृथिवी आदि कायके शरीरके भारको धारण करने वाले होते हैं। आयुनामक कर्मकी मजबूत साकलसे कसकर बन्धनके कारण पराधीन होते हैं। नौ प्रकारकी योनिके आश्रयसे उत्पन्न हुए शरीरोमे उनकी अति आसक्ति होती है। उनके रूप और रक्तको जरा रूपी चुडैल पी जाती है। मृत्युरूपी क्रूर वज्रपातसे, जिसे टालना अशक्य है उनके चित्त भयभीत रहते हैं। ये ससारी जीव पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारके हैं।

सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, अव्याबाधत्व, परमसूक्ष्मत्व, अवगाहना आदि स्वरूपकी प्राप्तिको सिद्धि कहते हैं। उसे प्राप्त सिद्ध जीव हैं।

शंका—जीव शब्द प्राणधारणके अर्थमे है ऐसा वचन है। 'जीवति' अर्थात् प्राणोको धारण करता है वह जीव है। और प्राण इन्द्रिय आदि कर्मजन्य हैं। सिद्धोके पुद्गलस्कन्ध रूप कर्म नही हैं तब सिद्धोमे जीवपना कैसे है ?

समाधान—यह दोष नही है क्योंकि प्राणोंके दो भेद है—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राण इन्द्रिय आदि कर्मके उदयमे होते हैं। किन्तु भाव प्राण ज्ञानदर्शन आदि कर्मके निमित्तसे नही होते, कर्मोंके अभावमे प्रकट होते हैं। अतः भाव प्राण धारण करनेसे सिद्धोमे जीवपना न्याय्य है। अथवा जिसने पहले प्राणोको धारण किया था वही यह है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके द्वारा एकत्वको लेकर सिद्धोको जीव कहा जाता है। अथवा जीव शब्द चेतनावानके अर्थमे रूढ है। और रूढिमें क्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये होती है। अत उसके न होनेपर भी उसके उपलक्षणसे गृहीत सामान्यका आश्रय लेकर उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है। जैसे जो चले वह गौ है इस प्रकारसे व्युत्पत्ति करनेपर भी गौ शब्द नही चलनेपर भी गौके अर्थमें व्यवहृत होता है जैसे बैठी हुई गौ। गमन तो अध्रुव है फिर भी उसमे गोपना वर्तमान है। इसी तरह प्राणधारणमे

समूहाः। 'सद्दहिदव्वा' सु श्रद्धातव्या एव। 'आणाए' आप्तानामाज्ञाबलात्।

जीवाश्रद्धाने मुक्तिसंसारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थप्रयासानुपपत्तिरिति भावः। यदि नाम धर्मादिद्रव्यापरिज्ञानात् परिज्ञानसहचारिश्रद्धानं नोत्पन्नं तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्याज्ञानविषयस्याभावात्। न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं इति गृहीतं। श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेऽरुचि।

श्रद्धातव्यं प्रकारांतरेणापि निर्देष्टुं उत्तरगाथा—पूर्वं सर्वद्रव्यविषयश्रद्धानमुक्तं, पश्चादतिशयप्रतिपादनार्थं जीवद्रव्यविषया श्रद्धा निरूपिता अनंतरगाथया। इदं तु आस्रवादयोऽपि श्रद्धातव्या इति सूच्यते—

आसवसंवरणिज्जरबंधो मुक्खो य पुण्णपावं च ॥
तह एव जिणाणाए सद्दहिदव्वा अपरिसेसा ॥३७॥

'आसवसंवरणिज्जर'। आस्रवत्यनेनेत्यास्रवः। आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायः पुद्गलानां येन कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रवः। ननु कर्मपुद्गलानां नान्यतः आगमनमस्ति यत्राकाशप्रदेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिताः पुद्गला अनंतप्रदेशिनः कर्मपर्यायं भजन्ते 'एगखेत्तोगाढं' इति वचनात्। तत् किमुच्यते आगच्छन्तीति? न दोषः। आगच्छन्ति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येव ग्रहीतव्यं।

उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे सिद्धोंमें जीव शब्दका व्यवहार होता है।

आगमकी आज्ञाके बलसे जीवके इन समूहोंका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि जीवका श्रद्धान न होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति और संसारके विषयोंके त्यागके लिये प्रयास नहीं हो सकेगा। यदि धर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ रहनेवाला श्रद्धान नहीं उत्पन्न हुआ। तो भी वह मिथ्यादृष्टि नहीं है, क्योंकि दर्शन मोहके उदयसे होनेवाला अश्रद्धानरूप परिणाम, जिसका विषय अज्ञान है, उसका अभाव है। अश्रद्धानका अर्थ श्रद्धानका न होना नहीं लिया है किन्तु श्रद्धानसे जो अन्य है वह अश्रद्धान है अर्थात् श्रुतमें कहे हुए तत्त्वमें अरुचि अश्रद्धान है ॥३६॥

प्रकारान्तरसे श्रद्धा करने योग्यका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा है। पहले सब द्रव्योंके श्रद्धान करनेको कहा। पीछे अतिशय प्रतिपादन करनेके लिये जीव द्रव्य विषयक श्रद्धाका कथन इससे पूर्ववर्ती गाथाके द्वारा किया। इस गाथामें आस्रव आदिकी भी श्रद्धा करना चाहिये, यह सूचित करते हैं—

गा०—आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष और पुण्य, पाप ये सब सातों पदार्थ उसी प्रकार जिनदेवकी आज्ञासे श्रद्धान करने चाहिये ॥३७॥

टी०—जिसके द्वारा आना होता है वह आस्रव है। जिस कारणभूत आत्मपरिणामसे पुद्गलोंका कर्मरूपसे आगमन होता है वह परिणाम आस्रव है।

शंका—कर्म पुद्गलोंका आगमन अन्य देशसे नहीं होता। जिस आकाश प्रदेशमें आत्मा स्थित होता है वहीं पर स्थित अनन्तप्रदेशी पुद्गल कर्मपर्याय रूप होते हैं, क्योंकि आगममें 'एगखेत्तोगाढं' कहा है। तब आप कैसे कहते हैं कि आते हैं?

समाधान—उक्त दोष नहीं है, आगमनका अर्थ ज्ञानावरणादि पर्याय रूपको प्राप्त होना

न देशान्तरपरिस्पंद इहागमनं विवक्षितं । तेन तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघातादयः जीवपरिणामाः कर्मत्वपरिणतेः पुद्गलानां साधकतमतया विवक्षिताः आस्रवशब्देनोच्यते । अथवा आस्रवणं कर्मतापरिणतिः पुद्गलानां आस्रव इत्युच्यते । संव्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादिः परिणामो येन परिणामान्तरेण सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा स संवरः । निर्जीर्यते निरस्यते यया, निर्जरणं वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थं कर्म निरस्यते यया परिणत्या सा निर्जरा । निर्जरणं पृथग्भवनं विश्लेषणं वा कर्मणां निर्जरा । मोक्ष्यतेऽस्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः । निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसंज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्षः । विश्लेषो वा समस्तानां कर्मणां । बध्यते अस्वतन्त्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मनः स बन्धः । अथवा बध्यते परवशतामापद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बंधः । पुण्यं नाम अभिमतस्य प्रापकं । पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं । इह बंधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतः न कर्म एव, पृथक् पुण्यपापग्रहणात् । ननूक्तेन परिणामेन जीवपुद्गलयोरेवान्तर्भावः आस्रवादीनां जीवपुद्गलत्वश्रद्धानस्य पूर्वमुपन्यस्तत्वात् किमर्थमिदं सूत्रमिति नैष दोषः । विनेयाशयवैचित्र्याद्देशनाभेदः आगमवाक्येषु । तत्र श्रद्धा सर्वत्र कार्येति चोदितं भवति । अश्रद्धानं न मनागपि कार्यम् ।

लेना चाहिये। यहाँ आगमनसे देशान्तरसे चलकर आना विवक्षित नहीं है। अतः आस्रव शब्दसे प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, उपघात आदि जीव परिणामोंको पुद्गलोंके कर्मरूप परिणमनमें साधकतम रूपसे विवक्षित किया है। अथवा 'आस्रवण' अर्थात् पुद्गलोंको कर्मरूप परिणतिको आस्रव कहा है।

जिस सम्यग्दर्शनादि या गुप्ति आदि रूप अन्य परिणाममें मिथ्यादर्शन आदि परिणाम 'संव्रियते' रोका जाता है वह संवर है। जिसके द्वारा 'निर्जीर्यते' निरसन किया जाता है अथवा निर्जरणको निर्जरा कहते हैं। जिस परिणतिसे आत्माके प्रदेशोंमें स्थित कर्म हटाये जाते हैं वह निर्जरा है। कर्मोंके 'निर्जरण' अर्थात् पृथक् होनेको अथवा विश्लेषणको निर्जरा कहते हैं। जिसके द्वारा 'मोक्ष्यते' अर्थात् छूटते हैं अथवा मोक्षण मात्रको मोक्ष कहते हैं। क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और यथाख्यात चारित्र नामक जिस परिणामसे समस्त कर्म छूटते हैं वह मोक्ष है। अथवा समस्त कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष है। आत्माके जिस परिणामसे कार्मणद्रव्य 'बध्यन्ते' परतन्त्र किया जाता है वह बन्ध है, अथवा जिस स्थिति रूप परिणत हुए कर्मके द्वारा आत्मा 'बध्यते' अर्थात् पराधीनताको प्राप्त होता है वह कर्म बन्ध है। इष्टको प्राप्त करानेवालेको पुण्य कहते हैं और अनिष्टको प्राप्त करानेवालेको पाप कहते हैं। यहाँ बन्ध शब्दसे जीवके परिणामका ही ग्रहण किया है, कर्मका नहीं, क्योंकि पुण्य पापका पृथक् ग्रहण किया है।

शंका—उक्त परिणाममें तो आस्रव आदिका अन्तर्भाव जीव और पुद्गलमें ही होता है। तथा जीव और पुद्गलके श्रद्धानका पहले कथन किया ही है तब इस गाथा सूत्रके कहनेकी क्या आवश्यकता थी?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है। आगमके वचनोंमें शिष्योंके अभिप्राय नाना होनेसे उपदेशमें भेद होता है। अतः इन सबमें श्रद्धा करना चाहिये यह प्रेरणा की गई है, किञ्चित् भी अश्रद्धान नहीं होना चाहिये ॥३७॥

मिथ्यादृष्टिता किमल्पस्य अश्रद्धानेन भवति ? बहुतरं श्रद्धानं इत्याशंकायां न वाच्येत्याह—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं ॥
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥३८॥

पदमक्खर इति । पदशब्देन पदसहचारी पदार्थ उच्यते । 'अक्खरं च' इति स्वल्पशब्दोपलक्षणं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा । 'जो' यः । 'ण रोचेदि' न रोचते । 'सुत्तणिद्दिट्ठं' सूत्रोक्तमागमनिर्दिष्टम् । 'सेसं' इतरं श्रुतार्थं श्रुतांश रोचमानोऽपि । 'मिच्छादिट्ठी मिथ्यादृष्टिरिति । 'मुणेदव्वो' ज्ञातव्य । महति कुण्डे स्थितं बह्वपि पयो यथा विषकणिका दूषयति । तथमश्रद्धानकणिका मलिनयत्यात्मानमिति भाव ॥३८॥

मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यमित्युक्तं । स तत्र न ज्ञायते तत्स्वरूप इत्याशंकायां मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्था गाथा—

मोहोदयेण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ॥
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ॥३९॥

मोहोदयेणेति । साध्याहारत्वात् सूत्राणामध्याहारेण सहैव पदघटना । जो जीवो उवदिट्ठं प्रवयणं मोहोदयेण सद्दहदि उवदिट्ठं अणुवदिट्ठं वा असब्भावं सद्दहदि । सो मिच्छादिट्ठीति । मोहयति मुह्यते

जब बहुत पर श्रद्धा है तब क्या थोडेसे अश्रद्धानसे मिथ्यादृष्टिपना होता है ? ऐसी शंका नही करना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—जिसे पूर्वोक्त सूत्रमे कहा एक भी पद और अक्षर नही रुचता। शेषमे रुचि होते हुए भी निश्चयसे उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥३८॥

टी०—पद शब्दसे पदका सहचारी पदका अर्थ कहा गया है। अक्षरसे थोड़े शब्द लिये गये है, थोडा सा भी अर्थ अथवा शब्द श्रुत जो आगममे कहा गया वह जिसे नही रुचता और शेष आगम रुचता भी हो, तब भी उसे मिथ्यादृष्टी ही जानना। जैसे बडे कुण्डमे भरे हुए बहुत दूधको भी विषका कण दूषित कर देता है उसी प्रकार अश्रद्धानका एक कण भी आत्माको दूषित कर देता है ॥३८॥

उसे मिथ्यादृष्टि जानना, ऐसा तो कहा। किन्तु यही ज्ञात नही है कि मिथ्यादृष्टिका कैसा स्वरूप है ? ऐसी शंका करनेपर मिथ्यादृष्टिका स्वरूप निरूपण करनेके लिये गाथा कहते हैं—

गा०—मोहके उदयसे जीव उपदिष्ट प्रवचनको श्रद्धान नही करता। किन्तु उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असमीचीन भाव अर्थात् अतत्वका श्रद्धान करता है ॥३९॥

टी०—सूत्रमे अध्याहार किया जाता है अर्थात् अन्यत्रसे कुछ पद लिये जा सकते हैं। अतः अध्याहारके साथ इस प्रकार पदोंका सम्बन्ध मिलाना चाहिये। जो जीव उपदिष्ट प्रवचनको मोहके उदयसे श्रद्धान नही करता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका श्रद्धान करता है वह

---

१. पदाथ उ० आ० । पदशब्दस्य सहकारी पद–मु० ।

नेनेनि वा मोहो दर्शनमोहनीयाख्य कर्म मद्येन तुल्यवीर्यम् । यथा मद्यमासेव्यमान अपाटव प्रज्ञाया वैपरीत्य च सपादयति ॥३९॥

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥४०॥

एव मिथ्यात्व¹कर्मापि तस्य उदय. सन्निहितसहकारिकारणस्य प्रतिबद्धवृत्तिस्तेनोदयेन कारणेन निरूपित वस्तुयाथात्म्य न श्रद्धत्ते अनत्त्व तु कथितं अकथित वा श्रद्धत्ते ॥४०॥

वस्तुयाथात्म्याश्रद्धाने को दोषो येन तत्प्रतिपक्षश्रद्धानभावनया तदपास्यते इत्याशकायां अश्रद्धानकृतदोषमाहात्म्यख्यापनार्थ गाथा—

सुविहियमिमं पवयणं असद्दहंतेणिमेण जीवेण ॥
बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥४१॥

सुविहिदमिति । सुष्ठु विहित कृत पूर्वापरविरोधदोषरहितवस्तुयाथात्म्यग्राहिविज्ञानकारण । 'इम' इदं । 'पवयणं' प्रवचन । असद्दहंतेण अश्रद्धानेन । 'इमेण' अनेन । 'जीवेण' जीवेन । एवमत्र पदसबध । बालमरणाणि 'अणंताणि मदानि तीदे काले' इति । बालमरणान्यनतानि अतीतकाले मृतानि । ननु मिथ्या-

---

मिथ्यादृष्टि है । यहाँ मोहसे दर्शनमोहनीय कर्म लेना । उसमे मद्यके समान शक्ति होती है । जैसे मद्यका सेवन बुद्धिको मन्द और विपरीत कर देता है वही दशा इस दर्शन मोहनीय कर्मकी है ॥३९॥

गा०—मिथ्यात्वको वेदन—अनुभवन करने वाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है । उसे धर्म नही रुचता । जैसे ज्वरसे ग्रस्त व्यक्तिको निश्चयसे मधुर रस नही रुचता ॥४०॥

टी०—मद्यके समान ही मिथ्यात्व कर्म भी है । उसका उदय सहकारी कारणका सानिध्य-पाकर अपना कार्य करनेमें कटिबद्ध होता है । अत. उसके उदयके कारण शास्त्रमें कहे गये वस्तुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान नही करता । और कहे गये या विना कहे अतत्त्वका श्रद्धान करता है ॥४०॥

वस्तुका यथार्थ श्रद्धान न करनेमे क्या दोष है जिससे उसके प्रतिपक्षी श्रद्धानकी भावनासे उस दोषको दूर किया जाता है ? ऐसी शका होने पर अश्रद्धानसे होने वाले दोषका महत्त्व बतलानेके लिये गाथा कहते हैं—

गा०—अच्छी तरहसे किये गये इस प्रवचनको अश्रद्धान करने वाले जीवने अतीतकालमें अनन्त बालमरण मरे ॥४१॥

टी०—पूर्वापर विरोध नामक दोषसे रहित होनेसे तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले ज्ञानका कारण होनेसे प्रवचनको सुविहित कहा है । ऐसे प्रवचनका श्रद्धान न करनेके दोषसे इस जीवको अतीतकालमे अनन्त बार बालमरणसे मरना पड़ा है ।

---

१. मिथ्यात्वस्य ।

दृष्टेर्मरण बालबालमरण तत्किमुच्यते बालमरणानीति। बालत्वं नाम सामान्यं तच्चात्रापि विद्यते इति बालमरणानीत्युक्तं।

कीदृशी तर्हि मति कार्या संसारभीरुणा—

> णिग्गंथं[1] पव्वयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं ॥
> इणमेव मोक्खमग्गोत्ति मदी कायव्विया तम्हा ॥४२॥

'णिग्गंथं पव्वयणं'। ग्रथ्नन्ति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्था। मिथ्यादर्शनं मिथ्याज्ञानं, असंयम, कषाया, अशुभयोगत्रय चेत्यमी परिणामा.। मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्तं ति सम्यग्दर्शनं। मिथ्याज्ञानान्निष्क्रान्त सम्यग्ज्ञानम्। असंयमात्कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्क्रान्तं सुचारित्रं। तेन रत्नत्रयमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते। 'पव्वयणं' प्रवचनस्येदं अभिधेय। 'इणमेव' इदमेव, 'अणुत्तरं' न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादिति अनुत्तरम्। 'सुपरिसुद्धं' सुष्ठु परिशुद्ध। 'इणमेव' इदमेव। 'मोक्खमग्गोत्ति' कर्मणां निरवशेषापायस्योपाय इति। 'मदी' बुद्धि। 'कायव्विया' कर्तव्या। 'तम्हा' तस्मात्। यस्मादेवभूतायामसत्यां मत्यां दुःखमरणप्राप्तिरतीतकाल इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ॥४२॥

शङ्का—मिथ्यादृष्टि का मरण बालबालमरण है। तब यहाँ बालमरण क्यों कहा है?

समाधान—बालपना सामान्य है वह बाल-बालमें भी रहता है इसलिये 'बालमरण' ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—प० आशाधर जी ने अपनी टीकामें लिखा है कि कुछ 'सुविहिद' ऐसा पढ़ते हैं और उसका व्याख्यान वे 'हेतुचारित्र' ऐसा करते है। अर्थात् 'सुविहिद' को प्रवचनका विशेषण न करके सम्बोधनके रूपमें लेते हैं ॥४२॥

तब ससारसे डरने वालेको कैसी मति करनी चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—इसलिये रत्नत्रयरूप जो प्रवचनका अभिधेय है वही सर्वोत्कृष्ट और पूर्णरूपसे निर्दोष है। यही मोक्षका मार्ग है ऐसी मति करनी चाहिये ॥४२॥

टी०—जो ससारको 'ग्रथ्नति' रचते है उसे दीर्घ करते हैं उन्हे ग्रन्थ कहते है। ये ग्रन्थ हैं मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असयम, कषाय और तीन अशुभ योगरूप परिणाम। मिथ्यादर्शनके हटनेसे सम्यग्दर्शन होता है। मिथ्याज्ञानके हटनेसे सम्यग् ज्ञान होता है। असयम, कषाय और तीन अशुभयोगोंके हटनेसे सम्यक्चारित्र होता है। अत यहाँ निर्ग्रन्थ शब्दसे रत्नत्रय कहा है। और 'पव्वयण' का अर्थ प्रवचनमें कहा गया विषय है। जो प्रवचनमें कहा रत्नत्रय है वही अनुत्तर है अर्थात् उससे उत्कृष्ट कोई नहीं है और वही पूर्ण शुद्ध है, वही मोक्षमार्ग अर्थात् समस्त बुराइयों का उपाय है। ऐसी मति करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकारकी मतिके न होनेपर दुःखदायक मरणोंको प्राप्ति अतीतकालकी तरह भविष्यकालमें भी होगी ॥४२॥

---

१ अन्ये तु निर्ग्रन्थं प्रवचनमिति प्राधान्येन व्याचक्षते—मूलारा०।

तच्च सम्यक्त्वं निरतिचारं 'गुणोज्ज्वलितं भावनीयं इत्येतदाचष्टे उत्तरप्रबंधेन । तदतिचारनिवेदन-मार्योत्तरगाथा—

सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिंछा ॥
परदिट्ठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४३ ॥

'सम्मत्तादीचारा' श्रद्धानस्य दोषाः । 'संका' शंका, संशयप्रत्ययः विविधदिग्वनवधारणात्मकः । स च निश्चयज्ञानाश्रयं दर्शनं मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तदतिचारो युज्यते । संशयश्च मिथ्यात्वभावहति । तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु संशयोऽपि गणितः । 'संसइदमभिग्गहिदं अणभिग्गहिदं च तं तिविधं' इति । सत्यपि संशये सम्यग्दर्शनसद्भावेऽपि अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेष्टुरभावात्, तस्य वा वचननिपुणता नास्ति तन्निर्णयकारिश्रुत[2]वचनानुपलब्धे, कालल्लब्धेरभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोपजायते । तथापि तु इदं यथा सर्वविदा उपलब्धं तथैवेति श्रद्धधेऽहमिति भावयतः क्व सम्यक्त्वहानिः ? एवंभूतश्रद्धारहितस्य को वेत्ति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविन्नेतर इति आगमसंसरणनया को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति संशय एवेति । तत्त्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात-

अतिचाररहित और गुणोंसे उज्ज्वल वह सम्यक्त्व भावनीय है यह आगे कहते हैं। उसके अतिचारोंका कथन आगेकी गाथामें करते हैं—

गा०—शङ्का, आकांक्षा, उसी तरह विचिकित्सा या ग्लानि अतत्त्वदृष्टिजनोंकी प्रशंसा और अनायतनोंकी सेवा, ये सम्यक्त्वके अतिचार हैं ॥४३॥

टी०—शङ्का आदि सम्यक्त्वके अतीचार अर्थात् श्रद्धानके दोष हैं। शंका संशयज्ञानको कहते हैं जो 'यह क्या है' इस प्रकार अनवधारणरूप होता है। वह निश्चयात्मकज्ञानके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करता है।

शङ्का—सम्यक्त्व होनेपर उसमें अतिचार लगना उचित है। किन्तु संशय तो मिथ्यात्वरूप है। मिथ्यात्वके भेदोंमें संशयको भी गिना है। कहा है—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत तीन प्रकारका मिथ्यात्व है।

समाधान—संशयके होनेपर भी सम्यग्दर्शन रहता है अतः उसका अतिचारपना उचित है। श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष न होनेसे, उपदेष्टाके अभावसे अथवा उससे वचनोंकी निपुणता न होनेसे, या निर्णयकारी शास्त्रवचनके प्राप्त न होनेसे अथवा काललब्धिके अभावसे यदि किसी विषयका निर्णय नहीं होता, तथापि जैसा इसे सर्वज्ञ भगवान्‌ने देखा है वैसा ही मैं श्रद्धान करता हूँ' ऐसी भावना करनेवालेके सम्यक्त्वका अभाव कैसे हो सकता है? जिसके इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं है, तथा कौन जानता है तत्त्व क्या है, कपिल आदिको जब देखा नहीं तो उनकी सर्वज्ञताका निर्णय कैसे हो सकता है, यही सर्वज्ञ है, दूसरा नहीं है इसमें आगमका आश्रय लेनेपर कौन आगम यथार्थ वस्तुको कहता है, कौन नहीं कहता इस प्रकारका संशय ही होता है। इस प्रकारके संशयपूर्वक जो तत्त्वका अश्रद्धान है वह संशयज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण

१ गुणोपोद्दलित अ० । गुणोपोद्‌ज्ज्वलितं आ० । २. वचनाभावात् वा का—आ० ।—लब्धेः अभावाद्वाका—मु० ।

संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । अश्रद्धानरूपतैव लक्षणं मिथ्यात्वस्य । यथा वक्ष्यति 'तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होदि अत्थाण' मिति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो वाक्यान्तरे 'मिच्छाणाणमिच्छादंसणमिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमीति' । किं च छद्मस्थाना रज्जूरगस्थाणुपुरुषादिषु किमिय रज्जुरुरग स्थाणु पुरुषो वा किमित्यनेक संशयप्रत्ययो जायते इति[1] ते न सम्यग्दृष्टयः स्युः ।

कांक्षा गार्द्ध्यं आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मल । यद्येवं आहारे कांक्षा, स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यालंकारादिषु वाऽसंयतसम्यग्दृष्टेर्विरताविरतस्य वा भवति । यथा प्रमत्तसंयतस्य परीषहाकुलस्य भक्ष्यपानादिषु कांक्षा सम्भवतीति सातिचारदर्शनता स्यात् । तथा भव्यानां मुक्तिसुखकांक्षा अस्त्येव । इत्यत्रोच्यते न कांक्षामात्रमतीचारः किंतु दर्शनाद्व्रतादानाद्देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुल, रूप, वित्त, स्त्री-पुत्रादिकं, शत्रुमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

'विचिकित्सा जुगुप्सा' मिथ्यात्वासंयमादिषु जुगुप्सायाः प्रवृत्तिरतिचारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन । रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा क्रोधादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता । तत्त्वस्य दर्शन, ज्ञान, चरण वात्मोन्नतमिति । यस्य हि यत्र इदं भद्रं इति श्रद्धानं स तस्य जुगुप्सा करोति । ततो रत्नत्रयमाहात्म्यादर्नियुक्तत्वेऽतिचार ।

संशय मिथ्यात्व कहलाता है । मिथ्यात्वका लक्षण अश्रद्धानरूपता ही है । आगे कहेंगे—'तत्त्वार्थका जो अश्रद्धान है वही मिथ्यात्व है' । यदि ऐसा न हो तो मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शनमे भेद ही न हो । किन्तु अन्यत्र वचनमे स्पष्ट भेद कहा है । यथा—'मै मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे विरत होता है ।' तथा छद्मस्थ जीवोंको रस्सी, सर्प, और स्थाणु पुरुष आदिमें, यह रस्सी है या सांप, अथवा स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार अनेक संशयज्ञान होते हैं । तब वे सम्यग्दृष्टी नहीं हो सकेंगे ?

कांक्षा गृद्धि या आसक्तिको कहते हैं । यह भी सम्यग्दर्शनका मल है ।

शंका—यदि ऐसा है तो असंयतसम्यग्दृष्टी अथवा विरताविरत श्रावकको आहारकी या स्त्री, वस्त्र, गन्ध माला अलंकार आदिकी कांक्षा होती है । तथा परीषहसे व्याकुल प्रमत्तसंयत मुनिके खान-पान आदिकी कांक्षा होती है वह भी सम्यग्दर्शनका अतीचार कहलायेगी । तथा भव्य जीवोंको मुक्ति सुखकी कांक्षा रहती ही है ?

समाधान—कांक्षामात्र अतीचार नहीं है । किन्तु सम्यग्दर्शनसे, व्रतधारणसे, देवपूजासे और तपसे उत्पन्न हुए पुण्यसे मुझे अमुक कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रु विनाश, अथवा स्त्रीत्व पुरुषत्व प्राप्त हो इस प्रकारकी कांक्षा यहाँ ग्रहण की है । वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है ।

विचिकित्सा जुगुप्साको कहते हैं ।

शंका—तब तो मिथ्यात्व असंयम आदिमें जुगुप्सा करना भी अतीचार हो जायेगा ।

समाधान—यहाँ भी नियत विषयमें जुगुप्साको अतिचाररूपसे माना है । रत्नत्रयमें किसी एकमें अथवा रत्नत्रयके धारीमें क्रोध आदिके निमित्तसे होनेवाली जुगुप्साका यहाँ ग्रहण किया है । जिसका जिसमें यह श्रद्धान है कि यह श्रेष्ठ है वह उसकी जुगुप्सा करता है । अतः रत्नत्रयके माहात्म्य [illegible] अतिचार होता है ।

१ [illegible]

'परदिट्ठीण पसंसा' परशब्दोऽनेकार्थवाची । क्वचिद् व्यवस्थावाची । नापरो ग्रामः पाटलिपुत्रादिति । तथा क्वचिदन्यार्थे परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा इष्टार्थे, परं धाम गत. इष्टमिति यावत् । इह तु अन्यवाची । दृष्टिः श्रद्धा रुचिः । परा अन्या दृष्टिः श्रद्धा येषां ते परदृष्टयः । तत्त्वदृष्टयपेक्षया अतत्त्वदृष्टिरन्या तेषां प्रशंसा स्तुतिः ।

'अणायदणसेवणा चेव'—अनायतनं षड्विधं मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टयः, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्रं मिथ्याचारित्रवन्त इति । तत्र मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासौ नातिचारता । मिथ्यादृष्टीनां तु सेवा बहुमननं तेषां । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेशः इदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतृणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभिः सह संवासः तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा । मिथ्याचारित्रं नाम मिथ्याज्ञानिनामाचरणं तस्यानुवृत्तिर्द्रव्यलोभाद्यपेक्षया तेषु वा सांगत्यादिकं । एतेषां सम्यक्त्वातिचाराणां वर्जनम् ॥४३॥

गुणान्दर्शनविशुद्धिकारिणो निरूपयति उवगूहणमित्यनया—

उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा गुणा भणिदा ॥
सम्मत्तविसोधीए उवगूहणकारया चउरो ॥४४॥

उपबृंहणं नाम वर्धनं । बृह बृहि वृद्धाविति वचनात् । धात्वर्थानुवादी चोपसर्गः उप इति । स्पष्टे-

---

'परदिट्ठीण' मे पर शब्दके अनेक अर्थ हैं। कहीं पर शब्द व्यवस्थाका वाची होता है। जैसे पाटलिपुत्रसे अपर गाँव नहीं है। कहीं परका अर्थ अन्य है। जैसे पर आचार्य अर्थात् अन्य आचार्य। कहीं परका अर्थ इष्ट है। जैसे परं धामको गया अर्थात् इष्ट धामको गया। यहाँ पर शब्द अन्यवाची है। दृष्टिका अर्थ श्रद्धा या रुचि है। जिनकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा पर अर्थात् अन्य है वे परदृष्टि हैं। अर्थात् तत्त्वदृष्टिकी अपेक्षा अतत्त्वदृष्टि अन्य है। उनकी प्रशंसा-स्तुति सम्यग्दर्शनका अतीचार है।

अनायतनके छह भेद हैं—मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रके धारक। उनमेंसे मिथ्यात्व तो अश्रद्धान ही है। उसकी सेवा करनेपर तो वह मिथ्यादृष्टि ही हुआ। अतः मिथ्यात्व सेवा अतीचार नहीं है। मिथ्यादृष्टियोंकी सेवाका अर्थ है उन्हें बहुत मानना। मिथ्याज्ञानकी सेवाका मतलब है निरपेक्ष नयोंका उपदेश देना या 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका श्रद्धान श्रोताओंको उत्पन्न कराऊँ, इस रूपमें मिथ्याज्ञानियोंके साथ संवास करना, उनमें अनुराग होना अथवा उनकी अनुकूलता। मिथ्याज्ञानियोंके आचरणको मिथ्याचारित्र कहते हैं। द्रव्यलोभ आदिकी अपेक्षासे उनका अनुवर्तन अथवा उनकी संगति। इन सम्यक्त्वके अतिचारोंको छोड़ना चाहिए ॥४३॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले गुणोंको कहते हैं—

गाथा—उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वकी विशुद्धिकी वृद्धि करनेवाले कहे हैं ॥४४॥

टी०—उपगूहन अर्थात् उपबृंहण नाम बढ़ानेका है। क्योंकि 'बृह और बृहि धातुका अर्थ वृद्धि है' ऐसा कहा है। धातुके अर्थके ही अनुकूल 'उप' उपसर्ग है। स्पष्ट और अग्राम्य

नयाथेम श्रोत्रमनःप्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनपटुना धर्मोपदेशेन परस्य श्रद्धानवर्धनमुप-बृंहणं। सर्वजनविस्मयकारिणीं [illegible] पूजामिव पूजां दुर्धरतपो-योगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धा स्थिरीकरणम्।

जीवादीनि द्रव्याणि सामान्यविशेषात्मकानि [illegible]। [illegible] इति सम्यगभाणि एवमेव नान्यथा श्रद्दधे जिनानां मतं। न हि जिना वीतरागा [illegible] विपरीतमुपदिशन्तीति भावनया स्थिरीकरणं, अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादनं। मिथ्यात्वाभि-मुखस्य सम्यग्दृष्टेरस्थिरस्य मिथ्यात्वं मूलमेव तदनुभवनं कर्मणां [illegible] मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाया हि बंध-हेतव। तद्बंधहेतुकं चानन्तकालं संसरणं चतुरशीतियोनिलक्षेषु। सद्दर्शनं तु विचित्रनानादुःखसंकट-भयप्रदायिन्योर्नरकतिर्यग्गतिनिर्वर्तिन्योर्[1] वज्रार्गलाभूतं शक्रलोकमनुष्यलोकपूज्यभोगादिसम्पत्प्रापणचतुरं क्रमेण निर्वाणमपि प्रयच्छति। ततो दुःखजलवाहिनीं मिथ्यादृष्टिकुल्यामुत्तीर्य, प्रतिपद्यस्व जैनीं दृष्टिमिति तत्र स्थिरताकरणम्। तथा सम्यग्ज्ञानभावनायां च प्रमादिनमलसं दृष्ट्वा एवमसौ वक्तव्यः ज्ञानं हिताहित-प्रकाशनपटु, तदन्तरेण हितमजानन् कथं तत्र प्रवृत्तिरहितपरिहारो वा। हिताहितप्राप्तिपरिहारौ विना न सुखा-धिगमः दुःखविश्लेषो। तदर्थमेव बुद्धिमान् प्राणी जन क्लिश्यति। मा पंचविधस्वाध्यायत्यागं मा कृथा इति ज्ञाने स्थिरीकरण। अथवा अनधिगतसूत्रार्थनिश्चयस्य तत्र [illegible] स्थिरीकरण।

(शिष्टजनोचित) कानों और मनको प्रसन्नता देनेवाले तथा वस्तुका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करनेमें समर्थ धर्मोपदेशके द्वारा दूसरेके श्रद्धानको बढ़ाना उपबृंहण है। अथवा सर्व जनोंको आश्चर्य पैदा करनेवाली, इन्द्रादि प्रमुख देवगणोंके द्वारा की जानेवाली पूजाके समान पूजा रचाकर अथवा दुर्धर तप और ध्यानका अनुष्ठान करके आत्मामें श्रद्धाको स्थिर करना उपबृंहण है।

जीवादि द्रव्य अपने सामान्य और विशेष रूपोंसे युक्त होकर प्रतिसमय उत्पाद व्यय ध्रौव्या-त्मक हैं ऐसा जिनदेवने सत्य ही कहा है। ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है। जिनदेवके मतका मैं श्रद्धान करता हूँ। वीतराग, समस्त पदार्थोंके यथार्थ रूपको जाननेवाले दयालु जिनदेव विपरीत उपदेश नहीं देते' इस प्रकारकी भावनासे रत्नत्रयमें अस्थिरको स्थिर करना स्थितिकरण है। मिथ्यात्वके अभिमुख सम्यग्दृष्टिकी अस्थिरताका मूल मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्वका अनुभवन करनेवालेके कर्मोंका ग्रहण होता है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्धके कारण हैं। और उस बन्धके कारण चौरासी लाख योनियोंमें अनन्तकाल तक संसार भ्रमण करना होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन विचित्र कष्ट, संकट और भय देनेवाली नरक गति और तिर्यञ्च गतिके लिए वज्रमयी अर्गला है, इन्द्र लोक और मनुष्य लोकमें पूर्ण मान्य भोगादि सम्पदाको प्राप्त करानेमें चतुर है, क्रमसे मोक्ष भी प्राप्त कराता है। इसलिए दुःख रूपी जल जिसमें बहता है उस मिथ्यादृष्टि रूपी नदीको पार करके जैनी दृष्टि प्राप्त करो। इस प्रकार उसमें स्थिर करना स्थितिकरण है। तथा सम्यग्ज्ञानकी भावनामें प्रमादी आलसीको देखकर उससे ऐसा कहना चाहिए—ज्ञान हित और अहितको प्रकाशित करनेमें चतुर होता है। उसके बिना जो हितको नहीं जानता वह कैसे हितमें प्रवृत्ति और अहितका परिहार कर सकेगा और हितकी प्राप्ति तथा अहितके त्यागके बिना सुखकी प्राप्ति और दुःखसे छुटकारा नहीं हो सकता। उसीके लिए तो यह बुद्धिमान मनुष्य कष्ट उठाता है। अतः पाँच प्रकारकी स्वाध्यायका त्याग मत करो। इस प्रकार ज्ञानमें स्थिरीकरण है। अथवा

१ वर्तन अ० आ०।

चारित्रात् प्रच्यवमानं दृष्ट्वा हिंसादिष्वसंयमेषु प्रवर्तमाना इहैव दुःखभाजो दृश्यन्ते, तथा परं हन्तुमुद्यतः स्वयमेवैव हन्यते प्राक्तनविरोधिभिरुदीर्णवैरैः। परत्र चाशुभां गतिमुपैति। दुःखदायिकर्माणि च बध्नाति। अलीकं ब्रुवन्निहैव बन्धुजनस्यापि विश्वासाविषयत्वं भवति किं पुनरन्यस्य। जिह्वां चोत्पाटयति क्रुद्धा बलिनः। परत्र च मूकता यास्यति इत्येवमसंयमगुणदोषं प्रकाश्य नीरोगता, दीर्घजीवनं, सौरूप्यं, प्रियवचनादिकं गुणमुपदिश्य अहिंसादिव्रताचरणफलं चारित्रे स्थिरीकरणम्। असंयमदोषं संयमगुणं वा पुनः पुनः स्मृत्वात्मनः स्थिरीकरणम्।

धर्मस्थेषु मातरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो वात्सल्यम्। प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वतां वा ॥४४॥

दर्शनविनयनिरूपणार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

> अरहंतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य।
> आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४५ ॥

'अरहंत इत्यादि'। अरिहननाद्रजोहननाद्रहस्याभावादतिशयपूजार्हत्वाच्चाधिगतार्हद्व्यपदेशा नोआगमभावार्हन्त इह गृहीताः। न नामार्हन्, निमित्तान्तरेऽपि पुरुषकारान्निपुणार्हद्व्यपदेशः। अर्हतां प्रतिबिम्बानि

सूत्रके अर्थका निश्चय जिसे नहीं है उसे निश्चय कराना। तथा बारम्बार भावना करना आत्माका स्थिरीकरण है।

चारित्रसे गिरते हुए को देखकर कहना—जो हिंसा आदि पाप कार्योंमें लगते हैं वे इसी जन्ममें दुःख भोगते देखे जाते हैं। जो दूसरेको मारनेके लिए तैयार होता है वह स्वयं अथवा उसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है। अथवा उसके मित्रों और बन्धुओंके द्वारा पूर्व वैरके उदीर्ण होनेसे मारा जाता है। मरकर दुर्गतिमें जाता है। दुःखदायी असातावेदनीय कर्मको बाँधता है। असत्य बोलने वाला इसी लोकमें बन्धुजनोंके द्वारा द्वेषका भाजन होता है तथा उसका वे विश्वास नहीं करते। फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है? बलवान पुरुष क्रुद्ध होकर झूठ बोलने वालेकी जिह्वा उखाड़ देते हैं। मरकर वह परलोकमें गूँगा होता है। इस प्रकारसे असंयमके दोष कहकर और नीरोगता, दीर्घ जीवन, सौन्दर्य, प्रियवचन आदि संयमके गुणोंका उपदेश देकर चारित्रमें स्थिर करना अहिंसा आदि व्रतोंके आचरणका फल है। अथवा असंयमके दोष और संयमके गुण बारबार स्मरण करके अपनेको चारित्रमें स्थिर करना स्थितीकरण है।

धर्मात्माओंमें माता-पिता या भाईमें अनुराग करना वात्सल्य है। अथवा अपने रत्नत्रयमें आदरभाव रखना वात्सल्य है। रत्नत्रयका अथवा रत्नत्रयके धारकोंका माहात्म्य प्रकट करना प्रभावना है ॥४४॥

दर्शन विनयका कथन करनेके लिए आगे दो गाथा कहते हैं—

गा०—अरहन्त, सिद्ध और प्रतिबिम्बोंमें श्रुतमें और धर्ममें और साधुवर्गमें आचार्यमें उपाध्यायमें और गुरुवचनमें दर्शनमें भी ॥४५॥

टी०—'अरि' अर्थात् मोहनीयकर्मका नाश कर देनेसे, 'रज' अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मको नष्ट कर देनेसे, 'रहस्य' अर्थात् अन्तरायकर्मका अभाव कर देनेसे, और सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हत् कहे जानेवाले नो आगमभावरूप अर्हन्तोंका यहाँ ग्रहण किया है।

मित्युच्यते । द्रव्येषु ममेदं भावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति तत्परित्यागो लाघवं । अनशनादिक्रियात्मिका क्रिया अनपेक्षितदृष्टफला द्वादशविधा तपः । इन्द्रियविषयरागद्वेषाभ्यां निवृत्तिरिन्द्रियसंयमः । षड्जीवनिकायबाधाऽकरणादरः प्राणिसंयमः । अकिंचनता सकलग्रन्थत्यागः । ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालनं । सतां साधूनां हितभाषणं सत्यम् । संयतप्रायोग्याहारादिदानं त्यागः । एते दशधर्माः ।

साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषां वर्गः समूहः । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाचारः । तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचारः । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनशनादिक्रियासु वृत्तिस्तप आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचारः । एतेषु पंचस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च प्रवर्तयन्ति ते आचार्याः । रत्नत्रयेषु उद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशन्ति ये ते उपाध्यायाः उपेत्य विनयेन ढौकित्वा अधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः ।

'पवयणे' प्रवचने । ननु श्रुतशब्दः प्रवचनवाची तत्र पुनरुक्तता ? रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—'णाणदसणचरित्तमेगं पवयणमिति' । अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतमित्युक्तं पूर्वमिह तु प्रोच्यंते जीवादयः पदार्था इति शब्दश्रुतमुच्यते । 'दंसणे' सम्यग्दर्शने च ॥ ४५ ॥

कार्योंके प्रयोजनके विना जाति आदिका अभिमान नहीं होना मार्दव है। एक ऐसे धागेकी तरह जिसके दोनों छोर खींचे हुए हैं, कुटिलताके अभावको आर्जव कहते हैं। द्रव्योंमें 'यह मेरा है' यह भाव समस्त विपत्तियोंके आनेका मूल है अतः उसका त्याग लाघव है। लौकिकफलकी अपेक्षा न करके भोजन आदिके त्यागरूप क्रियाका नाम तप है उसके बारह भेद हैं। इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेष न करना इन्द्रियसंयम है। छह कायके जीवोंको बाधा न पहुंचाना दूसरा प्राणिसंयम है। समस्त परिग्रहका त्याग आकिञ्चन्य धर्म है। नौ प्रकारसे ब्रह्मका पालन ब्रह्मचर्य है। सज्जन साधु पुरुषोंके हितकारी भाषणको सत्य कहते हैं। संयमियोंके योग्य आहार आदि देना त्याग है। ये दस धर्म हैं।

जो रत्नत्रयका साधन करते हैं वे साधु हैं। उनके समूहको साधुवर्ग कहते हैं। वस्तुके यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें लगना ज्ञानाचार है। तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम दर्शनाचार है। पाप कार्योंसे निवृत्तिरूप परिणति चारित्राचार है। अनशन आदि क्रियाओंमें लगना तप आचार है। ज्ञानादिमें अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रवृत्ति करना वीर्याचार है। इन पाँच आचारोंमें जो स्वयं प्रवृत्त होते हैं और दूसरोंको प्रवृत्त करते हैं वे आचार्य हैं। जो रत्नत्रयमें तत्पर हैं और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश करते हैं वे उपाध्याय हैं। विनय पूर्वक जाकर जिनसे श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। पवयणका अर्थ प्रवचन है।

शङ्का—श्रुत शब्दका अर्थ भी प्रवचन है। वह आ चुका है। फिर प्रवचन कहनेसे पुनरुक्तता दोष होता है।

समाधान—प्रवचन शब्दसे रत्नत्रयको कहते हैं। कहा है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये प्रवचन है।' अथवा पूर्वमें श्रुतसे श्रुतज्ञान कहा है। यहाँ प्रवचन शब्दसे शब्दरूप श्रुत कहा है। जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ 'प्रोच्यन्ते' प्रकर्षरूपसे कहे जाते हैं वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचनका अर्थ शब्दरूप श्रुत होता है। दर्शनसे सम्यग्दर्शन जानना ॥४५॥

भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ॥
आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण ॥४६॥

का भत्ती पूजा ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः । पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च, वाचा गुणसंस्तवनं च । भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणं ।

'वण्णजणणं' वर्णशब्दः क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिद्यथा 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' इति । क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिद्यशसि वर्णार्थी ददाति । तथा इहाप्यनंतरार्थो गृहीतः । तेन अर्हदादीनां यशोजननं विदुषां परिषदि । अन्येषामविश्ववेदिनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनताप्रदर्शनेन निवेद्य तत्संवादिवचनतया महत्ताप्रख्यापनं भगवतां वर्णजननम् ।

चैतन्यमात्रमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयप्राप्तिरस्ति । यत्नमंतरेण सर्वात्मसु चैतन्यस्य सदा स्थितेः । विशेषरूपरहितत्वादसच्चैतन्यं खपुष्पवत् । प्रकृतेरचेतनाया मुक्तिरनुपयोगिनी । किं तया बद्धया मुक्तया वा फलमात्मनः ? अनया दिशा कापिलमते सिद्धता दुरुपपादा । बुद्ध्यादिविशेषगुणरहितता सिद्धतान्येषां । आत्मनोऽचेतनतां कः सचेतनोऽभिलषति । विशेषरूपशून्यं वा कथमात्मनः सत्ता ? नैव चाभावात्मा

गा०—भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवादका नाश करना तथा आसादनाका दूर करना संक्षेपसे दर्शन विनय है ॥४६॥

टी०—भक्ति और पूजा किसे कहते हैं ? अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुराग भक्ति है। पूजाके दो प्रकार हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षत आदि अर्पित करना द्रव्यपूजा है। तथा उनके आदरमें खड़े होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम आदि करना रूप शारीरिक क्रिया और वचनसे गुणोंका स्तवन भी द्रव्यपूजा है। मनसे उनके गुणोंका स्मरण भाव पूजा है।

"वर्णजनन" में वर्णशब्द कहीं तो रूपका वाचक है जैसे 'शुक्लवर्ण लाओ' यहाँ उसका अर्थ शुक्लरूप है। कहीं 'वर्ण' अक्षरका वाचक है। जैसे 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय' यहाँ वर्णका अर्थ अक्षर है। कहीं वर्णशब्द ब्राह्मण आदिका वाचक है। जैसे 'यहाँ वर्णोंका ही अधिकार है। यहाँ वर्णसे ब्राह्मण आदि लिये गये हैं। कहींपर वर्णका अर्थ यश है। जैसे वर्णार्थी दान करता है। यहाँ वर्णका अर्थ यश है। यहाँ भी वर्णसे यश अर्थ लिया है। अतः विद्वानोंकी सभामें अर्हन्त आदिका यश फैलाना, दूसरे असर्वज्ञोंकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्धता दिखलाकर उनके वचनोंके संवादि होनेसे महत्ताका स्थापन करना अर्हन्तोंका वर्णजनन है।

चैतन्यमात्रमें स्थितिरूप निर्वाणको माननेपर अपूर्व अतिशयकी प्राप्ति नहीं होती। बिना प्रयत्नके ही सभी आत्माओंमें चैतन्य सदा रहता है। तथा विशेषरूपसे रहित चैतन्य आकाशके फूलके समान असत् होता है। अचेतन प्रकृतिकी मुक्ति मानना व्यर्थ है। उसके बँधने या मुक्त होनेसे आत्माको क्या ? इस प्रकार सांख्यके मतमें सिद्धता नहीं बनती।

वैशेषिक आदि दूसरे दार्शनिक सिद्ध अवस्थामें बुद्धि आदि विशेष गुणोंका अभाव मानते हैं। इस तरह कौन सचेतन आत्माको अचेतन बनाना पसन्द करेगा। तथा विशेष धर्मोसे शून्य

परान्मुखता बुद्ध्यादिगुणरहितत्वाद्भस्मवत् । रागादिक्लेशवासनारहितं चित्तमेव मुक्तिरित्यन्ये चित्तमत्यन्तासाधारणरूपं । यदि च निरूपं तदेवास्ति अन्यन्नास्ति । असाधारणरूपशून्यं यदसत् तद्यथा—नभस्तामरस । असाधारणरूपं च विवक्षितचित्तस्येति । एवं अन्यमते सिद्धानां सिद्धानामघटमानत्वाद्बाधाकारिकर्मलेपनिर्दहनात्प्रादुर्भूतात्यन्तनिश्चलस्वास्थ्या अनन्तज्ञानात्मसुखे तृप्ताः सिद्धा इति तन्माहात्म्यकथनं सिद्धानां वर्णजननम् ।

यथा वीतरागद्वेषमोहास्त्रिलोकचूडामणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपगताः तथैवामूनि तदीयानि प्रतिबिम्बानि । बाह्यद्रव्यालम्बनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथा इष्टानिष्टमनोज्ञामनोज्ञविषयसान्निध्याद्रागद्वेषौ यथा स्वपुत्रसदृशं पुत्रस्मृतेरालम्बनं । तथार्हदादिगुणानुस्मरणनिबन्धनं प्रतिबिम्बम् । तदनुस्मरणं अभिनवाशुभप्रकृतेः संवरणे प्रत्यग्रशुभकर्मबन्धने, शुभानुभागवृद्धिकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलस्यानुभागहानौ च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहत्त्वप्रकाशनं चैत्यवर्णजननमिति ।

केवलज्ञानवद्धर्मादिजीवादिद्रव्ययाथात्म्यप्रकाशनात्, कर्मघर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्यानचन्दनमलयत्वात् स्वपरसमुद्धरणनिरतविनेयजनचित्तप्रार्थनीयं, प्रतिबद्धाशुभागमं, अप्रमत्ततायां साधकं सकलश्रुतज्ञान-

---

आत्माकी सत्ता कैसे रहेगी। तथा दूसरोंके द्वारा माना गया आत्मा बुद्धि आदि गुणोंसे रहित होनेसे भस्मके समान है।

बौद्धमतमें रागादि क्लेशवासनासे रहित चित्त ही मुक्ति शब्दसे कहा जाता है। उनके मतमें भी चित्त अत्यन्त असाधारणरूपको लिये हुए है। यदि निरूप एक ही है अन्य नहीं है तो उसका स्वरूप निरूपण करनेके योग्य नहीं है। जो असाधारण स्वरूपसे शून्य होता है वह असत् होता है जैसे आकाशका कमल। और विवक्षित चित्तमें अन्य चित्त असाधारण स्वरूपसे शून्य है। इस प्रकार अन्य मतोंमें कहे गये सिद्धोंका स्वरूप नहीं बनता। अतः बाधा पैदा करनेवाले समस्त कर्मरूपी लेपको जला डालनेसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यसे युक्त और अनन्तज्ञानरूप सुखसे सन्तुष्ट सिद्ध होते हैं। इस प्रकार उनके माहात्म्यको कहना सिद्धोंका वर्णजनन है।

जैसे राग-द्वेषसे रहित और तीनों लोकोंके चूड़ामणि अर्हन्त आदि भव्यजीवोंके शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं, उन्हींकी तरह उनके ये प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं। क्योंकि बाह्य द्रव्यका आलम्बन लेकर शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं। जैसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंकी समीपतासे आत्मामें राग-द्वेष होते हैं। या जैसे अपने पुत्रके समान व्यक्तिका दर्शन पुत्रकी स्मृतिका आलम्बन होता है। इसी तरह प्रतिबिम्ब अर्हन्त आदिके गुणोंके स्मरणमें निमित्त होता है। यह गुणस्मरण नवीन अशुभ प्रकृतिके आस्रवको रोकनेमें, नवीन शुभकर्मके बन्धमें, बन्धे हुए शुभकर्मके अनुभागको बढ़ानेमें और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृति समूहके अनुभागको कम करनेमें समर्थ होता है। इस तरह समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धिमें कारण होनेसे प्रतिबिम्बोंकी उपासना करना चाहिए। इस रूपमें प्रतिबिम्बकी महत्ताका प्रकाशन चैत्यवर्ण जनन है।

श्रुतज्ञान केवलज्ञानकी तरह समस्त जीवादि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेमें दक्ष होता है, कर्मरूपी घामको मूलसे नष्ट करनेमें उद्यत शुभध्यानरूपी चन्दनके लिए मलयपर्वतके समान है। अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमें लगे हुए शिष्यजनोंके द्वारा अन्तःकरणसे प्रार्थनीय है

बीजं, दर्शनचरणयोः समीचीनतां प्रवर्तकं इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

दुःखात् त्रातुं, सुखं दातुं, निधीनां रत्नानां चाधिपत्ये स्थापयितुं, स्वचक्रविक्रमानमितसमस्तभूपालखे-चरदलकदम्बकचक्रवर्तिचक्रवालमालासु पातयितुं, सुरविलासिनीचित्तसंमोहावहं, नवीनविस्फुरत्कान्तिलोचन-रागमभिवर्धयन्ती, हर्षभरपरवशीभूतस्तनोदररोमाञ्चकञ्चुकमाधातुमुद्यता, कमनीयमाहात्म्या संसारविमुक्ति-अणिमादिगुणसम्पन्ना, सागरोपमादिसुदीर्घायुःप्रमाणा, सुरासुरसहस्रानुयातानेकमहत्ता, मन्दरकुलगिरि-नदीतटोपवनवेलाविहारचतुरा, सुराङ्गनापृथुलनितम्बबिम्बकठिनोन्नत—स्तनकुचतटस्पर्शालिङ्गनादिक्रियासंयोगामितप्रीतिविस्मिता, इत्थंभूतमाखण्डलपदं ददाति धर्मः, विरूपकारिणीजराडाकिनीभिर्नामसंगोचरा, शोकवृकानुपयाता, विपद्दावानल-ज्वालाभिरस्पृष्टा, रोगोरगैरदष्टा, यमसिंहपराक्रमरहिता, भीतिमृगकुलैर्दूरमनाश्रिता, संक्लेश-शरभैरनाक्रान्ता, प्रियवियोगचण्डवातैरकम्पिता, अनर्घ्यसुखरत्नप्रभवभूमिं निर्वाणं प्रापयितुं समर्थो जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथनं धर्मवर्णजननम् ॥

अर्थात् वे श्रुतज्ञानके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। अशुभ आस्रवको रोकता है। अप्रमादपना लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्षरूप ज्ञानका बीज है अर्थात् श्रुतज्ञानसे ही अन्यज्ञान पैदा होते हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें प्रवृत्त करानेवाला है। इस प्रकार कथन करना श्रुतज्ञान-का वर्णजनन है।

धर्म दुःखसे रक्षा करता है, सुख देता है, नवनिधि और चौदह रत्नोंका स्वामी बनाता है, अपने चक्ररत्नके पराक्रमसे समस्त राजाओं, विद्याधरोंको विनम्र करने वाले तथा देवगणोंको भी झुकाने वाले चक्रवर्तियोंको चरणोंमें गिराता है, धर्मके प्रभावसे बिना किसी रोकके तत्काल इन्द्र-पदवी प्राप्त होती है जो इन्द्रपदवी देवांगनाओंके चित्तको संमोहित करती है, उनके चंचल नीलके तुल्य लोचनोंमें अनुरागको बढ़ाती है, हर्षके भारसे प्रकट हुए सघन रोमांचरूपी कञ्चुकको उत्पन्न करनेमें तत्पर होती है, उसकी शोभा बढ़ानेके लिये स्वाभिमान अणिमा आदि ऋद्धियोंका सम्पादन करती है, [illegible]

प्रमाण आयु होती है, वह इन्द्रपद सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, नदी, कुलाचल आदिमें स्वेच्छापूर्वक विहार करनेमें प्रवीण होता है और देवांगनाओंके स्थूल नितम्ब, ओष्ठ, कठिन उन्नत कुचोंके साथ क्रीडा, आलोकन, स्पर्शन आदि क्रियाके द्वारा अपरिमित प्रीतिको उत्पन्न कराता है। ऐसा इन्द्रपद धर्मके प्रभावसे प्राप्त होता है। तथा जिनदेवके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षको भी प्राप्त करानेमें समर्थ है। जो मोक्ष शरीरको विरूप करने वाली जरारूपी डाकिनियोंके लिये अत्यन्त दूर है। अर्थात् वहाँ बुढ़ापा नहीं है, शोकरूपी भेड़िये वहाँ नहीं पहुँच सकते, विपत्तिरूपी वनकी आगकी ज्वाला वहाँ नहीं है, रोग रूपी सर्प वहाँ नहीं डसते, यमराजका भैंसा अपने खुरोंसे उसे खंडित नहीं करता, भयरूपी मृगरोंका समूह वहाँ नहीं पहुँचता, सैकड़ों संक्लेशरूपी शरभ वहाँ नहीं रहते, प्रियजनोंका वियोगरूपी प्रचण्ड आघात नहीं है और जो मोक्ष अमूल्य सुख रूपी रत्नोंका उत्पत्ति स्थान है वह धर्मसे प्राप्त होता है इस प्रकार धर्मके स्वरूपका कथन धर्मका वर्णजनन है।

---

१. ष्टवपुर्न-आ० मु०।

उत्तो[illegible] [illegible]हृदया, अनित्यताभावना[illegible] [illegible] जिनप्रणीताद्धर्मादृतात् नैव [illegible] ध्वान्तसंततय, कर्मागमाशने, [illegible] चैतन्यादिलक्षणोऽनोरभेदात्पृथगात्मनो [illegible], [illegible]द्वेषा, सदसद्वेद्यकर्मनिमित्तत्वेन [illegible] शुभाशुभकर्मणो निर्माणे। [illegible] मत्वा स्वजनपरजनविवेकनिरुत्सुका [illegible] पासादिपरीषहमहारातिसंभ्रमणाप्यमाप्त [illegible], [illegible] पालनोद्युक्तमतय, शृतानुणवचना, [illegible] मोद्यता साधव इति साधुमाहात्म्यप्रकाशन साधुवर्णजननं।

मुक्ताहारपयोधरनिशाकर[illegible] [illegible]प्रत्युपकारा[illegible], निरा[illegible]

प्रियवचन बोलनेमे वाचाल बन्धुजन कठिनतासे टूटने वाली सांकलके समान है किन्तु साधुगण इस सांकलको तोड डालते है. उनका हृदय अनन्त दुस्तर संसाररूपी भवमें चिरकाल तक भ्रमण करनेसे भयभीत रहता है, चित्तको अनित्य भावनाके भानेमे लगे रहनेसे शरीर धन-सम्पत्ति आदिमे उनका आदरभाव नही होता. जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये धर्मके सिवाय अन्य किसीके दु खोके समूहसे रक्षा करनेमे समर्थ न होनेसे वे उसी धर्मकी शरणमें रहते हैं, ज्ञानरूपी रत्नमयी दीपककी प्रभाके समूहसे उन साधुओंने लोक रूपी भवनमें रहने वाले अज्ञान रूपी अन्धकारकी परम्पराको नष्ट कर दिया है, उनका यह निश्चय है कि कर्मोंके बांधनेमें, उनका फल भोगनेमें और उन्हे नष्ट करनेमे हम अकेले ही हैं, चैतन्य आदि असाधारण लक्षणके भेदसे हम अन्य सब द्रव्योके समूहसे भिन्न हैं इस प्रकार वे अन्यत्व भावनामे आसक्त रहते हैं। न सुखमें आदरभाव रखते है और न दु खसे द्वेष करते हैं। साता और असाता वेदनीय कर्मके उदयके निमित्तसे मेरा आदर या निरादर होता है, अत अपने उपकार और अपकारका कर्ता मैं ही हू, अपने शुभ अशुभ कर्मोके निर्माणमे मैं स्वतन्त्र हूँ–उसीके द्वारा मेरा अनुग्रह या निग्रह होता है, दूसरे बेचारे इसमे क्या करते हैं ? ऐसा मानकर वे स्वजन और परजनमें भेद बुद्धि करनेमे उदासीन होते हैं। चहुओरसे शक्तिशाली उपसर्गरूपी भयानक सर्पोंसे घिरे होनेपर भी वे अविचल रहते हैं। भूख प्यास आदि परीषह रूपी महान् शत्रुओका अचानक आक्रमण होनेपर भी उनकी चित्तवृत्ति दीनता और संक्लेशसे रहित होती है। तीन गुप्ति रूपी गुप्तिका आश्रय लेते है, अनशन आदि तप रूपी राज्यका पालन करनेमें उनकी बुद्धि लगी रहती है, पूर्णव्रत रूपी कवच धारण करते हैं। शील रूपी खेटमे बसते है, ध्यानरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार रखते है, उसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाको वशमे करनेके लिये तत्पर रहते हैं। इस प्रकार साधुओंके माहात्म्यको प्रकट करना साधुवर्गका वर्णजनन है।

आचार्य मोतीका हार, मेघ, चंद्रमा, सूर्य और कल्पवृक्ष आदिकी तरह प्रत्युपकारकी

---

१. कर्मारोपणे–आ० मु०। २ दुरुपरित–आ० मु०।

परिग्रहत्यागे मार्गे स्थिताः, परानपि विनयाभिनेयान् प्रवर्तयन्तः आयतानि विपुलज्ञानपृथुदर्शनलोचनाः, सुशीलाः, विनताः, विभयाः, विमानाः, विरागाः, विशल्याः, विमोहाः, वचसि तपसि महसि चाद्वितीयाः इति आचार्यगुणवर्णजननम्।

अधिगतश्रुतार्थतया वाच्यवाचकानुरूपव्याख्यातारः, निरस्तनिद्रालस्यप्रमादाः, सुचरित्राः, सुशीलाः, सुमेधसः, इत्याद्युपाध्यायवर्णजननम्।

रत्नत्रयलाभमन्तरेण अनादिनिधनेऽपि भवार्णवे गतिर्न निर्वाणपुरस्येति तल्लाभे च सकलाः संपदः सुलभाः इति मार्गवर्णजननम्।

मिथ्यात्वपटलविपाटनपटीयसी, ज्ञानवैमल्यकारिणी, अशुभगतिगमनप्रतिबन्धविधायिनी, मिथ्यादर्शनविरोधिनीति निगदनं सद्दर्शनवर्णजननम्।

सर्वज्ञतावीतरागते नार्हति विद्येते रागादिभिरविद्यया च अनुगताः समस्ता एव प्राणभृत इत्यादिरर्हदवर्णवादः।

स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यालंकारादिविरहिणां सिद्धानां सुखं न किंचित् अतीन्द्रियाणां तेषां समधिगमे न निबन्धनमस्ति किंचिदिति सिद्धावर्णवादः।

स्वसंकल्पाभिरयमर्हन्नेव सिद्धादिः इत्यर्थान्तरस्य स्थापनायामपि दारिकाणां कृत्रिमपुत्रकव्यवहृतिरिव

अपेक्षा न करके कल्याणमें लगे रहते है, मोक्षपुरीको प्राप्त करानेमें समर्थ निर्मल मार्गमें स्थित होते है, दूसरे भी विनम्र शिष्योंको मोक्ष मार्गमें लगाते है, विस्तृत और अतिधवल ज्ञान और महान् दर्शनरूपी उनके नेत्र होते है। वे सुशील, विनीत निर्भय, मानरहित, रागरहित, शल्यरहित, मोहरहित होते हैं। वचनमें और तप तथा तेजमें अद्वितीय होते है इस प्रकार कहना आचार्यका वर्णजनन है।

उपाध्याय श्रुतके अर्थके ज्ञाता होनेसे वाच्य और वाचकके अनुरूप अर्थात् जिस शब्दका जो अर्थ है वही यथार्थ रूपसे व्याख्यान करते हैं। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे दूर रहते है, वे अच्छे चरित्र, अच्छे शील और उत्तम मेधासे सम्पन्न होते हैं, ऐसा कहना उपाध्यायका वर्णजनन है। रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे यह अनादि निधन भी भव्य जीवराशि अनन्तकालसे मोक्षपुरीको नहीं जा पाती। उसके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण सम्पदाएँ सुलभ है इस प्रकार मोक्षमार्गकी प्रशंसा करना मार्ग वर्णजनन है।

सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व पटलको उखाड़ फेंकनेमें समर्थ है, ज्ञानको निर्मल करता है, अशुभ गतिमें गमनको रोकता है, मिथ्यादर्शनका विरोधी है ऐसा कथन समीचीन दृष्टिका वर्णजनन है। अर्हन्त भगवान्में सर्वज्ञता और वीतरागता नहीं होती, सभी प्राणी रागादि और अज्ञानसे युक्त होते है इत्यादि कहना अर्हन्तोंका अवर्णवाद है अर्थात् यह मिथ्यादोष लगाना है।

स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलंकार आदिसे रहित सिद्धोंको कुछ भी सुख नही है। वे तो अतीन्द्रिय हैं उनको जाननेका कोई साधन नहीं है, ऐसा कहना सिद्धोंका अवर्णवाद है। अपनी कल्पनासे यही अर्हन्त है और ये सिद्ध आदि हैं इस प्रकार अन्यतम पदार्थमें अर्हन्त आदिकी स्थापना करने पर भी जैसे बालिकाएँ खेलमें गुड्डा गुड्डी आदिमें पुत्रादिका काल्पनिक व्यवहार

---

१. या इव भूषणं गुणस्य इति मूरि–आ० मु०। २. वाच्यमध्यस्थमु–आ०।

न मुख्य[illegible] [illegible] फलम्[illegible]। न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
दादित्वमिति चैत्यावर्णवादः ।

[illegible] [illegible] [illegible] गुणो [illegible], [illegible]
कथं सत्यं ? तदुत्पन्नं च ज्ञानं कथं [illegible] [illegible] ।

दुर्गतिप्रतिबन्ध स्वर्गादि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ? न हि [illegible]
कार्यस्यानुद्भवोऽस्ति यथांकुरस्य । सुखदश्चेत् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति धर्मा-
वर्णवाद ।

अहिंसादिव्रतपालनोद्यता [illegible] [illegible] । [illegible] न सुखते तदभा-
कायाकुले लोके वर्तमानाः [illegible] [illegible] [illegible] पीडयन्तो न कथं [illegible] ? अदृष्टात्म-
विषय, धर्म, पाप, तत्फल च वदतां कथं [illegible] ? इति साध्वर्णवादः । [illegible]।

विरुद्धाना एकत्र धर्माणामसम्भवात् [illegible] न सम्यक् । तदभिरुचे
समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वान्मृगतृष्णोदकश्रद्धवत्, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक् । उरगभ्र-
बलाद्रज्जुपरिहार इवेति प्रवचनावर्णवाद ।

करती है उस तरह मुख्य अर्हन्त आदिकी सेवासे होने वाला फल प्राप्त नही होता। तथा प्रतिबि
आदिमें स्थापित अर्हन्त नहीं है क्योंकि उनमें उनके गुण नहीं है इसलिये प्रतिबिम्ब आदि अर्ह
आदि नहीं है ऐसा कहना चैत्यका अवर्णवाद है।

अर्हन्तके द्वारा कहा गया श्रुत पुरुषके द्वारा कहा होनेसे 'दस अनार' जैसे वचनोंकी त
यथार्थ नहीं है। अतीन्द्रिय वस्तु पुरुषके ज्ञानका विषय नहीं हो सकती। और बिना जाने उप
देने वालेके वचन कैसे सत्य हो सकते है। तथा उनसे होने वाला ज्ञान कैसे सच्चा हो सकता
इस प्रकार कहना श्रुतका अवर्णवाद है।

धर्म दुर्गतिको रोकता है और स्वर्गादि फल देता है, बिना देखे इसपर कैसे श्रद्धा की
सकती है। जिस कार्यके कारण वर्तमान हो वह कैसे उत्पन्न नही होगा जैसे अंकुर। यदि
सुखदाता है तो अपनी उत्पत्तिके पश्चात् ही आत्माको सुख क्यों नहीं करता। ऐसा कथन धर्म
अवर्णवाद है।

अहिंसा आदि व्रतोंका पालन करनेमें जो तत्पर है उन्हे साधु, आचार्य और उपाध्
कहते है। किन्तु अहिंसा व्रत ही इनके नही है। जो छह प्रकारके जीवोंसे भरे संसारमें रहत
वह अहिंसक कैसे हो सकता है ? तथा केशलोच आदिसे जो आत्माको पीड़ा पहुँचाते हैं वे आ
घातके दोषी क्यों नहीं हैं ? जिन्हे देखा नही है ऐसे आत्माके विषय धर्म, पाप, उनका फल कह
वालोंके सत्यव्रत कैसे हैं, ऐसा कहना साधुका अवर्णवाद है। इसी प्रकार आचार्य और उपाध्या
का भी अवर्णवाद जानना।

एक वस्तुमें परस्परमें विरुद्ध धर्म असम्भव है। अतः परस्परमें विरुद्ध धर्मोंका आध
एक वस्तुको कहना सम्यक् नही है। जो इसमें अभिरुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है क्यो
उसका ज्ञान विपरीत है जैसे मरीचिकामें जलकी श्रद्धा करनेवालेकी श्रद्धा विपरीत है। त
मिथ्याज्ञानका अनुसारी होनेसे उसका चारित्र भी सम्यक् नही है। जैसे सर्प जानकर रस्सी
हटाना सम्यक् नही है। इस प्रकारका कथन प्रवचनका अवर्णवाद है।

एतेनावर्णवादानामसंभवप्रदर्शनं । पुरुषत्वाद्रथ्यापुरुषवत् सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवत्यर्हन् इति साधनमनुपपन्नं । असर्वज्ञतावीतरागता चान्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्तेरभावात् । जैमिन्यादयो न सकलवेदार्थज्ञाः पुरुषत्वाद्रथ्यापुरुषवत् इति शक्यं वक्तुम् । सर्वज्ञतावीतरागतासिद्धिरन्यत्र निरूपितेति नेह प्रतन्यते । दुःखप्रतिकारार्थं वस्तु सुखानां सुखसाधनतया प्रवृत्ताः शरीरायासमात्रत्वान्न कामिनीसमागमसुखं । वैकल्यनाशनैर्वस्त्रादिभिर्न किं कृत्यं सिद्धानां । अशरीराणां समस्तदुःखापायरूपं सुखं अविकल्पमनन्तज्ञानात्मकं चैतन्यवर्तनं । श्रुतं विद्यते तदधिगमे । शुभोपयोगनिमित्तमर्हदादीनामिव प्रतिबिम्बानामिति न बुद्ध्यो-दीरितव्या ॥४६॥

एवं दंसणमाराहंतो मरणे असंजदो जदि वि कोवि ॥
सुविसुद्धतिव्वलेस्सो परित्तसंसारिओ होदि ॥४७॥

एवमित्यनया गाथया असंयतसम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वमाराधयतः फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः । नैर्ग्रन्थ्यमेव मोक्षमार्गः प्रकृष्ट इति ।

'सद्दहया' पत्तियया रोचय फासन्तया पवयणस्स ।
सयलस्स जेण एदे सम्मत्ताराहया होंति ॥'

श्रद्दधानाः शङ्कादिकमपाकुर्वन्ति उपबृंहणादिभिः सम्यक्त्वस्य शुद्धिं वर्धयन्तः प्रीतिं दर्शनविनयं

इन अवर्णवादोंको असम्भव दिखलाते हैं—

पुरुष होनेसे राह चलते पुरुषकी तरह अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग नहीं है। यहाँ पुरुष हेतु ठीक नहीं है क्योंकि असर्वज्ञता और अवीतरागताके बिना पुरुष नहीं होता ऐसी अन्यथानुपपत्ति नहीं है। इस तरहसे यह भी कहा जा सकता है कि जैमिनि आदि समस्त वेदार्थके ज्ञाता नहीं हैं, पुरुष होनेसे, जैसे भेड़ चरानेवाला व्यक्ति। सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्य ग्रन्थोंमें कही है इसलिए यहाँ उसका विस्तार नहीं करते।

जो वस्तु दुःखका प्रतीकार करनेके लिए है, अज्ञानी उन्हें सुखका साधन मान लेते हैं। स्त्री सम्भोग सुख नहीं है वह तो शारीरिक श्रममात्र है। तथा विरूपताको नष्ट करनेवाले वस्त्रोंसे सिद्धोंको क्या करना है? वे तो शरीर रहित हैं उनमें समस्त दुःखोंका विनाशरूप अनन्तज्ञानात्मक सम्पूर्ण सुख है। इसके जाननेके लिए श्रुत वर्तमान है। तथा जैसे अर्हन्त शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं उसी तरह उनके प्रतिबिम्ब भी होते हैं। इसलिए यह बौद्धिक कल्पनामात्र नहीं है ॥४६॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाला मरते समय यदि कोई असंयत होता है किन्तु सुविशुद्ध तीव्र लेश्या वाला अल्प संसारी होता है ॥४७॥

टी०—'एवं' इत्यादि गाथाके द्वारा सम्यक्त्वकी आराधना करने वाले असंयत सम्यग्दृष्टिका फल कहते हैं। 'एवं' पद पूर्वोक्त कथनके लिये आया है कि निर्ग्रन्थता ही उत्कृष्ट मोक्ष मार्ग है।

मनसे श्रद्धान करने वाले, यही उत्तम है ऐसा वचनसे प्रीति प्रकट करने वाले, सर्वेनादिसे रुचिको दर्शानेवाले और समस्त प्रवचनका अनुष्ठान करने वाले ये सब सम्यक्त्वके आराधक होते हैं॥

अर्थात् जो श्रद्धान करते हुए शंका आदिको दूर करते हैं और उपबृंहण आदिसे सम्यक्त्वकी

---

१. संवादार्थं व्याख्यातृभिः सूत्रे पठिता गाथा यथा-मूलारा० ।

'जो पुण मिच्छादिट्ठी' [illegible] । [illegible] दृढचारित्रो वा अदृढचारित्रो वा । 'कालं करेज्ज' [illegible] । [illegible] विरदि । 'आराधगो' आराधको भवति । [illegible] कस्यचिदपि नाराधक इति वाक्यम् । अन्यथा [illegible] इत्ययुक्तं स्यात् ॥५४॥

अथ को मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्ववान् । अथ [illegible]

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं ।
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं ॥५५॥

'तं' तत् । 'मिच्छत्तं' मिथ्यात्वं । 'होदि' भवति । 'जं' यत् 'असद्दहणं' अश्रद्धानं 'तच्चाणं' 'अत्थाणं' तत्त्वार्थानामनन्तद्रव्यपर्यायात्मकानां जीवादीनां । अर्थस्य [illegible] अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेन्न मिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य [illegible] संभवात् । तस्य भावस्तत्त्वं तत्त्वशब्दो भाववचन । [illegible] कथं समानाधिकरणतेति न दोष । [illegible]

चारित्र तो उसके है अत. वह उनका आराधक हो सकता है ? इस शंकाको दूर क[illegible]
कहते हैं—

गा०—जो पुन मिथ्यादृष्टि है वह दृढ चारित्र वाला अथवा अदृढ चारित्र वाल[illegible]
मरण करे तो वह किसीका भी आराधक नही ही होता ॥५४॥

टी०—जो मिथ्यादृष्टि अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित है वह दृढ चारित्र वा[illegible] अदृढ चारित्र वाला हो और मरण करे तो वह ज्ञान या चारित्रका भी आराधक न[illegible] क्योंकि सम्यक्त्वके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नही होते। इसलिये रत्नत्रयमे[illegible] का भी वह आराधक नही है ऐसा अर्थ लेना चाहिये । यदि ऐसा अर्थ नही लिया जाये [illegible] दर्शन आदिका वह आराधक ही होनेसे 'किसीका भी आराधक नही' ऐसा कहना [illegible] होगा ॥५४॥

जो मिथ्यात्ववान् है वही मिथ्यादृष्टी है। तब वह मिथ्यात्व क्या है और उस[illegible] भेद है ? यह कहते हैं—

गा०—जो तत्त्वार्थोंका अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है उसके तीन भेद है। संशयमे[illegible] मिथ्यात्व, अभिगृहीत मिथ्यात्व और अनभिगृहीत मिथ्यात्व ॥५५॥

टी०—तत्त्वार्थ अर्थात् अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक जीवादिका अश्रद्धान मिथ्यात्व है[illegible]

शंका—अर्थका तत्त्व विशेषण देना निरर्थक है क्योंकि अतत्त्वरूप अर्थका अभाव [illegible]

समाधान—नही, क्योंकि मिथ्याज्ञानके द्वारा दिखलाये गये नित्यता क्षणिकता [illegible] किसी एक धर्म वाला अतत्त्वरूप अर्थ संभव है।

शंका—तत्के भावको तत्त्व कहते हैं। तत्त्व शब्द भाव वाचक है और अर्थ शब्द [illegible] को कहता है। अत ये दोनो भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले हैं। इनका सामानाधिकरण्[illegible] सकता है ?

समाधान—यह दोष नही है क्योंकि [illegible]

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति'। अथवाप्यधिकरणतैव। अर्थानां जीवादीनां यानि तत्त्वानि अवि-
परीतानि रूपाणि तेषामश्रद्धानं यस्मिन्मिथ्यात्वं इति संबंधः क्रियते। 'संसयिदं' संशयितं किंचित्तत्त्वमिति।
तत्त्वानवधारणात्मक संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितं। न हि संदिग्धस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थ-
मेवेति, निश्चयप्रत्ययसहभावित्वात् श्रद्धानस्य। 'अभिग्गहिद' परोपदेशाभिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अश्रद्धानं
अभिगृहीतमुच्यते। एतदुक्तं भवति। न सन्ति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृह्णाति सन्ति जीवादीनि नित्यान्येवेति
वा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्त्वे अनेकान्तात्मकत्वे चोपजातं अश्रद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति। परो-
पदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वं ॥५५॥

मिथ्यात्वदोषमाहात्म्यख्यापनायाह—

जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति ॥
ते तस्स कडुगदुद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला ॥५६॥

'जे वि' हिंसा नाम प्रमादवतः प्राणेभ्यो वियोगकरणं प्राणिनस्ततो निवृत्तिरहिंसा। असदभिधाना-
द्विरतिः सत्यम्। अदत्तादानाद्विरतिरस्तेयं मैथुनाद्विरतिर्ब्रह्म। ममेदं भावो मोहोदयजः परिग्रहः। ततो
निवृत्तिरपरिग्रहता। एते अहिंसादयो गुणा परिणामा धर्म इत्यर्थः।

ननु सहभुवो गुणा इति वचनात् चैतन्यामूर्तत्वादीनामेवात्मनः सहभुवां गुणता। हिंसादिभ्यो विरति-

---

अर्थमें रहता है। ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है—जैसे तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अथवा अन्य प्रकारसे भी अधिकरणता है—'अर्थ' अर्थात् जीवादिके, जो 'तत्त्व' अर्थात् अविपरीत रूप हैं उनका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है ऐसा सम्बन्ध किया जाता है।

तत्त्वका निर्णय न करने वाले संशय ज्ञानका सहचारी जो अश्रद्धान है वह संशयित मिथ्यात्व है। जो सन्देहमें है उसके तत्त्वविषयक श्रद्धान नहीं है क्योंकि श्रद्धान 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारके निश्चयात्मक ज्ञानके साथ ही रहता है। परोपदेशकी मुख्यतासे गृहीत अर्थात् स्वीकार किया गया अश्रद्धान अभिगृहीत कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'जीवादि द्रव्य नहीं हैं यह स्वीकार करो। या जीवादि हैं किन्तु नित्य ही हैं' इस प्रकार जब दूसरेके वचनको सुनकर जीवादिके अस्तित्वमें या उनके अनेकान्तात्मक होनेमें जो अश्रद्धान या अरुचि उत्पन्न हो वह अभिगृहीत मिथ्यात्व है और परोपदेशके बिना भी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अश्रद्धान उत्पन्न होता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है॥५५॥

गा०—जो भी अहिंसा आदि गुण मरते समय मिथ्यात्वके द्वारा दूषित होते हैं, वे उस दूषित गुण वाले आत्माके कड़वी तूंबीमें रखे गये दूधकी तरह निष्फल होते हैं॥ ५६॥

टी०—प्रमादवानके द्वारा प्राणिके प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। उस हिंसासे निवृत्तिको अहिंसा कहते हैं। असत् कहनेसे निवृत्तिको सत्य कहते हैं। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरतिको अचौर्य कहते हैं। मैथुन सेवनसे विरतिको ब्रह्मचर्य कहते हैं। मोहके उदयसे होने वाले 'यह मेरा है' इस प्रकारके भावको परिग्रह कहते हैं। उससे निवृत्तिको अपरिग्रह कहते हैं। ये अहिंसा आदि गुण अर्थात् अहिंसादि रूप परिणाम धर्म हैं।

शङ्का—जो द्रव्यके साथ होते हैं वे गुण हैं ऐसा वचन है। उसके अनुसार चैतन्य अमूर्तत्व

---

१. यद्दंसा–आ० मु०।

परिणाम. पुन. कादाचित्कत्वात् मनुष्यत्वादिक्रोधादिवत्पर्याया, इति चेन्ननु गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यादावुभयोपादाने अर्थान्तरभेदोपदर्शनमेव यथा 'गोबलीवर्दम्' इत्युभयोपादाने पुनरुक्ततापरिहृतये स्वीगोशब्दवाच्या इति कथनमेवस्यैव गुणशब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता।

अहिंसादयश्च ते गुणा अहिंसादिगुणा। 'मिच्छत्तकडुगिदा' मिथ्यात्वेन तत्त्वार्थाश्रद्धानेन। कडुगिदा कटूकृता कटुकतां गता। 'होंति' भवति। कदा मरणे मरणकाले ते अफला भवंति। कस्य मिथ्यात्वकटूकृताहिंसादिगुणस्यात्मन। किमिव ? दुद्धव क्षीरमिव। कीदृग्भूतं ? 'कडुअलाबुगदं' कटुकालाबुगतम् यथा अफल फलरहितं। पित्ताद्युपशमन प्रीतिरित्यादिक यत्फल क्षीरस्य प्रतीतं तेन फलेन अफल जातम्। यथा क्षीर भाजनदोषादेवं मिथ्यात्ववत्यात्मनि स्थिता अहिंसादिगुणा स्वसाध्येन फलेन न फलवत.। पचानुत्तरविमानवासित्व लौकान्तिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिह गृहीत। अहिंसादयो न स्वोचितफलातिशयदायिनः दुष्टभाजनस्थितत्वात् कटुकालाबुगतपयोवदिति गूढार्थ ॥५६॥

न केवल फलातिशयाकारित्व अहिंसादिगुणाना, अपि तु मिथ्यात्वकटुकिते स्थिता दोषानपि कुर्वन्ति इत्याचष्टे—

जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण संजुदं संत ॥
तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होंति ॥५७॥

'यथा भेसजं वि' इति स्पष्टतया न व्याख्यायते। 'मिच्छत्तविसजुदा' मिथ्यात्वेन विषेण संबद्धा

आदि जो आत्माके साथ रहते हैं वे ही गुण हैं। हिंसादिके त्याग रूप परिणाम तो कभी होते हैं, कभी नही होते। अत मनुष्यत्वकी तरह या क्रोधादिकी तरह पर्याय हैं, गुण नही हैं ?

समाधान—'गुण पर्यायवान्‌को द्रव्य कहते हैं' इत्यादिमे गुण और पर्याय दोनोंका ग्रहण किया है। जैसे 'गोबलीवर्द' यहाँ गो और बलीवर्द दोनोंको ग्रहण करने पर पुनरुक्तता दोष आता है क्योंकि दोनो शब्दोका अर्थ एक है। इस पुनरुक्तता दोषको हटानेके लिये 'गो' शब्द गायका वाचक है ऐसा कहा है। एक गुण शब्दका ग्रहण करने पर वह धर्ममात्रको कहता है अतः कोई दोष नही है। ये अहिंसादि गुण मरते समय यदि तत्त्वके अश्रद्धान रूप मिथ्यात्वसे दूषित होते हैं तो मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसा आदि गुण वाले आत्माके कटुक तूम्बीमे रखे दूधकी तरह निष्फल होते हैं। दूधका फल पित्त आदिको शान्त करना प्रसिद्ध है। किन्तु भाजनमे दोष होनेसे वह दूध फल रहित होता है। इसी तरह मिथ्यात्ववान् आत्मामे रहने वाले अहिंसा आदि गुण अपना साध्य जो फल है उससे फलवान नही है। यहाँ पाँच अनुत्तर विमानका वासी देव होना या लौकान्तिकदेव होना इत्यादि अभ्युदयरूप फलका ग्रहण किया है। अत कटुक तूम्बीमे रखे दूधकी तरह सदोष भाजनमे रहनेके कारण अहिंसा आदि अपने उचित फलातिशयको नही देते, यह गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥ ५६ ॥

अहिंसा आदि गुण केवल फलातिशयकारी ही नही है, बल्कि मिथ्यात्वसे कलुषित आत्मामें स्थित अहिंसादि दोष भी करते है, यह कहते है—

गा०—जैसे औषध भी विषसे सम्बद्ध होने पर दोष करती है। उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी दोषकारी होते हैं ॥ ५७ ॥

टी०—जिस मिश्रित औषधकी तरह मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी

'गुणा वि' गुणा अपि अहिंसादयो गुणा अपि। 'दोसावहा' दोषावहा संसारे चिरकालभ्रमणदोषमावहन्तीत्यर्थः। अथवा मिथ्यादृष्टेर्गुणा पापानुबंधि स्वल्पमिन्द्रियसुखं दत्वा बह्वारम्भपरिग्रहादिषु आसक्तं नरके पातयन्ति इति दोषावहा। दृष्टान्तप्रदर्शनेन इष्टनिर्वृतिः प्राप्तिश्च मिथ्यात्वमाहात्म्यान्न भवतीति प्रमाणेन दर्शयितु गाथाद्वयमायातम् ॥५७॥

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं।
अण्णतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥५८॥

इत्यनेन प्रकृष्टगमनसामर्थ्याद्भ्रमण'माख्यातम्। 'अण्णतो गच्छतो' इत्यनेन सन्मार्गाप्रवृत्तत्वात् इत्ययं हेत्वर्थो दर्शितः। तेन इष्टं देशं न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदर्शितः। 'सगिच्छदं देस जह पुरिसो णेव पाउणदि' इत्यनेन दृष्टान्त उपदर्शितः ॥५८॥

धणिदं पि संजमतो मिच्छादिट्ठी तहा ण पावेई।
इट्ठं णिव्वुइमग्गं उग्गेण तवेण जुत्तो वि ॥५९॥

'धणिद' इति नितरामपि। 'संजमतो' चारित्रे वर्तमानोऽपि। 'उग्गेण तवेण जुत्तोवि' उग्रेण तपसा युक्तोऽपि, नैव निर्वृतिं प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्माख्यानम्। मिच्छादिट्ठी इत्यनेन साध्यधर्मि दर्शितम्। एवं प्रमाणरचना कार्या—

मिथ्यादृष्टिर्नेष्टं प्राप्नोति सन्मार्गावृत्तित्वात्। यः स्वप्राप्यस्य मार्गे न प्रवर्तते न स समभिमतं प्राप्नोति। यथा दक्षिणमथुरातः पाटलिपुत्रं प्राप्तुमिच्छुः दक्षिणां दिशं गच्छन्निति। 'णिव्वुदि' निर्वृतिं।

दोषावह होते है अर्थात् संसारमें चिरकाल तक भ्रमणरूपी दोषको करनेवाले होते है। अथवा मिथ्यादृष्टिके गुण पापका बन्ध करानेवाले थोडेसे इन्द्रिय सुखको देकर बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमें आसक्त उस जीवको नरकमें गिराते है यह दोष कारक है। दृष्टान्त द्वारा दिखलानेसे मिथ्यात्वके माहात्म्यसे इष्टकी उत्पत्ति और प्राप्ति नही होती, यह प्रमाण द्वारा बतलानेके लिए दो गाथाएँ आई हैं।

गा०—जैसे एक दिनमें सौ योजन भी चलनेवाला यदि अन्य मार्गसे जाता है तो वह पुरुष अपने इच्छित देशको नहीं प्राप्त होता ॥५८॥

टी०—इससे चलनेकी उत्कृष्ट सामर्थ्य होनेमें संसार भ्रमण कहा है। अन्यत्र जानेवाला' इस पदसे 'अपने मार्गपर न चलनेसे' इस हेतु अर्थको दिखलाया है। अपने इच्छित देशमें न पहुँचनेमें हेतु है उसका सही मार्गसे न चलना। इष्ट देशको प्राप्त नहीं होता' यह साध्य धर्म दृष्टान्त द्वारा बतलाया है। अर्थात् प्रतिदिन सौ योजन चलनेवाला मनुष्य अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नही होता क्योंकि वह सही मार्गसे नही जाता ॥५८॥

गा०—उसी प्रकार अत्यन्त भी चारित्रका पालन करनेवाला उग्र तप करते हुए भी मिथ्यादृष्टि इष्ट प्रधान मोक्ष नही पाता ॥५९॥

टी०—मिथ्यादृष्टि इष्टको प्राप्त नही करता, क्योंकि इष्टके मार्गपर नही चलता। जो अपने इष्टकी प्राप्तिके मार्गपर नहीं चलता, वह अपने इष्टको प्राप्त नही करता। जैसे दक्षिण

१. बलमाख्यातं–अ०।

'अग्ग' अग्रया। अथवा निर्वृतिस्तुष्टिर्यया गतो निर्वृतिर्मनस्तुष्टिरित्यर्थः। निर्वृतेमार्गमुपायं क्षायिकज्ञानचारित्राख्यम्। स्पष्टतया न प्रतिपदं व्याख्या कृता ॥५९॥

व्रतेन शीलेन तपसा वा युक्तोऽपि मिथ्यात्वदोषाच्चिरं संसारे परिभ्रमति इतरस्मिन्व्रतादिहीने किं वाच्यमिति दर्शयति—

जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वदं गुणो चावि।
सो मरणे अप्पाणं किह ण कुणई दीहसंसारं ॥६०॥

स्वल्पापि मिथ्यात्वविषकणिका कुत्सितासु योनिषु उत्पादयति किमस्ति वाच्यं सर्वस्य जिनदृष्टस्याश्रद्धाने इति गाथाया अर्थः ॥६०॥

एक्कं पि अक्खरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणदिट्ठं ॥
सो वि कुजोणिणिवुड्डो किं पुण सव्वं अरोचंतो ॥६१॥

एवम्भूतस्य बालबालमरणप्रवृत्तस्य भव्यस्य सख्याता, असंख्याता, अनंता वा भवन्ति भवाः। अभव्यस्य तु अनंतानंता। मिथ्यादर्शनदोषमाहात्म्यसूचनं संसारमहत्ताख्यापनेन क्रियतेऽनया गाथया ॥६१॥

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति बालबालम्मि ॥
सेसा भव्वस्स भवा णंताणंता अभव्वस्स ॥६२॥

मथुरासे पाटलीपुत्र जानेका इच्छुक यदि दक्षिण दिशामें जाता है तो वह पाटलीपुत्र नहीं पहुँच सकता। उसी तरह मिथ्यादृष्टि भी प्रधानभूत मोक्षको नहीं प्राप्त करता; क्योंकि निर्वृत्ति अर्थात् मोक्षका मार्ग या उपाय क्षायिकज्ञान और क्षायिकचारित्र है अथवा निर्वृत्तिका अर्थ तुष्टि है। जैसे मनकी निर्वृत्तिका अर्थ मनकी तुष्टि है। अर्थात् उसे अनन्तसुख प्राप्त नहीं होता। स्पष्टरूपसे प्रत्येक पदकी व्याख्या नहीं की है ॥५९॥

आगे कहते हैं कि जब व्रत, शील और तपसे युक्त होनेपर भी मिथ्यात्व दोषके कारण चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है तब जो व्रतादिसे हीन है उसका तो कहना ही क्या है—

गा०—जिस मिथ्यादृष्टिके शील व्रत अथवा ज्ञानादि भी नहीं हैं वह मरनेपर कैसे अनन्त संसार नहीं करता है ॥६०॥

टी०—यदि मिथ्यात्वरूपी विषकी छोटी-सी भी कणिका कुत्सित योनियोंमें उत्पन्न कराती है तो जिन भगवान्‌के द्वारा देखे गये समस्त तत्त्वोंका श्रद्धान न होनेपर तो कहना ही क्या है? ॥६०॥

गा०—जिन भगवान्‌के द्वारा देखा गया एक भी अक्षर जिसे रुचता नहीं है वह मरे तो वह भी कुयोनियोंमें डूबता है, तब जिसे सब ही नहीं रुचता उसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥६१॥

टी०—बालबालमरणसे मरनेवाले भव्यके संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव होते हैं और अभव्यके तो अनन्तानन्त भव होते हैं। इस गाथासे संसारकी महत्ताका कथन करनेके द्वारा मिथ्यादर्शन दोषके माहात्म्यका सूचन किया है ॥६१॥

बालबालं मरणं संक्षेपेण वा इत्यन्यता ।

सप्तदशमरणविकल्पेषु पंचमरणान्यत्राभिधने इति प्रतिज्ञातं । तत्र पण्डितमरणं प्रायोपगमनमरणं इंगिनीमरणं भक्तप्रत्याख्यानमिति त्रिविकल्पं सूचितं । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राग्वर्णनीयमिति दर्शयति सूत्रकारः

स्वरूपेण प्रशस्तमरणप्रकरणम—

पुव्वं ता वण्णेमि भत्तपइण्णं पसत्थमरणेसु ॥
उस्सण्णं सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ॥६३॥

'पुव्वं' पूर्वं प्रथमं तावत् । 'वण्णेमि' वर्णयिष्यामि । 'भत्तपइण्णं' भक्तप्रत्याख्यानम् । 'पसत्थमरणेसु' प्रशस्तमरणेषु त्रिविकल्पेषु निर्धारणलक्षणा चेयं सप्तमी । यथा—कृष्णा गोषु संपन्नक्षीरतमेति समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं । प्रशस्तमरणसमुदायात् भक्तप्रत्याख्यानं पृथक्क्रियमाणं । पूर्वं भक्तप्रत्याख्यानस्य एतत्कालयोग्यत्वेन गुणोऽस्ति भवति । उस्सण्णं नितरां बाहुल्येन प्रवर्तमानं । सण्णा सा चेव भक्तप्रत्याख्यानमेव । सापेक्षस्वरूपत्वात् । एतर्हि काले इति वाक्यशेषः कार्यं ।

संहननविशेषसमन्वितानां इतरमरणद्वयं । न च संहननविशेषा । वज्रऋषभनाराचादय अधुनेह सुषमिश्रेत्रे सन्ति इति । 'सेसाणं' शेषयोः प्रायोपगमनस्य इंगिनीमरणस्य च । वण्णणा वर्णनं । 'पच्छा' इति पश्चात् ।

गा०—बाल-बाल मरणसे मरनेपर भव्य जीवके संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव शेष होते हैं । अभव्यके अनन्तानन्त भव होते हैं ॥६२॥

टी०—इस गाथाके साथ बाल-बालमरणका कथन समाप्त हुआ । मरणके सतरह भेदोंमेंसे यहाँ पाँच मरणका कथन करते हैं ऐसी प्रतिज्ञाकी थी । उनमेंसे जो पंडित मरण है उसके प्रायोपगमन मरण, इंगिनी मरण और भक्त प्रत्याख्यान ये तीन भेद सूचित किये थे । उनमेंसे प्रथम भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करनेकी सूचना ग्रन्थकार आगेकी गाथासे स्वयं करते हैं—

गा०—प्रशस्त मरणोंमें पहले भक्त प्रत्याख्यानको कहूँगा । क्योंकि वह भक्त प्रत्याख्यान ही बहुतायतसे प्रचलित है । शेष मरणोंका वर्णन पीछे करेंगे ॥६३॥

टी०—जिनका यहाँ व्याख्यान किया जाता है उन प्रशस्त मरणोंमेंसे भक्त प्रत्याख्यानको पहले कहूँगा । यहाँ यह सप्तमी विभक्ति निर्धारण करनेके अर्थमें है, जैसे गौओंमें काली गाय बहुत अधिक दूध देती है । समुदायसे उसके एक देशको पृथक् करनेको निर्धारण कहते हैं । तीन भेद वाले प्रशस्त मरणके समुदायसे भक्त प्रत्याख्यानको पृथक् करते हैं । इस कालमें भक्त प्रत्याख्यान ही पालन करनेके योग्य है इस गुणके कारण उसका प्रथम कथन करना योग्य है । समस्त सूत्रपद अध्याहार सहित होते हैं इसलिये इस कालमें भक्त प्रत्याख्यान मरण ही 'उस्सण्ण' बाहुल्यसे प्रवर्तित है । शेष दो मरण विशेष संहननके धारकोंके होते हैं । और आजके समयमें मनियोंके वज्रऋषभनाराच आदि संहनन विशेष इस क्षेत्रमें नहीं होते । इसीसे शेष प्रायोपगमन और इंगिनीमरणका कथन पीछे करेंगे ।

शंका—यदि आजके मनुष्योंमें उन मरणोंको करनेकी शक्ति नहीं है तो उनका कथन क्यों करते हैं ?

यदि ते वर्णयितुं [illegible] । [illegible] मुमुक्षूणामुपयोगित्वेनेति मन्यते ॥६३॥

[illegible] भक्तप्रत्याख्यानविकल्पोपन्यासः—

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ॥
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥६४॥

'दुविधं तु भत्तपच्चक्खाणं' द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यानं । 'सविचारमथ अविचारं' इति । विचरणं नानागमनं विचारः । विचारेण वर्तते इति सविचारं । [illegible] । [illegible] भक्तप्रत्याख्यानमिति । अविचारं [illegible] । [illegible] । सविचारभक्तप्रत्याख्यानं कस्य भवति इत्यस्योत्तरं । सविचारं भक्तप्रत्याख्यानं 'अणागाढे' सहसा अनुपस्थिते मरणे चिरकालभाविनि मरणे इति यावत् । 'सपरक्कमस्स' सह पराक्रमेण वर्तते इति सपराक्रमस्तस्य हवे भवेत् । [illegible] एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यानं भवतीति कथ्यते 'तयो' [illegible] प्रत्याख्यानं अस्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्तं ॥६४॥

तयो कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शास्त्रेण निरूपणेत्यारेकायां आह—

सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होइ ।
तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तालं होंति णेयाइं ॥६५॥

समाधान—उनके स्वरूपको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है और यह मुमुक्षुओंके लिए उपयोगी ही है ॥६३॥

भक्त प्रत्याख्यानके भेद कहते हैं—

गा०—भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकारका ही है। सविचार और अविचार। सविचार भक्त प्रत्याख्यान सहसा मरणके उपस्थित न होनेपर पराक्रम अर्थात् साहस और बलसे युक्त साधुके होता है ॥६४॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान मरणके दो भेद हैं सविचार और अविचार। विचरण या नाना गमनको विचार कहते हैं और विचारसे सहितको सविचार कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि आगे कहे जाने वाले अर्हलिंग आदि भेद सहित भक्त प्रत्याख्यान सविचार है और उनसे रहित अविचार है। सविचार प्रत्याख्यान किसके होता है ? तो कहते हैं कि यदि मरण सहसा उपस्थित न हो, चिरकाल भावी हो तो पराक्रमसे उत्साहसे सहितके होता है। इसीसे यह भी प्राप्त होता है कि सहसा मरण उपस्थित होनेपर पराक्रमसे रहितके अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। गाथामें अविचार भक्त प्रत्याख्यान इस कालमें इसके होता है, ऐसा नहीं कहा है ॥६४॥

उन दोनोंमेंसे किस भक्त प्रत्याख्यानका इस शास्त्रके द्वारा कथन किया जायेगा ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

गा०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका यह उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ होता है। और उस भक्त प्रत्याख्यानमें सूत्र और पद चालीस जानने योग्य हैं ॥६५॥

'सविचारभत्तपच्चक्खाणस्स' इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य । 'इणमो' अथ । 'उवक्कमो' व्याख्यान-प्रारंभ. । 'होदि' भवति । 'तत्थ य' तत्र च भक्तप्रत्याख्याने । 'सुत्तपदाइं' सूत्रपदानि । सूतेऽर्थं सूचयतीति वा सूत्रं । सूत्राणि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । 'चत्तालं' चत्वारिंशत् । 'होंति' भवन्ति । 'णेयाइं' ज्ञातव्यानि ॥६५॥

तानि सूत्रपदानि गाथाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ।
परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥६६॥

'अरिहे' अर्हं योग्य । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्यायं योग्योऽयं नेति प्रथमोऽधिकारः कर्तृव्यापारः । लिंगादयः कर्तृपुरःसरा भवतीति प्रागेव लिंगशिक्षादिभ्यो योग्यकर्तृनिर्देश सूत्रे कृत अरिह इति । शिक्षादि-क्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियांगभूताया योग्यपरिकरमादर्शयितुं लिंगोपादान कृतम् । कृतपरिकरो हि कर्ता क्रियासाधनायोद्योगं करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना दृढबद्धकक्षाः कुलाला दृश्यते । ज्ञानमन्तरेण न विनयादयः कर्तुं शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राङ् निर्देशमर्हति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादर्शयिष्याम । लिंगशब्दश्चिह्नवाची । तथाहि वक्ष्यति । 'चिह्नं करणं' इति । 'सिक्खा' शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षा-शब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति—'जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्तो य पढिदव्वमिति' । विनय मर्यादा । तथा हि—ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोग —संगत

टी०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका व्याख्यान प्रारम्भ होता है उसमे चालीस सूत्रपद हैं ॥६५॥

उन सूत्रपदोको चार गाथाओंसे कहते हैं—

गा०—अर्ह अर्थात् योग्य, लिंग अर्थात् चिह्न, शिक्षा अर्थात् शास्त्राध्ययन विनय और मनका एकाग्र करना, अनियत क्षेत्रमें विहार, परिणाम, परिग्रह त्याग और शुभ परिणामोंकी श्रेणिपर आरोहण तथा अभ्यास ॥६६॥

टी०—अर्हका अर्थ योग्य है। सविचार भक्त प्रत्याख्यानके यह योग्य हैं और यह योग्य नही है यह प्रथम अधिकार है जो कर्ताके व्यापारसे सम्बद्ध है। लिंग आदि कर्ताके होनेपर ही होते हैं इसलिये लिंग शिक्षा आदिसे पहले गाथामें 'अरिह' मे योग्य कर्ताका निर्देश किया है। भक्त प्रत्याख्यान क्रियाके अंगभूत शिक्षा आदि क्रियाके योग्य परिकर दिखलानेके लिये लिंगका ग्रहण किया है। क्योंकि साधन सामग्री जुटा लेनेपर ही कर्ता लोकमें क्रियाकी साधनाके लिये उद्योग करता है। घट आदि बनानेमें लगे कुम्भकार साधन सामग्री कर लेनेपर ही कमर बाँधकर तैयार देखे जाते हैं। ज्ञानके बिना विनय आदि नही किये जा सकते, इसलिये उनसे पहले शिक्षाका निर्देश योग्य है। अन्य क्रम अवसरके अनुसार कहेंगे।

लिंग शब्द चिह्नवाची है। आगे कहेंगे 'चिह्न करण'। यहाँ शिक्षा शब्दसे श्रुतका अध्ययन कहा है। आगे कहेंगे—'जिन वचन कालिमाको दूर करता है उसे रात दिन पढ़ना चाहिये। विनयका अर्थ मर्यादा है। आगे ज्ञानादि भावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिकी विनयके रूपमे कहेंगे।

वा राज्यस्य तस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एवं निरूपणम् ॥६७॥

आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा।
सेज्जा संथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी ॥६८॥

'आपुच्छा' प्रतिप्रश्नः। किमयमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति सङ्घप्रश्नः। 'पडिच्छणमेगस्स' प्रतिचारकैरभ्यनुज्ञातस्यैकस्य संग्रह आराधकस्य। 'आलोयणा य' स्वापराधनिवेदनं गुरूणामालोचना। 'गुणदोसा' तस्या गुणदोषा। 'सेज्जा शय्या वसतिरित्यर्थः। आराधकावासगृहमिति यावत्। संथारो वि य' संस्तरश्च। णिज्जावगा' निर्यापका आराधकस्य समाधिसहायाः। पयासणा चरमाहारप्रकाशनम्। 'हाणी' क्रमेणाहारत्यागः हानिः ॥६८॥

पच्चक्खाणं खामणं खमणं अणुसट्ठिसारणाकवचे ॥
समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाई ॥ ६९ ॥

'पच्चक्खाणं' प्रत्याख्यानं त्रिविधाहारस्य। 'खामणं' आचार्यादीनां क्षमाग्रहणं। 'खमणं' स्वस्यान्यकृतापराधे क्षमा। 'अणुसट्ठि' अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य। 'सारणा' दुःखाभिभवान्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा। 'कवचे' यथा कवचस्य शरपातनिपातदुःखनिवारणक्षमता एवमाचार्येण

'पडिलेहा' है। आराधनाकी सिद्धि विना बाधाके होगी या नहीं, तथा राज्य, देश, ग्राम नगर आदि वहाँका प्रधान ये सब आराधनाके योग्य हैं या नहीं, इस प्रकारके निरूपणको पडिलेहा कहते हैं ॥६७॥

गा०—पूछना एक क्षपकको स्वीकार करना, और आलोचना, आलोचनाके गुण दोष, शय्या अर्थात् वसति, और संस्तर, निर्यापक, अन्तिम आहारका प्रकाशन क्रमसे आहारका त्याग ॥६८॥

टी०—जब कोई आराधक समाधिमरणके लिये आवे तो आचार्यका संघसे पूछना कि हम इसे स्वीकार करें या नहीं आपृच्छा है। आराधककी सेवा करने वाले मुनियोंकी स्वीकृति मिलने पर एक आराधकको लेना 'एकका पडिच्छण' है। गुरुके सामने अपने अपराधका निवेदन आलोचना है। आलोचनाके गुण और दोष 'गुणदोस' हैं। आराधकके रहनेका स्थान शय्या है इसे वसति भी कहते हैं संस्तरको संथार कहते हैं। आराधककी समाधिमें जो सहायक मुनि होते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं। आराधकके सामने अन्तिम आहारका प्रकाशन 'पयासणा' है। और क्रम से आहारके त्यागको हानि कहते हैं ॥६८॥

गा०—प्रत्याख्यान, क्षमा ग्रहण, दूसरोंके अपराधको क्षमा करना। शिक्षण, सारणा, कवच, समभाव, लेश्या, आराधनाका फल (य) और (विजहना) शरीर त्याग ये अधिकार जानना ॥६९॥

[illegible] प्रकारके आहारका त्याग [illegible] है। आचार्य आदिसे क्षमा माँगना खामण [illegible] दिया देते हैं वह अनुशिष्टि [illegible] करना सारणा है। जैसे [illegible]

अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासगा हवे जस्स ॥
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥७१॥

'अणुलोमा वा' अनुकूला वा शत्रवः । 'चारित्तविणासगा' चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिः तस्य विनाशकाः । बन्धवो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुं उद्यताः । अनुलोमत्वं शत्रुत्वविरोधि प्रातिकूल्ये समवस्थिता हि भवन्ति शत्रवस्तत्कथमुच्यते 'अणुलोमा वा सत्तू' इति ? प्रियवचनमात्रभाषणादनुलोमता । अहितेऽसंयमे प्रवर्तनाद्धितस्य संयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा बन्धवः शत्रवो वा शत्रवश्चेति समुच्चयः वा शब्दः समुच्चयार्थः । 'देवमाणुसतेरिच्छगा उवसग्गा जस्स' इति वचनात् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्गः संगृहीत एव किमर्थं पुनरुच्यते 'अणुलोमा वा' इति पुनरुक्तता । तत्र हि सूत्रे मनुष्योपसर्गो नाम बधनताडनविलंबनादिकः शरीरोपद्रवः परकृतो गृहीतः । इह तु जिह्वोत्पाटनादिकं कुर्मो यदि श्रामण्यं न त्यजसीति तल्लोकरणं वक्तुमिष्टम् ।

'दुब्भिक्खे वा' दुर्भिक्षे वा । 'आगाढे' दुरुत्तरे महति अशनिपातमिव सर्वजनगोचरे अर्हति प्रत्याख्यातुं ।

'अडवीए' अटव्यां महत्यां व्यालमृगाकुलायां मार्गोपदेशिजनरहितायां दिङ्मूढः पाषाणकंटकबहुलतया दुःप्रचारायां । 'विप्पणट्ठो वा' विप्रनष्टो वा अर्हतीति संबंधः ॥७१॥

गा०—अनुकूल बन्धु मित्र शत्रु हो जो चारित्रका विनाश करनेवाले हों। अथवा अनुकूल बन्धु और शत्रु जिसके चारित्रका विनाश करनेवाले हों। भयंकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयंकर जंगलमें भटक गया हो तो भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

टी०—अनुकूल ही शत्रु हों। पापक्रियासे निवृत्तिरूप चारित्रका विनाश करनेवाले हों। बन्धु स्नेहसे या मिथ्यात्व दोषसे या अपने भरण-पोषणके लोभसे जिसके चारित्रका विनाश करनेके लिए तत्पर हों वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है।

शंका—अनुलोमता शत्रुताकी विरोधी है। जो प्रतिकूल होते हैं वे शत्रु होते हैं तब 'अणुलोमा वा सत्तु' कैसे कहा ?

समाधान—प्रियवचनमात्र बोलनेसे अनुलोमता है और असंयमरूप अहितमें प्रवृत्ति करानेसे तथा संयमधनरूप हितका विनाश करनेसे शत्रु होते हैं।

अथवा अनुलोम अर्थात् बन्धु और शत्रु इस प्रकार 'वा' शब्दको समुच्चयार्थक लेना चाहिए।

शंका—पहले कहा है कि जिसपर देवकृत मनुष्यकृत उपसर्ग हो, तो इससे अनुकूल कृत और शत्रुकृत उपसर्गका ग्रहणकर ही लिया है यहाँ पुनः 'अणुलोमा वा सत्तु' क्यों कहा ? इससे पुनरुक्तता दोषका प्रसंग आता है।

समाधान—उक्त गाथामें मनुष्योपसर्गसे परके द्वारा किया गया बाँधना, मारना, रोकना आदि शारीरिक उपद्रव लिया गया है। और यहाँ 'यदि मुनिपद नहीं छोड़ता तो हम तेरी जीभ उखाड़ लेंगे' इस प्रकारकी शत्रुता ली गई है।

वज्रपातके समान भयंकर दुर्भिक्ष होनेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है। सर्प, मृग आदिसे भरे हुए भयंकर वनमें, जहाँ कोई रास्ता बतलानेवाला नहीं है, कंकर पत्थरोंके कारण चलना भी दुष्कर है, फँस जानेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

भक्तप्रत्याख्यानार्हस्य तत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिङ्गनिरूपणं उत्तराभिर्गाथाभिः क्रियते—

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव ॥
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७६॥

उत्सर्गनिर्मितलिङ्गस्य उत्सर्गेण सर्वथा त्यागः सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः। उत्सर्गे सकलग्रन्थपरित्यागे भवं लिङ्गं औत्सर्गिकं। 'कृ' करोति क्रियासामान्यवचनोऽत्र गृहीतो धातुः धातूनामनेकार्थत्वादिति वचनात्। तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिङ्गस्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषवतः। 'तं चेव उस्सग्गियं लिंगं' तदेव प्राक् गृहीतं लिङ्गं औत्सर्गिकम्। अववादियलिंगस्स वि यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिङ्गं अस्येत्यपवादिकलिङ्गो भवति। वाक्यशेषं कृत्वा एवं पदसंबंधः कार्यः। 'यदि पसत्थं' यदि प्रशस्तं शोभनं लिङ्गं मेहनं भवति। चर्मरहितत्व, अतिदीर्घत्वं, स्थूलत्वं, असकृदुत्थान-शीलत्वमित्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत्। पुंस्त्वलिङ्गशब्द इह गृहीतेति बीजयोरपि लिङ्गशब्देन ग्रहणं। अतिलम्ब-मानतादिदोषरहिता प्रशस्तता तयोर्गृहीता ॥७६॥

अप्रशस्तलिङ्गस्य औत्सर्गिकं लिङ्गं न भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि ॥
सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगं ॥७७॥

जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके योग्य है उसके भक्तप्रत्याख्यानका परिकर जो लिंग है, उस लिंगका कथन आगेकी गाथाओंसे करते हैं—

गा०—जो औत्सर्गिक लिंगमें स्थित है उसका जो पूर्वगृहीत है वही औत्सर्गिक लिंग होता है। आपवादिक लिंगवालेका भी औत्सर्गिक लिंग होता है यदि उसका पुरुष चिह्न दोष रहित हो ॥७६॥

टी०—उत्सर्गसे 'सर्वेन' अर्थात् सकलपरिग्रहके त्यागको उत्सर्ग कहते हैं। 'उत्सर्ग' अर्थात् सकल परिग्रहके त्यागमें होनेवाले लिंगको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं। यहाँ कृञ् धातुका अर्थ क्रिया सामान्यवाची लेना चाहिए। क्योंकि ऐसा कहा है कि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं। तब ऐसा अर्थ होता है कि जो औत्सर्गिक लिंगमें स्थित है और भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रखता है उसका वही लिंग रहता है जो उसने पूर्वमें ग्रहण किया है अर्थात् औत्सर्गिक लिंग ही रहता है। मुनियोंके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते हैं। जिसके अपवाद हो वह अपवादिक है अर्थात् परिग्रह सहित लिंगवाला आपवादिक लिंगी होता है। वह यदि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है तो उसे परिग्रहको त्यागकर औत्सर्गिक लिंग धारण करना होता है। इस लिंग धारण करनेपर नग्न होना पड़ता है। किन्तु उसके सम्बन्धमें यह नियम है कि उसका लिंग-पुरुष चिह्न प्रशस्त होना चाहिए। लिंगका चर्मरहित होना, अतिदीर्घ होना, स्थूल होना, और बार-बार उत्तेजित होना ये दोष हैं। इन दोषोंसे रहित होनेपर ही औत्सर्गिक लिंग दिया जाता है। यहाँ लिंग शब्दसे पुरुष चिह्नका ग्रहण किया है। तथा उसमें अण्डकोष भी ग्रहण होता है। वे भी अति लटकते हुए लम्बे नहीं होना चाहिए ॥७६॥

आगे 'अप्रशस्त लिंगवालेके औत्सर्गिक लिंग नहीं होता है, इस कथनका अपवाद कहते हैं—

अच्चेलक्कमिति । अच्चेलक्कं अचेलता । लोचो केशोत्पाटनं हस्तेन । वोसट्टसरीरदा च व्युत्सृष्टशरीरता च । पडिलिहणं प्रतिलेखनं । एसो हु एषः । लिंगकप्पो लिंगविकल्पः । चउव्विहो चतुर्विधः भवति । उस्सग्गे औत्सर्गिकमभिहिते लिंगे ।

अतीताभिर्गाथाभिः पुरुषाणां भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषिणां लिंगविकल्पोऽभिहितः (निरूपितः?) निश्चय । अधुना स्त्रीणां तदर्थिनीनां लिंगमुत्तरया गाथया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ॥
तं तत्थ होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥८०॥

'इत्थीवि य' स्त्रियोऽपि । 'जं लिंगं' यल्लिंगं । 'दिट्ठं' दृष्टं आगमेऽभिहितं । 'उस्सग्गियं व' औत्सर्गिक तपस्विनीनां । 'इदरं वा' श्राविकाणां । 'तं' तदेव । 'तत्थ' भक्तप्रत्याख्याने । 'होदि' भवति । लिंग तपस्विनीनां प्राक्तनम् । इतरासां पुंसामिव योग्यम् । यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राक्तनं लिंगं विविक्ते त्वावसथे, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपं । उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह—'तं' तत् उत्सर्गं लिंगं । 'तत्थ' स्त्रीणां 'होदि' भवति । 'परित्त' अल्पं । 'उवधिं' परिग्रहं । 'करेंतीए' 'कुर्वत्या' ।

टी०—अचेलक अर्थात् वस्त्रादिका अभाव, केश लोच, शरीरका संस्कार आदि न करना और पीछी यह चार औत्सर्गिक लिंगके प्रकार है। औत्सर्गिक लिंगमें ये चार बातें होना आवश्यक हैं ॥ ७९ ॥

पिछली गाथाओंसे भक्त प्रत्याख्यानके अभिलाषी पुरुषोंके लिंगका निश्चय किया। अब उसकी अभिलाषी स्त्रियोंका लिंग कहते हैं—

गा०—स्त्रियोंके भी जो लिंग औत्सर्गिक अथवा अन्य आगममें कहा है। वही लिंग अल्प परिग्रह करती हुईके भक्त प्रत्याख्यानमें होता है ॥ ८० ॥

टी०—स्त्रियोंके आगममें जो लिंग कहा है तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक और श्राविकाओं के आपवादिक। वही लिंग उनके भक्त प्रत्याख्यानमें भी होता है। अर्थात् तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक लिंग होता है और शेषके पुरुषोंकी तरह जानना। अर्थात् यदि स्त्री किसी ऐश्वर्यशाली परिवारसे सम्बद्ध है या लज्जाशील है अथवा उसके परिवार वाले विधर्मी है तो उसे एकान्त स्थानमें सकल परिग्रहके त्यागरूप उत्सर्ग लिंग दिया जा सकता है। प्रश्न होता है कि स्त्रियोंके उत्सर्ग लिंग कैसे सम्भव है? तो उसका उत्तर यह है कि परिग्रह अल्प कर देनेसे स्त्रीके उत्सर्ग लिंग होता है ॥ ८० ॥

विशेषार्थ—तपस्विनी स्त्रियाँ एक साड़ी मात्र परिग्रह रखती है किन्तु उसमें भी ममत्व त्यागनेसे उपचारसे निर्ग्रन्थताका व्यवहार होता है। किन्तु श्राविकाओंके उस प्रकारके ममत्वका त्याग न होनेसे उपचार से भी निर्ग्रन्थताका व्यवहार नहीं होता। भक्त प्रत्याख्यानमें तपस्विनियोंके अयोग्य स्थानमें तो पूर्व लिंग ही होता है। शेषके पुरुषोंकी तरह जानना। सारांश यह है कि तपस्विनी स्त्री मृत्युके समय वस्त्र मात्रको भी छोड़ देती है। अन्य स्त्री यदि योग्य स्थान होता है तो वस्त्र त्याग करती है। यदि वह धन सम्पन्न, या लज्जाशील या मिथ्यादृष्टि परिवारसे सम्बद्ध

है सो पुरुषोंकी तरह वस्त्र त्याग नहीं करती ॥८०॥

जो योग्य होता है उसके सल्लेखनाकी भावनाका प्रसंग होने पर मरण हो जाता है तब लिंग का कथन करनेकी क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यात्राके साधन चिह्नका करना, जगतकी श्रद्धा, अपनेको स्थिर करना और गृहस्थतासे भिन्नता, ये चार लिंग ग्रहण करनेमें गुण होते हैं ॥ ८१ ॥

टी०—यात्राका अर्थ है शरीरकी स्थितिमें कारण भोजन करना। उसका साधन जो लिंग है उसका करना लिंग धारण करनेका पहला गुण है; क्योंकि जो गृहस्थके वेषमें रहता है उसे सारी जनता गुणी नहीं मानती और उसके बिना भोजन नहीं मिलता। और ऐसी स्थितिमें इच्छित कार्यकी सिद्धि नहीं होती। अतः लिंग गुणवत्ताका सूचक होता है। और उसमें दान आदिकी परम्परासे कार्यकी सिद्धि होती है। अथवा यात्रा शब्द गतिवाचक है। जैसे देवदत्तका यह यात्रा-काल है। इस गति सामान्यका वाचक होनेपर भी यहाँ यात्रा शब्द मोक्ष गतिमें ही लिया गया है। अतः यात्रा अर्थात् मुक्ति गतिका साधन जो रत्नत्रय है उसका चिह्नकरण अर्थात् ध्वजा फह-राने रूप लिंग होता है। अन्यत्र जगत शब्द चेतन और अचेतन द्रव्योंके समुदायका वाचक है। जैसे 'एक साथ अनन्त विषयोंको लिये हुए जगत एक अवस्था वाला नहीं है' इत्यादि वाक्यमें जगतका उक्त अर्थ लिया गया है। किन्तु यहाँ जगतका अर्थ प्राणि विशेष है। जैसे 'तीनों जगतके द्वारा वन्दनीय अर्हन्त' इस वाक्यमें जगतका अर्थ प्राणि विशेष है। प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं। कहीं ज्ञानके अर्थमें है जैसे घटका प्रत्यय अर्थात् घटका ज्ञान। तथा प्रत्यय शब्द कारण वाचक भी है। जैसे अनन्त संसारका प्रत्यय मिथ्यात्व है' ऐसा कहने पर मिथ्यात्व हेतुक अनन्त संसार है ऐसा ज्ञान होता है। तथा प्रत्यय शब्द श्रद्धावाचक भी है। जैसे 'इसका इसमें प्रत्यय है', यहाँ

जगत्प्रत्यय' इति । सकलसंगपरिहारो मार्गो मुक्तेः इत्यत्र भव्यानां श्रद्धां जनयति लिंगमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं । न चेत्सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिर्लिंगं किमिति नियोगतोऽनुष्ठीयते इति ।

'आदिठिदिकरणं' आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं । क्व ? मुक्तिवर्त्मनि व्रजने । किं मम परित्यक्तवसनस्य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया, लोभेन वा । वसनाग्रेसरा सर्वा लोकेऽलंक्रिया सा च निरस्ता । को मम रागस्यावसर इति । तथा परिग्रहो निबंधनं कोपस्य । तथा हि—पित्रा सुतो युध्यते धनार्थितया ममेदं भवति तवेदमिति । तत्किमनेन स्वजनवैरिणा रिक्थेन, [1]लोभं, मायां संपाद्य, दुर्गतिं च वर्द्धयता इति सकलं परित्यक्तो वसनपुरःसरः परिग्रहो रोषविजितये । हसंति च मां परे साधवो रोषमुपयांत । क्वेयमवसनता मुमुक्षोः क्वायमस्य कोपहुताशनः ज्ञानजलसेकपरिवृद्धतपोवनविनाशनबद्धविभ्रम इति । तथा च माया धनार्थिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्गतिं प्रापयतीति भीत्वा मायोन्मूलनार्थमिदमनुष्ठितं । 'गिहिभावविवेगोवि' य गृहित्वात्पृथग्भावो दर्शितो भवति ॥८१॥

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च ।
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जणा चेव ॥८२॥

'गंथच्चागो' परिग्रहत्यागः । 'लाघवं' हृदयसमारोपितशैल इव भवति परिग्रहवान् । कथमिदमन्येभ्यश्चौरादिभ्यः पालयामि इति दुर्धरचित्तखेदविगमाल्लघुता भवति ।

प्रत्ययसे श्रद्धाका बोध होता है। यहाँ भी प्रत्ययका अर्थ श्रद्धा है। जगतकी श्रद्धा।

शङ्का—श्रद्धा प्राणिका धर्म है। और अचेलता आदि लिंग शरीरका धर्म है। तब आप कैसे कहते हैं—लिंग जगत प्रत्यय है?

समाधान—'समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है' इसमें लिंग भव्यजीवोंको श्रद्धा उत्पन्न करता है इसलिये लिंगको जगत प्रत्यय कहा है। यदि सकल परिग्रहका त्याग मुक्तिका लिंग न हो तो क्यों उसे नियमपूर्वक किया जायगा। 'आदठिदिकरण' का अर्थ है अपनी अस्थिर आत्माको स्थिर करना। किसमें? मुक्तिके मार्गमें चलनेमें। जब मैंने वस्त्र ही त्याग दिया तो मुझे राग, रोष, मान, माया, लोभसे क्या प्रयोजन? लोकमें सब अलंकरण वस्त्रमूलक होते हैं। वह मैंने त्याग दिया तो मुझे रागसे क्या प्रयोजन। तथा परिग्रह क्रोधका कारण है। देखो, धनकी अभिलाषासे पुत्र पितासे लड़ता है यह मेरा है यह तेरा है। तब अपने परिवारके वैरी इस धनसे क्या? यह लोभ और मायाको उत्पन्न करके दुर्गतिको बढ़ाता है। इसीसे रोषको जीतनेके लिये मैंने वस्त्रपूर्वक सब परिग्रहका त्याग कर दिया। जब मुझे रोष होता है तो दूसरे साधु मुझपर हँसते हैं। कहाँ मुमुक्षुकी यह नग्नता और कहाँ क्रोधरूपी अग्नि। यह तो ज्ञानरूपी जलके सिंचनसे फले-फूले तपोवनको नष्ट करने वाला है। तथा धनके इच्छुक मायाचार करते हैं। वह तिर्यञ्च गतिमें ले जाता है इस भयसे मायाका उन्मूलन करनेके लिये ही मैंने यह लिंग धारण किया है। तथा लिंग ग्रहण करनेसे गृहस्थपनेसे भिन्नता दीखती है ॥ ८१ ॥

गा०—परिग्रहत्याग लाघव अप्रतिलेखन और भय रहितपना, सम्मूर्छन जीवोंका बचाव और परिकर्मका त्याग ये गुण लिंगमें होते हैं ॥८२॥

---

1. लोभं आयास पाप दुर्गति—आ० मु०।

'अप्पडिलिहणं' वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रादिकं शोधनीयं महत्। इतरस्य पिच्छादिकं।

'परिकम्मविवज्जणा चेव' याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलस्य तन्न तथेति परिकर्मविवर्जनं।

'गदभयत्तं' भयरहितता। भयव्याकुलितचित्तस्य न हि रत्नत्रयघटनायामुद्योगो भवति। सवसनो यतिर्वस्त्रेषु यूकालिक्षादिसम्मूर्छनजजीवपरिहारं न विधातुं अर्हः।[1] अचेलस्तु तं परिहरतीत्याह— 'संसज्जणं परिहारो' इति।

'परिसहअधिवासणा चेव'। शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहजयो युज्यते नग्नस्य। वसनाच्छादनवतो न शीतादिबाधा येन तत्सहनपरीषहजयः स्यात्। पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहा इति वचनान्निर्जरार्थिभिः परिषोढव्याः परीषहाः ॥८२॥

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥८३॥

'विस्सासकरं रूवं' विश्वासकारि जनानां रूपं अचेलतात्मकं। एवंभूता नैतेऽन्यद्गृह्णन्ति नापि परोपघातकारि शस्त्रग्रहणं प्रच्छन्नमात्रं सम्भाव्यते। विरूपेषु चामीषु नास्मदीयाः स्त्रियो रागमनुबध्नंतीति विश्वासः॥

टी०—लिंग ग्रहणका एक गुण परिग्रहका त्याग है। दूसरा गुण लाघव है क्योंकि परिग्रहवान ऐसा होता है मानो छाती पर पहाड रखा है। कैसे अन्य चोर आदिसे इस परिग्रहकी रक्षा करूँ इस प्रकार चित्तसे बडे भारी खेदके चले जानेसे लाघव होता है। जो वस्त्र सहित मुनि लिंग धारण करते है उन्हे वस्त्रो आदिका शोधन करना पड़ता है किन्तु वस्त्र रहित साधुको तो केवल पीछी आदिका ही शोधन करना होता है अत. अप्रतिलेखना भी एक गुण है। वस्त्रधारीको मागना, सीना, धोना, सुखाना आदि अनेक काम करना होते हैं जिनमे स्वाध्याय और ध्यानमें विघ्न होता है। किन्तु वस्त्र रहित साधुके ये सब नही होता अत. परिकर्मका न होना भी एक गुण है। जिसका चित्त भयसे व्याकुल रहता है वह रत्नत्रयके साधनमे उद्योग नही करता। अत परिग्रहके त्यागसे भय नहीं रहता। तथा वस्त्र सहित साधु वस्त्रोमे जूँ लीख आदि सम्मूर्छन जीवोंका बचाव नही कर सकता। किन्तु वस्त्र रहित साधु इनसे बचा रहता है अत संसज्जण परिहार भी एक गुण है। तथा नग्न मुनि शीत, उष्ण, डासमच्छर आदि की परीषहको जीतता है। जो वस्त्र ओढे हैं उसे शीतादिकी बाधा नही होती। तब उसको सहना रूप परीषहजय कैसे सभव है? तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है कि पूर्वग्रहीत कर्मोंकी निर्जराके लिये परीषहोंको सहना चाहिये ॥८२॥

गा०—वस्त्र रहित रूप जनतामे विश्वास पैदा करने वाला होता है विषयसे होने वाले शारीरिक सुखमे अनादर भाव होता है। सर्वत्र स्वाधीनता रहती हैं और परीषहको सहना होता है ॥८३॥

---

१. अर्हति आ० मु०।

'**मणादरो विसयदेहसुक्खेसु**' विषयजनितेषु शारीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम वामलोचनाविलोकितेन, तासां कलगीतश्रवणेन, ताभिर्जुगुप्सनीयशरीरस्य का वा रतिक्रीडेति भावना चैवानादरः । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः । विषयसुखव्यतिरेकेण न शरीरसुखं, नाम किंचिदिति चेद्—शारीरदुःखाभावः शरीरसुखं, इन्द्रियविषयसन्निधानजनिता प्रीतिर्विषयसुखमिति महाननयोर्भेदः ।

'**सव्वत्थ**' सर्वस्मिन्देशे । '**अप्पवसदा**' आत्मवशता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति; शेते वा । इहासनादिकरणे इदं मम विनश्यति वस्त्विति तदनुरोधकृता परतन्त्रता नास्ति सचेलस्य । परिग्रहविनाशभीरुरात्मनोऽयोग्येऽपि स्थाने उद्गमादिदोषोपहते प्राणिसंयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिकं सपादयति । त्रसस्थावरबाधामावहता वर्त्मना वा व्रजति । एतद्दोषपरिहारोऽचेलस्य भवति ॥

'**परिसह अधियासणा चेव**' पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थिना यतिना सोढव्या परीषहा नियोगेन क्षुधादयो बाधाविशेषा द्वाविंशतिप्रकाराः । तत्राय सामान्यवचनोऽपि परीषहशब्दः प्रकरणादचेलतास्यात्तदनुरूपपरीषहवृत्तिग्राह्यः । तेन नाग्न्यशीतोष्णदंशमशकपरीषहसहनमिह कथितं भवति । सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदंशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते ॥८३॥

अचेलताया गुणान्तरसूचनाय गाथा—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं ।
इच्चेवमादिबहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ॥८४॥

टी०—नग्न मुनिको देखकर लोग सोचते है—ये तो परिग्रह रहित है, ये कुछ ग्रहण नही करते । ये परका घात करने वाले शास्त्र आदि भी छिपाकर नही रख सकते । ये तो विरूप है इनमें हमारी स्त्रियाँ भी राग नही कर सकती । इस प्रकारका विश्वास पैदा होता है । मेरा रूप तो प्रेतके समान है मुझे स्त्रियोको ताकने, और उनके मनोहर गीतोको सुननेसे क्या प्रयोजन ? अथवा इस ग्लानिभरे शरीरका उनके साथ कैसी रति क्रीडा । इस प्रकारकी भावना शारीरिक सुखमें अनादर है । अथवा शरीर सुख और विषय सुखमे अनादर ऐसा अर्थ भी होता है ।

शङ्का—विषयसुखसे भिन्न शारीरिक सुख नही है ?

समाधान—शारीरिक दुःखके अभावको शरीर सुख कहते हैं और इन्द्रियोके विषयोके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई प्रीति विषय सुख है । इन दोनोंमे महान् अन्तर है ।

सब देशमें आत्माधीनता रहती है । अपनी इच्छानुसार बैठता है, जाता है, सोता है । यहाँ आसन आदि करनेपर मेरा यह नुकसान होगा, इस प्रकार की परतत्रता साधुके नही होती । परिग्रहके नाशके भयसे परिग्रही साधु उद्गम आदि दोषोसे युक्त और प्राणिसंयमका विनाश करने वाले अयोग्य स्थानमे भी आसन, स्थान, शयन आदि करता है । अथवा त्रस और स्थावर जीवोको बाधा पहुँचाने वाले मार्गसे गमन करता है । किन्तु परिग्रह रहित साधु इन दोषोसे बचा रहता है । साधुको पूर्व संचित कर्मो के निर्जराके लिये नियमसे भूख प्यासकी बाधा आदि रूप बाईस परीषहोको सहना चाहिये । यहाँ यह परीषह शब्द यद्यपि सामान्यवाची है फिर भी प्रकरणवश अचेलताका प्रकरण होनेसे उसके अनुरूप परीषह ग्रहण करना चाहिये । अतः यहाँ नाग्न्य, शीत, उष्ण, और दशमशक परीषहोका सहन कहा है । जो साधु सवस्त्र है कपडा ओढे हुए हैं-उन्हे शीत उष्ण और डासमच्छरसे होने वाली वैसी पीडा नही होती जैसी वस्त्र रहितको होती है ॥८३॥

'जिणपडिरूव' जिनानां प्रतिबिम्बं चेदं अचेललिंगं । ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्गृहीतवन्तो लिंगं तदेव तदर्थिना योग्यमित्यभिप्रायः । यो हि यदर्थी विवेकवान् नासौ तदनुपायमादत्ते यथा घटार्थी 'तुरिवेमादी-न्मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेलं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात् । यच्चात्मनोऽभिप्रेतस्योपायस्तन्नियोगत उपादत्ते यथा चक्रादिकं तथा यतिरपि अचेलतां । तदुपायता च अचेलताया जिनाचरणादेव ज्ञानदर्शनयोरिव ।

'विरियायारो' वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यं, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचारः । स च पंचविधेष्वाचारेष्वेकः स च प्रवर्तितो भवति । अचेलतामुद्वहताऽशक्यचेलपरित्यागस्य कृतत्वात् । परिग्रहत्यागो हि पंचमं व्रतं तस्याचरितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत् ।

'रागादिदोसपरिहरणं' । लाभे रागोऽलाभे कोपः । लब्धे ममेदंभावलक्षणो मोहः । अथवा मृदुत्वं दार्ढ्यमित्येवमादिषु वसनाच्छादनगुणेषु रागोऽमृदुस्पर्शनादिषु द्वेष इत्येषां परिहारः । 'इच्चेवमादि' इत्येवमादयः 'बहुगा' महान्तः महाफलतया अच्चेलक्के अचेलतायां सत्यां 'गुणा होंति' गुणा भवन्ति । याचादीनतारक्षा संक्लेशादिपरिहारा आदिशब्देन गृहीता ॥८४॥

अचेलताके अन्य गुणोका सूचन करते हैं—

गा०—यह अचेलता जिन भगवानका प्रतिरूप है । वीर्याचारका प्रवर्तक है । रागादि दोषोंको दूर करती है । इत्यादि बहुतसे गुण अचेलतामें होते हैं ॥८४॥

टी०—जिण पडिरूव—यह अचेललिंग जिन देवोंका प्रतिबिम्ब है अर्थात् जिन देवोंने जो लिंग ग्रहण किया था मुक्तिके लिये वही लिंग मुक्तिके अभिलाषियोंके योग्य है । क्योंकि जिनदेव मुमुक्षु थे मुक्तिका उपाय जानते थे । जो जिस वस्तुका प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है वह उस वस्तुके जो उपाय नही है उन्हे ग्रहण नही करता । जैसे घट बनानेका इच्छुक कपड़ा बुननेके साधन तुरि आदिको ग्रहण नही करता । इसी तरह मुक्तिका इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नहीं करता क्योंकि । वस्त्र मुक्तिका उपाय नही है । और जो अपनेको इष्ट वस्तुका उपाय होता है उसे नियमसे ग्रहण करता है । जैसे घटका अर्थी चाक आदिको अवश्य ग्रहण करता है । उसी तरह साधु भी अचेलताको ग्रहण करता है और अचेलता ज्ञान और दर्शनकी तरह मुक्तिका उपाय है यह जिन भगवानके आचरणसे सिद्ध है । वीरियायारो–वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए सामर्थ्यरूप परिणामको वीर्य कहते है । उसको न छिपाते हुए रत्नत्रयके पालन करनेको वीर्याचार कहते हैं । पाँच प्रकारके आचारोंमेंसे एक वीर्याचार है उसका पालन होता है क्योंकि अचेलताके धारणसे जो वस्त्रत्याग अशक्य है वह हो जाता है । परिग्रहका त्याग पाँचवा व्रत है । शक्ति होते हुए भी यदि परिग्रहका त्याग न करे तो वह पाँचवाँ व्रत नही रहता ।

रागादिदोष परिहरण—लाभमें राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है । जो प्राप्त होता है उसमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका मोह होता है । अथवा ओढ़ने पहिरनेके वस्त्रोंके कोमलता मजबूती आदि गुणोमे राग होता है और कठोर स्पर्श आदिमे द्वेष होता है । वस्त्र त्याग देनेपर ये रागादि दोष नही होते । इस प्रकार अचेलतामें महाफलदायक महान गुण होते है । आदि शब्दसे याचना, दीनता, आदिसे रक्षा होती है और संक्लेश आदि नही होते ॥८४॥

१ तदुर्थ्यस्त्येव मा–आ० मु० ।

पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

इय सव्वसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु ।
णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ८५ ॥

'इय' एव अवगनतया। 'सव्वसमिदकरणो' सम्यगितानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इन्द्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्वसामनकरणानि, सर्वसमितकरणान्यस्येति सर्वसमितकरण। रागद्वेषरहिता भावेन्द्रियाणा प्रवृत्ति समीचीना तस्याश्च अचेलता निबंधनं। रागादिविजयाय गृहितासंगत्वात्कथमिव रागादौ प्रेक्षावान्यतते ॥८५॥

'ठाणासणसयणगमणकिरियासु' एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दंडायतशयनादिका शयनक्रिया। सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया। एतासु। 'पग्गहिददरं' प्रगृहीततर। 'परक्कमदि' चेष्टते। व ? णिगिण नग्नता। 'गुत्ति' गुप्ति। 'उवगदो' उपगत प्रतिपन्न। कृतवसनत्यागस्य शरीरे निःस्पृहस्य मम किं शरीरतर्पणेन तपसा निर्जरामेव कर्तुमुत्सहले इति तपसि यतते इति भाव ॥८५॥

अपवादलिंगमुपगत किमु न शुद्ध्यत्येवेत्यारांकायां तस्यापि शुद्धिरनेन क्रमेण भवतीत्याचष्टे—

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य ।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥ ८६ ॥

आगेकी गाथासे फिर भी अचेलताका माहात्म्य सूचित करते है—

गा०—इस प्रकार, नग्नता और गुप्तिको धारण करनेवाला सब इष्ट अनिष्ट विषयोंमे अपनी इन्द्रियोको रागद्वेषसे रहित करता है। और स्थान, आसन, शयन, गमन आदि क्रियाओंमे प्रग्रहीततर अर्थात् सुदृढरूपसे चेष्टा करता है ॥८५॥

टी०—सव्वसमिदकरणानि—सम्यक्‌रूपमे 'इत' अर्थात् प्रवृत्तको समित कहते है। और जिनसे रूपादिका जानना देखना किया जाये उसे करण कहते हैं। करणका अर्थ इन्द्रिय है। जिसकी सब इन्द्रिया समित है वह सर्वसमितकरण है। भावेन्द्रियोंकी रागद्वेषसे रहित समीचीन प्रवृत्तिमे कारण अचेलता है। जिस विचारशील बुद्धिमान व्यक्तिने रागादिको जीतनेके लिए असगताको स्वीकार किया है वह रागादिमे कैसे यत्नशील हो सकता है।

एक पैरसे या दोनो पैरोको सम करके खडे होना स्थान क्रिया है उत्कटासन आदि आसन क्रिया है। दण्डके समान एकदम सीधा सोना आदि शयन क्रिया है। सूर्यकी ओर अभिमुख होकर चलना गमन क्रिया है। जिसने वस्त्र त्याग दिया है और शरीरसे निस्पृह है वह 'मुझे शरीरके पोषणमे क्या' ऐसा विचारकर तपके द्वारा निर्जरा करनेमे ही उत्साहित होता है। यह उक्त कथनका भाव है ॥८५॥

अचेल समाप्त हुआ।

क्या अपवादलिंगका धारी शुद्ध नही ही होता ? इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि उसकी शुद्धि भी इस क्रमसे होती है—

गा०—अपवादलिंगमे स्थित होने हुए भी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए और निन्दा गर्हा करते हुए परिग्रहका त्याग करनेपर शुद्ध होता है ॥८६॥

सवथादियलिंगकदो वि' अपवादलिंगस्थोऽपि । करोति स्थानार्थवृत्तिरिह परिगृहीत' । तथ प्रयोग. एवं च कृत्वा एव न स्थित्वेत्यर्थ । 'सुज्झदि' शुध्यति च । कर्ममलापायेन शुद्धयति । कं सन् य स्वा 'सत्ति' शक्ति । 'अगूहमाणो' अगूहमान सन् । 'उवधि' परिग्रह । 'परिहरंतो' परित्यजन् त्रयेण । 'णिंदणगरहणजुत्तो' सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिक: परिग्रह परी भीरुणा गृहीत इत्यत सतापो निंदा । गर्हा परेषा एव कथनं । ताभ्या युक्त. निंदागर्हाक्रियापरिणत: यावत् । एवमचेलता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥८६॥

केशलोचाकरणे के दोषा यान्परिहृत्' लोचोऽनुष्ठीयते इत्यारेकाया दोषप्रतिपादनायोत्तरे गाथा

केसा संसज्जंति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य ।
सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा ॥ ८७ ॥

'केसा' केशा । 'संसज्जंति हु' हुशब्द एवकारार्थ । यूकालिक्षोत्पत्तेराधारभावमुपव्रजन्त्येव केशा ? 'णिप्पडियारस्स' निष्क्रान्त प्रतीकारात् निष्प्रतीकार । प्रतीकारशब्द. सामान्यवचनोऽपि सम प्रकृतत्वात् ससजनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाभ्यगगधादिप्रक्षेपजलप्रक्षालनादिक्रियामकुर्वत इत्यर्थ च सम्मूर्च्छनामुपगताजीवा यूकादय । 'दु.परिहारा य' दु खेन परिह्रियन्ते । क्व ? 'सयणादिसु' शयने गमनं, शिरसा करयभिदवष्टंभन । निद्रामुद्रितलोचनस्य पतन परवशस्य सत' आदिशब्देन गृह्यते ।

टी०—'अववादियलिंगकदो' में 'कद' जिस 'करोति' धातुसे बना है उसका अर्थ स्थान लिया है । जैसे 'ऐसा करके' का अर्थ इस प्रकार स्थिर करके होता है । अतः अपवादी स्थित भी कर्ममलको दूर करके शुद्ध होता है । किस प्रकार होता है ? अपनी शक्तिको न छि मन-वचनकायसे परिग्रहका त्याग करनेपर होता है । तथा, समस्त परिग्रहका त्याग मु मार्ग है, मुझ पापीने परीषहसे डरकर वस्त्र पात्र आदि परिग्रह स्वीकार किया । इस प्र अन्त सन्तापको निन्दा कहते हैं । दूसरोसे ऐसा कहना गर्हा है । उनसे युक्त होनेपर अर्थात् निन्दा गर्हा करनेपर शुद्ध होता है । इस प्रकार जिस अचेलताके गुणोका वर्णन ऊपर किय है उसे मूलरूपमे स्वीकार किया है ॥८६॥

केशलोच न करनेमें क्या दोष है जिन्हे दूर करनेके लिए लोच किया जाता है शङ्काके उत्तरमें दो गाथाओंसे दोषोंको कहते हैं—

गा०—प्रतीकार न करनेवालेके केश जूं आदि सम्मूर्छन जीवोके आधार होते हैं । सम्मूर्छन जीव शयन आदिमें दुष्परिहार होते है । तथा अन्यत्रसे आते हुए भी कीट आ गये है ॥८७॥

टी०—'संसज्जंति हु' मे 'हु' शब्दका अर्थ एवकार है । अतः निष्प्रतीकारके केश जू आदिकी उत्पत्तिके आधार होते ही है । जो प्रतीकारसे रहित है वह निष्प्रतीकार है । प्रतीकार शब्द सामान्य प्रतीकारका वाचक है । फिर भी संसजनका प्रकरण होनेसे संसजनकी प्रतिकार लिया जाता है । उसका अर्थ होता है कि जो बालोंमे तेल मर्दन नहीं सुगन्धित वस्तु नहीं लगाता, उन्हें पानीसे नहीं धोता उसके केशोमे सम्मूर्छन जू आदि उत्प जाते हैं और साधुके सोनेपर, धूपमें आनेपर, सिरसे किसीके टकरानेपर उन जीवोंकी

१ दृष्टान्तकथन आ० मु० ।

जीवेभ्यः कथंचिदन्यदेशकालस्वभावभेदात् । ततः बाधाया दुष्परिहारायां जीवा एव दुष्परिहारा एव भवंतीति मन्यते । अन्यथा हस्तेनापनेतुं शक्या एव दुष्परिहारा स्युः । न केवलं तत्रोत्पन्ना एव दुष्परिहारास्तथा तेनैव प्रकारेण जीवा 'आगंतुगा य' अन्यत आगताश्च कीटादयश्च । एतेन हिंसादोष आख्यातः ॥८७॥

जूगाहि य लिक्खाहि य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य ।
संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८८ ॥

जूर्काहि य यूकाभिश्च । लिक्खाहि य लिक्षाभिश्च । 'बाधिज्जंतस्स' बाध्यमानस्य यते संकिलेसो य संक्लेशश्च जायते इति शेषः । स च संक्लेशोऽशुभपरिणाम पापास्रवः पूर्वोपात्तकर्मपुद्गलरसाभिवर्द्धननिपुणः । अथवा बाधिज्जंतस्स भक्ष्यमाणस्य संकिलेसो य दुःखं वा । तथा चोक्तं—क्लिशू विबाधने इति । एतेनात्मविराधनादोषः सूचितः । अथ यूकाभक्षणे असहमानः कंडूयति तत्र दोषमाह—'संघट्टिज्जंति य' संघट्यन्ते ते यूकादयः । आगन्तुकाश्च 'कंडूयणे' कंडूयने । 'तेण' तेन दोषेण हेतुनासौ आगमदृष्टः 'लोचो' लोचः क्रियते इति शेषः । प्रदक्षिणावर्तः केशश्मश्रुविषय हस्ताङ्गुलीभिरेव यथायोग्यं द्वित्रिचतुर्मासगोचरः ॥८८॥

एवं लोचाकरणे दोषानुक्त्वा लोचे गुणख्यापनाय गाथात्रयमुत्तरम्—

लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्ते होइ णिव्वियारत्तं ।
तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८९॥

पहुँचती है। बाधाका मतलब है कि भिन्न देश, भिन्नकाल और भिन्न स्वभाव होनेसे जीवोंसे जीवोंको बाधा पहुँचती है। उस बाधाको दूर करना अशक्य जैसा है। जब बाधा ही दुष्परिहार है तो उन जीवोंको दूर करना भी दुष्परिहार है, क्योंकि यदि बाधा पहुँचनेकी बात न होती तो उन्हें हाथसे निकाला जा सकता था। तथा जो जीव केशोंमें उत्पन्न होते हैं वे ही दुष्परिहार नहीं है, अन्यत्रसे आकर भी कीटादि बालोंमें घुस जाते है उन्हें भी दूर करना कठिन होता है। इस तरहसे केशलोच न करनेमें हिंसादि दोष कहे है ॥८७॥

गा०—जूं से और लीखोंसे पीड़ित साधुके संक्लेश उत्पन्न होता है। खुजाने पर वे जूं आदि पीड़ित होते हैं इस कारणसे यह केशलोच किया जाता है ॥ ८८ ॥

टी०—जूं और लीख जब साधुको बाधा पहुँचाती है तो साधुको संक्लेश होता है। यह संक्लेश अशुभ परिणाम रूप होनेसे पापास्रवका कारण है। उससे पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलोंके अनुभाग रसमें वृद्धि होती है। अथवा 'बाधिज्जंत'का अर्थ खाना या काटना है' उनके काटने पर यदि साधु खुजाता है तो वे जूं आदि पीड़ित होते हैं इस दोषके कारण आगममें कहा लोच करते हैं। यह लोच सिर और दाढ़ीके बालोंका हाथकी अंगुलियोंके द्वारा दो, तीन या चार मासमें प्रदक्षिणा के रूपमें अर्थात् दाहिनी ओरसे बायीं ओर किया जाता है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार लोचके न करनेमें दोष बतलाकर लोचमें गुणोंका कथन तीन गाथाओं द्वारा करते हैं—

गा०—लोच करने पर सिर मुण्डा हो जाता है। मुण्डताके होने पर निर्विकारता होती है। उससे विकार रहित क्रियाशील होनेसे प्रगृहीततर चेष्टा करता है ॥ ८९ ॥

'लोचकदे' लोचे कृत स्थित लोचकृत। सप्तमीति योगविभागात् समासः। अस्मिन् लोचे कृते। लोचे स्थिते इति केचित्। अन्ये तु पठन्ति लोचगदे इति तत्र लोचं गते प्राप्ते लोचेऽथवा प्रतिपन्ने इति। अथवा कृतशब्दो भावसाधन तत्र सप्तम्या सत्यर्थो लोचक्रियायां सत्याम्। मुण्डिता शिरसो भवति। 'मुंडत्तं' मुण्डशिरस्कता नाम भवति। न मुण्डशिरस्कता मुक्त्युपायो मृषावादवत् रत्नत्रयरूपत्वाभावात्। तस्मान्मुक्त्यनुपयोगिना गुणेनेत्याशङ्कायामाह—'मुंडत्ते होदि णिव्वियारत्तं' इति। 'मुंडत्ते' मुण्डतायां सत्याम्। 'होदि' भवति। 'णिव्वियारत्तं' निर्विकारता। विकारो विक्रिया सविलासगमनशृङ्गारकथाकटाक्षनिरीक्षणादिक। तस्मान्निष्क्रान्त तत्राप्रवृत्त निर्विकार तस्य भाव निर्विकारता। निर्विकारो भवति इति यावत्। 'तो' ततः 'णिव्वियारकरणो' विकाररहितक्रिय। 'पग्गहिददरं' प्रगृहीततरं। रत्नत्रये चेष्टां करोति इति शेषः। रत्नत्रययोगे परंपरया लोचस्योपयोग समाख्यातोऽनया गाथया। नग्नस्य मुण्डस्य मम सविभ्रम गमनादिकं जनो दृष्ट्वा हसति, शोभते तरामस्य विलासिना षण्ढस्य योषित इव विलास इति मन्यमानो निरस्तविकारो मुक्तये केवल घटते इत्यभिप्राय ॥८९॥

अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि।
साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥९०॥

'अप्पा' आत्मा। 'दमिदो होदि' वशीकृतो भवति। कस्य ? आत्मन एव। केन कारणेन ? 'लोएण' केशोत्पाटनेन। दुःखभावनया निगृहीतदर्पः सर्व एव शान्तो भवति यथा बलीवर्दादिरिति मन्यते।

टी०—लोचमें कृत अर्थात् स्थित लोचकृत है। दोनोका योगविभाग करके सप्तमी समासमें अर्थ होता है—लोच करने पर। कोई 'लोचमें स्थित होने पर' ऐसा अर्थ करते है। अन्य 'लोयगदे' ऐसा पाठ रखते है। वे अर्थ करते है लोचको प्राप्त होने पर। अथवा कृत शब्द भावसाधन है। तब सप्तमीका अर्थ सत् होता है अर्थात् लोच क्रिया होने पर। मुण्डित होता है—सिर मुड जाता है।

शङ्का—सिर मुण्डन मुक्तिका उपाय नही है क्योकि वह रत्नत्रय रूप नही है जैसे असत्य बोलना। तब इस अनुपयोगी गुणके कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान—इसके उत्तरमें कहते है कि मुण्डन होने पर निर्विकारता होती है। लीला सहित गमन, शृंगार कथा, कटाक्ष द्वारा निरीक्षण ये सब विकार है जो ये सब नही करता वह निर्विकार होता है। और जिसकी चेष्टाएँ विकार रहित होती है वह रत्नत्रयमें उद्योग करता है।

इस गाथासे परम्परासे लोचका उपयोग कहा है। मै नग्न और मुण्डे सिर हूँ मेरा विलासपूर्ण गमन आदि देखकर लोग हँसते हैं कि नपुसकके स्त्री विलासकी तरह इसकी विलासिता कैसी शोभती है ? ऐसा मान, विकारको दूरकर वह केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है, यह इस गाथाका अभिप्राय है ॥ ८९ ॥

गा०—केशलोचसे आत्मा दमित होता है और सुखमें आसक्त नही होता है। और स्वाधीनता निर्दोषता और निर्ममत्व होता है ॥ ९० ॥

टी०—केश उपाडनेसे आत्मा आत्माके वशमें होता है। जैसे बैल वगैरह दु ख देनेसे शान्त हो जाते हैं वैसे ही दु ख भावनासे मदका निग्रह होने पर सभी शान्त हो जाते हैं। सुखमें आसक्त

'सुखे य' सुखे च । 'संगं' आसक्तता नोपयाति । सुखमेव सुखलम्पटं करोति जनं । दुःखेऽन्तर्भाव्यमाने सुखासक्तिर्हन्यते[1] सुखोपयोगमूलाभावात् । बीजाभावेऽङ्कुर इव । इन्द्रियसुखं वात्र सुखशब्देनोच्यते तत्रासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते । तेन परिग्रहारम्भमूलात्सुखासङ्गात्प्रावृत्तिः संवर एवेति मुक्तेर्भवत्युपायः । अभिनवास्रवनिरोधमन्तरेण का नाम निर्जरा ? तस्या वाऽसत्यां का मुक्तिरिति भावः ।

'साधीणदा य' स्ववशता च । केशश्मश्रुणो हि अलोचस्य शिरोप्रक्षणे, सम्मर्दने, प्रक्षालने, तच्छोषणे च प्रयतते । स चाय व्यापारो विघ्नमावहति स्वाध्यायादेः ।

'णिद्दोसदा य' निर्दोषता च । या सदोषक्रिया सा न कार्या यथा स्तेयादिका । निर्दोषा त्वनुष्ठीयते यथानशनादिका । तथा चेयमदोषा लोचक्रिया ।

'देहे य' देहे च । 'णिम्ममदा' ममेदंबुद्धिरहितता । अनेन शौचाख्यो धर्मो भावितो भवतीत्युक्तं भवति । 'प्रकृष्टा लोभनिवृत्तिः शौच शरीरलोभनिवृत्तिः शौचं । शरीरलोभनिवृत्तिः सकललोभनिराक्रियाया मूलं । शरीरोपकृतये वन्धुधनादिष्वस्य लोभ । धर्मश्च संवरहेतु, गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयैरिति वचनात् ॥९०॥

आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि सम्मसद्धा य ।
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ ९१ ॥

'आणक्खिदा य होदि' आदर्शिता भवति । 'लोचेण' लोचेन । का ? 'धम्मसद्धा' धर्मे चारित्रे

नहीं होता । सुख ही मनुष्यको सुखलम्पट बनाता है । अन्तरंगमें दुःखकी भावना भाने पर सुखकी आसक्ति कम होती है सुखको आसक्तिका मूल है सुखका उपभोग । उसका अभाव होनेसे सुखकी आसक्ति नहीं होती । जैसे बीजके अभावमें अंकुर उत्पन्न नहीं होता । अथवा यहाँ सुख शब्दसे इन्द्रिय सुख लिया है । जो इन्द्रिय सुखमें आसक्त होता है वह हिंसा आदि करता है । अतः जो सुखासक्ति परिग्रह और आरम्भका मूल है उससे निवृत्त होना संवर ही है । अतः वह मुक्तिका उपाय है । नवीन कर्मोंका आना रुके बिना निर्जरा कैसी ? और उसके अभावमें मुक्ति कैसी ? यह अभि-
[illegible] रखता है वह
[illegible] और ये सब
[illegible] है वह नहीं
करना चाहिए जैसे चोरी आदि । किन्तु निर्दोष क्रिया की जाती है जैसे उपवास वगैरह । उसी तरह लोच क्रिया भी निर्दोष है । शरीरमें 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि नहीं होती । इससे शौच धर्म पलता है यह कहा है । लोभमें अत्यन्त निवृत्तिको शौच कहते हैं । शरीरमें लोभकी निवृत्ति भी शौच है । शरीरमें लोभकी निवृत्ति सब प्रकारके लोभोंको दूर करनेका मूल है । शरीरके उपकारके लिए ही मनुष्य परिवार और धन आदिका लोभ करता है और शौच धर्म संवरका कारण है क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्रमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयसे संवर कहा है ॥९०॥

गा०—और केशलोच करनेसे आत्माकी धर्ममें श्रद्धा प्रदर्शित होती है । उसी प्रकार लोच उग्र तप है और दुःखका सहन है ॥ ९१ ॥

टी०—लोच करनेसे आत्माकी धर्म अर्थात् चारित्रमें श्रद्धा प्रदर्शित होती है । अर्थात्

---

१. निर्हन्यते-आ० मु० ।

'लोयकदो' लोचे कृतः स्थितः लोचकृतः सप्तमीति योगविभागात्समासः । तस्मिन् लोचे कृते । लोच-स्थिते इति केचित् । अन्ये तु वदन्ति लोयगदे इति पठन्तः लोचं गतः प्राप्तः लोचगतः तस्मिन्निति । अथवा कृतशब्दो भावसाधनः तत्र सप्तम्यर्था सप्तमी लोच एव कृतं तस्मिन् । लोचक्रियायां सत्यां । 'मुंडत्तं' मुण्ड-शिरस्कता नाम भवति । न मुण्डशिरस्कता मुक्त्युपायो गुणाः रत्नत्रयरूपत्वाभावात् तन्मुक्त्युपायोऽनेनानु-योगिना गुणेनेत्याशङ्कायां आह—'मुंडत्ते होदि णिव्वियारत्तं' इति । 'मुंडत्ते' मुण्डतायां सत्यां । 'होदि' भवति । 'णिव्वियारत्तं' निर्विकारता । विकारो विक्रिया सलीलगमनशृङ्गारकथाकटाक्षेक्षणादिः । तस्मान्निष्क्रान्तः तत्राप्रवृत्तः निर्विकारः तस्य भावः निर्विकारता । निर्विकारो भवति इति यावत् । 'सो' तत्र 'णिव्वियारकर-णो विकाररहितक्रियः । 'पग्गहिददरं' प्रगृहीततरं । 'परक्कमदि' चेष्टते करणत्रये इति शेषः । रत्नत्रयोद्योगे परंपरया लोचस्योपयोगः समाख्यातोऽनया गाथया । नग्नस्य मुण्डस्य मम सविभ्रमं गमनादिकं जनो दृष्ट्वा हसति, शोभते तरामियमस्य विलासिता षण्ढकस्य वामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविकारो मुक्तये केवलं घटते इत्यभिप्रायः ॥८९॥

अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि ।
साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥९०॥

'अप्पा' आत्मा । 'दमिदो होदि' वशीकृतो भवति । कस्य ? आत्मन एव । केन करणेन ? 'लोएण' केशोत्पाटनेन । दुःखभावनया निगृहीतदर्पः सर्व एव शान्तो भवति यथा बलीवर्दादिरिति मन्यते ।

टी०—लोचमें कृत अर्थात् स्थित लोचकृत है। दोनोंका योगविभाग करके सप्तमी समासमें अर्थ होता है—लोच करने पर। कोई 'लोचमें स्थित होने पर' ऐसा अर्थ करते हैं। अन्य 'लोय-गदे' ऐसा पाठ रखते हैं। वे अर्थ करते हैं लोचको प्राप्त होने पर। अथवा कृत शब्द भावसाधन है। तब सप्तमीका अर्थ सत् होता है अर्थात् लोच क्रिया होने पर। मुण्डित होता है—सिर मुंड जाता है।

शङ्का—सिर मुण्डन मुक्तिका उपाय नहीं है क्योंकि वह रत्नत्रय रूप नहीं है जैसे असत्य बोलना। तब इस अनुपयोगी गुणके कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान—इसके उत्तरमें कहते हैं कि मुण्डन होने पर निर्विकारता होती है। लीला सहित गमन, शृंगार कथा, कटाक्ष द्वारा निरीक्षण ये सब विकार हैं जो ये सब नहीं करता वह निर्वि-कार होता है। और जिसकी चेष्टाएँ विकार रहित होती है वह रत्नत्रयमें उद्योग करता है।

इस गाथासे परम्परासे लोचका उपयोग कहा है। मैं नग्न और मुण्डे सिर हूँ मेरा विलास-पूर्ण गमन आदि देखकर लोग हँसते हैं कि नपुंसकके स्त्री विलासकी तरह इसकी विलासिता कैसी शोभती है ? ऐसा मान, विकारको दूरकर वह केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है, यह इस गाथा-का अभिप्राय है ॥ ८९ ॥

गा०—केशलोचसे आत्मा दमित होता है और सुखमें आसक्त नहीं होता है। और स्वाधीनता निर्दोषता और निर्ममत्व होता है ॥ ९० ॥

टी०—केश उपाड़नेसे आत्मा आत्माके वशमें होता है। जैसे बैल वगैरह दुःख देनेसे शान्त हो जाते हैं वैसे ही दुःख भावनासे मदका निग्रह होने पर सभी शान्त हो जाते हैं। सुखमें आसक्त

माने सुखासक्तिर्हन्यते[1] सुखोपयोगमूलत्वात् । बीजाभावेंऽकुर इव । इन्द्रियसुखं चात्र सुखशब्देनोच्यते तदासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते । तेन परिग्रहारंभमूलात्सुखासक्तेर्व्यावृत्तिः संवर एवेति मुक्तेर्भवत्युपाय । अभिनवकर्मनिरोधमन्तरेण का नाम निर्जरा ? तस्या अभावे का मुक्तिरिति भाव ।

'साधीणदा य' स्ववशता च । केशवान् हि तत्संस्कारस्य शिरोधावने, तैलमर्दने, प्रक्षालने, शोषणे च प्रयतते । स चाय स्वाध्यायादि विघ्नकारीति स्वाध्यायादौ ।

'णिद्दोसदा य' निर्दोषता च । या सदोषक्रिया सा न कार्या यथा चौर्यादिका । निर्दोषा त्वनुष्ठीयते यथाऽशनादिका । तथा चेयमदोषा लोचक्रिया ।

'देहे य' देहे च । 'णिम्ममदा' ममेदंबुद्धिरहितता । अनेन लोचाख्यो धर्मो भाषितो भवतीत्युक्तं भवति । 'प्रकृष्टा लोभनिवृत्तिः शौचं' शरीरलोभनिवृत्तिः शौचं । शरीरलोभनिवृत्तिः सकललोभनिराक्रियाया मूलं । शरीरोपकारार्थं स्वजनधनादिकस्य लोभः । धर्मश्च संवरहेतुः, गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयैरिति वचनात् ॥९०॥

आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसद्धा य ।
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ ९१ ॥

'आणक्खिदा य होदि' आदर्शिता भवति । 'लोचेण' लोचेन । का ? 'धम्मसद्धा' धर्मे चारित्रे

नहीं होता । सुख ही मनुष्यको सुखलम्पट बनाता है । अन्तरंगमें दु खकी भावना आने पर सुखकी आसक्ति कम होती है सुखकी आसक्तिका मूल है सुखका उपभोग । उसका अभाव होनेसे सुखकी आसक्ति नहीं होती । जैसे बीजके अभावमें अंकुर उत्पन्न नहीं होता । अथवा यहाँ सुख शब्दसे इन्द्रिय सुख लिया है । जो इन्द्रिय सुखमें आसक्त होता है वह हिंसा आदि करता है । अतः जो सुखासक्ति परिग्रह और आरम्भका मूल है उससे निवृत्त होना संवर ही है । अतः वह मुक्तिका उपाय है । नवीन कर्मोका आना रुके बिना निर्जरा कैसी ? और उसके अभावमें मुक्ति कैसी ? यह अभिप्राय है । तथा केशलोचमें स्वाधीनता आती है क्योंकि जो मनुष्य केशोंसे अनुराग रखता है वह अवश्य सिरको साफ करने, उनकी मालिश करने धोने तथा सुखानेमें लगा रहता है और ये सब काम स्वाध्याय आदिमें विघ्न डालते है । तथा निर्दोषता होती है । जो क्रिया सदोष है वह नहीं करना चाहिए जैसे चोरी आदि । किन्तु निर्दोष क्रिया की जाती है जैसे उपवास वगैरह । उसी तरह लोच क्रिया भी निर्दोष है । शरीरमें 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि नहीं होती । इससे शौच धर्म पलता है यह कहा है । लोभसे अत्यन्त निवृत्तिको शौच कहते है । शरीरमें लोभकी निवृत्ति भी शौच है । शरीरमें लोभकी निवृत्ति सब प्रकारके लोभोंको दूर करनेका मूल है । शरीरके उपकारके लिए ही मनुष्य परिवार और धन आदिका लोभ करता है और शौच धर्म संवरका कारण है क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्रमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयसे संवर कहा है ॥९०॥

गा०—और केशलोच करनेसे आत्माकी धर्ममें श्रद्धा प्रदर्शित होती है । उसी प्रकार लोच उग्र तप है और दुःखका सहन है ॥ ९१ ॥

टी०—लोच करनेसे आत्माकी धर्म अर्थात् चारित्रमे श्रद्धा प्रदर्शित होती है । अर्थात्

---

१. निर्हन्यते-आ० मु० ।

श्रद्धा । कथं ? 'अप्पणो' [illegible] । [illegible] । अप्पणो धर्मश्रद्धाप्रकाशनेन परस्यापि धर्मश्रद्धा [illegible] ।
'उग्गोलणो य' [illegible] ॥ [illegible] ।
'दुक्खसहं' [illegible] । [illegible]
शुभकर्मणां ॥९१॥ लोचोति गदं ॥

व्युत्सृष्टशरीरताभिधानायोत्तर प्रबन्ध —

> सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि णहकेसमंसुसंठप्पं ।
> दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइसंठप्पं ॥ ९२ ॥

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि वर्ज्जेंति [illegible] ॥ णहकेसमंसुसंठप्पं नखकेश[illegible] वर्जयन्ति । अन्तरेणापि चकारं समुच्चयार्थता [illegible] पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मनः इति द्रव्याणि इत्यत्र यथा ॥ दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइ संठप्पं वर्ज्जेंति [illegible] ॥ दन्ता-ओष्ठयो, कर्णयोर्मुखस्य, नासिकाया अक्ष्णोर्भ्रुवोरादिग्रहणात् [illegible] ॥

स्नानमनेकप्रकारं शिरोमात्रक्षालनं शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गात्रस्य, समस्तस्य वा । तत्र शीतोदकेन क्रियते स्थावराणां त्रसानां च बाधा मा भूदिति । कर्दमवालुकादिमर्दनात् [illegible] वनस्पतीनां पीडा मत्स्यदर्दुर सूक्ष्मत्रसानां च स्नानं निराकृतं[1] । उष्णोदकेन स्नान्तीति चेत्, तत्र तत्र [illegible]-

इसकी धर्मश्रद्धा महान है, यदि न होती तो इतना दुःसह कष्ट क्यों उठाता ? अपनी धर्मश्रद्धा प्रकाशित करनेसे दूसरेकी भी धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और उसमें वृद्धि होती है। इस तरह उपबृंहण नामक गुण भी भावित होता है। तथा लोचमें कायक्लेश नामक उग्र तप होता है। तथा दुःख सहन करनेसे अन्य दुःखोंको भी सहन करनेमें समर्थ होता है। दुःख सहन करनेसे अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ इस प्रकार लोचका कथन समाप्त हुआ ॥९१॥

व्युत्सृष्ट शरीरता अर्थात् शरीरसे ममत्वके त्यागका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा कहते हैं—

गा०—स्नान, तेलमर्दन, उबटन और नख, केश, दाढ़ी-मूँछोंका संस्कार छोड़ देते हैं। दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौं आदिका संस्कार छोड़ देते हैं ॥९२॥

टी०—'छोड़ते हैं' यह पद लगा लेना चाहिए। 'च' शब्दके बिना भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है। जैसे पृथिवी जल तेज वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन ये द्रव्य हैं। यहाँ 'च' शब्द न होनेपर भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है। अतः स्नान, अभ्यंजन, और उबटन नहीं लगाता है नख, केश, दाढ़ीका संस्कार और दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौं आदिसे हाथ पैर आदिका संस्कार छोड़ देते हैं।

स्नानके अनेक प्रकार है—सिरमात्र धोना, सिरको छोड़कर शेष शरीरको धोना अथवा समस्त शरीरको धोना। स्थावर और त्रसजीवोंको बाधा न हो, इसलिए स्नान ठण्डे जलसे नहीं करते। कीचड़ रेत आदिके मर्दनसे पानीमें क्षोभ पैदा होता है और जिसके होनेसे उनमें रहनेवाले वनस्पति कायिक जीवोंको तथा मछली मेंढक और सूक्ष्म त्रसजीवोंको पीडा होती है। इस-

१. स्नायादिति—आ० मु०।

बाधा स्थितैव । भूमिदरीविवरस्थितानां पिपीलिकादीना मृते , तरुणतृणपल्लवाना चोष्णाबुभिस्तप्ताना दु खासिका महती जायते, तथा क्षारतया धान्यरसादीनां । न चास्ति प्रयोजन स्नानेन सप्तधातुमयस्य देहस्य न सुचिना शक्या कर्तुं । ततो न शौचप्रयोजनं । न रोगापहृतये रोगपरीषहसहनाभावप्रसगात्, न हि भूषार्थं विरागत्वात् ।

घृततैलादिभिरभ्यजनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिशरीरादि जन्तवो बाध्यन्ते । त्रसाश्च तत्रावलग्ना. । उद्वर्तने इतस्तत पतना व्याघात । मूलत्वक्फलपत्रादे पेषणे, दलने च महानसंयम: । निर्वर्तनविलेखनघर्षणरंजनादिको नखसस्कार. । केशसस्कारो हस्तघर्षणेन मसृणतासंपादन, तथा श्मश्रूणामपि । दंतमलापकर्षणं मर्दजनं वा दंतसंस्कार' । ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरण वा ओष्ठसंस्कार: । न्हस्वयोर्लंबनापादन दीर्घयोर्वा न्हस्वकरण तन्मलनिरासोऽलंकारग्रहण वर्णसस्कार. । मुखस्य तेज'सपादनं लेपेन मत्रेण वा मुखसस्कार । अक्ष्णो' प्रक्षालन अंजन अक्षिसस्कार: । विकटोत्थिताना रोम्णा उत्पाटनं आनुलोम्यापादनं लंबयोरुन्नतीकरण, भ्रूसस्कार: । शोभार्थं हस्तपादादिप्रक्षालन, औषधविलेपादिर्वा संस्कार आदिशब्देन गृहीत' ॥९२॥

वज्जेदि बंभचारी गंधं मल्लं च धूवबासं वा ।
संवाहणपरिमद्दणपिणिद्धणादीणि य विमुत्ती ॥ ९३ ॥

लिए शीतल जलसे स्नान नही करते ।

शंका—तब गर्म जलमे स्नान करना चाहिए ?

समाधान—उसमे भी त्रस और स्थावर जीवोको बाधा रहती ही है । पृथिवी तथा पहाडके बिलोंमें रहनेवाली चीटी आदिके मरनेसे और उष्णजलके तापसे कोमल तृण पत्ते आदिके झुलसनेमे बडा दु ख होता है । तथा जलके खारपनेसे धान्यके रसको भी हानि पहुँचती है । तथा स्नानकी कोई आवश्यकता भी नही है क्योकि सप्तधातुओंसे युक्त शरीरको पवित्र नही किया जा सकता । अत पवित्रताकी दृष्टिसे स्नानका कोई प्रयोजन नही है । रोगको दूर करनेके लिए भी स्नान आवश्यक नही है क्योकि तब साधु रोगपरीषह सहन नही कर सकेंगे । और शरीरकी शोभाके लिए भी स्नान आवश्यक नही है क्योकि साधु तो विरागी होते हैं ।

साधु प्रयोजन होनेसे घी तेल आदिसे शरीरका अभ्यंजन भी नही करते । क्योकि कहे हुए अनुसार घी आदिसे तथा क्षारसे भूमि आदि तथा शरीर आदिमे चिपटे जीवोको बाधा पहुँचती है । उद्वर्तन अर्थात् उबटन लगानेसे शरीरसे चिपटे त्रसजीव यहाँ वहाँ गिरकर मर जाते है । तथा उबटन तैयार करनेके लिये वृक्षकी जड, छाल, फल पत्ते आदिको पीसने या दलनेमे महान असयम होता है । काटना, छाटना, रगडना, रगना आदि नखका सस्कार है । हाथमे घर्षणके द्वारा [illegible] र करना अथवा दाँतोको [illegible] ओष्ठ सस्कार है । यदि [illegible] अथवा आभूषण धारण करना कानका सस्कार है । लेप या मत्र द्वारा मुखको तेजस्वी बनाना मुखका सस्कार है । आँखोको धोना, अजन लगाना आँखका संस्कार है । विकट रूपसे उठे हुए रोमोको उखाड़ना और उन्हे व्यवस्थित करना तथा लटकती हुईको ऊँचा करना भौंका संस्कार है । आदि शब्दसे शोभाके लिये हाथ पैर धोना, अथवा औषध आदिका लेप करना, ग्रहण किये गये हैं ॥ ९२ ॥

प्रतिलेखनमाध्यप्रयोजनाख्यानायोत्तरगाथाद्वयम्—

इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे ।
उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणाउंटणामरसे ॥९५॥

'यस्य येन हि संबन्धो दूरस्थमपि तस्य तत्' इत्यनेन क्रमेण सबन्ध—'इरियादाणे' पडिलेहणेण पडिलिहिज्जदित्ति एवं सर्वत्र । ईर्यायां गमने व्रजत. स्वपादनिक्षेपदेशे दुष्परिहारा यदि स्यु पिपीलिकादयोऽथवा प्राक् पादावलग्नरजसो विरुद्धयोनिर्भूमिरपरा जले प्रवेष्टव्य यदि पडिलेहणेण प्रतिलेखनेन 'पडिलेहिज्जदि' निराक्रियते त्रसादिकं । 'आदाने' ग्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनानां । 'णिखेवे विवेके' । ज्ञानसंयमोपकरणानां निक्षेपे स्थापनायां । यन्निक्षिप्यते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं । शरीरमलानां उच्चारादीनां 'विवेके' उत्सर्जने या भूमिः प्रदेश । सा च मूत्रादियोग्या प्रमार्जनीया । 'ठाणे निसीयणे सयणे' स्थाने आसने च शयनक्रियायां । 'उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउंटणामरसे' । 'उव्वत्तणं' उत्तानशयनं । 'परियत्तण' पार्श्वान्तरसंचारं, 'पसारणं' प्रसारणं हस्तपादयोः । आउंटणं संकोचनं । स्पर्शनक्रिया 'आमरसशब्देनोच्यते' ॥

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे ।
विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूवदा चेव ॥९६॥

'चिण्हं च होदि' चिह्नता भवति । 'सगपक्खे' स्वप्रतिज्ञायां । सर्वजीवदया हि यते पक्ष । विस्सासियं च' विश्वासकारि च जनानां । 'लिंगं' प्रतिलेखनाख्यं कथमयमतिगूढमात्कुंथ्वादीनपि परिहरत् गृहीतप्रति-

---

अब प्रतिलेखनका प्रयोजन बतलानेके लिये दो गाथा कहते हैं—

गा०—गमनमें, ग्रहणमें, रखनेमें मल त्यागमें स्थानमें बैठनेमें शयनमें ऊपरको मुखा करके सोनेमें करवट लेनेमें हाथ पैर फैलानेमें संकोचनमें और स्पर्शनमें पीछीसे परिमार्जन करना चाहिये ॥९५॥

टी०—जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है दूर होते हुए भी वह उसका होता है, इस क्रमके अनुसार प्रतिलेखनके दूर होने हुए भी यहाँ उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये । ईर्या अर्थात् गमन करते हुए यदि अपने पैर रखनेके देशमें चींटी आदिको दूर करना अशक्य हो, अथवा अपने पैरोंमें लगी हुई धूलसे आगेकी भूमि विरुद्ध योनि वाली हो या यदि जलमें प्रवेश करना हो तो पीछीसे त्रसादि जीवोंको दूर करना चाहिये । अर्थात् पीछीसे उस देशका पैर आदिका परिमार्जन करके चलना चाहिये । ज्ञान और चारित्रके साधन पुस्तक कमण्डलु आदिको ग्रहण करते समय, या उन्हें रखते समय, जो वस्तु रखें और जहाँ रखे उन दोनोंका प्रमार्जन करना चाहिये—पीछीके द्वारा उन्हें झाड़ना चाहिये । शरीरके मल मूत्रादिका त्याग करते समय यदि भूमि अयोग्य हो तो उसका प्रमार्जन करना चाहिये । स्थान, आसन और सोते समय मुख ऊपर करके सोते हुए या करवट लेते समय या हाथ पैर फैलाते और संकोचते समय, किसी वस्तु को छूते समय पीछीसे प्रमार्जन करना चाहिये । यहाँ आमरस शब्दसे स्पर्शन क्रियाको कहा है ॥९५॥

गा०—उक्त क्रिया करते ... लेखना करना चाहिये, इस प्रकार पूर्व

१७

लेखनोऽस्यात्मनो जीवानामपि [illegible] । [illegible] । [illegible] प्रति-
लिखना च प्रतिलेखना [illegible] भवति ॥९६॥

प्रतिलेखन[illegible]—

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥९७॥

'रजसेदाणमगहणं' रजस [illegible] । [illegible] प्रति-
रजो प्रतिलेखने तद्गिराधना [illegible] । 'मद्दवसुकुमालदा'
मृदुस्पर्शता मार्दवं, सुकुमालदा सौकुमार्यं । 'लहुगं च' [illegible] पंच गुणा [illegible]
सति 'तं' तत् 'पडिलिहणं' प्रतिलेखन [illegible] । [illegible], गुरुणा च प्रति-
लेखनेन जीवानामुपघात एव [illegible] ॥९७॥

[illegible] —

णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं ।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्तो य पढिदव्वं ॥९८॥

गाथासे सम्बन्ध है । अपनी प्रतिज्ञामें पीछी चिह्न होती है । और प्रतिलेखना रूप लिंग मनुष्योंको विश्वास करानेवाला है । और प्राचीन मुनियोंका प्रतिबिम्ब रूप है ॥९६॥

टी०—मुनिका पक्ष या प्रतिज्ञा सब जीवोंपर दया करना है । अतः पीछी उसका चिह्न है । तथा यह चिह्न मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न कराता है कि जब यह व्यक्ति अतिसूक्ष्म कीट आदि जीवोंकी भी रक्षाके लिये पीछी लिये हुए है तो हमारे जैसे बड़े जीवोंको कैसे बाधा पहुँचा सकता है । तथा पीछी धारण करनेसे प्राचीन मुनियोंका जो रूप था उसीकी छाया वर्तमान मुनियोंमें आ जाती है ॥९६॥

प्रतिलेखनाके लक्षण कहते हैं—

गा०—धूलि और पसीनेको पकड़ती न हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, और हल्की हो । जिसमें ये पाँच गुण होते हैं उस प्रतिलेखनाकी प्रशंसा करते हैं ॥९७॥

टी०—सचित्त या अचित्त रज और पसीनेको ग्रहण न करती हो, क्योंकि अचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे सचित्त रजकी प्रति लेखना करनेपर उनमें रहनेवाले जीवोंका घात होता है और सचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे अचित्त रजकी प्रतिलेखना करने पर भी घात होता है । पसीनेको पकड़नेवाली पीछीसे रजमें रहनेवाले जीवोंका घात होता है । तथा पीछी कोमल स्पर्शवाली, सुकुमार और हल्की होनी चाहिये । जिस प्रतिलेखनमें ये पाँच गुण होते हैं, दयाकी विधिको जाननेवाले उसकी प्रशंसा करते हैं । इसका भाव यह है कि कठोर, असुकुमार और भारी प्रतिलेखनासे जीवोंका घात ही होता है, दया नहीं । इस प्रकार लिंगको स्वीकार करनेवाले साधुके चार गुणोंसे युक्त लिंगका कथन किया ॥९७॥

---

१. प्रधानानां-आ० मु० ।

अत आह—'निउणं' जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगतं निरूपयतीति निपुणं। 'सुद्धं' पूर्वापरविरोधपुनरुक्तादिद्वात्रिंशद्दोषवर्जितत्वात् शुद्धं। 'विपुलं' निक्षेप, ऐकार्थ, निरुक्ति अनुयोगद्वार, नयश्चेति अनेकविकल्पेन जीवादीनर्थान्विस्तरेण निरूपयतीति विपुलं। अर्थगाढत्वान्निकाचितं अर्थनिचितं। 'अणुत्तरं च' न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तरं। परेषां वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, व्याहतानि, प्रमाणविरुद्धानि च तेभ्य इदमुत्तरं तदसंभविगुणत्वात्। 'सव्वहिदं' सर्व प्राणहितं। अन्येषां मतानि वेदविदेव रक्षां सूचयन्ति। 'जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्' इत्युपदेशात्[२]।

कलुषहरं द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां अज्ञानादिभावमलस्य च विनाशनात् कलुषहरं। 'अहो य रत्तीय पढियव्वमिच्चनेन' अनारत अध्ययनं सूचितं ॥९८॥

अब शिक्षाका कथन करते हैं—

गा०—निपुण विपुल, शुद्ध, अर्थसे पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियोंका हित करनेवाला द्रव्यकर्म भाव कर्मरूपी मलका नाशक जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिये ॥९८॥

टी०—जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिये। किस प्रकार जिनवचन पढ़ना चाहिये ? इसके उत्तरमें कहते हैं—जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थोंका प्रमाण और नयके अनुसार निरूपण करनेवाला हो। पूर्वापर विरोध पुनरुक्तता आदि बत्तीस दोषोंसे रहित होनेसे शुद्ध हो। विपुल हो अर्थात् निक्षेप, निरुक्ति अनुयोगद्वार और नय इन अनेक विकल्पोंसे जो जीवादि पदार्थोंका विस्तार से निरूपण करता हो। निकाचित अर्थात् अर्थसे भरपूर हो। अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर यानी उत्कृष्ट न हो। दूसरोंके वचन पुनरुक्त, निरर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध हैं अतः उनसे जिनवचन उत्कृष्ट है क्योंकि जो गुण उनमें सम्भव नहीं है उन गुणोंसे युक्त है। सब प्राणियोंका हितकारी है। दूसरोंके मत तो किन्हीं की ही रक्षा सूचित करते हैं। कहा है—वेदका जाननेवाला भी ब्राह्मण यदि किसीको मारता हो तो उसे मार डालना चाहिये। उसमें ब्रह्म हत्याका पाप नहीं लगता। तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमलका विनाश करनेसे जिनवचन पापका हरनेवाला है। उसे 'रात-दिन पढ़ना चाहिये' इससे निरन्तर अध्ययन करना सूचित किया है ॥९८॥

---

१ पदार्थं —आ० मु०।

२ आ० मु० ग्रन्थोऽयोऽलिखिताश्लोका स।

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा ॥
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ॥ १ ॥
"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ॥
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥"
"आततायिनमायान्तमपि वेदान्तविद् द्विजम् ॥
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥"

जिनवचनशिक्षाया गुणानाहृत्य कथयति—

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो य संवेगो ॥
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥९९॥

आदहिदपइण्णा आत्महितपरिज्ञान। इन्द्रियसुखं अहितं परिहितमिति गृह्णन्ति जना। दुःखप्रतीकारमात्रत्वं? अल्पकालिकं, पराधीनं, रागानुबंधकारि, दुर्लभं, भयावहं, शरीरायासमात्रं, अशुचिशरीरसंस्पर्शजं। तदस्य बालस्य सुखबुद्धि। निःशेषदुःखापायजनितं स्वास्थ्यं अचलं सुखमिति न वेत्ति। जिनवचोऽभ्यासादवगच्छति। 'भावसंवरो' भाव परिणाम तस्य संवरो निरोध। ननु परिणाममन्तरेण न द्रव्यस्यास्ति क्षणमात्रमप्यवस्थान तत्कथमुच्यते भावसंवर इति। परिणामविशेषवृत्तिरिह भावशब्द इति मन्यते। तथा वक्ष्यति—

'सज्झायं कुव्वतो पचेंदीसंवुडो इति' अशुभकर्मादाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरागापेक्षया। वीतरागाणां तु वैराग्यनिमित्तशुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यास्रवपरिणामसंवरोऽपि ग्राह्य। 'णवणवो य' प्रत्यग्रः प्रत्यग्रः। 'संवेगो' धर्मे श्रद्धा जिनवचनाभ्यासादुपजायते। 'णिक्कंपदा' निश्चलता। क्व ? रत्नत्रये। 'तवो' स्वाध्यायाख्य तपश्च। 'भावणाय' भावना च गुप्तीना। 'परदेसिगत्त च' परेषामुपदेशकता च ॥

जिनवचनकी शिक्षामें जो गुण हैं उन्हें कहते हैं—

गा०—आत्महितका ज्ञान होता है। भाव संवर होता है। नवीन-नवीन संवेग होता है रत्नत्रयमें निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है। और दूसरोंको उपदेश करनेकी क्षमता होती है ॥९९॥

टी०—जिनवचनके पढ़नेसे आत्महितका परिज्ञान होता है—इन्द्रिय सुख अहितकर है उसे लोग हितकर ग्रहण करते हैं। इन्द्रिय सुख दुःखका प्रतीकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है। पराधीन है, रागका संस्कारी है, दुर्लभ है (?), भयकारी है, शरीरका आयासमात्र है, अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है। उसको यह अज्ञानी सुख मानता है। समस्त दुःखोंके विनाशसे उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य-आत्मास्थिरताभाव-स्थायी सुख है यह नहीं जानता। वह सुख जिनवचनके अभ्याससे प्राप्त होता है। भाव अर्थात् परिणामका, संवर अर्थात् निरोध भावसंवर है।

शंका—परिणामके बिना द्रव्य एक क्षण भी नहीं रह सकता। तब आप कैसे भावसंवर कहते हैं?

समाधान—यहाँ भाव शब्द परिणाम विशेषका वाचक लिया गया है। आगे कहेंगे—स्वाध्याय करनेवाला पाँचों इन्द्रियोंसे संवृत होता है। अतः यहाँ सरागकी अपेक्षासे अशुभ कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त परिणामका ग्रहण किया है। वीतरागोंमेंसे तो किन्हींके जिनवचन शुद्धोपयोगमें निमित्त होता है इसलिये भावसंवरमें पुण्यास्रवमें निमित्त परिणामोंका संवर भी ग्राह्य है। जिनवचनके अभ्याससे नित नया 'संवेग' अर्थात् धर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है। रत्नत्रयमें निश्चलता आती है। स्वाध्याय नामक तप होता है, गुप्तियोंकी भावना होती है तथा दूसरोंको उपदेश देनेकी सामर्थ्य आती है ॥९९॥

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा।
णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव ॥ १०० ॥

'णाणेण' ज्ञानेन। 'सव्वभावा' सर्वे पदार्थाः। 'जीवाजीवादिगा' जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरा-मोक्षाः। 'तधिगा' तथ्यभूता। 'णज्जति' ज्ञायन्ते। 'तथा' तेनैव प्रकारेण। 'इहपरलोए' इह परस्मिश्च लोके। 'अहिद' अहित। 'हिदं' हित चैव। ननु च आदहिदपरिण्णा इत्यत्र हितस्यैव हि सूचितत्वात् जीवादिपरिज्ञान अनुचित कथ व्याख्यायते पूर्वमभिहितं हितमनुक्त्वा ? अत्रोच्यते—आत्मा च हित च आत्महिते तयोः परिज्ञान इति गृहीत। न चात्मनो हितमिति। ततो युक्तं व्याख्यात। एवमपि जीव एव निर्दिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यास. कथं ? आत्मशब्दस्यानूपलक्षणत्वाददोष। जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वं [त०सू० १।८] इत्यत्र सूत्रे आदौ निर्दिष्टो जीव प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षण क्रियते। अथवा आत्मन्यज्ञाते हितमेव दुर्ज्ञान आत्म-परिणामो हि हित तच्च स्वास्थ्यं। तच्च स्वाथ्ये आविदिते स्वास्थ्य मुज्ञातं भवति। तत आत्मा ज्ञातव्य.।

"जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिद विमलं। रहिदं तु उग्गहादिहि सुहंति एयंतियं भणियं" [प्र० व० १।५९]। इति वचनात् अनतज्ञानरूप सुख यदि हितमिति गृहीत, तथापि चेतनाया जीवत्वाच्चैतन्यावस्था-स्वरूपत्वात् केवलस्यावस्थानात् आत्मा ज्ञातव्य एव। मोक्षस्तु कर्मणो तदपायतयाधिगतव्य.। तत्परिज्ञानम-जीवेऽनिर्ज्ञाते न भवति। पुद्गलानामेव द्रव्यकर्मत्वात्, तद्वियोगस्य मोक्षत्वात्। स च मोक्षो बंधपुरस्सर। न

आगे आत्महित परिज्ञानका व्याख्यान करते हैं—

गा०—ज्ञानके द्वारा जीव अजीव आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते हैं। उसी प्रकारसे इस लोक और परलोकमें अहित और हित जाना जाता है ॥१००॥

टी०—शंका—'आत्महित परिज्ञा' इस पदमें तो हितको ही सूचित किया है, जीवादिके परिज्ञानको तो सूचित नहीं किया है तब पहले कहे गये हितका कथन न करके जीवादि परिज्ञान-का व्याख्यान क्यों किया है ?

समाधान—आत्महित परिज्ञानका अर्थ आत्मा और हितका परिज्ञान लिया है। 'आत्माका हित' अर्थ नहीं लिया है। अत: जीवादिका व्याख्यान करना युक्त है।

शंका—ऐसा अर्थ करनेपर भी जीवका ही निर्देश किया है। तब अजीव आदिका उपन्यास क्यों किया ?

समाधान—आत्म शब्द अजीवादिका उपलक्षणरूप होनेसे कोई दोष नहीं है। क्योंकि 'जीवाजीवा' इत्यादि सूत्रमें जीवका प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगेके अजीवादिका उपलक्षण किया है। अथवा, आत्माका ज्ञान हुए विना उसके हितको जानना कठिन है। आत्माका परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है। अत. स्वस्थका ठीक ज्ञान होनेपर स्वास्थ्यका सम्यग्ज्ञान होता है। अत आत्मा ज्ञातव्य है। अथवा ऐसा कहा है—अनन्त पदार्थोंमें व्याप्त और अवग्रह आदिके क्रमसे रहित निर्मल सम्पूर्णज्ञान जो परकी सहायताके विना स्वय होता है उसे एकान्तसे सुखरूप कहा है।' इस कथनसे यद्यपि अनन्तज्ञानरूप सुखको हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है और केवलज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है अत. आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मोंके विनाश-रूप होनेसे जानने योग्य है। कर्मोंका ज्ञान अजीवको जाने विना नहीं होता, क्योंकि पुद्गल ही

आदहिदपरिण्णा इत्यस्य व्याख्यान गाथोत्तरा—

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा।
णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव ॥ १०० ॥

'णाणेण' ज्ञानेन। 'सव्वभावा' सर्वे पदार्था। 'जीवाजीवादिगा' जीवाजीवास्रवबंधसवरनिर्जरा-मोक्षाः। 'तधिगा' तथ्यभूता। 'णज्जति' ज्ञायन्ते। 'तया' तेनैव प्रकारेण। 'इहपरलोए' इह परस्मिश्च लोके। 'अहिदं' अहित। 'हिदं' हित चैव। ननु च आदहिदपरिण्णा इत्यत्र हितस्यैव हि सूचितत्वात् जीवादिपरिज्ञान असूचित कथ व्याख्यायते पूर्वमभिहित हितमनुक्त्वा? अत्रोच्यते—आत्मा च हित च आत्महितं तयो परिज्ञान इति गृहीत। न चात्मनो हितमिति। ततो युक्त व्याख्यात। एवमपि जीव एव निर्दिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यास कथं? आत्मशब्दवस्तूपलक्षणत्वाददोष। जीवाजीवास्रवबंधसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्व [त०सू० १।४] इत्यत्र सूत्रे आदौ निर्दिष्टो जीव प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षण क्रियते। अथवा आत्मन्यज्ञाते हितमेव दुर्ज्ञात आत्म-परिणामो हि हित तच्च स्वास्थ्यं। तच्च स्वस्थे आविदिते स्वास्थ्य सुज्ञात भवति। तत आत्मा ज्ञातव्य।

जाद सय समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिदं विमलं। रहिदं तु उग्गहादिहिं सुहंति एयंतियं भणियं" [प्र० म० १।५९]। इति वचनात् अनतज्ञानरूपं सुख यदि हितमिति गृहीत, तथापि चेतनाया जीवत्वाच्चैतन्यावस्था-स्वरूपत्वात् केवलस्यावस्थानात् आत्मा ज्ञातव्य एव। मोक्षस्तु कर्मणां तदपायतयाधिगतव्य। तत्परिज्ञानम-जीवेऽनिर्ज्ञाते न भवति। पुद्गलानामेव द्रव्यकर्मत्वात्, तद्वियोगस्य मोक्षत्वात्। स च मोक्षो बंधपुरस्सर। न

आगे आत्महित परिज्ञानका व्याख्यान करते हैं—

गा०—ज्ञानके द्वारा जीव अजीव आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते है। उसी प्रकारसे इस लोक और परलोकमे अहित और हित जाना जाता है ॥१००॥

टी०—**शका**—'आत्महित परिज्ञा' इस पदमे तो हितको ही सूचित किया है, जीवादिके परिज्ञानको तो सूचित नही किया है तब पहले कहे गये हितका कथन न करके जीवादि परिज्ञान-का व्याख्यान क्यो किया है?

समाधान—आत्महित परिज्ञानका अर्थ आत्मा और हितका परिज्ञान लिया है। 'आत्माका हित' अर्थ नही लिया है। अत जीवादिका व्याख्यान करना युक्त है।

शका—ऐसा अर्थ करनेपर भी जीवका ही निर्देश किया है। तब अजीव आदिका उपन्यास क्यो किया?

समाधान—आत्म शब्द अजीवादिका उपलक्षणरूप होनेसे कोई दोष नही है। क्योकि 'जीवाजीवा' इत्यादि सूत्रमे जीवका प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगेके अजीवादिका उपलक्षण किया है। अथवा, आत्माका ज्ञान हुए विना उसके हितको जानना कठिन है। आत्माका परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है। अत. स्वस्थका ठीक ज्ञान होनेपर स्वास्थ्यका सम्यग्ज्ञान होता है। अत आत्मा ज्ञातव्य है। अथवा ऐसा कहा है—'अनन्त पदार्थोमे व्याप्त और अवग्रह आदिके क्रमसे रहित निर्मल सम्पूर्णज्ञान जो परकी सहायताके विना स्वय होता है उसे एकान्तसे सुखरूप कहा है।' इस कथनसे यद्यपि अनन्तज्ञानरूप सुखको हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है और केवलज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है अतः आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मोके विनाश-रूप होनेसे जानने योग्य है। कर्मोका ज्ञान अजीवको जाने विना नही होता, क्योकि पुद्गल ही

क्षमति बधे मोक्षोऽपि । न च बंधो नास्रवाभावे । [illegible] । [illegible] दुःखं
गृह्यते [illegible] । [illegible] ? [illegible]
जीववचनेन आहितं । अथ [illegible] दुःखं [illegible] । [illegible]
आस्रवेऽन्तर्भूतत्वात् । अत्रोच्यते—अनुभूतमपि दुःखं [illegible] । [illegible]
क्षीयते । तेषां स्मृतिर्जन्यते जिनवचनेन मनुजभवगतं प्रदर्श्य । [illegible]
[illegible] । निद्रिता [illegible] दुर्भगता [illegible] अनाथता, प्रार्थित [illegible]
[illegible] कामपि तेषां [illegible] ।
[illegible] इह लोके हितं दानतपःप्रभृतिकं हितकारणं हितं इति यथा [illegible] 'हितमौषधम्' इति यथा ।
यतो दानादिके कुशलकर्मणि वर्तमाना जनैः स्तूयन्ते वन्द्यन्ते । उक्तं च—

> दानेन तिष्ठन्ति यशांसि लोके दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
> परोऽपि बंधुत्वमुपैति दानात्तस्मात्सुदानं सततं प्रदेयम् ॥" इति ।—[वरांग० ७।३६]

इन्द्रचक्रधरादयोऽपि प्रणतिमायान्ति तपोऽधिकानाम् । परलोके अहितं [illegible]
हि, तिर्यक्त्वं च, परलोके हितं निर्वृतिसुखं, तदेतत्सर्वं अवबोधयति जैनी भगवती भारती ।

द्रव्यकर्मरूप होते हैं और उनका विनाश मोक्ष है। वह मोक्ष बन्धपूर्वक होता है। क्योंकि बन्धके अभावमें मोक्ष नहीं होता। तथा बन्ध आस्रवके बिना नहीं होता। और मोक्षके उपाय संवर और निर्जरा है।

शंका—यदि अहितसे दुःख लेते है तो इस लोकमें होनेवाला दुःख अनुभवसे सिद्ध है। उसमें जिनवचनकी क्या आवश्यकता? यदि अहितके कारणको अहित कहते हैं तो वह कर्म है और अजीव शब्दसे उसका ग्रहण होता है। यदि परम्परासे दुःखका कारण होनेसे हिंसा आदिको अहित शब्दसे लेते हैं तो भी अहितका पृथक् कथन अयुक्त है क्योंकि आस्रवमें उनका अन्तर्भाव होता है।

समाधान—इस जन्ममें अनुभूत भी दुःखको अज्ञानी भूल जाते हैं इसीसे वे सन्मार्गमें नहीं लगते। जिनवचनके द्वारा मनुष्य भवमें होनेवाली विपत्तियोंको बतलानेसे उनका स्मरण होता है। निन्दनीय कुलमें जन्म होनेपर वहाँ रोगरूपी साँपके डसनेसे उत्पन्न हुई विपत्तियाँ आती हैं। दरिद्रता, भाग्यहीनता, अबन्धुता, अनाथता, इच्छित धन और पर स्त्रीकी प्राप्ति न होने रूप अग्निसे चित्तका जलते रहना, धनिकोंकी निन्दनीय आज्ञाका पालन करनेपर भी उनके गाली; गलौज, डाँट फटकार, मारपीट, परवश मरण आदिको सहना पड़ता है।

जब हितका अर्थ हितका कारण लिया जाता है तो इस लोकमें दान, तप आदि हित हैं। जैसे जंगली औषधी हितका कारण होनेसे हित कही जाती है क्योंकि जो दान आदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और वन्दना करते हैं। कहा भी है—'दानसे लोकमें चिरस्थायी यश होता है। दानसे वैर भी नष्ट हो जाते हैं। दानसे पराये भी बन्धु हो जाते है। अतः सुदान सदा देना चाहिए।' तपोधनोंको इन्द्र चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते हैं। परलोकमें अहितसे मतलब है आगामी नरकगति और तिर्यञ्चगतिके भवमें होनेवाला दुःख। और परलोकमें हितसे मतलब है मोक्षसुख। जिन भगवानके द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है ॥१००॥

आत्महितापरिज्ञाने दोषमाचष्टे—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं ।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥१०१॥

"आदहिदमयाणंतो' आत्महितमबुध्यमानः । 'मुज्झदि' मुह्यति अहितं हितमिति प्रतिपद्यते । मोहे को दोष इत्यत आह—'मूढो' मोहवान् 'समादियदि' समादत्ते । 'कम्मं' कर्मसामान्यशब्दोऽप्यत्र अशुभकर्मवृत्तिर्ग्राह्यः । कर्मग्रहणे को दोष इत्यत आह—'कम्मणिमित्तं' कर्महेतुकं, जीव 'परीदि' परिभ्रमति । किं 'भवसायरम्' भवसमुद्रं 'अणंतं' अनन्तम् ॥१०१॥

आत्महितपरिज्ञानस्योपयोगमादर्शयति—

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य ।
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं ॥१०२॥

'जाणंतस्स' जानतः । 'आदहिदं' आत्महितं । 'अहिदणियत्ती य' अहितनिवृत्तिश्च । 'हिदपवत्ती य' हिते प्रवृत्तिश्च । 'होदि य' भवति च । 'तो' ततः हितज्ञानात्परस्मात् । 'तह्मा' तस्मात् 'आदहिदं' आत्महितं । 'आगमेदव्वं' शिक्षितव्यम् । अत्र चोद्यते—ननु आत्महितज्ञस्य हिते प्रवृत्तिर्भवतु, अहितान्निवृत्तिः कथं ? अहितज्ञोऽहितान्निवर्तते, हितमहितं च भिन्नमेव । यतो भिन्नं न तस्मिन्नवगते तदन्यस्यावगतं भवति । यथा-वानरेऽवगते न मकरः, भिन्नं च हितादहितं तस्माद्धितज्ञोऽहितं अजानन् कथमहितान्नियोगतो निवर्तेत ? अत्रो-

---

आत्महितका ज्ञान न होनेके दोष कहते हैं—

गा०—आत्माके हितको न जाननेवाला मोहित होता है। मोहित हुआ कर्मको ग्रहण करता है। और कर्मका निमित्त पाकर जीव (अणत) अनन्त भवसागरमें भ्रमण करता है ॥१०१॥

टी०—आत्महितको या आत्मा और हितको जाननेवाला अहितको हित मानता है। यही मोह है। इस मोहमें क्या दोष है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मोही जीव कर्मको ग्रहण करता है। यहाँपर यद्यपि कर्म सामान्य कहा है तथापि अशुभकर्म ग्रहण करना चाहिए। कर्मोंके ग्रहणमें क्या दोष है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि कर्मके कारण जीव भव समुद्रमें अनन्तकाल तक भ्रमण करता है ॥१०१॥

आत्महितके ज्ञानका उपयोग दिखलाते हैं—

गा०—आत्महितको जाननेवालेके अहितमें निवृत्ति और हितमें प्रवृत्ति होती है। हिता-हितके ज्ञानके पश्चात् उसका हिताहित भी जानता ही है। इसलिए (आदहिदं) आत्महितको आगममें सीखना चाहिए ॥१०२॥

टी०—शंका—आत्महितको जाननेवालेकी हितमें प्रवृत्ति होओ, किन्तु अहितमें निवृत्ति कैसे ? जो अहितको जानता है वह अहितमें निवृत्त होता है। तथा हित और अहित भिन्न हैं। जो जिससे भिन्न होता है उसके जाननेपर उससे भिन्नका ज्ञान नहीं होता। जैसे बन्दरको जानने-पर मगरका ज्ञान नहीं होता। और हितसे अहित भिन्न है अतः हितको जाननेवाला अहितको नहीं जानता। तब वह कैसे नियमसे अहितसे निवृत्त होगा ?

च्यते-सर्वमेव वस्तु स्वपरभावाभावोभयाधीनात्मलाभं यथा घटः पृथुबुध्नोदराद्याकारात्मकः पटादिरूपतया ग्राह्य', अन्यथा विपर्यस्त तज्ज्ञानं भवेत्। एवमिहापि हितविलक्षणमहितं अजानता तद्विलक्षणता हितस्य ज्ञाता भवेत्। अतो हितज्ञोऽहितमपि वेत्तीति युक्ता निवृत्तिस्तत ॥१०२॥

शिक्षाया अनुभभावसवरहेतुता प्रतिपादनायाह—

सज्झायं कुव्वंतो पचिंदियसुंवुडो तिगुत्तो य ॥

हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ॥१०३॥

"सज्झायं' स्वाध्याय पचविध वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन। तत्र निरवद्यस्य ग्रन्थस्या ध्यापन तदर्थाभिधानपुरोग वाचना। सदेहनिवृत्तये निश्चितबलाधानाय वा सूत्रार्थविषय. प्रश्न.। अवगतार्थानुप्रेक्षण अनुप्रेक्षा। आम्नायो गुणना। आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनीति चतस्र कथास्तासां कथनं धर्मोपदेश। त स्वाध्याय कुर्वन्। 'पंचिदियसंवुडो होदि' पचेन्द्रियसवृतो भवति। ननु पञ्चेन्द्रिय शब्दः निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातात्सवृतपचेन्द्रिय इति भवितव्यम् ? सत्य। 'जातिकालसुखादिभ्य परवचनम्' इत्यनेन बहुव्रीहौ पचेन्द्रियत्वजातिवृत्तिरिति जातिवचन। ततो निष्ठात परत प्रयुज्यते इति मन्यते। इन्द्रियमनेकप्रकार द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रिय इति। इह तु रूपाद्युपयोगा इन्द्रियशब्देनोच्यन्ते। तेनायमर्थ स्वाध्यायं कुर्वन्निरुद्ध-

समाधान—प्रत्येक वस्तुका जन्म स्वके भाव और परके अभाव, इन दोनोंके अधीन है। जैसे घट बडे पेट आदि आकारवाला होता है, पटादिरूपसे उसका ग्रहण नही होता। यदि घटका पटरूपसे ग्रहण हो तो वह ज्ञान विपरीत कहलायेगा। इसी तरह यहाँ भी जो हितसे विलक्षण अहितको नही जानता वह उससे विलक्षण हितका भी ज्ञाता नही हो सकता। अतः जो हितको जानता है वह अहितको भी जानता है। इसलिए उसकी अहितसे निवृत्ति उचित ही है ॥१०२॥

शिक्षा अनुभभावके सवरमें हेतु है, यह कहते हैं—

गा०—विनयसे युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचों इन्द्रियोके विषयोसे संवृत और तीन गुप्तियोसे गुप्त एकाग्रमन होता है ॥ १०३ ॥

टी०—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद हैं। उसके अर्थका कथन करने पूर्वक निर्दोष ग्रन्थके पढानेको वाचना कहते हैं। सन्देहको दूर करनेके लिये अथवा निश्चितको दृढ करनेके लिये सूत्र और अर्थके विषयमें पूछना प्रश्न है। जाने हुए अर्थका चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। कण्ठस्थ करना आम्नाय है। कथाके चार प्रकार हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी। उनके करनेको धर्मोपदेश कहते हैं। उस स्वाध्यायको करने वाला पञ्चेन्द्रिय सवृत होता है।

शङ्का—बहुव्रीहि समासमें निष्ठान्तका पूर्वनिपात होनेसे 'सवृत पञ्चेन्द्रिय' होना चाहिये।

समाधान—आपका कथन सत्य है। 'जातिकाल सुखादिभ्य परवचनम्' इस सूत्रसे पञ्चेन्द्रिय शब्द पञ्चेन्द्रिय जातिवृत्ति होनेसे जातिवाचक है। इसलिये निष्ठान्तका प्रयोग पञ्चेन्द्रियके आगे किया है।

इन्द्रियके अनेक भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय। किन्तु यहाँ इन्द्रियशब्दसे रूपादि विषयक

१ पृथुबुध्ना-अ०। पृथुभाया-आ०। २. यान्ति-आ० मु०।

रूपाद्युपयोगो भवति इति । रूपाद्युपयोगनिरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोज्ञामनोज्ञरूपाद्युपयोगाव-लम्बनौ रागद्वेषौ । न ह्यनवबुध्यमानो विषयः स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तेऽन्यमनस्के वा रागादीनां विषयसन्निधावप्यदर्शनात् ।

"गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥" [पञ्चास्ति० १२९]

इति वचनाच्च । यः स्वाध्याये प्रवर्तमानः 'विणयेण समाहिदो' ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा स्वाध्यायं करोति 'तिगुत्तो य होदि' तिसृभिर्गुप्तिभिश्च भवति । मनसोऽप्रशस्तरागाद्यनवश्लेषात्, अनृतरूक्षपरुषकर्कशात्मस्तवनपरदूषणादावव्यापृते , हिंसादौ शरीरेणाप्रवृत्तेश्च, "एयग्गमणो य होदि भिक्खू" इति पदघटना—एव-मुक्तान्तरंगश्च भवति भिक्षुः स्वाध्याये रत । एवमुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमप्यासादयतीति । न ह्यकृत-श्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने भवितुमर्हतः । अपायोपायभवविपाकलोकविचयादयो धर्मध्यानभेदाः । अपायादि-स्वरूपज्ञानं जिनवचनबलादेव 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' [त०सू० ९।३७] इत्यभिहितत्वाच्च ॥१०३॥

प्रत्यग्रसंवेगप्रभवक्रममाचष्टे—

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु ।
तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए ॥ १०४ ॥

उपयोग रुका गया है । अतः यह अर्थ होता है कि स्वाध्यायको करने वालेका रूपादि विषयक उपयोग रुक जाता है ।

शङ्का—रूपादि विषयक उपयोगको रोकनेका क्या फल है ?

समाधान—रागादिकी प्रवृत्ति नहीं होती । राग द्वेष मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादि विषयक उपयोगका आश्रय पाकर होते हैं । जिस विषयको जाना नहीं वह विषय केवल अपने अस्तित्व-मात्रसे राग द्वेषको पैदा नहीं करता । क्योंकि सोते हुए या जिसका मन अन्य ओर है, उस मनुष्य-मे विषयके पासमे होते हुए भी राग द्वेष नहीं देखे जाते । कहा है—'गतिमें जाने पर शरीर बनता है । शरीरसे इन्द्रियाँ बनती हैं । इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष होते हैं । जो विनय पूर्वक स्वाध्याय करता है वह पञ्चेन्द्रिय संवृत और तीन गुप्तियोंसे गुप्त होता है क्योंकि उसका मन अप्रशस्त रागादिके विकारसे रहित होता है, झूँठ, रूक्ष, कठोर, कर्कश, अपनी प्रशंसा, परनिन्दा आदि वचन नहीं बोलता, तथा शरीरके द्वारा हिंसा आदिमें प्रवृत्ति नहीं करता । तथा स्वाध्यायमें लीन साधु एकाग्रमन होता है । अर्थात् ध्यानमें भी प्रवृत्ति करता है । जिसका श्रुतसे परिचय नहीं है उसके धर्मध्यान शुक्लध्यान नहीं होते । अपायविचय, उपायविचय, विपाकविचय, लोकविचय आदि धर्मध्यानके भेद हैं । अपाय आदिके स्वरूपका ज्ञान जिनागमके बलसे ही होता है । कहा भी है—आदिके दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववित् श्रुतकेवलीके होते हैं ॥ १०३ ॥

नवीन संवेगके उत्पन्न होनेका क्रम कहते हैं—

गा०—जैसे-जैसे अतिशय अभिधेयसे भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुतको अव-गाहन करता है, वैसे-वैसे नई नई धर्मश्रद्धासे आह्लाद युक्त होता है ॥ १०४ ॥

'जह जह' यथा यथा। 'सुदं' श्रुतं 'ओगाहदि' अवगाहते शब्दश्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत्। 'अदिसयरसपसरं अतिशयरसप्रसरं' समयान्तरेषु अनुपलभ्योऽर्थोऽतिशयितो रस। शब्दस्य हि रसोऽर्थ तस्य सारत्वात् आम्रफलादिरस इव। प्रसरशब्देन बाहुल्यमतिशयितार्थस्य सूच्यते। ततोऽयमर्थ-अतिशयाभिधेयबहुलं श्रुतमिति। ननु परवादिनोऽपरेऽपि स्वसमयमेव प्रशंसन्ति। प्रत्यक्षानुमानेन च विरुद्धमर्थस्वरूपं केवलं नित्यत्वमनित्यता वा निरूपयतामागमानां नातिशयार्थप्रसरता। प्रमाणान्तरप्रसिद्धागमार्थोऽतिशयितो भवति नापर। 'असुदपुव्वं तु' अश्रुतपूर्वमेव। ननु भव्यानामभव्यानां च कर्णगोचरतामायातमेव श्रुतं किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति? अथ श्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमात्रं श्रुतमप्यश्रुतं इति गृह्यते तदप्ययुक्तं, अर्थोपयोगस्यापि असकृत् ज्ञातत्वात्। अयमभिप्राय श्रद्धानसहचारिबोधाभावाच्छ्रुतमप्यश्रुतमिति। 'तह तह पल्हादिज्जदि' तथा तथा प्रल्हादमुपैति। 'नवनवसंवेगसड्ढाए' प्रत्यग्रतरधर्मश्रद्धया। ननु च संसाराद्भीरुता संवेग नायमर्थ स्याद-संबंध न दोष। संसारभीरुताहेतुको धर्मपरिणाम। आयुधनिपातभीरुताहेतुककवचग्रहणवत्। तेन संवेगशब्द कार्ये धर्मे वर्तते ॥१०४॥

निष्कपताख्यानायाह—

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा।
विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ॥१०५॥

टी०—जैसे-जैसे श्रुतका अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुतके अर्थको जानता है। वह श्रुत 'अतिशयरस प्रसर' होना चाहिये। अन्य धर्मोंमे जो अर्थ नही पाया जाता उसे 'अतिशय-रस' कहा है। क्योकि शब्दका रस उसका अर्थ है वही उसका सार है। जैसे आमफलादिका रस। प्रसर शब्दसे अतिशयित अर्थकी बहुलता सूचित होती है। अत. 'अतिशयितरस प्रसर' का अर्थ है—अतिशय अभिधेयसे भरा हुआ श्रुत।

शङ्का—अन्य मतावलम्बी भी अपने सिद्धान्तकी प्रशसा करते हैं?

समाधान—प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध अर्थके स्वरूप केवल नित्यता या केवल अनित्यता का कथन करने वाले आगम अतिशय अर्थबहुल नही हैं। जिस आगमका अर्थ अन्य प्रमाणोंसे प्रमाणित होता है वही आगमार्थ अतिशयित होता है, अन्य नही। तथा वह अश्रुतपूर्व जो पहले नही सुना, होना चाहिये।

शङ्का—भव्य और अभव्य जीवोके कानोमे श्रुत सुननेमे आता ही है तब आप अश्रुत पूर्व कैसे कहते हैं? यदि श्रुतके अर्थका ज्ञान न होनेसे शब्दमात्र श्रुतको अश्रुत कहते है तो यह भी ठीक नही है क्योकि अर्थके उपयोगका भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है?

समाधान—अभिप्राय यह है कि श्रद्धान पूर्वक ज्ञान न होनेमे श्रुत भी अश्रुत होता है। तो जैसे श्रुतका अवगाहन करता है वैसे वैसे नई नई धर्मश्रद्धासे युक्त होता है।

शङ्का—ससारसे भीरताको सवेग कहते है। तब आपका अर्थ धर्म ठीक नही है।

समाधान—इसमे कोई दोष नही है। ससारसे भीरता धर्म परिणामका कारण है। जैसे शस्त्रके आघातके भयसे कवच ग्रहण करते हैं इसमे सवेग शब्द सवेगका कार्य जो धर्म है उसको कहता है ॥ १०४ ॥

आयापायविदण्हू वृद्धिहानिक्रमज्ञः। प्रवचनाभ्यासादेव रत्नत्रयाभिवृद्धि एवं तथा हानिरिति यो जानाति सगो। 'दंसणणाणतवसंजमे' श्रद्धाने, ज्ञाने, तपसि, संयमे वा। 'ठिच्चा' स्थित्वा। 'विहरदि' प्रवर्तते। 'विसुज्झमाणो' शुद्धिमुपयान्। 'जावज्जीवं' जीवितकालावधि। तु शब्दोऽत्रेव नेय। 'णिक्कंपो दु' विनिष्प्रकंपो निश्चल एवेति यावत्। निःशंकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धिः, शंकादिना हानि। अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धि। अनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च ज्ञानहानि। यथा चोक्तम्—"पुव्वगहिदं पि णाणं संकुडदि विणुवजोगिस्स" इति। तपसो द्वादशविधस्य वृद्धि संयमभावनया वीर्यविनिगूहनात् ज्ञानोपयोगात्। हानि पुनस्तद्विपर्ययादैहिककार्यमिगाढा। सम्यक् पापक्रियाभ्य उपरम संयम। पापक्रियास्त्वाशुभमनोवाक्कायायोगा तेन चारित्र संयम। 'पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं' इति वचनात्। तस्य संयमस्य वृद्धि पञ्चविंशतिभावनाभिर्हानि तासां भावनानां अभावेन। श्रुतादिना ज्ञानादीनां गुणदोष वा न वेत्ति। अनिर्ज्ञातगुण कथं गुणाननुवर्तयेत्, अविदितदोषो वा तान्परित्यजेत्। तेन शिक्षायामादर कार्यः ॥१०५॥

जिनवचनशिक्षा तप इत्येतदुच्यते—

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥१०६॥

निष्कम्पताका कथन करते हैं—

गा०—वृद्धि और हानिके क्रमको जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयममें स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है वह निश्चल ही है ॥ १०५ ॥

टी०—प्रवचनके अभ्यासमे जो यह जानता है कि ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी वृद्धि होती है और ऐसा करनेसे हानि होती है वह श्रद्धान, ज्ञान, तप, और संयममें स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त करता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है।

निःशंकित आदि गुणोंसे सम्यग्दर्शनकी वृद्धि होती है और शंका आदिसे हानि होती है। अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धिसे तथा स्वाध्यायमें उपयोग लगानेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। उपयोग न लगानेसे तथा नवीन अपूर्व अर्थको ग्रहण न करनेसे ज्ञानकी हानि होती है। कहा है—'पूर्वमें ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमें उपयोग नहीं लगाता उसका घट जाता है।' संयमकी भावनासे व अपनी शक्तिको न छिपाकर ज्ञानमें उपयोग लगानेसे बारह प्रकारके तपकी वृद्धि होती है। उससे विपरीत करनेसे और लौकिक कार्योंमें फँसे रहनेसे तपकी हानि होती है। पाप क्रियाओंसे सम्यक् रीतिसे विरत होनेको संयम कहते हैं। अशुभ मनोयोग, अशुभ वचन योग और अशुभकाय योग पापक्रिया है। अत. चारित्र संयम है। कहा भी है—'पाप क्रियाओंसे निवृत्ति चारित्र है।' उस संयमकी वृद्धि पच्चीस भावनाओंसे होती है और उन भावनाओंके अभावमें संयमकी हानि होती है। शास्त्राभ्यासके बिना ज्ञान आदिके गुण अथवा दोषको नहीं जानता। जो गुणोंको नहीं जानता वह कैसे गुणोंको बता सकता है। और जो दोषोंको नहीं जानता वह कैसे उन्हें छोड़ सकता है? अत शिक्षामें आदर करना चाहिये ॥ १०५ ॥

जिनवचनकी शिक्षा तप है, यह कहते हैं—

---

१. सकुडइविनु-मु०। २ अज्ञात-आ० मु०।

'बारसविहम्मि य' द्वादशप्रकारे। 'तवे' तपसि। 'सब्भंतरबाहिरे' सहाभ्यन्तरबाह्याभ्यां वर्तते इति साभ्यन्तरबाह्ये। बाह्यमभ्यन्तरं वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्यां सह वर्तते इत्युच्यते ? तपःसामान्यं विशेषैः सह वर्तते इत्युच्यते। अजाद्यदन्तत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च अभ्यन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातोऽल्पस्वरादपि बाह्यशब्दात्। 'कुसलदिट्ठे' संसारः, संसारकारणं, बंधो, बंधकारणं, मोक्षस्तदुपायः इत्यत्र वस्तुनि ये कुशलाः सर्वविदस्तैरुपदिष्टे। 'सज्झायसमं' स्वाध्यायेन सदृशं। 'तवोकम्मं' तपःक्रिया। 'ण वि अत्थि' नैवास्ति। 'ण वि य' नैव। 'होहिदि' भविष्यति। नासीदित्यपि कालत्रयेऽपि स्वाध्यायसदृशस्यान्यस्य तपसोऽभावः कथ्यते। अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धेरविशेषात् कर्मतपनसामर्थ्यस्याविशेषात्। किमुच्यते स्वाध्यायसदृशं तपो नेति ? कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया सदृशमन्यत्तपो नैवास्तीत्यभिप्रायः। तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् न वा ? आत्मपरिणामत्वे कथं कस्यचिद्बाह्यता ? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जरां कुर्यात् घटादिवदित्यत्रोच्यते—आत्मपरिणाम एव तपः। कथं तर्हि बाह्यता ? बाह्याः सद्धर्ममार्गाद्ये जनाः तैरप्यवगम्यत्वात् बाह्यमित्युच्यतेऽनशनादि बाह्यैराचरणात्। सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तराः। तदवगम्यत्वा[1]-संगतत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति सूरेरभिप्रायः॥

गा०—सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्यभेद सहित बारह प्रकारके तपमें स्वाध्यायके समान तपक्रिया नहीं है और न होगी ही॥ १०६॥

टी०—शंका—बाह्य और अभ्यंतर तपको छोड़कर अन्य तप क्या है जो बाह्य अभ्यन्तर सहित बारह प्रकारका तप कहते हो ?

समाधान—सामान्य तप विशेषोंके साथ रहता है यह कहनेका अभिप्राय है। यद्यपि बाह्य शब्दमें अल्प स्वर है फिर भी अभ्यन्तर शब्दके आदिमें अच् होनेसे तथा पूज्य होनेसे अभ्यन्तर शब्दको प्रथम स्थान दिया है। संसार और संसारके कारण, बन्ध और बन्धके कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय इन वस्तुओंमें जो कुशल सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा उपदिष्ट तपोंमें स्वाध्यायके समान तप न है, न होगा और न था, इस प्रकार तीनों कालोंमें स्वाध्यायके समान अन्य तपका अभाव कहा है।

शंका—स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है। दोनोंमें ही कर्मको तपनेकी शक्ति समान है। फिर कैसे कहते हैं कि स्वाध्यायके समान तप नहीं है ?

समाधान—कर्मोंकी निर्जरामें हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अन्य तप नहीं है इस अभिप्रायसे उक्त कथन किया है।

शंका—तप, क्या आत्माका परिणाम है अथवा नहीं है ? यदि आत्माका परिणाम तप है तो वह बाह्य कैसे हुआ ? यदि तप आत्माका परिणाम नहीं है तो वह कर्मोंकी निर्जरा नहीं कर सकता जैसे घट।

समाधान—आत्माका परिणाम ही तप है। तब आप कहेंगे कि वह बाह्य कैसे है ? सद्धर्मके मार्गसे जो लोग बाह्य हैं वे भी उन्हें जानते हैं इसलिए अनशन आदिको बाह्य तप कहा है क्योंकि बाह्य जन भी उन्हें करते हैं। जो सन्मार्गको जानते हैं वे अभ्यन्तर हैं। उनके द्वारा ज्ञात होनेसे अथवा उनके द्वारा पालन किये जानेसे अभ्यन्तर कहे जाते हैं। इस प्रकार तप

१. [illegible]

प्रतिज्ञामात्रेण स्वाध्यायस्यान्यतपोभ्योऽतिशयितता न सिद्ध्यतीति मन्यमानं प्रति अतिशयसाधनायाह—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥१०७॥

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१०८॥

'जं' यत् । 'अण्णाणी' सम्यग्ज्ञानरहितः । 'कम्मं' कर्म । 'खवेदि' क्षपयति । 'भवसयसहस्सकोडीहिं' भवशतसहस्रकोटिभिः । 'तं' तत् कर्म । 'णाणी' सम्यग्ज्ञानवान् । 'तिहिं गुत्तो' त्रिगुप्तियुक्तः । 'खवेदि' क्षपयति । 'अंतोमुहुत्तेण' अन्तर्मुहूर्तमात्रेण । झटिति कर्मघातनसामर्थ्यं तपसोऽन्यस्य न विद्यते इत्ययमतिशयः स्वाध्यायस्य ॥१०७॥

स्वाध्याये उद्यतो गुप्तिभावनायां प्रवृत्तो भवति । तत्र च वृत्तस्य रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तरगाथया कथ्यते—

सज्झायभावणाए य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ होदि ॥१०९॥

मनोवाक्कायव्यापारा कर्मादानहेतवः सर्व एव व्यावर्तन्ते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तयः । कृताभिमतादियोगत्रयनिरोधश्च रत्नत्रय एव घटते इति सुखसाध्यता । अनन्तकालाभ्यस्ताशुभ-

---

बाह्य और अभ्यन्तर कहे गये हैं ऐसा आचार्यका अभिप्राय है ॥१०६॥

जो कहता है कि केवल कहने मात्रसे स्वाध्यायकी अन्य तपोंसे श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती, उसके प्रति श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं—

गा०—सम्यग्ज्ञानसे रहित अज्ञानी जिस कर्मको लाख करोड़ भवोंमें नष्ट करता है, उस कर्मको सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियोंसे युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्तमात्रमें क्षय करता है ॥१०७॥

गा०—अज्ञानीके दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करनेसे जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानीके होती है ॥१०८॥

टी०—इतनी शीघ्रतासे कर्मोंको काटनेकी शक्ति अन्य तपमें नहीं है, यह स्वाध्यायका अतिशय है ॥१०८॥

जो स्वाध्यायमें तत्पर होता है वह गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है। और जो गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है वह रत्नत्रयकी आराधना सुख पूर्वक करता है वह आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—स्वाध्याय भावनासे सब गुप्तियाँ भावित होती है। और गुप्तियोंकी भावनासे मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामोंकी आराधनामें तत्पर होता है ॥१०९॥

टी०—स्वाध्याय करनेपर मन वचन कायके सब ही व्यापार, जो कर्मोंके लानेमें कारण हैं चले जाते हैं। ऐसा होनेसे गुप्तियाँ भावित होती हैं। और तीनों योगोंका निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रयमें ही लगता है। अतः रत्नत्रय सुख पूर्वक साध्य होता है, इसका भाव यह है कि

विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभं तद्विनयः। तथा चोक्तं—"जह्मा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य" (मूलाचार ७।८१) इति। 'पुण' पश्चात् जिनवचनाभ्यासोत्तरकालं। 'पंचविहो' पञ्चप्रकारः। 'णिद्दिट्ठो' निर्दिष्टः। 'णाणदंसणचरित्ते' विषयलक्षणेयं सप्तमी। ज्ञानदर्शनचारित्रविषयः॥ 'तवविणओ य' तपसि विनयश्च॥ 'चउत्थो' चतुर्थः। 'चरमो' अन्त्यः॥ 'उवयारिओ विणयो' उपचारविनयश्चेति॥

ज्ञानविनयभेदानाचष्टे—

> काले विणये उवधाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
> वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो ॥११२॥

'काले' स्वाध्यायवाचनकालाविह कालशब्देन गृह्येते। अन्यथा कालमन्तरेण कस्यचिदपि वृत्त्यभावात् कालग्रहणमनर्थकं स्यात्। भवतु नाम कालविशेषः कालशब्दवाच्यः तथापि नासौ विनयो न कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्सर्वस्याकर्मता प्राप्नुयात्। 'काले' इति सप्तम्यन्तं पदं। तेन वाक्यशेषपुरस्सरोऽत्र सूत्रार्थो जायते। साध्याहारत्वात् सर्वं सूत्राणां। काले अध्ययनमिति। परिवर्जनीयत्वेन निर्दिष्टं कालं सन्ध्यापर्वदिग्दाहोल्कापातादिकं परिहृत्याध्ययनं कर्म विनयति इति विणए इति प्रथमान्तः। विनयः श्रुतश्रुतधरमाहात्म्यस्तवनं श्रुतश्रुतधरभक्तिरिति यावत्।

गा०—जिनवचनके अभ्यासके पश्चात् विनय पाँच प्रकारकी कही है। ज्ञानविनय दर्शनविनय चारित्रविनय और चतुर्थ तपविनय और अन्तिम उपचार विनय है ॥१११॥

टी०—'विनयति' जो अशुभ कर्मको दूर करती है वह विनय है। कहा है—यतः आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करती है अतः विनय है ॥१११॥

ज्ञान विनयके भेदोंको कहते हैं—

गा०—काल, विनय, उपधान, बहुमान, [1]तथा निह्नव, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि ये ज्ञानके विषयमें आठ प्रकारकी विनय है ॥११२॥

टी०—यहाँ काल शब्दसे स्वाध्यायकाल और वाचन काल ग्रहण किये जाते हैं। अन्यथा कालके बिना किसीका भी अस्तित्व सभव न होनेसे कालका ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा।

शंका—काल शब्दका वाच्य काल विशेष रहो। किन्तु काल विनय नहीं है क्योंकि काल कर्मको नष्ट नहीं करता। यदि करे तो सब ही जीव कर्म रहित हो जायेंगे ?

समाधान—'काले' यह सप्तमी विभक्तिसे युक्त पद है अतः इसके साथमें शेष वाक्य जोड़नेसे सूत्रार्थ होता है; क्योंकि सभी सूत्र अध्याहार सहित होते हैं। उनमें ऊपरसे कुछ वाक्य जोड़ना होता है। अतः 'कालमें अध्ययन' यह उसका अर्थ होता है। सन्ध्या, पर्व, दिग्दाह, दिशामें आग लगना, उल्कापात आदि जो काल छोड़ने योग्य कहे हैं उन कालोंको छोड़कर किया गया अध्ययन कर्मको नष्ट करता है। 'विणए' यह प्रथमान्त शब्द है। श्रुत और श्रुतके धारकोंके माहात्म्यका स्तवन अर्थात् श्रुत और श्रुतके धारकोंकी भक्ति विनय है।

---

१ 'काले'⋯'प्राप्नुयात्' इत्येतद् प्रतिषु उत्थानिकारूपेण लिखितम्।

अथ अर्थशब्देन किमुच्यते ? व्यंजनशब्दस्य सामीप्यादर्थशब्दः शब्दाभिधेये वर्तते, तेन सूत्रार्थोऽयं इति गृह्यते। तस्य का शुद्धिः ? [1]अविपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणायां अर्थाधारत्वान्निरूपणाया अवैपरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते। सूत्रार्थनिरूपणाया शब्दश्रुतत्वादविपरीतनिरूपणापि व्यंजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः वर्णाविर्दिति चेत्, न परकृतं शब्दश्रुता[2]विपरीतपाठे। व्यंजनशुद्धिस्तदर्थनिरूपणाया अवैपरीत्यं अर्थशुद्धिः। प्रत्ययश्रुते तु अर्थयाथात्म्यप्रतिभासोऽर्थशुद्धिः॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यंजनस्य अर्थस्य च शुद्धिः।

ननु व्यंजनार्थशुद्ध्योः प्रतिपादितयोः तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति तत् कथमष्टविधता ? अत्रोच्यते-पुरुषभेदापेक्षयेयं निरूपणा—

कश्चिदविपरीतं सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं पठति। ततस्तन्न कार्यमिति व्यंजनशुद्धिरुक्ता। अन्यस्तु सूत्रमविपरीतं पठन्नपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तन्निराकरणायार्थशुद्धिरुदाहृता। अपरस्तु सूत्रं विपरीतमधीते सूत्रार्थं च कथयितुकामो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुपन्यस्ता। अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभ्यासपरिकरोऽष्टविधं कर्म विनयति व्यपनयति विनयशब्दवाच्यो भवतीति सूरेरभिप्रायः॥११२॥

व्यंजन शब्दकी समीपतासे अर्थशब्द शब्दके वाच्यको कहता है अतः अर्थसे सूत्रार्थका ग्रहण होता है। अविपरीत रूपसे सूत्रके अर्थकी निरूपणामें निरूपणाका आधार अर्थ होता है। अतः निरूपणाकी अविपरीतताको अर्थ शुद्धि कहते हैं अर्थात् सूत्रके अर्थका यथार्थ कथन अर्थ शुद्धि है।

शंका—सूत्रके अर्थकी निरूपणा शब्दश्रुत रूप होती है अतः अविपरीत निरूपणा भी व्यंजन शुद्धि ही हुई, अर्थ शुद्धि कभी भी नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दूसरेके द्वारा किया गया शब्दश्रुतका अविपरीत पाठ व्यंजन शुद्धि है। और उसके अर्थका अविपरीत निरूपण अर्थ शुद्धि है। किन्तु ज्ञानरूप श्रुतमें अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान अर्थ शुद्धि है। व्यंजन और अर्थकी शुद्धिको तदुभय शुद्धि कहते हैं।

शंका—व्यंजन शुद्धि और अर्थशुद्धिके कहनेपर तदुभय शुद्धि आ जाती है क्योंकि उन दोनों शुद्धियोंके बिना तदुभय शुद्धि नहीं होती। तब आठ भेद कैसे रहे ?

समाधान—यह निरूपणा पुरुष भेदकी अपेक्षासे है। कोई व्यक्ति सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है किन्तु सूत्रको विपरीत पढ़ता है। ऐसा नहीं करना चाहिये इसके लिए व्यंजन शुद्धि कही है। दूसरा व्यक्ति सूत्र तो ठीक पढ़ता है किन्तु सूत्रका अर्थ अन्यथा कहता है उसके निराकरणके लिये अर्थ शुद्धि कही। तीसरा व्यक्ति सूत्रको ठीक नहीं पढ़ता और सूत्रका अर्थ भी विपरीत करता है। इन दोनोंको दूर करनेके लिये उभय शुद्धि कही है। यह आठ प्रकारका ज्ञानाभ्यासका परिकर आठ प्रकारके कर्मोंका विनयन करता है उन्हें दूर करता है इसलिये उसे विनय शब्दसे कहते है यह आचार्यका अभिप्राय है॥११२॥

---

१. कस्य का–आ० मु०। २. विपरीत–आ० मु०। ३. श्रुतवि०–अ०।

दर्शनविनयसूचनपरोत्तरगाथा—

उवगूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा।
संकादिवज्जणं पि णेओ सम्मत्तविणओ सो ॥११३॥

उवगूहणादिया उपबृंहणादिका। उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना चेत्येते। 'पुव्वुत्ता' पूर्वाचार्यैरुक्ता, पूर्वोक्ता। अस्मात् सूत्रात्पूर्वेण च सूत्रेण "उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा भणिदा" इत्यनेनोक्ता' पूर्वमुक्ता। पूर्वोक्तो वा सम्मत्तविणओ सम्यक्त्वविनय इति सम्बधनीयं। 'तह भत्तियादिया य गुणा' तथा भक्त्यादिकाश्च गुणा विनयस्तया ते तत्प्रकारेण अवस्थिता इति। अर्हदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत्। 'संकादिवज्जणं पि य' शंकादिवर्जनं च। चशब्दः पादपूरणः। 'णेओ' ज्ञेयः॥ 'सम्मत्तविणओ' सम्यक्त्वविनय इति॥ उपबृंहणादीनां भक्त्यादीनां च गुणानां बहुत्वात् तेषामेव च विनयत्वात् सम्मत्तविणया इति वाच्यमिति चेत्, विनयसामान्यापेक्षया सम्यक्त्वस्यैकत्ववचनेन पदसंस्कारः कृतो न निवर्तते। न च पदार्थबाहुल्यापेक्षया बहुत्वमस्तीत्येतावता अप्रतिपादिकान् सुबुत्पद्यते। तथा च प्रयोगः वृक्षा वनमिति ॥११३॥

चारित्रविनयनिरूपणपरा गाथा—

इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥११४॥

आगे दर्शनविनयका कथन करते हैं—

गा०—पूर्वोक्त उपगूहन या उपबृंहण आदि तथा भक्ति आदि गुण, शंका आदिका त्याग यह सम्यक्त्वविनय जानो ॥११३॥

टी०—पूर्वोक्त अर्थात् पूर्वाचार्योंके द्वारा कहे गये, या इससे पहलेके गाथा सूत्र 'उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा भणिदा' के द्वारा कहे गये उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये गुण सम्यक्त्वविनय है। तथा अर्हन्त आदि विषयक भक्ति आदि गुण सम्यक्त्वविनय है और शंका आदि दोषोंका त्याग सम्यक्त्व विनय है।

शंका—उपबृंहण आदि और भक्ति आदि गुण बहुत हैं और वे गुण ही सम्यक्त्वकी विनय रूप हैं। इस लिये गाथामें 'सम्मत्तविणया' इस प्रकार बहुवचनका प्रयोग करना चाहिये?

समाधान—विनय सामान्यकी अपेक्षा सम्यक्त्व विनय एक है अतः एक वचन पदका प्रयोग किया है। विनय पदके वाच्य बहुत होनेसे बहुत्व संभव नहीं है क्योंकि 'वृक्षा वनम्' ऐसा प्रयोग होता है अर्थात् वृक्ष बहुत होनेसे 'वन' में बहुवचनका प्रयोग जैसे नहीं हुआ वैसे ही यहाँ भी जानना ॥११३॥

अब चारित्र विनयका कथन करते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपसे आत्माकी परिणति न होना, और गुप्तियाँ और समितियाँ, यह संक्षेपसे चारित्र विनय ज्ञातव्य है ॥११४॥

---

१ भक्त्यादिका अ०। २ भक्त्यादि गुणा अ०।

इन्द्रियकषायप्रणिधानं पि य। इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रियं। यत्करणं तत्कर्तृमत्तया—परशुः। करणं च चक्षुरादिकं। तेनास्य कर्त्रा केनचिद्भाव्यमिति। तच्च द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति। तत्र द्रव्येन्द्रियं नाम निर्वृत्त्युपकरणे। मसूरिकाद्याकारो यः शरीरावयवः कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः। उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनमिन्द्रियमनेनेत्युपकरणं अक्षिपक्ष्मशुक्लकृष्णतारकादिकं। भावेन्द्रियं नाम ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषोपलब्धिः, द्रव्येन्द्रियनिमित्तरूपाद्युपलब्धिश्च। इह इन्द्रियशब्देन मनोज्ञामनोज्ञरूपादिसान्निध्ये रागकोपानुगतादिनिर्मिताः प्रतीतयो गृहीताः।

[1]कषयन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कषायाः। अथवा तरूणां '[2]वल्कलरसः कषायः', कषाय इव कषाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ वर्तते कषायशब्द उपमार्थः। यथा कषायो वस्त्रादेः शौक्ल्यशुद्धिमपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वदात्मनो ज्ञानदर्शनशुद्धिं विनाशयति, आत्मावलम्बश्च दुःखेनापोह्यते इति। यथा वा पटादेः स्थैर्यं करोति कषायस्तद्वदेव कर्मणां स्थितिप्रकर्षमात्मनि विदधाति क्रोधादिः। इन्द्रियाणि च कषायाश्च इन्द्रियकषायाः। इन्द्रियकषायेषु अप्रणिधानं अनारोप आत्मनो रूपादिविषयेन्द्रियकषायापरिणतिः। 'गुत्ती जो चेव' गुप्तयश्च। संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्तिः।

संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि। तस्मात्संसारकारणादात्मनो

टी०—इन्द्र आत्माको कहते हैं। उसका लिंग इन्द्रिय है। जो करण होता है वह कर्तावाला है जैसे परशु। चक्षु आदि करण है। अतः उनका कोई कर्ता होना चाहिये। वह इन्द्रिय दो प्रकार की है—भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय। उनमेंसे निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। कर्मके द्वारा जो मसूर आदिके आकाररूप शरीरका अवयव रचा जाता है वह निर्वृत्ति है। और जिसके द्वारा ज्ञानकी साधन इन्द्रिय उपकृत होती है वह उपकरण है। जैसे आँखके पलक, आँखकी काली सफेद तारिका। ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषकी प्राप्तिको भावेन्द्रिय कहते हैं। और द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे जो रूपादिका बोध होना है वह भी भावेन्द्रिय है। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादिके प्राप्त होनेपर जो राग और कोपको लिये हुए रूपादिकी प्रतीति होती है उनको ग्रहण किया है।

जो 'कषयन्ति' आत्माका घात करती हैं वे कषाय हैं। अथवा वृक्षोंकी छालके रसको कषाय कहते हैं। कषायके समान जो है वह कषाय है। इस उपमाके द्वारा क्रोधादिको कषाय शब्दसे कहते हैं। यह उपमा रूप अर्थ है। जैसे कषाय—वृक्षकी छालका रस यदि वस्त्रपर लग जाता है तो उसकी सफेदीको हर लेता है और उसे दूर करना अशक्य होता है। उसी तरह क्रोधादि आत्माकी ज्ञान दर्शन रूप शुद्धिको नष्ट कर देता है। और आत्मासे सम्बद्ध होनेपर बड़े कष्टसे छूटता है। तथा जैसे कषाय वस्त्रादिको टिकाऊ करती है वैसे ही क्रोधादि आत्मामें कर्मों की स्थितिको बढ़ाते हैं। इन इन्द्रिय और कषायमें अप्रणिधान अर्थात् आत्माका कहे गये इन्द्रिय और कषाय रूपसे परिणत न होना चारित्र विनय है।

संसारके कारणोंसे आत्माके गोपनको गुप्ति कहते हैं। द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भाव परिवर्तन और भव परिवर्तन रूप संसारके कारण ज्ञानावरण आदि कर्म हैं।

---

१. कषति मु०। २. वाल्क—आ० मु०।

गोपनं रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते । भावे क्तिन्, अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिः । गोपयतीति कर्तृसाधनो वा क्तिन् । शब्दार्थकथनमेतत् । किं स्वरूपं तस्या इति चेत् । सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । काय-वाङ्मनःकर्मणां स्वेच्छाचारिताभावो निग्रहः, यथेष्टचारिताभावो गुप्तिः । सम्यगिति विशेषणात्पूजासत्कारक्रिया संयतो महानयमिति यशस्त्वानपेक्ष्य पारलौकिकमिन्द्रियसुखं वा क्रियमाणा गुप्तिरिति कथ्यते । इति गुप्त्यो व्यवस्थिता । रागकोपाभ्यां अनुपप्लुता मोऽन्नियमति मनोगुप्तिरिति बूमहे । एवं चाहं वदति सूत्रकारो 'जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति' मिति । अनृतपरुषकर्कशमिथ्यात्वासंयमनिमित्तवचनानां अवक्तृता वाग्गुप्तिः । अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितभूभागे चङ्क्रमणं, द्रव्यादानगमननिक्षेपशयनासन-क्रियाणां अकरणं कायगुप्तिः कायोत्सर्गो वा ।

'समिदीओ' समितयः । प्राणिपीडापरिहारादरवतः सम्यगयनं प्रवृत्तिः समितिः । सम्यग्विशेषणा-ज्जीवनिकायस्वरूपज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा प्रवृत्तिर्गृहीता । ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः पंचसमितयः । ईर्यादि-समितीनां वाक्कायगुप्तिभ्यां अविशेषस्ततो भेदेनोपादानमनर्थकं, प्राणिपीडापरिहारिण्याः कायक्रियाया निवृत्तिः कायगुप्तिः, ईर्यादिसमितयश्च तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिरूपा । अत्रोच्यते—निवृत्तिरूपा गुप्तयः प्रवृत्तिरूपाः समितय इति भेदे विशिष्टा गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपणोत्सर्गक्रिया समितय इति उच्यन्ते । 'एगो'

उन ससारके कारणोंसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा गुप्ति कही जाती है । यहाँ भाव साधनमें क्ति प्रत्यय हुआ है । अथवा अपादान साधन कर लेना । जिससे गोपन हो वह गुप्ति है । अथवा जो रक्षा करता है वह गुप्ति है इस कर्तृसाधनमें क्तिन् प्रत्यय करनेसे गुप्ति शब्द बनता है, यह शब्दार्थ व्यवस्था है । गुप्तिका स्वरूप दूसरा है योगके सम्यक् निग्रहको गुप्ति कहते हैं । काय, वचन और मनकी क्रियाओंकी स्वेच्छारिताके अभावको निग्रह कहते हैं । स्वेच्छाचारिताका अभाव गुप्ति है । सम्यक् विशेषणसे पूजा पूर्वक क्रियाकी और यह महान संयमी है इस यशकी अपेक्षाके बिना तथा पारलौकिक इन्द्रिय सुखकी इच्छाके बिना जो योग निग्रह किया जाता है वह गुप्ति कही जाती है । ऐसा आचार्योंने कहा है ।

मनका राग और क्रोध आदिसे अप्रभावित होना मनोगुप्ति है । आगे ग्रन्थकार कहेंगे—मनका रागादिसे निवृत्त होना मनोगुप्ति है । असत्य, कठोर और कर्कश वचनोंको तथा मिथ्यात्व और असयममें निमित्त वचनोंको न बोलना वचनगुप्ति है । अप्रमादी होनेसे बिना देखी और बिना बुहारी हुई भूमिमें गमन न करना तथा किसी वस्तुका उठाना, रखना, सोना बैठना आदि क्रियाओंका न करना कायगुप्ति है । अथवा कायसे ममत्वका त्याग कायगुप्ति है ।

प्राणियोंको पीडा न हो, इस भावसे सम्यक् रूपसे प्रवृत्ति करना समिति है । सम्यक् विशेषणसे जीवके समूहोंके स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक प्रवृत्ति ली गई है । समिति पाँच हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ।

शंका—ईर्या आदि समितियाँ वचन गुप्ति और काय गुप्तिसे भिन्न नहीं है । अतः उनका अलगसे कथन व्यर्थ है, क्योंकि प्राणियोंको पीडा पहुँचाने वाली शारीरिक क्रियासे निवृत्तिको काय गुप्ति कहते हैं । ईर्या आदि समितियाँ भी उसी प्रकारकी कायक्रियाकी निवृत्ति रूप हैं ।

समाधान—गुप्तियाँ निवृत्ति रूप हैं और समितियाँ प्रवृत्ति रूप हैं, यह इन दोनोंमें भेद है ।

---

१. यथेष्ट-आ० ।

एषः। 'चारित्तविणओ' चारित्रविनयः। 'समासदो' संक्षेपतः। 'णादव्वो' ज्ञातव्यः। 'होदि' भवति।

इन्द्रियकषायाप्रणिधानं मनोगुप्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते? सत्यम्। वाक्कायगुप्त्योरेव गुत्तीओ इत्यनेन परिग्रहः। अथवा रागद्वेषमिथ्यात्वाद्यशुभपरिणामनिग्रहो मनोगुप्तिः सामान्यभूता। इन्द्रियकषायाप्रणिधानं तद्विशेषः। सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदान्न पौनरुक्त्यं। मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि इंद्रियकषायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादानं चारित्राधिनोऽवश्यं परिहार्यत्वख्यापनार्थं वा।

ननु त्रयोदशविधं चारित्रं पंच महाव्रतानि, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयः इति। तत्र समितीनां गुप्तीनां चारित्रत्वे चारित्रस्य विनयः इति कथं भेदेनाभिधानं? व्रतान्येवात्र चारित्रशब्देनोच्यते। तेषां परिकरत्वेनावस्थिताः गुप्तयः समितयश्चेति सूत्रकारस्याभिप्रायः। तथा चोक्तमन्यैः 'कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्यश्च विरतिः अहिंसाभेदेन पंचप्रकारा गुप्तिसमितिविस्तारः[1]' संक्षेपो भवति। कश्चारित्रविनयव्यास[2] इति चेत् पंचविंशतिभावना। 'तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंचेति' (त० सू० ७।३) निरूपिता ॥११४॥

गमन, भाषण, भोजन, ग्रहणनिक्षेप और मल मूत्र त्याग रूप क्रियाको समिति कहते हैं। ये सब संक्षेपसे चारित्र विनय है।

शंका—इन्द्रिय और कषायमें उपयोग न लगाना तो मनोगुप्ति ही है, उसे पृथक् क्यों कहा?

समाधान—आपका कहना सत्य है। यहाँ 'गुत्तीओ' से वचन गुप्ति और कायगुप्तिका ही ग्रहण किया है।

अथवा रागद्वेष मिथ्यात्व आदि अशुभ परिणामोंका अभाव सामान्य मनोगुप्ति है। और इन्द्रिय तथा कषायमें उपयोगका न होना विशेष मनोगुप्ति है। और सामान्य तथा विशेषमें कथंचित् भेद होनेसे पुनरुक्तता दोष नहीं है। अथवा इन्द्रिय और कषायका अप्रणिधान यद्यपि मनोगुप्तिमें आ जाता है फिर भी उसका पृथक् ग्रहण चारित्रके इच्छुकोंको उसका त्याग अवश्य करना चाहिये, यह बतलानेके लिये किया है।

शंका—चारित्रके तेरह भेद हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति। अतः समिति और गुप्ति चारित्र हैं। तब इन्हें चारित्रकी विनयके रूपमें भिन्न क्यों कहा है?

समाधान—यहाँ चारित्र शब्दसे व्रत ही कहे गये हैं। गुप्ति और समितियाँ उन व्रतोंके परिकर रूपसे स्थित हैं यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। अन्य आचार्योंने भी कहा है—कर्मोंको लानेमें निमित्त क्रियाओंसे विरति अहिंसा आदिके भेदसे पाँच प्रकारकी है। गुप्ति समिति उनका विस्तार है।

शंका—चारित्र विनयका विस्तार क्या है?

समाधान—पाँच व्रतोंकी पच्चीस भावना विस्तार है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—उन व्रतोंकी स्थिरताके लिये पाँच-पाँच भावना हैं ॥११४॥

---

१. स्तारः सं–आ० मु०। २. व्यास–आ० मु०।

- अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेषु क्षुत्तृड्जनितवेदनया अव्याकुलता, कथमिदमुद्वहामीति वा अदीनता भक्तपानयोर्मनसोऽप्रणिधानं, अद्मि पिबामीति वा भक्तपानकथाया अप्रारम्भः, तत्कथनानादरः इतस्ततश्चापर्यटनं क्षुधा तृषा वा बाधितोऽस्मीति एवं वचनं सहनं, अथवा भोजनदिवसे याचाया अकरणं, क्षीणोऽस्म्युपवासेन रू भोक्तुं न शक्नोमि क्षीरघृतशर्करादिकं दातव्यमिति वचनेन याचाया अकरणं, मनसा वा यदीद लभ्यते भ स्यात् इति वाऽप्रार्थना, कायसंज्ञया वा क्षीरादीनामप्रदर्शनं क्षीरादिदाने वाऽप्रहृष्टतायमानमुखता, क्षीणरूक्षाहारदाने वा अकुपितानतना, अलाभेऽपि लाभादलाभो मे परं तपोवृद्धिरिति संकल्पेनालाभपरीषहसहनं अथवा लौकिकानां धर्मस्थानां वा सत्कारपुरस्काराकरणे तपसि महति वर्तमानोऽप्यहमेतैर्न पूजितः इ कोपसंक्लेशाकरणं । सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनं वा ।

रसपरित्यागं कृतवतः रसवदाहारकथाश्रवणेऽवलोकने जायमानतदादरनिवारणं रसपरित्यागजातशरीरसंतापस्य वा सहनं । आतापयोगधारिणो धर्माभितापने असंक्लिष्टचित्तता तत्प्रतीकारवस्तुषु अनादरः सहनं । जनविविक्तदेशे वसतः पिशाचव्यालमृगादिसंदर्शनादिजनभीतिमुद्भवतोऽसंनिवेशयत सहनं प्रायश्चित्तमाचरतोऽपि महदिदं दत्तं गुरुणा बलाबलं समानिरूप्येति कोपाकरणं, प्रायश्चित्तकरणजनितश्रमेण असंक्लिष्टतासहनं । ज्ञानविनये वर्तमानस्य क्षेत्रकालशुद्धिकरणे मामेव नियोजयति इति कोपनिरासो वा तदुत्पन्नश्रमे असंक्लेशश्च सहनं । दर्शनविनये अभ्युद्यतस्य सन्मार्गान्प्रच्यवमानस्य स्थिरीकरणे महानायास

संयमके बिना तप करता है वह निरर्थक करता है।' 'सम्म' का अर्थ सम्यक् है अर्थात् संक्ले और दीनताके बिना भूख आदिका सहन करना। अनशन, अवमौदर्य और वृत्ति परिसंख्यान नामक तपोंमें भूख प्याससे होने वाली वेदनासे व्याकुल न होना कि कैसे इसे सहूँगा। अथव अदीनता, खान-पानमें मनको न लगाना, मैं खाता हूँ पीता हूँ इस रूपमें भोजनकी कथा न करना उसकी कथामें आदर भाव न रखना, इधर उधर नहीं घूमना, मैं भूख या प्याससे पीड़ित हूँ इस प्रकारके वचनको सहन करना, अथवा भोजनके दिन माँगना नहीं, मैं उपवाससे कमजोर हो गया हूँ, रूखा भोजन नहीं कर सकता, दूध घी शक्कर आदि देना चाहिये। इस प्रकारके वचनसे माँगना नहीं करना अथवा यदि अमुक वस्तु प्राप्त हो तो उत्तम है ऐसी मनमें प्रार्थना न करना अथवा शरीरके संकेतसे दूध आदिको न दिखलाना, अथवा दाता दूध आदि दे तो मुखको प्रफु ल्लित न करना और ठंडा रूखा आहारादि दे तो मुख पर कोप न लाना अथवा भोजन न मिलने पर लाभसे अलाभमें मेरे तपकी परम वृद्धि है ऐसा संकल्प करके अलाभ परीषहको सहना, अथवा लौकिक या धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा आदर सम्मान न करने पर 'मैं महान् तपस्वी हूँ फिर भी इन्होंने मेरी पूजा नहीं की' इस प्रकारका कोप और संक्लेश न करना, अथवा सत्कार पुरस्कार परीषहको सहना।

यदि रसका त्याग किया है तो रस युक्त आहारकी कथा अथवा रस युक्त आहारको देखनेसे उसके प्रति उत्पन्न हुए आदर भावका निवारण करना, रसको त्यागनेसे शरीरमें उत्पन्न हुए संतापको सहना। यदि आताप योग धारण किया है तो धूप आदि आने पर चित्तमें संक्लेश न करना, और उसका प्रतीकार करने वाली वस्तुओंमें आदर भाव न करना, मनुष्योंसे शून्य देशमें निवास करते हुए पिशाच, सर्प, मृग आदिको देखने आदिसे उत्पन्न हुए भयको रोकना तथा अरति परीषहको जीतना। प्रायश्चित्त करते हुए भी 'गुरुने मुझे मेरा बलाबल न देखकर महान् प्राय श्चित्त दे दिया' इस प्रकार कोप न करना अथवा प्रायश्चित्त करनेसे उत्पन्न हुए श्रममें मनमें संक्लेश न करना। ज्ञान विनय करते समय 'क्षेत्र शुद्धि काल शुद्धि करनेमें मुझे ही लगाते हैं' इस

स्वचेतसोपि ऋजुतापादनमतिदुष्करं किमंग पुनः परस्येत्यसंकल्पः सहनं। पुरस्कृतचारित्रविनयस्य ईर्यादिसमितयो दुष्कराः। जीवनिकायाकुले जगति कियंतः परिहर्तुं शक्यंते? निपुणतरं प्रतिपदन्यासं जीवावलोकने तत्परिहृतौ च कियद्गन्तुं शक्यते? तथा प्रवर्तमानं बाधन्तेतरामातपादयः। नवकोटिपरिशुद्धा भिक्षा क्व लभ्यते, खलेषु कृतज्ञता वेति मनसोऽप्यप्रणिधानं चारित्रविनयः। तपोविनयमुपगतस्यानशनादितपोऽनुष्ठानातिशयस्य मम स्वल्पमसंयमं अप्रासुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जातं तप एवोन्मूलयतीति अर्सकल्पं सहनं। असकृदभ्युत्थान, अनुगमनं प्रेषणकरणं, उपकरणशोधनादिकं वा कः कर्तुं शक्नोति प्रतिदिनमित्यनभिसंधिरुपचारविनयसहनं।

'सद्दा य' श्रद्धा च। क्व तपसि। तपसा सपादमुपकारमात्मनोऽवलोक्य बुद्धया तपो हि प्रत्यग्रं कर्म संवृणोति, चिरार्जितानां कर्मणां निर्जरामापादयति, इंद्रचक्रलांछनादिसंपदोऽप्यानयति। समीचीनस्य तपसोऽलाभादेव जननमरणावर्तसहनं, असुखाकुले भवांभोधौ पर्यटनं ममासीद् भविष्यति च तथैव इति तपस्यनुरागः कार्यः।

'आवासगाणं' आवश्यकानां। ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते। व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत्। तेनापि कर्तव्यं कर्मेति। यथा आशु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न व्याघ्रादौ वर्तते अश्वशब्दोऽपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग एव। एवमिहापि अवश्यं यत्किंचन कर्म इतस्ततः परावृत्तिराक्रंदनं, पूत्करणं वा न तद्गृह्यते अथवा आवास-

---

प्रकारका कोप न करना अथवा उससे होने वाले श्रमसे संक्लेश भाव न करना, उसे सहना। दर्शन विनय करते हुए 'सन्मार्गसे गिरते हुएको स्थिर करना बड़ा कठिन है अपने चित्तको भी सरल करना कठिन है फिर दूसरेका तो कहना क्या। इस प्रकार संकल्प न करना उसे सहना। चारित्र विनय करने वालेको, 'ईर्या आदि समितियाँ दुष्कर हैं, यह जगत जीवोंसे भरा है कहाँ तक उन्हे बचाया जा सकता है? अत्यन्त कुशलता पूर्वक पदको रखते हुए जीवोंको देखकर उन्हे बचाते हुए चलनेमें कौन समर्थ है? इस प्रकारसे चलने पर आतप आदिकी अत्यन्त बाधा होती है। दुर्जनोंमें कृतज्ञताकी तरह नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा कहाँ मिलती है' इस प्रकार मनमें न सोचना चारित्र विनय है। तप विनय करने वालेके 'अनशन आदि तपके अनुष्ठानमें लगे मेरे अप्रासुक जल पीने अथवा अशुद्ध भिक्षाके ग्रहणसे हुआ थोड़ा सा असंयम तपसे नष्ट हो जाता है' इस प्रकारका संकल्प न करना सहना है। 'बार-बार उठना, पीछे जाना, आज्ञा पालना, उपकरण आदि शुद्धि, कौन प्रतिदिन कर सकता है' इस प्रकारका संकल्प न करना उपचार विनय सहन है। तप नवीन कर्मोंका आना रोकता है। चिरकालसे संचित कर्मोंकी निर्जरा करता है। इन्द्र, चक्रवर्ती आदिकी संपदा भी लाता है। सम्यक् तपके अलाभमें ही जन्म मरणके चक्र और दुःखसे भरे संसार समुद्रमें भ्रमण मुझे करना पड़ा है तथा करना पड़ेगा, इस प्रकार तपके द्वारा होने वाले उपकारोंको अपनेमें देखकर तपमें अनुराग करना चाहिये।

न वश, अवश और अवशका कर्म आवश्यक है। ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी सामायिक आदिको ही आवश्यक कहते हैं। व्याधि, दुर्बलता आदिसे पीड़ितको भी अवश या परवश कहते हैं, और उसके द्वारा किया गया कर्म आवश्यक है। किन्तु जैसे जो 'आशु' शीघ्र चलता है वह अश्व (घोड़ा) है ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी व्याघ्र आदिको अश्व नहीं कहते, बल्कि प्रसिद्धिवश घोड़ेको ही अश्व कहते हैं। वैसे ही यहाँ भी जो अवश्य कर्म हैं—यहाँ-वहाँ घूमना, रोना, चिल्लाना

कानां इत्ययमर्थः । आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो, वंदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्ग इत्यमीषां ।

तत्र सामायिकं नाम चतुर्विधं नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन । निमित्तनिरपेक्षा कस्यचिज्जीवादेरध्याहिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीरं यत्तदाकार-सादृश्यात्तदेवेदमिति स्थाप्यते यच्चित्रपुस्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्रव्यसामायिकं नाम 'श्रुतस्याद्य सामायिकं नाम ग्रंथ, तदर्थज्ञो यः सामायिकाख्यात्मपरिणामप्रत्ययमास प्रत्ययरूपेण साम्प्रतमपरिणत आत्मा । नो आगमद्रव्यसामायिकं नाम यत्त्रिविकल्पं ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदेन । सामायिकज्ञस्य यच्छरीरं तदपि सामायिकज्ञानकारणं, आत्मेव शरीरमन्तरेण तस्याभावात् । यस्य हि भावाभावौ नियोगतो यदनुकरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । अतः प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगोचरं सामायिकशब्द-वाच्यं भवति । चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः सोऽभि-धीयते भाविसामायिकशब्देन । चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपशमावस्थं नो आगमद्रव्यतद्व्यतिरिक्त-कर्म सामायिकमिति ग्राह्यं । आगमभावसामायिकं नाम प्रत्ययसामायिकं । नो आगमभावसामायिकं नाम सर्व-सावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः । अयमिह गृहीतः ।

चतुर्विंशतिसंख्यानां तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्तानां वृषभादीनां जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा

आदि, उन्हें आवश्यक नहीं कहते । अथवा 'आवासयाण' का अर्थ आवासक है । जो आत्मामें रत्नत्रयका आवास कराते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ।

उनमेंसे नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे सामायिकके चार भेद है । निमित्तकी अपेक्षाके बिना किसी जीव आदिका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक है । सर्व सावद्यके त्याग रूप परिणाम वाले आत्माके द्वारा एकीभूत शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है उस आकारके समान होनेसे 'यह वही है' इस प्रकार जो चित्र, पुस्त आदिमें स्थापना की जाती है वह स्थापना सामायिक है । द्वादशांग श्रुतका आद्य ग्रन्थका नाम सामायिक है । उसके अर्थका जो ज्ञाता है जिसे सामायिक नामक आत्म परिणामका बोध है किन्तु जो वर्तमानमें उस ज्ञानरूपसे परिणत नहीं है अर्थात् उसका उपयोग उसमें नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है । नो आगम द्रव्य सामायिक ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे तीन प्रकार है । सामायिकके ज्ञाता का जो शरीर है वह भी सामायिकके ज्ञानमें कारण है क्योंकि आत्माकी तरह शरीरके बिना भी ज्ञान नहीं होता । जिसके होने पर जो नियमसे होता है और अभावमें जो नहीं होता, वह उसका कारण है । ऐसी वस्तुओंमें कार्य कारणभावकी व्यवस्था है । अतः ज्ञान सामायिकका कारण होनेसे त्रिकालवर्ती शरीर सामायिक शब्दसे कहा जाता है । चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशम विशेषकी सहायतासे जो आत्मा भविष्यमें सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप परिणाम वाला होगा उसे भावि सामा-यिक शब्दसे कहा जाता है । जो चारित्र मोहनीय नामक कर्म क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त है वह नोआगमद्रव्य तद्व्यतिरिक्त सामायिक है । *प्रत्यय रूप सामयिक आगमभाव सामायिक है ।* और सर्वसावद्य योगके त्यागरूप परिणाम नोआगमभाव सामायिक है । यहाँ इसीको ग्रहण किया है ।

इस भारतमें हुए वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोंके जिनवरत्व आदि गुणोंके ज्ञान और श्रद्धान

चतुर्विंशतिस्तवनपाठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते।

वन्दना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशय [illegible] पुरःसरेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्तिः। प्रयोग [illegible] वस्मिन्कतिवारानिति। अभ्युत्थानं केनोपदिष्टं, किंवा फलमुद्दिश्य क्रियते? [illegible] सर्वैर्जिनैः कर्मभूमिषु सदा मानकषायभंग। गुरुजने बहुमानं, तीर्थकराणां आज्ञा [illegible] भावशुद्धिरार्जवं, तुष्टिं च फलमपेक्ष्य[1] केन तत् क्रियते। अमानिना, [illegible] परगुणप्रकाशनोद्यतेन संघवत्सलेन। असंयतस्य संयतासंयतस्य वा [illegible] कुर्यात्, [illegible] रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यतानां अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात्। [illegible] स्थापनोबृंहणकरणात्। सविघ्नजनं प्रति क्रियमाणमभ्युत्थानं निर्जरानिमित्तं [illegible] वाचनामनुयोगं वा शिक्षयतः अवमरत्नत्रयस्याप्यभ्युत्थानमं [illegible] कुर्यात्। [illegible] भिक्षातः, चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामान्तराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थानम्। गुरवो यदा निष्क्रामन्ति [illegible] प्रविशन्ति वा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यं। अनया दिशा यथागममितरदप्यनुगन्तव्यम्।

दुओणदं जहाजादं बारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदिकम्मं पउंजए॥ [मूलाचार-७।१०४]

पूर्वक चौबीस स्तवनोंको पढना नोआगमभाव चतुर्विंशतिस्तव है। उसीका यहाँ ग्रहण है।

रत्नत्रयसे सहित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और स्थविर मुनियोंके गुणातिशयको [illegible] कर श्रद्धापूर्वक अभ्युत्थान और प्रयोगके भेदसे दो प्रकारकी विनयमें प्रवृत्तिको वन्दना कहते [illegible] उन अभ्युत्थान विनय और प्रयोग विनयके अनेक भेद हैं कि किसको किसका कब, कितनी [illegible] करना चाहिये।

शंका—अभ्युत्थानका उपदेश किसने दिया है और किस फलके उद्देशसे करना चाहिए [illegible]

समाधान—सब जिनदेवोंने कर्मभूमियोंमें सदा प्रथम ही कर्तव्यरूपसे विनयका उ[illegible] दिया है। विनयसे मानकषायका विनाश होता है। गुरुजनोंमें बहुमान, तीर्थङ्करोंकी आ[illegible] पालन, श्रुतमें कहे गये धर्मकी आराधना, परिणाम विशुद्धि, आर्जव और सन्तोषरूप फ[illegible] अपेक्षा करके विनय की जाती है। यह विनय कौन करता है? जो मान रहित, संसारसे वि[illegible] निरालसी, सरल अनुग्रह करनेका इच्छुक, दूसरोंके गुणोंको प्रकट करनेमें तत्पर और स[illegible] प्रेमी होता है वह विनय करता है। असंयमी और संयमासंयमी तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्र[illegible] के भ्रष्ट मुनियोंके सन्मानमें उठना नहीं चाहिए। जो रत्नत्रय और तपमें नित्य तत्पर र[illegible] उनके प्रति उठना चाहिए। जो सुखशील साधु हैं उनके सन्मानमें उठना कर्मबन्धका का[illegible] क्योंकि वह प्रमादको बढानेमें कारण होता है। जो वाचना देता है अथवा अनुयोगका [illegible] देता है वह अपनेसे रत्नत्रयमें न्यून भी हो तब भी उनके पासमें सब अध्ययन करनेवालोंको [illegible] सन्मानमें उठकर खड़ा होना चाहिए। वसतिसे, कायभूमिसे, भिक्षासे, जिन मन्दिरसे, [illegible] पाससे अथवा ग्रामान्तरसे आनेके समय उठना चाहिए। जब-जब गुरुजन निकलते हैं अ[illegible] निकलकर प्रवेश करते हैं तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए। इसी प्रकार आगममें अन्[illegible] जानना चाहिए।

1. दयमेन सत्–आ० मु०।

इत्यादिकः प्रयोगविनयः ।

प्रतिक्रमणं प्रतिनिवृत्तिः । षोढा भिद्यते-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमणं भट्टि दारिका स्वामिनी इत्यादिकमयोग्यं नाम । आप्ताभासानामर्चा, त्रसस्थावराणां रूपाणि लिखितान्युत्कीर्णानि वा स्थापनाशब्देनेह गृह्यन्ते । तत्राप्ताभासप्रतिमायाः पुरःस्थिताया अभिमुखतया कृताञ्जलिपुटता, शिरोनतिः, गन्धादिभिरभ्यर्चनं च न कर्तव्यम् । एवं सा स्थापना परिहृता भवति । त्रसस्थावरादिस्थापनानामविनाशनं, अमर्दनं, अताडनं वा परिहारः प्रतिक्रमणं । वास्तुक्षेत्रादीनां दशप्रकाराणां उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टानां वसतीनां, उपकरणानां, भिक्षाणां च परिहरणं, अयोग्यानां चाहारादीनां, गृद्धेः संक्लेशस्य च कारणानां मदस्य हेतूनां वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमणं । उदककर्दमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं । यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहारः, तत्र हि ? ज्ञानतपोवृद्धैरनाध्यासितं । रात्रिसंध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेषु गमनागमनादिव्यापारत्यजनात् कालप्रति-

---

मूलाचारमें कहा है—क्रियाकर्ममें दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति, और तीन शुद्धियाँ होती हैं। पंचनमस्कारके आदिमें एक नमस्कार और चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनके आदिमें दूसरा नमस्कार इस प्रकार दो नमस्कार होते हैं—पंचनमस्कारका उच्चारण करनेके प्रारम्भमें [illegible]

[illegible]

[illegible]

करनेपर चारों दिशाओंमें चार प्रणाम होते हैं। इस प्रकार तीन प्रदक्षिणाओंमें बारह प्रणाम होते हैं। पंचनमस्कार और चतुर्विंशति स्तवके आदि और अन्तमें दोनों हाथ मुकुलितकर मस्तकसे लगाना, इस तरह चार शिर होते हैं। इस प्रकार मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक क्रियाकर्म होता है यह सब प्रयोग विनय है।

दोषोंसे निवृत्तिको प्रतिक्रमण कहते हैं। उसके छह भेद हैं—नामप्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। अयोग्य नामोंका उच्चारण न करना नाम प्रतिक्रमण है। भट्टिनी, दारिका, स्वामिनी इत्यादि अयोग्य नाम है। स्थापना शब्दसे यहाँ आप्ताभासोंकी मूर्ति, त्रस और स्थावरोंकी आकृतियाँ लिखित या खोदी हुई, ग्रहण की गई है। उनमेंसे आप्ताभासोंकी प्रतिमाओंके सन्मुख हाथ जोड़ना, सिर नमाना और गन्ध आदिसे पूजन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार करनेसे उस स्थापनाका परिहार हो जाता है यह स्थापना प्रतिक्रमण है।

त्रस स्थावर आदिकी स्थापनाओंको नष्ट न करना अथवा तोड़ना-मोड़ना आदि न करना स्थापना प्रतिक्रमण है। मकान खेत आदि दस प्रकारकी परिग्रहोंका, उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे दूषित वसतिकाओंका, उपकरणोंका, और भिक्षाओंका, अयोग्य आहार आदिका और जो गृद्धा और मदके तथा संक्लेशके कारण हैं उन द्रव्योंका त्याग द्रव्य प्रतिक्रमण है। जल, कीचड़ और त्रस स्थावर जीवोंसे भरे क्षेत्रोंमें आने जानेका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। अथवा जिस क्षेत्रमें रहनेसे रत्नत्रयकी हानि हो उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। ऐसे क्षेत्रोंमें ज्ञान और तपसे वृद्ध मुनिगण नहीं रहते, इसलिए उनमें रहना वर्जित है। रात, तीनों सन्ध्या, स्वाध्याय

क्रमणं । कालस्य दुष्परिहार्यत्वात्तदाधिकरणव्यापारविशेषा: कालसाहचर्यात्कालशब्देन गृहीता: । मिथ्यात्वमसंयम, कषाय:, राग:, द्वेष, संज्ञा, निदान, आर्तरौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामा:, पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामा इह भावशब्देन गृहीता गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं इति केषाचिद्व्याख्यानं । चतुर्विधमित्यपरे । निमित्तनिरपेक्षं कस्यचिन्नामत्वेन नियुज्यमानं प्रतिक्रमणमित्यभिधानं नामप्रतिक्रमणं । अशुभपरिणामता विशिष्टजीवद्रव्यानुगतशरीराकारसादृश्यापेक्षया चित्रादिस्थं स्थापितं स्थापनाप्रतिक्रमणं । प्रमाणनयनिक्षेपादिभिः प्रतिक्रमणावश्यकस्वरूपज्ञस्तत्रानुपयुक्तः प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते । नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं त्रिविधं ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदैः । यथात्मा कारणं प्रतिक्रमणपर्यायस्य, तथा तदीयमपि शरीरं त्रिकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दवाच्यं भवति । चारित्रमोहक्षयोपशमाभिमुखो भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमणं । क्षयोपशमावस्थामुपगत: चारित्रमोह: नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्ततमं प्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणग्रन्थस्य आगमभावप्रतिक्रमणं । मिच्छाणाणमिच्छादंसणमिच्छाचारित्तादो पडिविरदोऽस्मिति एव स्वरूपज्ञानं । अशुभपरिणामदोषमवबुध्य श्रद्धाय तत्प्रतिपक्षपरिणामवृत्तिर्नोआगमभावप्रतिक्रमणं ।

सामायिकस्य[1] प्रतिक्रमणस्य को भेद ? सावद्ययोगनिवृत्ति: सामायिकं । प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्कायनिवृत्तिरेव कथं षडावश्यकव्यवस्था ?

और षडावश्यकोंके कालमें गमन आगमन आदि व्यापार न करना काल प्रतिक्रमण है। कालका त्याग तो अशक्य जैसा है अत: कालमें होनेवाले कार्य विशेषोंको कालके सम्बन्धसे काल शब्दसे ग्रहण किया है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, राग, द्वेष, आहारादि संज्ञा, निदान, आर्त रौद्र इत्यादि अशुभ परिणाम और पुण्यास्रवभूत शुभ परिणाम यहाँ भाव शब्दसे ग्रहण किये हैं। उनसे निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है। ऐसा किन्हीं आचार्योंका व्याख्यान है।

अन्य आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं। निमित्तकी अपेक्षा न करके किसीका प्रतिक्रमण नाम रखना नामप्रतिक्रमण है। अशुभ परिणामवाले जीवोंके शरीरका जैसा आकार होता है उस आकारके सादृश्यकी अपेक्षासे चित्रमें अशुभ परिणामोंकी स्थापना स्थापना प्रतिक्रमण है? प्रमाण नय-निक्षेप आदिके द्वारा प्रतिक्रमण नामक आवश्यकके स्वरूपका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त नहीं है वह प्रतिक्रमण विषयक ज्ञानका कारण होनेसे आगम द्रव्य प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है। नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमणके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। जैसे प्रतिक्रमण पर्यायका कारण आत्मा है वैसे उसका त्रिकालवर्ती शरीर भी कारण है इसलिए वह प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है। चारित्रमोहके क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मा भविष्यमें प्रतिक्रमण पर्यायरूप होगा वह भावि प्रतिक्रमण है। क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त चारित्रमोह कर्म नोआगमद्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमणका ज्ञान आगम भाव प्रतिक्रमण है। अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे मैं विरत हूँ इस प्रकारका स्वरूपज्ञान आगमभाव प्रतिक्रमण है। अशुभ परिणामके दोषको जानकर और उसपर श्रद्धा करके उससे प्रतिपक्षी शुभपरिणामोंमें प्रवृत्ति नोआगमभाव प्रतिक्रमण है।

शंका—सामायिक और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है? सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है और अशुभ मनवचनकायसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है तब छह आवश्यकोंकी व्यवस्था कैसे सम्भव है?

१ स्कृत—ल० मु०। २ क्रम स्थान० मु०।

स्वपरविषयाभ्यां दूषयन् वर्तमानं चासंयमं कृतं जिनमाणमनागतं न करिष्यामि इति मत्वा कृतसंकल्पस्त्यागो भवति ।

अगारिणो विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते । स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पात् त्रिविधं मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति । मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं न करोमि, तथा वचसा कायेनेति त्रिविधं कृतम् । मनसा स्थूलकृतं प्राणातिपातादिकं न कारयामि तथा वचसा कायेनेति त्रिविकल्पं कारितं । तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं नानुजानामि, तथा वचसा कायेनेति त्रिभेदमनुमतं । एवं नवविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यक्तुमसमर्थोऽगारी ।

तथा मनोवाग्भ्यां स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पान्वितं न त्यक्तुं समर्थो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि । वचसा न करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति । कायेन कृतकारितानुमतविकल्पात् हिंसादींश्च न समर्थो विहातुं । तथा च सूत्रं—

'न तु तिविधं तिविधेण य दुविधेक्कविधेण वावि विरमेज्ज इति ॥' [ ]

कथं तर्ह्यगारी विरतिमुपैति ? अत्रोच्यते कृतकारितविकल्पात् द्विप्रकारं हिंसादिकं मनोवाक्कायैस्त्यजति । वाचा कायेन वा हिंसादिविषयं कृतकारितं त्यजति । कायेन एकेन वा कृतं कारितं त्यजति । अत एवोक्तं 'दुविध पुण तिविधेण य दुविधेक्कविधेण वा विरमेज्ज' इति । अथवा हिंसायाः स्वयं करणं एव मनोवाक्कायैस्त्यजति । नाहं मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं पञ्चकं करोमीति अभिसन्धिपूर्वकं विरमणं

आदिमे प्रवर्तन करने वाला वचन बोला,' इस प्रकार स्व और परविषयक निन्दा गर्हाके द्वारा दोषयुक्त बतलाते हुए, तथा वर्तमानमें मैं जो असंयम करता हूँ और पूर्वमें जैसा असंयम किया है वैसा मैं भविष्यमें नहीं करूँगा, ऐसा मनमें संकल्प करके त्याग करता है ।

अब गृहस्थोंके विरतिरूप परिणामोंके भेद कहते हैं—कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको गृहस्थ मन वचन कायसे नहीं त्यागता है। मनसे स्थूल हिंसा आदिको नहीं करता हूँ तथा वचनसे और कायसे नहीं करता हूँ, ये तीन भेद कृत हैं। मनसे स्थूल हिंसा आदिको न कराता हूँ तथा वचनसे और कायसे नहीं कराता हूँ। ये तीन भेद कारितके हैं। तथा मनसे स्थूल हिंसा आदिमें अनुमति नहीं देता हूँ तथा वचनसे और कायसे अनुमति नहीं देता हूँ ये तीन भेद अनुमतके हैं। इस प्रकार नौ प्रकारकी स्थूल हिंसा आदिका त्याग करनेमें गृहस्थ असमर्थ होता है। तथा कृत कारित अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको मन और वचनसे करनेमें असमर्थ होता है। मनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ। वचनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ। कायसे कृत कारित अनुमतरूप हिंसा आदिको छोड़नेमें समर्थ नहीं हूँ। सूत्रमें कहा है—कृतकारित अनुमतके भेदसे तीन भेद रूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे अथवा मन वचनसे अथवा कायसे त्याग नहीं करता है।

तब गृहस्थ कैसे त्याग करता है यह बतलाते हैं—

कृत और कारितके भेदसे दो भेदरूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे छोड़ता है। कृत कारित रूप हिंसादिको वचन और कायसे छोड़ता है। अथवा कृत कारित रूप हिंसा आदिको एक कायसे छोड़ता है। इसीसे कहा है—'कृत कारित रूप हिंसा आदिको तीन रूपसे, दो रूपसे या एक रूपसे छोड़ता है।' अथवा हिंसाके एक स्वयं करनेको मन वचन कायसे त्यागता है। 'मैं मनसे वचनसे कायसे स्थूल हिंसादि पाँच पापोंको नहीं करता हूँ' इस प्रकार संकल्प पूर्वक त्याग

करोति । वाक्कायाभ्यां वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा । तथा चोक्तम्—'एकविधं त्रिविधेन वापि **विरमेज्ज'** इति । एवमेते व्रतविकल्पा भविष्यत्कालविषयतयानुयुज्यमाना प्रत्याख्यानविकल्पा भवन्तीत्य-श्योपन्यास कृतः ।

कायोत्सर्गो निरूप्यते—काय शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्याग कायोत्सर्ग । उपलब्ध्यधिष्ठानेन्द्रियावयवक कर्मनिर्वर्तित पुद्गलप्रचयविशेष औदारिकाख्य इह कायशब्देन गृहीत इतरत्र उत्सर्गस्यासंभवात् वक्ष्यमाणस्य ।

ननु च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ।

आत्मशरीरयोरन्योऽन्यस्य प्रदेशानुप्रवेशिनोरायुर्वशात् अनपायिन्वेऽपि शरीरे अशुचित्वं सप्तधातुरूप-तया अशुचितमं शुक्रशोणितबीजबीजत्वाच्च, तथा अनित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्वहत्व, असारत्व, दु खहेतुत्व, शरीरमतममत्वहेतुकमनन्तसमारपरिभ्रमणं इत्यादिकान्सप्रधार्य दोषान्नेद मम नाहमस्येति संकल्पवतस्तदादरा-भावात्कायस्य त्यागो घटत एव । यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता होकगृहमन्दिरे त्यक्ते-त्युच्यते तस्यामनुरागाभावान्ममेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि । किं च कायापायसन्निपातेऽपि अपाय-निराकरणाभिलापस्याभावात् । यो यदपायनिराकरणानुत्सुकस्तेन तत्परित्यक्त यथा वमनादिक परिहृत । शरीरा-पायनिराकरणानुत्सुकश्च यतिस्तस्मादुच्यते कायस्य त्याग ।

करता है । अथवा स्वयं करनेको वचन और कायसे त्यागता है या एक कायसे त्यागता है । कहा है—'एक कृतको तीन प्रकारसे त्यागता है । इन व्रतके भेदोको भविष्य कालके साथ जोड़ने पर कि मैं भविष्यमे ऐसा नही करूंगा, ये प्रत्याख्यानके भेद होते हैं ।

अब कायोत्सर्गको कहते हैं—काय अर्थात् शरीरके, उत्सर्ग अर्थात् त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं । पदार्थोंको जाननेका आधार इन्द्रियाँ जिसकी अवयव है, और कर्मके द्वारा जिसकी रचना हुई तथा जो पुद्गलोका एक समूह विशेष है उस औदारिक नामक शरीरको यहाँ काय शब्दसे ग्रहण किया है क्योकि आगे कहे जानेवाला उत्सर्ग अन्य शरीरोमें सम्भव नही है ।

शंका—आयुकर्म जब पूर्णरूपसे समाप्त हो जाता है तब आत्मा शरीरको छोड़ता है अन्य कालमें नही छोड़ता । तब कैसे आप कायोत्सर्गकी बात करते हैं ?

समाधान—आत्मा और शरीरके प्रदेश परस्परमें मिलनेसे आयुकर्मके कारण यद्यपि शरीर ठहरा रहता है तथापि शरीर सात धातु रूप होनेसे अपवित्र है, रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेसे विशेष अपवित्र है । तथा अनित्य है, नष्ट होनेवाला है, दु खसे धारण करने योग्य है, असार है दु खका कारण है, इस शरीरसे ममत्व करनेसे अनन्त ससारमे भ्रमण करना होता है, इत्यादि दोषोंको जानकर 'न यह मेरा है, न मैं इसका हूँ' ऐसा सकल्प करनेवालेके शरीरमें आदरका अभाव होनेसे कायका त्याग घटित होता ही है । जैसे प्राणोंमे भी प्यारी पत्नी अपराध करनेपर उसमें अनुराग न रहनेसे 'यह मेरी है' इस प्रकारका भाव न होनेसे एक ही घरमें रहते हुए भी 'त्यागी हुई' कही जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना । दूसरे, शरीरके विनाशके कारण उपस्थित होनेपर भी कायोत्सर्ग करनेवालेके विनाशके कारणको दूर करनेकी इच्छा नही होती । जो जिसके विनाशके कारणोको दूर करनेमें उत्सुक नहीं है उसने उसे त्याग दिया है, जैसे त्यागा हुआ वस्त्रादि । और यति शरीरके विनाशके कारणको दूर करनेमें उत्सुक नही होता । अतः उसके

निमित्तत्वादुत्थानामनयो रत्र एव सः । यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थितनिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च । यस्तु निषण्णोऽशुभध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णक कायशुभपरिणामाभ्या अनुत्थानात् ।

दैवसिकाद्यतीचार रत्नत्रयगतं मनसा विमृश्य इदं मया[1] न सुष्ठु कृत प्रमादिनेति सचिन्त्य पश्चाद्धर्मे शुक्ले वा ध्याने प्रवर्तितव्यम् ।

कायोत्सर्गप्रपन्न स्थानदोषान्परिहरेत् । के ते इति चेदुच्यते । १ तुरग इव कुंटीकृतपादेन अवस्थानम् २ लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थानं ३ स्तम्भवत्स्तब्धशरीरं कृत्वा स्थान । ४ स्तंभोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलम्बितशिरसा वावस्थानम् । ५ लम्बिताधरतया, स्तनगतदृष्टया वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वा । ६ खलीनावपीडितमुखहय इव मुखचालनं सपादयतोऽवस्थानं । ७ युगावष्टब्धबलीवर्द इव शिरोऽध पातयता । ८ कपित्थफलग्राहीव विकाशितकरतल, संकुचिताङ्गुलिपंचक वा कृत्वा ९ शिरश्चालनं कुर्वन् १० मूक इव हुकारं सपाद्यावस्थानं ११ मूक इव नासिकया वस्तूपदर्शयता वा १२ अंगुलीस्फोटनं १३ भ्रूनर्तनं वा कृत्वा १४ शबरवधूरिव स्वकौपीनदेशाच्छादनपुरोगं १५ शृङ्खलावद्धपाद इव वावस्थान १६ पीतमदिर इव परवशगतशरीरो वा भूत्वावस्थानं इत्यमी दोषा ॥

ष्डावश्यकानामावश्यकानां अपरिहाणिर्हानिर्न कार्या । अणुत्सेको आधिक्येनाकरणं च ।

है किन्तु शरीर बैठा हुआ है। जो बैठे हुए अशुभध्यानमें लीन होता है उसके निषण्ण निषण्ण कायोत्सर्ग होता है। क्योंकि न तो उसका शरीर उत्थित है और न शुभपरिणाम ही हैं। रत्नत्रयमें दैवसिक आदि अतीचारोंको मनमें विचारकर 'मुझ प्रमादीने यह ठीक नहीं किया' ऐसा सोचकर पीछे धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करना चाहिये।

कायोत्सर्ग करने वालेको स्थान सम्बन्धी दोष दूर करना चाहिये। वे दोष इस प्रकार हैं— १. घोड़ेकी तरह पैरको थोड़ा मोड़कर खड़ा होना। २ बेलकी तरह इधर-उधर हिलते हुए खड़े होना। ३. स्तम्भकी तरह शरीरको स्तब्ध करके खड़े होना। ४. स्तम्भ अथवा दीवारके आश्रयसे अथवा ऊपरके तल्लेसे सिरको लगाकर खड़े होना। ५. ओष्ठको लटकाकर दृष्टि अपने स्तनो पर रखकर कौएकी तरह आँखोको इधर-उधर घुमाना। ६ लगामसे पीड़ित मुख वाले घोड़ेकी तरह मुख चलाते हुए अवस्थित होना। ७. जैसे कन्धे पर जुआ होनेसे बैल अपना सिर नीचे डालता है उस तरह सिरको लटकाकर अवस्थापन करना। ८. कैथके फलको ग्रहण करने वाला मनुष्य जैसे अपनी हथेलीको फैलाता है उस तरह हथेलीको फैलाकर या पाँचों अंगुलियोंको सकुचित करके अवस्थित होना। ९. सिरको चलाते हुए अवस्थान। १० गूँगेकी तरह हुकार करते हुए अवस्थान। ११ गूँगेकी तरह नाकसे वस्तुको दिखलाते हुए अवस्थान। १२. अंगुली चटकाते हुए अवस्थान। १३. भौंको नचाते हुए अवस्थान। १४ भीलनीकी तरह अपने अग्रभागको हथेलीसे ढाँकते हुए अवस्थान। १५ ऐसे खड़े होना मानो दोनों पैर साँकलमे बँधे हैं। १६. मदिरा पिये हुए की तरह अथवा पराधीन शरीर वालेकी तरह खड़ा होना। ये कायोत्सर्गके दोष हैं।

जो पहले छह आवश्यक कहे हैं उनमें हानि नहीं करनी चाहिये और न उनमें आधिक्य करना चाहिये ॥ ११८ ॥

१. मया दुष्टं कृतं–आ० मु०।

भत्ती तवोधिगंमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं ।
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥११९॥

'भत्ती' भक्तिः। वदननिरीक्षणाविप्रसादेन अभिव्यज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागः। 'तवोऽधिगम्मि' त
ऽधिके च 'तवम्मि' च सम्यक्तपसि, तदपि च, भक्तिरिति यावत्। तत्र सम्यग्ज्ञानदर्शनसंयमानुगतं। 'अही
लणा य' अपरिभवनं। 'सेसाणं' शेषाणां। तपसा न्यूनानामात्मनः ज्ञानश्रद्धानचरणवतां परिभवे ज्ञानादीन्ये
परिभूतानि भवंति। ततो बहुमानाभावो ज्ञानातिचारः, वात्सल्याभावो दर्शनातिचारः। सातिचारज्ञानदर्शन
चारित्रमशुद्धं इति, महाननर्थ इति भावः। 'एसो' एष व्यावर्णितपरिणामसमूहः उत्तरगुणोद्योगादिकः
'तवम्मि' तपसि तपोविषयः। 'विणओ' विनयः। 'जहुत्तचारिस्स' श्रुतनिरूपितक्रमेणाचरतः। 'साधुस
साधोः ॥११९॥

उपचारविनयनिरूपणायोत्तरगाथा—

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो हु पंचमो विणओ ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव परोक्खो ॥१२०॥

'काइगवाइगमाणसिगोत्ति' पदसंबंधः। पंचमो विनयस्त्रिप्रकारः कायेन, मनसा, वचसा च, निर्वर्त्य
इति। 'सो पुण सव्वो' स पुनस्त्रिप्रकारोऽपि विनयः। 'दुविधो' द्विविधः। 'पच्चक्खो चेव' प्रत्यक्ष-
'परोक्खो' परोक्षश्चेति ॥१२०॥

गा०—जो तपमें अधिक है उनमें और तपमें भक्ति और जो अपनेसे तपमें हीन है उनक
अपरिभव यह श्रुतके अनुसार आचरण करने वाले साधुकी तप विनय है ॥११९॥

टी०—मुखकी प्रसन्नतासे प्रकट होनेवाले आन्तरिक अनुरागको भक्ति कहते हैं। तप
अधिकमें और सम्यक् तपमें भक्ति करना। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयमके अनुगत तप
सम्यक् तप है। जो तपमें न्यून है उनका तिरस्कार नहीं करना। जो ज्ञान श्रद्धान और चारित्र
युक्त होनेपर भी अपनेसे तपमें कम हैं, उनका तिरस्कार करनेपर ज्ञानादिका ही तिरस्कार होत
है। और ऐसोंका बहुमान न करना ज्ञानका अतिचार है। उनमें वात्सल्य न रखना सम्यग्दर्शनक
अतिचार है। और जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार है उसका चारित्र अशुद्ध है, इस तर
महान् अनर्थ है। यह ऊपर कहा, उत्तरगुणोंमें उद्योग आदि शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले सा
की तप विषयक विनय है ॥११९॥

उपचार विनयका निरूपण करते हैं—

गा०—पाँचवी उपचार विनय तीन प्रकारकी है कायिक, वाचनिक और मानसिक। औ
यह तीनों प्रकारकी विनय दो प्रकारकी है प्रत्यक्ष विनय और परोक्ष विनय ॥१२०॥

टी०—पाँचवी विनय तीन प्रकारकी है जो कायसे, मनसे और वचनसे की जाती है। औ
ये तीनों प्रकारकी भी विनय दो प्रकारकी है—प्रत्यक्ष और परोक्ष ॥१२०॥

तत्र प्रत्यक्षकायिकविनयप्रदर्शनाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

अब्भुट्ठाणं किदियम्मं णवसणं अंजली य मुंडाणं ।
पच्चुगच्छणमेत्तो पच्छिद अणुसाधणं चेव ॥१२१॥

'अब्भुट्ठाणं' अभ्युत्थानं गुर्वादीनां प्रवेशनिष्क्रमणयोः । 'किदियम्मं' णवंसणं, वदना, शरीरावनतिश्च । 'अंजली य' कृताञ्जलिपुटता च । 'मुंडाणं' शिरोवनतिश्च । 'पच्चुगच्छणं' प्रत्युद्गमनं । आसीने स्थिते वा गुरौ । 'पच्छिद अणुसाधणं चेव' स्वयं गच्छन् दूरात्परिहृत्य निभृतकरचरणस्यावनतगात्रस्य गमनं, सहगमे वा पृष्ठतः स्वशरीरमात्रप्रमाणभूभागेन तं परिहृत्य गमनं ॥१२१॥

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ।
आसणदाणं उवगरणदाणमोगासदाणं च ॥१२२॥

णीचं च आसणं नीचैरासनं । पृष्ठतः स्वहस्तपादश्वासादिभिरुपद्रुतो न भवति यथा गुर्वादिस्तथासनं । अग्रतोऽभिमुखात् मनागपसृत्य वामपार्श्वेऽनुद्धतस्यैवदवनतोत्तमाङ्गस्य चासनं । आसने गुरावुपविष्टे स्वयं भूमावासनं च । 'सयणं च णीचमिति' पदघटना । नीचैः शयनमिति यावत् । [1]अनुन्नते देशे शयनं, गुरुनाभिप्रमाणमात्रभूभागे वा स्वशिरो भवति यथा तथा शयनं । हस्तपादादिभिर्वा यथा न स्पृश्यते गुर्वादि । 'आसणदाण'

उनमेंसे प्रत्यक्षकायिक विनयको चार गाथाओंसे दिखलाते है—

टी०—गुरु आदिके प्रवेश करनेपर या बाहर जानेपर अभ्युत्थान—खड़े होना, कृतिकर्म अर्थात् *वन्दना करना, णवंसण अर्थात् शरीरको नम्र करना, दोनों हाथोंको जोड़ना, सिरको* नवाना, प्रत्युद्गमन अर्थात् गुरुके बैठने अथवा खड़े होनेपर उनके सामने जाना, और जब गुरु जावें तो उनसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको शान्त और शरीरको नम्र करके गमन करना और गुरु के साथ जानेपर उनके पीछे अपने शरीर प्रमाण भूमिभागका अन्तराल देकर गमन करें ॥१२१॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरने अपनी टीकामें लिखा है कि टीकाकार तो 'पच्छिद अणुसाधण' के स्थानमें 'पच्छिद संसाहणा' पढ़ते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं कि—आचार्य उपाध्याय आदिके द्वारा प्रार्थित और मनमें अभिलषितका सम्यक् प्रसाधन करना अर्थात् आज्ञा नहीं देनेपर भी संकेतसे ही जानकर करना। यह टीकाकार कोई दूसरे जान पड़ते हैं क्योंकि विजयोदयामें तो यह पाठ नहीं है।

गा०—नीचा स्थान, नीचा गमन, नीच आसन, नीचे सोना, आसनदान, उपकरणदान और अवकाशदान ये उपचार विनयके प्रकार हैं ॥१२२॥

टी०—नीचा आसन—गुरुके पीछे इस प्रकार बैठे कि अपने हाथ पैर श्वास आदिसे गुरुको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे। आगे बैठना हो तो सामनेसे थोड़ा हटकर गुरुके वाम भागमें उद्धतता त्यागकर और अपने मस्तकको थोड़ा नवाकर बैठे। आसन पर गुरुके बैठने पर स्वयं भूमिमें बैठे। नीचे सोना—अर्थात् जो ऊँचा नहीं हो ऐसे देशमें सोना, अथवा गुरुके नाभि प्रमाण मात्र भूभागमें अपना सिर रहे इस प्रकार सोना। अथवा अपने हाथ पैर वगैरहसे गुरु आदिका

---

१. अनुत्तरे देशे आ० मु०।

तेन बालत्वाद्यनुरूपं वैयावृत्त्यक्रियेति यावत्। पेशणकरणं गुर्वादिभिराज्ञप्तस्य। 'संथारकरणं' तृणफलकादिसंस्तरणक्रिया। 'उवकरणपडिलिहणं' गुर्वादीनां ज्ञानसंयमोपकरणप्रतिलेखनं अस्तमनवेलायां आदित्योद्गमने च ॥१२३॥

इच्चेवमादि विणओ उवयारो कीरदे सरीरेण ।
एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्मि ॥१२४॥

उपचारिकविनय । शेष सुगम ।

वाचिकविनयनिरूपणार्थं गाथाद्वयम्—

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च मधुरं च ।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥१२५॥

'पूयावयणं' पूजापुरस्सरं वचनं भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुमिच्छामि युष्मदनुज्ञयेत्यादिकं। 'हिदभासणं च' गुर्वादीनां यद्धितं लोकद्वयस्य तस्य भाषणं। 'मिदभासणं' यावता विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्भवति तावदेव वक्तव्यं न प्रसक्तानुप्रसक्तं। 'मधुरं' च श्रोत्रप्रियं। 'सुत्ताणुवीचिवयणं' सूत्रानुवीचिवचनं। भाषासमित्यधिकारे यानि वाच्यानि निर्दिष्टानि वचांसि तेषां वचनं। 'अणिट्ठुरं' अनिष्ठुरं परचित्तपीडाकृतावनुद्यतं। 'अकक्कसं वयणं' अकर्कशं वचनं अपरुषमिति यावत् ॥१२५॥

कालकृत अवस्थाविशेष बाल्य अवस्था आदि ग्रहण की है क्योंकि वह कालमे होती है। अतः गुरुकी बाल आदि अवस्थाके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये। उनके लिये तृणोंका या लकड़ीके पटियाका संथरा करना चाहिये। सूर्यके अस्त और उदय होनेके समय उनके ज्ञान और संयमके उपकरण शास्त्र कमण्डलु आदिकी सफाई करना चाहिये ॥१२३॥

गा०—इस प्रकारको आदि लेकर उपचार विनय शरीरके द्वारा साधुवर्गमे यथा योग्य की जाती है। यह कायिक विनय है ॥१२४॥

टी०—यह उपचार विनय है। शेष सुगम है ॥१२४॥

दो गाथाओंसे वाचिक विनयका निरूपण करते हैं—

गा०—पूजा पूर्वक वचन, हितकारी भाषण, मित भाषण, मधुर भाषण, सूत्रानुसार वचन, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन वचनविनय है ॥१२५॥

टी०—'हे भट्टारक ! मैं सुन रहा हूँ,' 'हे भगवन् आपकी आज्ञा हो तो मैं ऐसा करना चाहता हूँ। इस प्रकारसे पूजा पूर्वक वचन बोलना। जो गुरु आदिके लिये इस लोक और परलोक मे हितकर हो ऐसा हित भाषण करना। जितना बोलनेसे विवक्षित अर्थका बोध हो उतना ही बोलना, प्रासंगिक या अप्रासंगिक न बोलना। कानोंको प्रिय वचन बोलना, भाषासमिति अधिकार मे जो वचन बोलने योग्य कहे हैं उन्हे ही बोलना, तथा दूसरेके चित्तको पीड़ा करने वाले निष्ठुर वचन और कर्कश वचन न बोलना वाचिक विनय है ॥१२५॥

'अंधलयबहिरमूओ व्व मणो हवइ' इति शेषः । अंधवद्बधिरवन्मूकवच्च भवति मनः । कदाचित्क्वचिद्विषये प्रवर्तमानं मनः सन्निहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति । ननु चक्षुरादेः कर्तृता दर्शनादौ न मनसस्तत्सर्वदापि न किंचित्पश्यति, न शृणोति वक्ति वा ? उच्यते—मनसः करणस्य कर्तृता परशुश्छिनत्तीति यथा । एतदुक्तं भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवचनादिके, स्वपरहिते वाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्मनसो दुष्टतेति । यथा भृत्यो दुष्ट इत्युच्यते स्वामिना नियुक्ते कर्मण्यप्रवर्तमानः । एवं मनोऽप्यात्मना नियुक्तेऽप्रवृत्तेर्दुष्टमिति भावः । 'लहुमेव विप्पणासेदि य' आशु विनश्यति च । अनित्यतायोगात्तु वस्तुयाथात्म्यग्राहिणो मनसः सौ इन्द्रियमते । 'दुक्खो य' दुःख अशक्यं । 'पडिनियत्तेदुं जं' प्रतिनिवर्तयितुं वस्तुन्यभूताकारग्रहणे भूतस्वरूपनिरासे च प्रवृत्तं तावत्तस्मात् निवर्तयितुं न शक्यं रागादिसहचारित्वात् प्रतिनिवर्तयितुं । किमिव 'गिरिसरिदसोदं व्व' गिरिनदीप्रवाह इव ॥१३७॥

तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदुं दुद्दओ जहा अस्सो ।
बीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धणिदं ॥१३८॥

'तत्तो' तस्मात्प्रतिनिवर्तनात् । 'दुक्खे' दुष्करे 'पंथे' मार्गे । 'पाडेदुं' पातयितुं । किमिव । 'दुद्दओ जहा अस्सो' दुष्टोऽश्वः यथा । एतेन दुष्करमार्गपातनदोषः प्रकटितः । 'बीलणमच्छोव्व' मसृणतरदेहमत्स्य इव । 'णिग्घेत्तुं दुक्करो' निग्रहीतुं दुष्करं ग्रहीतुं मनः । एतेन दुरवग्रहता ख्याता ॥१३८॥

टी०—मन अंधे, बहरे और गूंगे मनुष्यकी तरह है क्योंकि कभी-कभी किसी विषयमें आसक्त मन निकटवर्ती भी विषयको नहीं देखता, नहीं सुनता, और नहीं बोलता ।

शङ्का—देखने आदिका काम तो चक्षु आदि इन्द्रियोंका है, मनका नहीं । मन तो सदा ही न कुछ देखता है, न सुनता है, न बोलता है ।

समाधान—मन करण है फिर भी उसे कर्ता कहा है । जैसे परशु लकड़ी काटनेमें करण है फिर भी उसे कर्ता कहा जाता है परशु काटता है । इसका आशय यह है कि देखने योग्य जीवादिमें, सुनने योग्य जिन वचन आदिमें और स्व-परका कल्याण करने वाले वचनोंमें मनका प्रवृत्त न होना उसकी दुष्टता है । जैसे जो सेवक स्वामीके द्वारा कहे गये कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता उसे दुष्ट कहा जाता है । उसी तरह मन भी आत्माके द्वारा नियुक्त कार्यमें प्रवृत्त न होनेसे दुष्ट कहा जाता है । तथा शीघ्र नष्ट हो जाता है । इससे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले मनकी अनित्यताका कथन किया है । तथा वस्तुके अविद्यमान स्वरूपको ग्रहण करनेमें और विद्यमान स्वरूपका निरास करनेमें प्रवृत्त हुए मनको उससे हटाना वैसे ही अशक्य है जैसे पहाड़ी नदीके प्रवाहको लौटाना अशक्य होता है, क्योंकि मन रागादिभावसे आसक्त होता है ॥१३७॥

गा०—अतः विषयोंसे हटानेमें मन दुष्कर मार्गमें गिराता है । जैसे दुष्ट घोड़ा गिराता है । और चिकने मच्छकी तरह पकड़नेमें अत्यन्त दुष्कर है ॥१३८॥

टी०—जब दुष्कर [illegible] दुष्ट घोड़ेको रोकनेसे वह मार्गमें गिरा देता है वैसे ही मन भी [illegible] गिराता है । इससे दुष्कर मार्गमें गिरानेका दोष प्रकट किया । तथा जैसे

१. दु दक्ख आ० मु० । २. दुष्कर आ० ।

जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति ।
भीमासुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥१३९॥

'जस्स य' यस्य च । 'कदेण' करोति क्रियासामान्यवाची इह चेष्टावृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः यस्य मनश्चेष्टितेन जीवाः संसारं पञ्चविधं परावर्तं परिभ्रमन्ति । 'अणंतयं' अनन्तप्रमाणावच्छिन्नं । 'भीमासुहगदिबहुलं' भयावहाशुभनरकादिगतिप्रचुरं । 'दुक्खसहस्साणि' शारीरागन्तुकमानसस्वाभाविकाख्यानि प्रत्येकमनेकरूपाणि । 'पावंता' प्राप्नुवन्तो जीवाः । एतेन चतुर्गतिपरावर्तमूलतादोषः प्रकटितः ॥१३९॥

जम्हि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा ।
णासंति रागदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स ॥१४०॥

'जम्हि' यस्मिंश्च मनसि । 'वारिदमेत्ते' वारित एव मात्रग्रहणं वारणादन्यनिरासार्थमुपात्तं । मनोवारणादेव 'रागदोसादिया' रागद्वेषादयः । 'णासंति खु' नश्यन्त्येव । 'सज्जो' सद्य इदानीमेव । 'संसारकारया' परावर्तपञ्चकस्य संपादकाः ॥१४०॥

इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पंडिदुवेदि य अकंपं ।
सुहसंकप्पपयारं च कुणदि सज्झायसण्णिहिदं ॥१४१॥

चञ्चल शरीर वाली मछलीको पकड़ना कठिन है वैसे ही मनको रोकना बहुत कठिन है। इसमें 'दुरवग्रहता' नामक दोष कहा ॥१३८॥

गा०—जिस मनकी चेष्टासे जीव हजारों दुःख भोगते हुए भयंकर अशुभ गतियोंसे भरे हुए अनन्त संसारमें भ्रमण करते हैं ॥१३९॥

टी०—गाथामें आया 'कदेण' शब्द करने रूप क्रियासामान्यका वाची है किन्तु यहाँ उसका अर्थ चेष्टा लिया है। अतः ऐसा अर्थ होता है कि जिस मनकी चेष्टासे जीव पाँच परावर्तन रूप संसारमें भ्रमण करते हैं, वह संसार अनन्त प्रमाण वाला है और उसमें भयानक नरक आदि अशुभ गतियोंका बाहुल्य है। तथा वे जीव शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक स्वाभाविक आदि अनेक प्रकारके दुःखोंको पाते हैं। इसमें 'चतुर्गतिमें भ्रमणका मूल' दोष प्रकट किया ॥१३९॥

गा०—जिस मनके निवारण करने मात्रसे मनुष्यके सब संसारके कारक राग द्वेष आदि दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥१४०॥

टी०- 'वारिदमेत्ते' में 'मात्र' पदका ग्रहण निवारणसे अन्यका निराकरण करनेके लिये किया है। अर्थात् अन्य कुछ न करके मात्र मनको रोका जाये तो पाँच परावर्तन रूप संसारके कारण सब दोष तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥१४०॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो दुष्ट मनको रागादिसे निवारण करता है, और निश्चलरूपसे श्रद्धानरूप परिणामादिमें स्थापित करता है। तथा शुभसंकल्पोंमें मनको प्रवृत्त करता है और स्वाध्यायमें मनको लगाता है उसके सामण्ण-समताभाव होता है ॥१४१॥

दंसणसुद्धी इत्येतद्व्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पत्ती य तित्थचिण्हणिसिहीओ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

'जम्मण' जन्माभिनवशरीरग्रहणं। तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते। गृहीत-शरीरस्य वात्मनो जनन्युदराद्यत्र निष्क्रमणं जातं तदा। 'अभिणिक्खवणे' रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं यस्मिन्क्षेत्रे तदिह निष्क्रमणं। 'णाणुप्पत्ती य' केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थयाथात्म्यग्रहणक्षमं [illegible] तदिह ज्ञानमिति गृहीतं। सामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्तिः प्रतीतैव। तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह सा-मर्थ्यात् 'णाणुप्पत्ती य' शब्देनोच्यते। 'तित्थं' चिण्हं। तीर्थमिह समवसरणं गृह्यते। तरन्ति तस्मिन्भव्याः पापविनाशार्थिन इति। तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भाः। 'णिसिहीओ' निषिधीयोगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते। एतज्जन्मादिस्थानं श्रुतेन प्रागवगतं। 'पासंतस्स' पश्यतः। कस्य ? 'जिणाणं' जिनानां 'सुविसुद्धं' सुष्ठु विशुद्धं। 'दंसण' श्रद्धानं। 'होदि' भवति। एतदुक्तं भवति—

देशान्तरातिथेः जिनानां जन्मादिस्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते। यथा काचित्[illegible] विभा-तिनो परोक्षामगवत्य परस्य वचनोपजाताभिलापस्य तस्या दर्शनायमुपजातायां श्रद्धातिशयो जायते इति।

वसनेके उक्त गुण कहे हैं। इन गुणोंका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वयं करते हैं। टीकाकारने भावना-का अर्थ पुनः पुनः अभ्यास किया है और पं० आशाधरने परीषह सहन किया है। आगे ग्रन्थकारने भी यही अर्थ भावनाका किया है। अभ्याससे ही परीषह सहनकी सामर्थ्य होती है। सम्भवतः इसी भावसे भावनाका अर्थ अभ्यास किया है। लोकमें भावनाका यही अर्थ प्रचलित है॥१४४॥

'दंसणसुद्धी' इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

गा०—जिनदेवोंके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और समवसरण-के चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषीधिका स्थान देखनेवालेके सम्यक्‌रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन होता है ॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते हैं। वह जन्म जिस क्षेत्रमें हुआ, जन्मके साहचर्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है। अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका माताके पेटसे निकास जहाँ हुआ वह जन्म है। रत्नत्रय धारण करनेकी भावनासे घरसे बाहर जाना जिस क्षेत्रमें हुआ उसे निष्क्रमण कहा है। केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थोंके यथार्थ-स्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है, क्योंकि सामान्य-वाची शब्दोंकी भी विशेषमें प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है। यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है। जिसमें पापके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते हैं वह तीर्थ है। उस समवसरणके चिह्न मान-स्तम्भ हैं। निषिधि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमें हो उसे निषिधी कहते हैं। श्रुतसे पहले जाने हुए जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखता है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है। देशान्तरसे [illegible] करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोंको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे [illegible] के वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती [illegible] होती है।

[illegible] वाला यदि तीन ज्ञानके धारी

अथवा यदा तीर्थकृतः सभवन्ति तदा अनियतविहारो यतिर्जिनानां ज्ञानत्रयचारिणां अवाप्तस्वर्गावतरणपूजातिशयानां जन्माभिषेककल्याण भुवनभवनान्तर्लीनतमोवितानापनयनोद्यतं, सुधापानमिव सकलप्राणभृदारोग्यविधायि, सुरविलासिनीनर्तनमिव सकलजगदानन्ददायि, प्रियवचनमिव मन प्रसादकारि, पुण्यकर्मेव अगण्यपुण्यवितरणप्रवीण, लक्ष्मीपरिचारिकाभि साश्चर्यं ससभ्रम ईक्षितं, गुह्यकामरप्रकीर्णानेकसुरभिप्रसूनकरणगन्धानुभ्रमद्भ्रमरकृतकोलाहल अनारतप्रहतमगलभेरीभभाध्वनिभरितभुवनविवर, सुरवधूनर्तनजिगीषयेव सौधशिखररङ्गनृत्यत्प्रत्यग्रपञ्चवर्णपताकाविलासिनीक, हरिविष्टरप्रचलनोपनीतसाध्वसनवसुरवल्लभारभसकण्ठग्रहप्रीतिविकासिमुखशतमखसुम्व, ससभ्रमोत्थितकृताञ्जलिपुटसुरपरिवारसादराकर्ण्यमानवज्रभृदाज्ञ, भेर्यादिध्वानाहूतप्रमुखसकलगीर्वाणचक्र, परस्परसघर्षगृहीतोत्तरवैक्रियिकदेवपृतनाव्याप्तपवनपथदेश, जन्माभिषेकसमयप्रयाणसमादानायातपौलोमीनूपुरध्वानचकितहसीविलासविराजमानराजमन्दिराङ्गण, ऐरावतावतीर्णप्रसारितवज्रिवज्रघनभुजार्गलं, सुरकरप्रहारप्रसरद्दुंदुभिभेरीध्वानसंमिश्रसिंहनादवधिरितविशालाशामुखं, प्रहतानेकप्रयाणकपटहगम्भीरघीराराव, असकलशशिकरावदातचमरसहविक्षेपदक्षबलभिन्निकुरुम्बजिनावलोकनव्यग्रसुराग्रमहिषीक, श्वेतातपत्रजलधरघटावरुद्धनभोमंडल, विद्युदायमानपताकाकुल, इन्द्रनीलमयसोपानप्रयायिसुरपृतनं, सुरगजरदनसरोनलिनदलरगशोभाविधायिनर्तकीकोमललीलपदन्यासं, गृहीताष्टमगलदेवीसहस्रपुरोगान, देवप्रतीहारदूरापसार्यमाणक्षुद्रामरगण, आत्म-

---

और स्वर्गसे अवतरित होते समयकी विशिष्ट पूजाको प्राप्त जिनदेवके जन्माभिषेक कल्याणको देखता है। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घरमें छिपे हुए अन्धकारके फैलावको दूर करने में तत्पर होता है। अमृतपान की तरह समस्त प्राणियोंको आरोग्य देने वाला है। देवागनाओंके नृत्यकी तरह समस्त जगत्को आनन्दमयी है, प्रियवचनकी तरह मनको प्रसन्न करता है। पुण्यकर्मकी तरह अगणित पुण्यको देने वाला है। लक्ष्मीरूपी परिचारिकाओं के द्वारा बडे आश्चर्य और शीघ्रता के साथ इसे देखा जाता है। गुह्यक जाति के देवोंके द्वारा बरसाये गये अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी गन्ध पर मडराने वाले भौंरो की गुजनके कोलाहलसे पूर्ण होता है। निरन्तर बजने वाली मगल भेरी और वाद्योंकी ध्वनिमें समस्त भुवन भर जाता है। देवागनाओंके नृत्यको जीतनेकी इच्छासे ही मानो महलोंके शिखर पर पाँच वर्णकी पताका रूपी नृत्यागनाएँ नाचती है। भगवान्के जन्मके समय इन्द्रके सिंहासनके कम्पनसे भयभीत हुई नवजन्म वाली देवागनाएँ जल्दीसे इन्द्रके कण्ठसे लिपट जाती है तब इन्द्रका मुख प्रेमसे खिल उठता है। तब देव परिवार जल्दीसे उठकर बडे आदरसे इन्द्रकी आज्ञा सुनता है। भेरीके शब्दको सुनकर इन्द्रादि प्रमुख सब देवगण एकत्र होते है. परस्परके संघर्षसे उत्तर वैक्रियिक शरीरको धारण करने वाले देवोंकी सेनासे आकाश मार्ग व्याप्त हो जाता है। जन्माभिषेकके समय जिन बालकको लानेके लिये आई हुई इन्द्राणीके नूपुरोंके शब्दसे चकित हुई हंसीके विलासमें राजमन्दिरका आँगन शोभित होता है। ऐरावतसे उतरकर इन्द्र अपनी वज्रमयी भुजायें फैला देता है। देवताओंके हाथोंके प्रहारसे ढोल और भेरीके शब्दके साथ मिला सिंहनाद विशाल दिशाओंको बधिर कर देता है। गमन करते समय बजाये जाने वाले अनेक नगारोंका गम्भीर शब्द होता है। इन्द्रोंका समूह अपूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान शुभ्र चमरोंको दक्षतापूर्वक ढोरता है। इन्द्राणियाँ बालक जिनका मुख देखनेके लिये उत्कण्ठित होती हैं। श्वेत छत्ररूपी मेघोंकी घटाओंसे आकाश ढक जाता है। पताकायें बिजुलीकी तरह प्रतीत होती है। इन्द्रनीलमय सीढियोंकी तरह देवसेना गमन करती है। ऐरावतके दाँतो पर बने सरोवरोमें खिले कमलके पत्रो पर नर्तकियाँ लीलाके साथ पद निक्षेप करती हुई नृत्य करती

दंसणसुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पत्ती य तित्थणिण्हणिसिहीओ ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

'जम्मण' जन्माभिनवशरीरग्रहणं । तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते । गृहीत-
य वात्मनो जनन्युदरादथ निष्क्रमणं जातं यदा । 'अभिणिक्खवणे' रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं
क्षेत्रे तदिह निष्क्रमणं । 'णाणुप्पत्ती य' केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थग्राहकसमर्थं यत्केवलं तदिह
ति गृहीतं । सामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्तिः प्रतीतैव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साह-
'णाणुप्पत्ती य' शब्देनोच्यते । 'तित्थं' तीर्थं । तीर्थमिह समवसरणं गृह्यते । तरन्ति तस्मिन्भव्या
नाशार्थिन इति । तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भाः । 'णिसिहीओ' निषिधीयोगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा
इत्युच्यते । एतज्जन्मादिस्थानं श्रुतेन प्रागवगतं । 'पासंतस्स' पश्यतः । कस्य ? 'जिणाणं' जिनानां
द्धं' सुष्ठु विशुद्धं । 'दंसणं' श्रद्धानं । 'होदि' भवति । एतदुक्तं भवति—

देशान्तरातिथेः जिनानां जन्मादिस्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते । यथा कांचित्सौन्दर्यशालिनीं विषया-
परोक्षामवगत्य परस्य वचनोपजाताभिलाषस्य तस्या दर्शनादुपजातायां श्रद्धातिशयो जायते इति ।

के उक्त गुण कहे हैं। इन गुणोका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वयं करते हैं। टीकाकारने भावना-
र्थ पुन पुन अभ्यास किया है और प० आशाधरने परीषह सहन किया है। आगे ग्रन्थकारने
ही अर्थ भावनाका किया है। अभ्याससे ही परीषह सहनकी सामर्थ्य होती है। सम्भवतः
भावसे भावनाका अर्थ अभ्यास किया है। लोकमें भावनाका यही अर्थ प्रचलित है॥१४४॥

'दसणसुद्धी' इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

गा०—जिनदेवोंके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और समवसरण-
चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषीधिका स्थान देखनेवालेके सम्यक्रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन
है॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते हैं। वह जन्म जिस क्षेत्रमें हुआ, जन्मके
र्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है। अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका
के पेटसे निकास जहाँ हुआ वह जन्म है। रत्नत्रय धारण करनेकी भावनासे घरसे बाहर
। जिस क्षेत्रमें हुआ उसे निष्क्रमण कहा है। केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थोंके यथार्थ-
पको ग्रहण करनेमें समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है, क्योंकि सामान्य-
शब्दोंकी भी विशेषमें प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है। यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है।
में पापके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते हैं वह तीर्थ है। उस समवसरणके चिह्न मान-
भ हैं। निषिधि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमें हो उसे निषिधी कहते हैं। श्रुतसे पहले जाने
जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखता है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है। देशान्तरसे
ग करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोंको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे
ो सुन्दर नारीको वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती
ौर उसे साक्षात् देखनेपर विशेष श्रद्धा होती है।

अथवा जब तीर्थंकर जन्म लेते हैं तब अनियत विहार करने वाला यति तीन ज्ञानके धारी

अथवा यदा तीर्थकृतः संभवन्ति तदा अनियतविहारो धर्माचार्याणां ज्ञानत्रयधारिणां अवाप्तस्वर्गाव-तरणपूजातिशयानां जन्माभिषेककल्याणं भुवनभवनान्तर्लीनतमोवितानापनयनोद्यतं, सुधापानमिव सकलप्राणभृदा-रोग्यविधायि, सुरविलासिनीनर्तनमिव सकलजगदानन्ददायि, प्रियवचनमिव मनःप्रसादकारि, पुण्यकर्मेव अगण्य-पुण्यवितरणप्रवीणं, लक्ष्मीपरिचारिकाभिः साश्चर्यं ससम्भ्रमं ईक्षितं, गुह्यकामरप्रकीर्णविविधसुरभिकुसुमगन्धानु-भ्रमद्भ्रमरझंकारकोलाहलं अनारतप्रहतमङ्गलभेरीझंझाध्वनिनिर्भरितभुवनविवरं, सुरवधूनर्तनजिगीषयेव गोपुरशिखर-रङ्गनृत्यत्पञ्चवर्णपताकाविलासिनीकं, हरिविष्टरप्रकम्पनोपनीतभयनवसुरवल्लभारभसकण्ठग्रहप्रीतवि-कसितमुखशतमखमुखं, ससम्भ्रमोत्थितसकलसुरपरिवारसादराकर्ण्यमानवासवशासनं, भेरीनिनादाकुलप्रमुखगीर्वा-णचक्रं, परस्परसमर्पयुक्तोत्तरवैक्रियिकदेवपृतनाव्याप्तनभःप्रदेशं, जन्माभिषेकसमयप्रयातजिनबालानयनपौ-लोमीनूपुरध्वानचकितहंसीविलासविराजमानराजमन्दिराङ्गणं, ऐरावतावतीर्णप्रसारितवज्रमयघनभुजार्गलं, सुरकरप्रहारप्रसरद्दुन्दुभिभेरीध्वानमिश्रसिंहनादबधिरितविशालाशामुखं, प्रस्थानप्रयाणपटहगम्भीरघोरारावं, अपगतकलङ्कशशधरकरसदृशचामरविक्षेपव्यग्रेन्द्रवृन्दं जिनास्यालोकनव्यग्रसुरवधूसंदोहं, धवलातपत्रजलधरपटा-च्छादितनभोमण्डलं, विद्युदायमानपताकाकुलं, इन्द्रनीलमयसोपानप्रायविबुधपृतनं, सुरगजरदनसरोनलिनदलरङ्गशोभा-विधायिनर्तकीसलीलपदन्यासं, गृहीताष्टमङ्गलदेवीसहस्रपुरोगतं, देवनीहारप्रकरणपतितमाणवकमसुरगणं, आरम-

---

और स्वर्गसे अवतरित होने समयकी विशिष्ट पूजाको प्राप्त जिनदेवके जन्माभिषेक कल्याणको देखता है। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घरमें छिपे हुए अन्धकारके फैलावको दूर करने में तत्पर होता है। अमृतपान की तरह समस्त प्राणियोंको आरोग्य देने वाला है। देवांगनाओंके नृत्यकी तरह समस्त जगत्को आनन्दमयी है, प्रियवचनकी तरह मनको प्रसन्न करता है। पुण्यकर्मकी तरह अगणित पुण्यको देने वाला है। लक्ष्मीरूपी परिचारिकाओं के द्वारा बड़े आश्चर्य और शीघ्रता के साथ इसे देखा जाता है। गुह्यक जाति के देवोंके द्वारा बरसाये गये अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी गन्ध पर मडराने वाले भौंरों की गुंजनके कोलाहलसे पूर्ण होता है। निरन्तर बजने वाली मंगल भेरी और बाद्योंकी ध्वनिसे समस्त भुवन भर जाता है। देवांगनाओंके नृत्यको जीतनेकी इच्छासे ही मानों महलोंके शिखर पर पाँच वर्णकी पताका रूपी नृत्यांगनाएँ नाचती हैं। भगवान्के जन्मके समय इन्द्रके सिंहासनके कम्पनसे भयभीत हुई नवजन्म वाली देवांगनाएँ जल्दीसे इन्द्रके कण्ठसे लिपट जाती हैं तब इन्द्रका मुख प्रेमसे खिल उठता है। सब देव परिवार जल्दीसे उठकर बड़े आदरसे इन्द्रकी आज्ञा सुनता है। भेरीके शब्दको सुनकर इन्द्रादि प्रमुख सब देवगण एकत्र होते हैं. परस्परके सपर्शसे उत्तर वैक्रियिक शरीरको धारण करने वाले देवोंकी सेनासे आकाश मार्ग व्याप्त हो जाता है। जन्माभिषेकके समय जिन बालकको लानेके लिये आई हुई इन्द्राणीके नूपुरोंके शब्दसे चकित हुई हंसीके विलाससे राजमन्दिरका आँगन शोभित होता है। ऐरावतसे उतरकर इन्द्र अपनी वज्रमयी भुजायें फैला देता है। देवताओंके हाथोंके प्रहारसे ढोल और भेरीके शब्दके साथ मिला सिंहनाद विशाल दिशाओंको बधिर कर देता है। गमन करते समय बजाये जाने वाले अनेक नगारोंका गम्भीर शब्द होता है। इन्द्रोंका समूह अपूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान शुभ्र चमरोंको दक्षतापूर्वक ढोरता है। इन्द्राणियाँ बालक जिनका मुख देखनेके लिये उत्कण्ठित होती हैं। दवेत छत्ररूपी मेघोंकी घटाओंसे आकाश ढक जाता है। पताकायें बिजुलीकी तरह प्रतीत होती हैं। इन्द्रनीलमय सीढ़ियोंकी तरह देवसेना गमन करती है। ऐरावतके दाँतो पर बने सरोवरोंमें खिले कमलके पत्रो पर नर्तकियाँ लीलाके साथ पद निक्षेप करती हुई नृत्य करती

दंसणसुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पत्ती य तित्थचिण्हणिसिहीओ ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

'जम्मण' जन्माभिनवशरीरग्रहण । तदस्मिन्क्षेत्रे जात तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते । गृहीत-शरीरस्य वाग्मनो जनन्युदरायत निष्क्रमण जात तद्वा । 'अभिणिक्खवणे' रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्वहिर्गमनं यस्मिन्क्षेत्रे तदिह निष्क्रमण । 'णाणुप्पत्ती य' केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थयाथात्म्यग्रहणक्षमं यत्केवल तदिह ज्ञानमिति गृहीत । सामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्ति प्रतीतैव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साह-चर्यात् 'णाणुप्पत्ती य' शब्देनोच्यते । 'तित्थं' चिण्ह । तीर्थमिह समवशरणं गृह्यते । तरन्ति तस्मिन्भव्या' संसारविनाशार्थिन इति । तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भा । 'णिसिहीओ' निषिधीयोगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते । एतज्जन्मादिस्थानं श्रुतेन प्रागवगत । 'पासंतस्स' पश्यत । कस्य ? 'जिणाणं' जिनाना 'सुविसुद्धं' सुष्ठु विशुद्ध । 'दंसण' श्रद्धानं । 'होदि' भवति । एतदुक्तं भवति—

दृष्टान्तरास्थिते जिनाना जन्मादिस्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते । यथा कांचिद्वधावर्ण्यमानरूपा विला-सिनी परोक्षामवगच्छन् परस्य वचनोपजाताभिलाषस्य तस्या दर्शनपथमुपजाताया श्रद्धातिशयो जायते इति ।

भावनाके उक्त गुण कहे हैं । इन गुणोका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वयं करते हैं । टीकाकारने भावना-का अर्थ पुन पुन अभ्यास किया है और प० आशाधरने परीषह सहन किया है । आगे ग्रन्थकारने भी यही अर्थ भावनाका किया है । अभ्यासमें ही परीषह सहनकी सामर्थ्य होती है । सम्भवतः इसीसे भावस भावनाका अर्थ अभ्यास किया है । लोकमें भावनाका यही अर्थ प्रचलित है ॥१४४॥

'दंसणसुद्धी' इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

गा०—जिनदेवोंके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और समवसरण-के चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषीधिका स्थान देखनेवालेके सम्यक्रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन होता है ॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते हैं । वह जन्म जिस क्षेत्रमें हुआ, जन्मके साहचर्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है । अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका माताके पेटसे निकास जहाँ हुआ वह जन्म है । रत्नत्रय धारण करनेकी भावनासे घरसे बाहर जाना जिस क्षेत्रमें हुआ उसे निष्क्रमण कहा है । केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थो के यथार्थ-स्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है; क्योंकि सामान्य-वाची शब्दोंकी भी विशेषमें प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है । यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है । संसारके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते हैं वह तीर्थ है । उस समवसरणके चिह्न मान-स्तम्भ है । निषिधि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमें हो उसे निषिधी कहते हैं । श्रुतसे पहले जाने गए जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखता है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है । देशान्तरमें गमन करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोंको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे किसी सुन्दर नारीको वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती है और उसे साक्षात् देखनेपर विशेष श्रद्धा होती है ।

अथवा जब तीर्थंकर जन्म लेते हैं तब अनियत विहार करने वाला मुनि तीन ज्ञानके धारी

अथवा यदा तीर्थंकृत सम्भवन्ति तदा अनियतविहारो यतिस्त्रिनाना ज्ञानश्रयचारिणा अवाप्तस्वर्गावितरणपूजातिशयानां जन्माभिषेककल्याण भुवनभवनान्तर्लीनतमोवितानापनयनोद्यत, सुधापानमिव सकलप्राणभृदारोग्यविधायि, सुरविलासिनीनर्तनमिव सकलजगदानन्ददायि, प्रियवचनमिव मनःप्रसादकारि, पुण्यकर्मेव अगण्यपुण्यवितरणप्रवीण, लक्ष्मीपरिचारिकाभि साश्चर्यं ससभ्रमं ईक्षितं, गुह्यकामरप्रकीर्णानेकसुरभिप्रसूनकरणगन्धानुभ्रमद्भ्रमरकृतकोलाहलं अनारतप्रहृतमङ्गलभेरीभंभाध्वनिभरितभुवनविवर, सुरवधूनर्तनजिगीषयेव सौधशिखररङ्गनृत्यत्प्रत्यग्रपञ्चवर्णपताकाविलासिनीक, हरिविष्टरप्रचलनोपनीतसाध्वसनवसुरवल्लभारभसकण्ठग्रहप्रीतिविकासिमुखशतमखमुख, सम्भ्रमोत्थितकृताञ्जलिपुटसुरपरिवारसादराकर्ण्यमानवज्रभृदाज्ञ, भेर्यादिध्वानाहूतप्रमुखसकलगीर्वाणचक्र, परस्परसंघर्षगृहीतोत्तरवैक्रियिकदेवपृतनाव्याप्तपवनपथदेश, जन्माभिषेकसमयप्रयाणसमापादनायातपौलोमीनूपुरध्वानचकितहंसीविलासविराजमानराजमन्दिराङ्गण, ऐरावतावतीर्णप्रसारितवज्रिवज्रघनभुजार्गल, सुरकरप्रहारप्रसरदुदुंभिभेरीध्वानसम्मिश्रसिंहनादबधिरितविशालाशामुख, प्रहतानेकप्रयाणकपटहगम्भीरघोरराव, असकलशशिकरावदातचमररुहविक्षेपदक्षवलभित्त्रिदशजिनावलोकनव्यग्रसुरप्रमदीपीक, श्वेतातपत्रजलधरघटावरुद्धनभोमण्डल, विद्युदायमानपताकाकुल, इन्द्रनीलमयसोपानप्रयायिसुरपृतन, सुरगजरदनसरोनलिनदलरङ्गशोभाविधायिनर्तकीसलीलपदन्यास, गृहीताष्टमङ्गलदेवीसहस्रपुरोगान, देवप्रतीहारदूरापसार्यमाणक्षुद्रामरगणं, आत्म-

---

और स्वर्गसे अवतरित होते समयको विशिष्ट पूजाको प्राप्त जिनदेवके जन्माभिषेक कल्याणको देखना है। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घरमें छिपे हुए अन्धकारके फैलावको दूर करने में तत्पर होता है। अमृतपान की तरह समस्त प्राणियोंको आरोग्य देने वाला है। देवांगनाओंके नृत्यकी तरह समस्त जगत्को आनन्दमयी है, प्रियवचनकी तरह मनको प्रसन्न करता है। पुण्यकर्मकी तरह अगणित पुण्यको देने वाला है। लक्ष्मीरूपी परिचारिकाओं के द्वारा बड़े आश्चर्य और शीघ्रता के साथ इसे देखा जाता है। गुह्यक जाति के देवोंके द्वारा बरसाये गये अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी गन्ध पर मंडराने वाले भौंरों की गुंजनके कोलाहलसे पूर्ण होता है। निरन्तर बजने वाली मंगल भेरी और वाद्योंकी ध्वनिसे समस्त भुवन भर जाता है। देवांगनाओंके नृत्यको जीतनेकी इच्छासे ही मानो महलोंके शिखर पर पाँच वर्णकी पताका रूपी नृत्यांगनाएँ नाचती हैं। भगवान्‌के जन्मके समय इन्द्रके सिंहासनके कम्पनसे भयभीत हुई नवजन्म वाली देवांगनाएँ जल्दीसे इन्द्रके कण्ठसे लिपट जाती है तब इन्द्रका मुख प्रेमसे खिल उठता है। तब देव परिवार जल्दीसे उठकर बडे आदरसे इन्द्रकी आज्ञा सुनता है। भेरीके शब्दको सुनकर इन्द्रादि प्रमुख सब देवगण एकत्र होते हैं. परस्परके संघर्षसे उत्तर वैक्रियिक शरीरको धारण करने वाले देवोंकी सेनासे आकाश मार्ग व्याप्त हो जाता है। जन्माभिषेकके समय जिन बालकको लानेके लिये आई हुई इन्द्राणीके नूपुरोंके शब्दसे चकित हुई हंसीके विलाससे राजमन्दिरका आँगन शोभित होता है। ऐरावतसे उतरकर इन्द्र अपनी वज्रमयी भुजायें फैला देता है। देवताओंके हाथोंके प्रहारसे ढोल और भेरीके शब्दके साथ मिला सिंहनाद विशाल दिशाओंको बधिर कर देता है। गमन करते समय बजाये जाने वाले अनेक नगारोंका गम्भीर शब्द होता है। इन्द्रोंका समूह अपूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान शुभ्र चमरोंको दक्षतापूर्वक ढोरता है। इन्द्राणियाँ बालक जिनका मुख देखनेके लिये उत्कण्ठित होती हैं। श्वेत छत्ररूपी मेघोंकी घटाओंसे आकाश ढक जाता है। पताकायें बिजुलीकी तरह प्रतीत होती हैं। इन्द्रनीलमय सीढ़ियोंकी तरह देवसेना गमन करती है। ऐरावतके दाँतों पर बने सरोवरोंमें खिले कमलके पत्रों पर नर्तकियाँ लीलाके साथ पद निक्षेप करती हुई नृत्य करती

दंसणसुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पत्ती य तित्थचिण्हणिसिहीओ ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

'जम्मण' जन्माभिनवशरीरग्रहणं । तदस्मिन्क्षेत्रे जातं तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते । गृहीत-शरीरस्य वात्मनो जनन्युदरायत्र निष्क्रमण जातं तद्वा । 'अभिणिक्खवणे' रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं यस्मिन्क्षेत्रे तदिह निष्क्रमण । 'णाणुप्पत्ती य' केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थयाथात्म्यग्रहणक्षमं यत्केवल तदिह ज्ञानमिति गृहीत । सामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्ति प्रतीतैव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साह-चर्यात् 'णाणुप्पत्ती य' शब्देनोच्यते । 'तित्थं' चिण्ह । तीर्थमिह समवशरणं गृह्यते । तरन्ति तस्मिन्भव्या. पारविनाशायेति इति । तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भा । 'णिसिहीओ' निषिधीयोगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते । एतज्जन्मादिस्थान श्रुतेन प्रागवगत । 'पासंतस्स' पश्यत । कस्य ? 'जिणाणं' जिनानां 'सुविसुद्धं' सुष्ठु विशुद्ध । 'दंसणं' श्रद्धानं । 'होदि' भवति । एतदुक्तं भवति—

देशान्तरनिषे जिनाना जन्मादिस्थानदर्शनात्महती श्रद्धोत्पद्यते । यथा कांचिद्रूपावर्ण्यमानरूपां विला-सिनी परोक्षामसत्य परस्य वचनोपजाताभिलापस्य तस्या दर्शनपथमुपजातायां श्रद्धातिशयो जायते इति ।

वसनेके उक्त गुण कहे हैं। इन गुणोका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वय करते हैं। टीकाकारने भावना-का अर्थ पुनः पुन अभ्यास किया है और प० आशाधरने परीषह सहन किया है। आगे ग्रन्थकारने भी यही अर्थ भावनाका किया है। अभ्याससे ही परीषह सहनकी सामर्थ्य होती है। सम्भवतः इसी भावसे भावनाका अर्थ अभ्यास किया है। लोकमें भावनाका यही अर्थ प्रचलित है ॥१४४॥

'दंसणसुद्धी' इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

गा०—जिनदेवोंके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और समवसरण-के चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषीधिका स्थान देखनेवालेके सम्यक्रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन होता है ॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते हैं। वह जन्म जिस क्षेत्रमें हुआ, जन्मके साहचर्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है। अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका माताके पेटसे निकास जहाँ हुआ वह जन्म है। रत्नत्रय धारण करनेकी भावनासे घरसे बाहर जाना जिस क्षेत्रमें हुआ उसे निष्क्रमण कहा है। केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थोके यथार्थ-स्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है, क्योंकि सामान्य-वाची शब्दोंकी भी विशेषमें प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है। यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है। जिससे पारके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते हैं वह तीर्थ है। उस समवसरणके चिह्न मान-स्तम्भ हैं। निषिधि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमें हो उसे निषिधी कहते हैं। श्रुतसे पहले जाने हुए जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखता है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है। देशान्तरसे भ्रमण करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोंको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे किसी सुन्दर नारीको वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती है और उसे साक्षात् देखनेपर विशेष श्रद्धा होती है।

अथवा जब तीर्थंकर जन्म लेते हैं तब अनियत विहार करने वाला यति तीन ज्ञानके धारी

प्रकरेणानवरतमर्च्यमानपादपीठाः, देवकुमारोपनीयमानोपायनविलोकनैकव्यग्रा, मनुजभोगाग्रेसरं सुखमखेदेनानुभवन्ति। अपरेऽपि मण्डलीकमहामण्डलीकपदमुपगताः।

पुनस्तीर्थकरनामकर्मोदयात् चारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षानुगतादनादिकालावलग्नस्वपरकर्मरजोविधूननावबद्धकक्ष्या इत्थं मनः प्रणि[1]दधति—केयं[2] मोहस्य महत्ता येनास्मानप्यध्यक्षीक्रियमाणदुरन्तसंसारसरिदधिपदुःखावर्तान् प्रवर्तयत्यारम्भपरिग्रहयोः। अणिमाद्यष्टगुणसंपत्कं, अपदमापदां, अभिलापस्याप्यविषयम्, अपरामराणां कुशाग्रीयबुद्धीनामपि वज्रभिदामगोचरं, वचसामप्रत्यूहं, अपराधीनं, अनास्वादितान्यूनतारसं, अहमिंद्रसुखं चिरतरमनुभूतवतामस्माकं केयमुत्कण्ठा मनुजभोगसंपदि, खलजनमैत्रीव विचित्रदुःखानुबन्धविधानोद्यतायां चलायां विपुण्यसमितिरिव परायत्तवृत्तौ, कुकविकृतिरिवाल्पार्थसंग्रहायां, दूरभव्यस्य मुक्तिपदवीगतिरिव अनेकप्रत्यूहप्रतिहतायां अनन्तकालपरिभुक्तायां इति।

तदैव च ब्रह्मलोकान्तावासादधिगतलौकान्तिकव्यपदेशाः, शङ्खावदाततनवः, स्वावधिज्ञानलोचनेनावलोक्य स्वपरोत्तारणाबद्धपरिकरतां जिनानां, महदिदं कार्यं अनेकभव्यानुग्रहकरं भगवता प्रारब्धं, अस्माभिरपि एतदनुमन्तव्यं। पूज्यपूजाव्यतिक्रमश्च स्वार्थभ्रंशकारीति सुरपथादवतीर्य स्वामिनः पुरस्तात्सबहुमानमवस्थिता एवं विज्ञापयति—

तरह वे मनुष्योको प्राप्त भोगोमे होने वाले सर्वोत्कृष्ट सुखको बिना किसी खेदके भोगते हैं, अन्य कुछ जिनदेव मण्डलीक, महामण्डलीक आदि राजपदोको प्राप्त होते हैं।

पुनः तीर्थंकर नामकर्मके उदयसे और चारित्र मोहके क्षयोपशमके प्रकर्षसे अनादिकालसे लगी हुई अपनी और दूसरोकी कर्मरूपी धूलिको दूर करनेमे कमर कसकर वे इस प्रकार मनमे विचारते हैं—यह मोहकी कैसी महत्ता है कि दुरन्त संसार समुद्रके दुःखरूपी भँवरोको प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले हम जैसोको भी आरम्भ और परिग्रहमे फँसाता है। हमने चिरकाल तक अहमिन्द्रका सुख भोगा है जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंसे सम्पन्न होता है, जिसमें कभी कोई आपत्ति नही आती, जिसकी कोई कल्पना भी नही कर सकता, अन्य देव और कुशाग्र बुद्धिशाली इन्द्रोको भी वह सुख प्राप्त नही है, वचनके अगोचर है, अपराधीन है, उसमे कभी कमी नही होती। ऐसा अहमिन्द्र पदका सुख चिरकाल तक भोग चुकनेपर हमारी यह मनुष्यकी भोगसम्पदामें उत्कण्ठा कैसी? यह भोग सम्पदा दुष्टजनकी मैत्रीकी तरह अनेक दुःखोकी परम्पराको उत्पन्न करने वाली है, चचल है, पाप पुण्यकर्मके समान पराधीन है, जैसे कुकविकी रचनामे अल्पसार होता है वैसे ही इस भोगसम्पदामें भी सार नही है। जैसे दूर भव्यके मोक्ष गमनमे अनेक बाधाएँ रहती हैं वैसे ही इस भोगसम्पदामें अनेक बाधाएँ रहती है और हमने इसे अनन्तकाल भोगा है।

उसी समय ब्रह्मलोक स्वर्गके अन्तमे रहनेसे लौकान्तिक नामधारी देव, जिनका शरीर शखके समान श्वेत होता है, अपने अवधिज्ञान रूपी चक्षुसे देखते हैं कि जिनदेव स्वयको और दूसरोको ससार समुद्रसे पार उतारनेके लिये एकदम तत्पर है तो विचारते है—भगवान्‌ने अनेक भव्य जीवो पर अनुग्रह करने वाला यह महान् कार्य करनेका बीडा उठाया है, हमे भी इसकी अनुमोदना करनी चाहिए। तथा पूज्य पुरुषोकी पूजा न करना भी स्वार्थका घातक है। ऐसा विचार स्वर्गसे उतरकर भगवान्‌के सम्मुख बडे आदरके साथ उपस्थित हो, इस प्रकार निवेदन करते हैं—

---

१ प्रतिदधति—आ० मु०। २. कथं मोहस्य बलवत्ता—आ० मु०।

स्वात्मानन्तगुणानुभवनलम्पटोऽपि, अपरीक्षितेन्द्रियसुखगवेषोऽपि, अप्रत्याख्यानसंयमघातिकर्मक्षयोपशम, न चारित्रे प्रव-
र्तने, न परान्प्रवर्तयितुमीहे। मुक्तिमुख्यज्ञानदर्शनोऽपि न विना समीचीनं चारित्रं क्षपयन् कर्माणि निरवशेषं क्षम-
पितुं घटे। अनेकसमुद्रप्रमाणायुःस्थितिरपि दीर्घसंसारी वराकोऽस्मदादिः क्लिश्यति। उत्थातुमभिलषन्नपि
बालो यथा पतत्येवमपि जनश्चारित्राभिलाष्यपि तद्धारणासमर्थस्तिष्ठति। एष पुनर्विदितवेदितव्या क्षयोपशम-
परिणतिनिवृत्तिरिच्छामा, पूज्यतमा जन्मान्तरेऽस्मादृशो वीतरागता समस्तारम्भपरिग्रहपरित्यागोद्योगो
विनेयजनोपकारशक्तिश्च भवत्प्रसादादस्यानुमननाच्च भवतु सज्जीकृतमिदं विमानमासीनमलंकरोतु देव इत्यु-
क्तवति सुरपतौ हर्षविषादवशगं ज्ञातिवर्गं अन्तःपुरादि परिवारं चावलोक्य कृपया जिना वदन्ति—

चिरसंवासादन्योन्योपकारादनुरागो भवति तदनुसारी कोपश्चाभ्यां दुरन्तकर्मादानं ततो
भवति ममेदभाव सर्वदुःखानां मूलमतोऽनुमन्यते विद्वान्। न हि कस्यचित् किंचिन्मित्रं, धनं, शरीरं बान्-
धवाश्च। यानं गमिता हि बन्धव, परिवाराश्च, धनं पुनरर्जने विनाशे च महतीमानयति दुःखासिका। तदर्थि-
भिरन्यैश्च सह विरोधं कारयति। तृष्णा प्रवर्धमानोपभोगाधायि लवणजलपानमिव। कामिन्यो पुनः सुरा
इव चित्तं मोहयन्ति, कृत्रिमरोदनेन हसनेन चाटुभिश्च पुंसामल्पसत्त्वानां चेतः स्ववशीकुर्वन्ति। चर्ममयपुत्रि-
कासु, चपलासु, सन्ध्याभ्ररागमिवास्थिररागासु, मायाजननीषु, मृषावेदिनीनायिकासु, सुगतिद्वारार्गलयष्टिषु

करता है—अच्युतेन्द्र आदि समस्त इन्द्रगण भगवान्‌के निष्क्रमण कल्याणक सम्बन्धी परिचर्या करनेके अभिलाषी हैं। हम मुक्तिके मार्गको जानते हैं। स्वाधीन ज्ञानात्मक अनन्त गुणका अनुभव करनेके लिये भी आतुर हैं, इन्द्रिय सुखको भी भेद रूप जानकर उसकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु संयमका घात करने वाले कर्मका क्षयोपशम हमे प्राप्त नहीं है। इसलिये न हम स्वयं चारित्रमे प्रवृत्त होते है और न दूसरोंको ही प्रवृत्त करना पसन्द करते है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त व्यक्ति भी समीचीन चारित्र और तपके बिना समस्त कर्मोका क्षय नहीं कर सकता। अनेक सागरों प्रमाण आयु होनेसे दीर्घ संसारी हम लोग कष्ट उठाते हैं। जैसे शिशु उठना चाहते हुए भी गिरता है वैसे ही हम लोग चारित्रके अभिलाषी होते हुए भी उसे धारण करनेमे असमर्थ रहते है। आप तो सब कुछ जानते है। चारित्रमोहका क्षयोपशम होनेसे आपके निवृत्ति रूप परिणाम हुए हैं। आप पूज्यतम हैं। आपके प्रसादसे तथा आपकी अनुमोदना करनेसे आगामी जन्ममे हमें भी इस प्रकारकी वीतरागता, समस्त आरम्भ और परिग्रहको त्यागनेका उद्योग तथा भव्य जीवोंका उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हो। यह सजाया हुआ विमान तैयार है, देव! इसे सुशोभित करें।

देवेन्द्रके कथनके पश्चात् अन्तःपुर, परिवार और ज्ञातिवर्गको हर्ष और विषादमे देखकर जिनदेव कृपापूर्वक कहते है—चिरकाल तक साथ रहनेसे तथा थोड़ा बहुत उपकार करनेसे लोगोंमे अनुराग होता है तथा कोप भी होता है। इस अनुराग और कोपसे दुरन्तकर्मोका बन्ध होता है। उससे 'यह मेरा है' इस प्रकारका भाव होता है, यह सब दुःखोका मूल है। विद्वानोंको इसे दूर करना चाहिए। न किसीका कोई मित्र है और न धन और शरीर ही स्थायी हैं। बन्धु बान्धव और परिवार यानपात्रमे मिले हुए पुरुषोंके समान हैं। धनके कमानेमे और कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेपर बहुत दुःख होता है। उस धनके अर्थी अन्यजनोंसे विरोध होता है। जैसे खारा जल पीनेसे प्यास बढ़ती है वैसे ही धन पानेसे धनकी तृष्णा बढ़ती है। स्त्रियाँ मदिराकी तरह चित्तको मोहित करती हैं। बनावटी रोने और हँसने तथा मीठे वचनोंसे कमजोर मनुष्योंके चित्तको अपने वशमे कर लेती हैं। स्त्रियाँ चर्मनिर्मित पुतलियाँ हैं, चपल होती हैं,

कोऽनुरागः प्रज्ञावताम् ? शरीरं पुनरिदमशेषाशुचिनिधानं कचारकूटवन्नाशभूताभ्यासी भार महारोगनागानां वल्मीकीभूतं, जराव्याधीनिवासनिलयं मेघमालावदंशेविनाशोपनतप्रगतिमात्रं बहिर्मनोहरं, गुण एक एव धर्मसहायता । गिरिनदीस्रोतोवत् यौवनमस्थायि जीविताम् । तृणाग्निज्वाला इव संपद क्षणमात्रं दृष्टनष्टा । इत्यवगम्य मा कृथा वृथा प्रमादं जन्मार्णवपारगमनाय कुरुतोद्योगं । भवन्तोऽस्माभि प्रमादात्कृतोपराध इति ।

भगवद्वाणीसमनन्तरं सुरकुमारवादितास्समन्ततो दुन्दुभयो स्वनन्ति । सर्वत्र जयजयरवः जायते । समन्तात्सुरनार्यः सविलासं नृत्यमारभन्ते । जगत्त्रयाभूषणभूतो भगवान् धवलदुकूलपरिधाना परमशुक्ललेश्यया निर्वृत्तिमिवेव मुक्ताफलदामव्याजेनोपनयनादपि विरागाणामपि मुखरागकरणे पाटवं न पश्यतेति दर्शयन्निव कुण्डलाभ्यां विराजमानगण्डस्थलः । वृत्तं प्रियं मम चेत्तावागत इतीवोपगतेन कटकद्वयेनाश्लिष्टप्रकोष्ठः । रत्नत्रयाभिमानिनामभिमानं परीक्षितुमिव रत्नैर्माङ्गल्येन मुकुटरत्नव्याजेन शोभमानं निर्वाणपुरमिव विमानं प्रविशन्ति ।

तत शतमखस्कन्धोत्क्षिप्तेन विमानेन सदेवीकचतुर्निकायामरगणसप्तानीकपरिवृतेन रम्यां अवतीर्य

सन्ध्याकालीन मेघमालाकी तरह उनका राग अस्थिर होता है। ये स्वभावसे मायावी होती हैं, सुगतिके लिए वज्रनिर्मित अर्गला हैं। उनमें बुद्धिमानोंका कैसा अनुराग ? यह शरीर अनेक अपवित्र वस्तुओंकी खान है, कचरेके ढेरकी तरह प्राणियोंका ऐसा भार है जो कभी नष्ट नहीं होता। महारोगरूपी सर्पोके लिए वामी है और जरारूपी गिहनीके रहनेके लिए बिल है। जैसे स्लोटको चमड़ेसे मढ़कर उसपर आँखें लगा देनेपर वह बाहरसे सुन्दर और भीतरसे निःसार होता है उसी तरह यह शरीर भी बाहरसे सुन्दर और भीतरसे निःसार है। इसमें केवल एक ही गुण है कि यह धर्ममें सहायक होता है। पहाड़ी नदीके स्रोतोंकी तरह यौवन स्थायी नहीं है। तृणोंकी आगकी लपटोंकी तरह सम्पदा क्षणमात्रमें देखते-देखते नष्ट हो जाती है। ये सब जानकर वृथा प्रमाद मत करो, जन्म समुद्रको पार करनेके लिए उद्योग करो। हमसे प्रमादवश जो अपराध हुए उन्हें क्षमा करें।

भगवान्‌की वाणीके पश्चात् देवकुमार दुंदुभियाँ बजाते हैं। इन्द्र आदि सब लोग जय जयकार करते हैं। देवांगनाएँ विलासपूर्ण नृत्य आरम्भ करती हैं। तीनों लोकोंके भूषण और जगत्‌के स्वामी जिनदेव सफेद वस्त्र धारण करते हैं। गलेमें मोतियोंकी माला पहने हैं मानों मुक्तिकी दूतीके समान परमशुक्ल लेश्याने उस मुक्तामालाके व्याजसे भगवान्‌के कण्ठको सुशोभित किया है। दोनों कानोंके कुण्डलोंसे भगवान्‌का स्निग्ध गण्डस्थल शोभित है, मानों दोनों कुण्डल यह दिखला रहे हैं कि विरागोंके भी मुखको रागयुक्त (लाल) करनेमें हमारा चातुर्य लोग देखें। दोनों हाथोंमें दो गोल कड़े हैं। वे गोल कड़े मानों यह विचार कर ही आये हैं कि भगवान्‌को वृत्त प्रिय है। वृत्तका अर्थ चारित्र भी है और गोल भी। सिरपर रत्नमयी मुकुट शोभित है। रत्नोंने सोचा—इन्हें रत्नों (रत्नत्रय) का बड़ा अभिमान है जरा इनके साथ रहकर देखें तो। इस प्रकारसे आभूषित भगवान् मोक्षपुरीके द्वारके समान विमानमें प्रवेश करते हैं।

उस विमानको इन्द्र अपने कन्धोंपर उठाते हैं। देवांगनाओंके साथ चारों निकायोंके देव और उनकी सातों सेनाएँ विमानको घेरे होती हैं। उस विमानसे जाकर भगवान् रमणीक स्थानमें

रभ्यन्तरे देवे उत्तराभिमुखाः, कृतसिद्धनमस्काराः मुकुटादिकं क्रमेण अलंकारादिकं अपनयन्ति । परित्यक्तो-भयपरिग्रहा परिगृह्णन्ति योगत्रयेण रत्नत्रयमित्थंभूतं च परिनिष्क्रमणं पश्यतः ।

'णाणुप्पत्ति' ज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञायतेऽवबुध्यते सकलमर्थयाथात्म्यमनेनेति ज्ञानं इति केवलमुच्यते । तस्योत्पत्तिरवतारितमोहनीयभाराणां, योगभास्करगभस्तिनिर्मूलितज्ञानदृगावरणतमसां, उत्पाटितान्तरायविषविटपिनां, अपनीतक्रममनोऽभिमतकरणव्यवधानमनन्तमतीन्द्रियं, दूरीकृतविपर्यासं केवलमुत्पद्यते । तस्य फलस्य दर्शनाज्जिन-प्रणीते मार्गे अपनीतशङ्कादिकलङ्का श्रद्धोत्पद्यते । फलार्थी तत्र रोचते दृष्टसामर्थ्य इति किं चित्रम् ? ॥१५५॥

एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिस्वार्थमुपदर्श्य परोपकारं स्थिरीकरणं प्रकटयति—

संविग्गं संविग्गाणं जणयदि सुविहिदो सुविहिदाणं ।
जुत्तो आउत्ताणं विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥१५६॥

'संविग्गं' संसारभीरुतां । 'जणयदि' जनयति । कः ? 'सुविहिदो' सुचरितो योऽनियतवासः । केषां ? 'सुविहिदाणं' सुचरितानां । 'संविग्गाणं' संविग्नानां । 'जुत्तो' अनशनादिके तपसि युक्तः । 'आउत्ताणं' योग-धारिणां । 'विसुद्धलेस्सो' विशुद्धलेश्यः । 'सुलेस्साणं' सुलेश्यानां च । सम्यक् चारित्रतपसोः शुद्धलेश्यायां च

उतरते हैं। और उत्तरकी ओर मुख करके सिद्धोंको नमस्कार करते हैं। तथा क्रमसे मुकुट आदि अलंकारोंको उतार देते हैं। अन्तरंग बहिरंग सब परिग्रहको त्यागकर मन-वचन-कायसे रत्नत्रयको स्वीकार करते हैं। इस प्रकारके निष्क्रमणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—

जिसके द्वारा समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है उसे ज्ञान कहते हैं। यहाँ ज्ञान-से केवलज्ञान कहा है। उसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—जो मोहनीयका भार उतार देते हैं, योगरूपी सूर्यसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूपी अन्धकारको निर्मूल कर देते हैं और अन्तराय कर्मरूपी विषवृक्षको उखाड़ देते हैं उनके क्रमरहित, इन्द्रियोंकी सहायता न लेनेवाला, संशय तथा विपरीततासे दूर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उसके फलके दर्शनसे जिनकथित मार्गमें शंका आदि दोषोंसे रहित श्रद्धा उत्पन्न होती है। जो उस फलके अभिलाषी हैं वे उसकी शक्तिको देखकर यदि उस रत्नत्रयसे युक्त भगवन्तोंमें रुचि करते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है ? ॥१५५॥

इस प्रकार अनियत विहारसे दर्शनविशुद्धिरूप स्वार्थको बतलाकर अब स्थिरीकरणरूप परोपकारको प्रकट करते हैं—

गा०—सम्यक् आचार और अनशन आदि तपसे युक्त विशुद्ध लेश्यावाले मुनियोंका अनियत-वास सम्यक् आचारवाले, योगके धारी, सम्यक् लेश्यावाले और संसारसे भीत साधुओंमें संसारसे भय उत्पन्न करता है ॥१५६॥

टी०—सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और शुद्धलेश्यामें वर्तमान अनियत विहारी साधुको देखकर सभी सम्यक् चारित्रवाले, सम्यक् तप करनेवाले और शुद्ध लेश्यावाले यतिगण अत्यन्त संसारसे भीत होते हैं। वे मानते हैं कि हम संसारसे वैसे भीत नहीं है जैसे यह भगवान् मुनिराज है। अत एव हमारा चारित्र और तप सदोष है। अर्थात् सम्यक् आचार, तप और विशुद्ध लेश्या-

---

१. योगक–आ० मु० ।　　२. मग्नाम–आ० मु० ।

प्रवर्तमान दृष्ट्वा सर्वेऽपि सुचारित्रा मुनयः, शुद्धलेश्या यतयः अतिशयवतीं संसारभीरुतां प्रतिपद्यन्ते । न वयमतीव संसारभीरव, यथायं भगवान् अतएव नश्चारित्रं तपश्च सातिचारं इति मन्यमाना ॥१४६॥

उत्तरगाथया एतदाचष्टे न केवलं अतिशयितचारित्रतपोगुण एव परं संविग्नं करोति किंतु गुणभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुत्तत्थविसारदो असढभावो ।
संवेग्गाविदि य परं साधू णियदं विहरमाणो ॥१४७॥

'पियधम्मवज्जभीरु' प्रिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यश्चावद्यस्य पापस्य भीरु । 'सुत्तत्थविसारदो' सूत्रार्थयोर्निपुण । 'असढभावो' शाठ्यरहित । 'संवेग्गाविदि य' परं संविग्नं करोति । 'साधू' साधु । 'णियदं' सर्वकाले 'विहरमाणो' देशान्तराणिवि ॥१४७॥

पूर्वगाथाया परस्थिरीकरणं प्रतिपाद्य उत्तरयात्मानमपि स्थिरयति इत्यभिधत्ते—

संविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे ।
सयमवि पियथिरधम्मो साधू विहरतओ होदि ॥१४८॥

'टिदियरणं' । 'संविग्गतर' इत्यादिकया । अशकुलपञ्चविधपरावर्तनिरूपणाहितचेतस्तयोपगततदागमनभयातिशया संविग्नतरा । अभिनवकर्मनिरोधं चिरतनगलनं करोति, अभ्युदयानि श्रेयससुखानि च प्रयच्छति सुचरितो धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनारतं चेत समाधानात्प्रियधर्मतरा, स्वल्पमप्यशुभयोगानामवद्यरा-

---

वाले अनियत विहारी साधुको देखकर अन्य मुनि जो सम्यक् आचारवान् हैं, तपस्वी हैं, विशुद्ध लेश्यावाले हैं वे भी प्रभावित होकर और भी अधिक आचार, तप और लेश्यामें बढ़नेके लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह अनियतवाससे परोपकार होता है। दर्शनविशुद्धिका लाभ तो अपना उपकार है ॥१४६॥

आगेकी गाथामें कहते है कि केवल विशिष्ट चारित्र और तप ही दूसरेको संसारसे विरक्त नहीं करता किन्तु

गा०—जो उत्तम क्षमा आदि धर्मका पालक है और पापसे डरता है, सूत्र और उसके अर्थमें निपुण है, शठतासे रहित है ऐसा सदा देशान्तरमें विहार करनेवाला साधु दूसरोंमें विराग उत्पन्न करता है ॥१४७॥

पूर्वगाथामें दूसरोंके स्थिरीकरणका कथन किया है। आगेकी गाथासे अपने भी स्थिरीकरणको कहते हैं—

गा०—संविग्नतर प्रिय धर्मतर और अवद्य भीरुतर साधुको देखकर विहार करनेवाला साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर, संविग्नतर और अवद्य भीरुतर होता है ॥१४८॥

टी०—बार-बार पाँच प्रकारके परावर्तनोंका निरूपण चित्तमें बैठ जानेसे जो उन परावर्तनके आगमनसे अत्यन्त भीत होते हैं वे साधु संविग्नतर होते हैं। अच्छी तरह पालन किया गया धर्म नये कर्मोंके आनेको रोकता है और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करता है। तथा इहलौकिक अभ्युदय और मोक्षका सुख देता है। धर्मके फलके इस माहात्म्यमें जिनका चित्त लीन होता है वे

प्रवर्तमानं दृष्ट्वा सर्वेऽपि सुचारित्राः सुतपसः, सुद्धलेश्याः सन्तः अतिशयवती समाचारभीरुता प्रवर्तन्ते । न वयमतीव समाचारभीरव, यथायं भगवान् [illegible] इति [illegible] ॥१४६॥

उत्तरगाथया एतदाचष्टे न केवलं अतिशयितचारित्रतपोगुण एव परं संविग्नं करोति किंतु [illegible] इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुत्तत्थविसारदो असढभावो ।
संवेगाविदि य परं साधू णियदं विहरमाणो ॥१४७॥

'पियधम्मवज्जभीरु' प्रियः उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, पापात् [illegible] भीरु । 'सुत्तत्थविसारदो' सूत्रार्थयोर्निपुण । 'असढभावो' शाठ्यरहित । 'संवेगाविदि य' परं संविग्नं करोति । 'साधू' साधु । 'णियदं' सर्वकाले 'विहरमाणो' देशान्तराणि यान् ॥१४७॥

पूर्वगाथायां परस्थिरीकरणं प्रतिपाद्य उत्तरयात्मानमपि स्थिरयति इत्यभिप्रायो—

संविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे ।
सयमवि पियथिरधम्मो साधू विहरतओ होदि ॥१४८॥

'ठिदियरणं' । 'संविग्गतरं' इत्यादिकया । असकृत्पञ्चविधपरावर्तननिरूपणाहितचेतस्तया परावर्तनागमन-भयातिशयाः संविग्नतराः । अभिनवकर्मनिरोधं चिरतनगलनं करोति, अभ्युदयानि सुखानि च प्रयच्छति सुचरितो धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनारतं चेतः समाधानात्प्रियधर्मतरा, स्वल्पमप्यशुभयोगानामवद्यरा-

---

वाले अनियत विहारी साधुको देखकर अन्य मुनि जो सम्यक् आचारवान् हैं, तपस्वी हैं, विशुद्ध लेश्यावाले है ये भी प्रभावित होकर और भी अधिक आचार, तप और लेश्यामें बढ़नेके लिए प्रयत्नशील होते है। यह अनियतवाससे परोपकार होता है। दर्शनविशुद्धिका लाभ तो अपना उपकार है ॥१४६॥

आगेकी गाथासे कहते हैं कि केवल विशिष्ट चारित्र और तप ही दूसरेको ससारसे विरक्त नही करता किन्तु …

गा०—जो उत्तम क्षमा आदि धर्मका पालक है और पापसे डरता है, सूत्र और उसके अर्थमे निपुण है, शठतासे रहित है ऐसा सदा देशान्तरमे विहार करनेवाला साधु दूसरोमे विराग उत्पन्न करता है ॥१४७॥

पूर्वगाथामे दूसरोंके स्थिरीकरणका कथन किया है। आगेकी गाथासे अपने भी स्थिरीकरणको कहते हैं—

गा०—संविग्नतर प्रिय धर्मतर और अवद्य भीरुतर साधुको देखकर विहार करनेवाला साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर, सविग्नतर और अवद्य भीरुतर होता है ॥१४८॥

टी०—बार-बार पाँच प्रकारके परावर्तनोंका निरूपण चित्तमें बैठ जानेसे जो उस परावर्तनके आगमनसे अत्यन्त भीत होते हैं वे साधु संविग्नतर होते हैं। अच्छी तरह पालन किया गया धर्म नये कर्मोंके आनेको रोकता है और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करता है। तथा इहलौकिक अभ्युदय और मोक्षका सुख देता है। धर्मके फलके इस माहात्म्यमें जिनका चित्त लीन होता है वे

णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाणं ।
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥१५०॥

अतिशयार्थकुशलतास्यं गुण कथयति—

सुत्तत्थथिरीकरणं अदिसयिदत्थाण होदि उवलद्धी ।
आयरियदंसणेण दु तम्हा सेविज्ज आयरियं ॥१५१॥

'सुत्तत्थथिरीकरण' अल्पवर्णरचनं, अभिधेयविषयमशयाकारि सारार्थवदभ्यन्तरीकृतोपपत्तिक, प्रमाणान्तरदर्शित[1]वस्तुतद्रूपविरुद्धानुपदर्शनेन निर्दोष इत्येतद्गुणसहित सूत्र तस्यार्थो वाच्य बाह्य. आन्तरो वा अर्थः तयो सूत्रार्थयो थिरीकरण इत्यमेवेद सूत्र शब्दतः, अभिधेय चास्येदमेवेति यत्तत्[3]। 'होदि उवलद्धी' अतिशयेनार्थोपलब्धिर्भवति । 'आयरियदसणेण' आचार्याणा दर्शनेन । तु शब्द पादपूरण अवधारणार्थो वा आचार्यदर्शनेनैव अथवा सूत्रार्थाना स्थिरीकरण व्याख्यातॄणामाचार्याणा तत्र दर्शनात् । 'अदिसइदत्थाणं' अतिशयिताना सूत्रार्थाना 'उवलद्धी' उपलब्धि । 'होदि' भवति । प्रमाणनयनिक्षेपैनिरुक्त्या अनुयोगद्वारेण निरूप्यमाण सूत्रार्थो अतिशयितो भवति । आचार्याणा व्याख्यातॄणा दर्शनेन मतभेदेन । केचिन्निक्षेपमुखेनैव सूत्रार्थमुत्पादयन्त्यपरे नैगमादिविचित्रनयानुसारेण अन्य सदाद्यनुयोगोपन्यासेन । अपरे 'अदिसयसत्थाण हो

गा०—देशान्तरमे जानेसे अनेक देशोके सम्बन्धमे कुशल हो जाता है। अनेक देशोंमे पाये जानेवाले शास्त्रोंके शब्दार्थके विषयमे कुशल होता है ॥१५०॥

अतिशय अर्थकुशलता नामक गुणको कहते है—

गा० आचार्योंके दर्शनसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण और अतिशयित अर्थोंकी उपलब्धि होती है। इसलिये आचार्यकी सेवा करनी चाहिए ॥१५१॥

टी०—थोडे शब्दोमे रचा गया हो, अर्थके विषयमे संशय उत्पन्न न करता हो, सारसे भरा हो, जिसकी उपपत्ति उसीमे गर्भित हो, और अन्य प्रमाणोंके द्वारा वस्तुका जो स्वरूप बतलाया गया है उसके विरुद्ध कथन न करनेसे निर्दोष हो। जिसमे ये गुण होते हैं वह सूत्र है। उसका अर्थ बाह्य और आन्तर दोनो प्रकारका है। इन सूत्र और उसके अर्थका स्थिरीकरण—यह सूत्र शब्दरूपसे इसी प्रकार है अर्थात् इसके शब्द ठीक हैं और इसका अर्थ भी यही है—यह सूत्रार्थका स्थिरीकरण है। आचार्योके पास रहनेसे यह लाभ होता है तथा अतिशयित सूत्रार्थकी उपलब्धि होती है।

जो सूत्रका अर्थ प्रमाण नय निक्षेप निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा किया गया हो उसे अतिशयित कहते है। आचार्य अर्थात् सूत्रके अर्थका व्याख्यान करने वाले व्याख्याताओमे दर्शन अर्थात् मतभेद देखा जाता है। कोई व्याख्याता निक्षेप द्वारा ही सूत्रके अर्थका उत्पादन करते हैं। अन्य व्याख्याता नैगम आदि विभिन्न नयोंके द्वारा सूत्रार्थका कथन करते हैं। कुछ अन्य सत् आदि अनुयोगोंका उपन्यास करके सूत्रार्थका कथन करते हैं। 'तु' शब्द पादपूर्तिके लिये अथवा अवधारणके लिये है। आचार्य दर्शनसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण होता है और अतिशयित अर्थकी प्राप्ति

१ इह कथा भिन्ना अन्यत्र । २ वस्तुना विरु—आ० मु० । ३ यत्तेन आ० मु० ।

शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत्। तदतिचारव्यपोहार्थं । एवमेव महत कान्तारस्य प्रवेशने निर्गमने ।

तथा भिक्षानिमित्तं गृहं प्रवेष्टुकामः अवलोकयेत्किमत्र बलीवर्दाः, महिष्यः, प्रसूता वा गावः, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचरा श्रमणाः वा सन्ति न सन्तीति। सन्ति चेन्न प्रविशेत्। यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेशं कुर्यात्। ते हि भीता यतिं बाधन्ते स्वयं वा पलायमाना त्रसस्थावरपीडां कुर्युः। क्लिश्यन्ति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयुः ।

गृहीतभिक्षाणां वा तेषां निर्गमनं गृहस्थैः प्रत्याख्यानं वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं। अन्यथा बहव आयाता इति दातुमशक्ताः कस्मैचिदपि न दद्युः। तथा च आहारान्तरायः कृतः स्यात्। क्रुद्धा परे भिक्षाचरा निर्भर्त्सनादिकं कुर्युरस्माभिराशया प्रविष्टं गृहं किमर्थं प्रविशतीति। अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा अन्वेषन्ते[१] भिक्षा, यत्र वा स्थितानां गृहिणः प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभागं यतिः प्रविशेन्न गृहाभ्यन्तरं। गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेत्यभिहितोऽपि नान्धकारं प्रविशेत् त्रसस्थावरपीडापरिहृतये। तद्द्वारकाद्युल्लङ्घने कुप्यन्ति च गृहिणः[२]। एलकं वत्सं वा नातिक्रम्य प्रविशेत्। भीता पलायनं कुर्युरात्मानं वा पातयेयुः ।

द्वारमध्यायामविष्कम्भहीनं प्रविशतः गात्रपीडा इति सङ्कुचितागम्य विवृतायामागम्य वा प्रवेशं दृष्ट्वा

पार करना हो तो इस ओर सिद्धोको वन्दना करे और जबतक मैं नदीके पार न पहुँचूँ तबतकके लिए मेरे सब शरीर भोजन और उपकरणका त्याग है इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करे और चित्तको समाहित करके नौका आदिमें चढ़े। तथा दूसरे तटपर पहुँचकर कायोत्सर्ग करे। यह कायोत्सर्ग नदी पार करनेमे लगे दोषकी शुद्धिके लिए किया जाता है। इसी प्रकार किसी महान वनमे प्रवेश करने और निकलनेपर करना चाहिए।

तथा भिक्षाके लिए घरमें प्रवेश करनेसे पूर्व देख ले कि यहाँ, साँड, भैंस, ब्याई हुई गाय अथवा दुष्ट कुत्ते और भिक्षाके लिए श्रमण हैं अथवा नहीं हैं। यदि हो तो घरमे प्रवेश न करे। यदि वे पशु साधुके प्रवेशसे न डरे तो सावधानतापूर्वक प्रवेश करे। वे पशु डरनेपर यतिको बाधा कर सकते हैं। अथवा स्वयं भागकर त्रस और स्थावर जीवोंको पीड़ा पहुँचा सकते हैं। स्वयं कष्टमे पड़ सकते हैं। किसी बड़े गड्ढेमे गिरकर मर सकते है। अथवा भिक्षा लेकर निकलते हुए साधुओंको देखकर और गृहस्थोके द्वारा उनका प्रत्याख्यान सुनकर घरमे प्रवेश करना चाहिए। अन्यथा 'बहुतसे साधु आ गये, हम इन्हें भिक्षा देनेमें असमर्थ हैं' ऐसा सोच गृहस्थ किसीको भी भिक्षा नहीं देंगे। और तब आहारमे अन्तराय हो जायगा। अन्य भिक्षार्थी क्रुद्ध होकर तिरस्कार करेंगे कि जिस घरमें हम भिक्षा लेते हैं उसमें ये क्यो प्रविष्ट हुए। अन्य भिक्षा लेनेवाले जहाँ खड़े होकर भिक्षाकी प्रतीक्षा करते हैं अथवा जहाँपर खड़े हुए भिक्षार्थियोंको गृहस्थ भिक्षा देते हैं, वहीं तक साधुको जाना चाहिए। घरके भीतर प्रवेश नहीं करना चाहिए। गृहस्थोंके द्वारा 'पधारिये' घरमें प्रवेश कीजिए, ऐसा कहनेपर भी त्रस और स्थावरजीवोंको पीड़ा न पहुँचे इसलिए अन्धकारमे प्रवेश नहीं करना चाहिए। उनके द्वार आदिको लाँघनेपर गृहस्थ क्रुद्ध हो सकते हैं। बछड़े आदिको लाँघकर नहीं जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे वे डरकर भा

कुप्यन्ति हसन्ति वा । आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च । द्वारपार्श्वस्थजन्तुपीडा स्वगात्रमर्दने च । शिर
कम्पितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशो बाधते । तस्मादूर्ध्वं निरीक्ष्यावलोक्य प्रवेष्टव्यं ।

तत्कालमेव लिप्तां, जलसेकार्द्रां, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपत्रादिभिर्निरन्तरां, सचित्तमृत्तिकावतीं, छि
बहुलां, विचरत्त्रसजीवां, गृहिणा भोजनार्थं कृतमण्डलाद्युपहारां, देवताप्युषिता निकटभूता नाजनामेतिव
शयनासनादिभिर्निरन्तरां, मूत्रपुरीषादिभिरुपहतां भूमिं न प्रविशेत् ।

संयमविराधना आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधनां च परिहर्तुं भुक्त्वा निर्गच्छन्नपि शनैरवनत
वन्दमानं प्रति दत्ताशीर्वादो निर्गच्छेत् । तथा भिक्षाकालं, बुभुक्षाकालं च ज्ञात्वा गृहीतावग्रह, ग्रा
नगरादिकं प्रविशेदीर्यासमितिसम्पन्नः । भोजनकालपरिमाणं ज्ञात्वा ग्रामादिभ्यो निःसरेत् । जिनायतनं,
निवासं वा प्रविशन्प्रदक्षिणां कुर्यान्निषीधिकाशब्दप्रयोगं च । निर्गच्छन्नासीधिकेति । आदिशब्देन परिगृ
स्थानभोजनशयनगमनादिक्रिया । तत्रापि यत्नो यतीनां । न सर्वं वेद्मि गुरुकुलवासी सूत्रार्थज्ञोऽहं, न म
चारित्र सूत्रार्थौ वान्यथाऽऽज्ञातं इत्यभिमानं न वहेत् ॥ १५२॥

शिक्षायामुद्योगवान्भवेदित्याह—

'कंठगदेहि वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कादव्वो ।
सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जध तहेव ॥१५३॥

संकुचित करनेपर शरीरमें पीड़ा होती है। नीचेके भागको फैलाकर प्रवेश करनेपर लोग देख
कुपित होते या हँसते । तथा आत्माकी विराधना और मिथ्यात्वकी आराधना होती है।

अपने शरीरका मर्दन करनेपर द्वारके पार्श्वभागमें स्थित जीवोंको पीड़ा होती है। बि
देखे घरमें प्रवेश करनेवाला साधु छींकेपर रखे बरतनोंसे टकराता है। अतः ऊपर और इ
उधर देखकर घरमें प्रवेश करना चाहिए। जो भूमि तत्काल लीपी गई हो, जलके सिंचनसे गी
हो, हरे फूल, फल पत्र आदिसे सर्वत्र ढकी हो, सचित्त मिट्टीवाली हो, जिसमें बहुत छिद्र
जिसपर त्रसजीव विचरते हों, गृहस्थोंके भोजनके लिए मण्डल आदि रचे गये हों, जहाँ देवता
निवास हो, पासमें बहुतसे आदमी बैठे हों, आसन शय्या पासमें हों, पुरुष सोये या बैठे हों,
पेशाब आदि पड़े हों, उस भूमिमें प्रवेश नहीं करना चाहिए। संयमकी विराधना, आत्मा
विराधना और मिथ्यात्वकी आराधनासे बचनेके लिए भोजन करके निकलते हुए भी धीरेसे अ
नम्र हो, वन्दना करनेवालोंको आशीर्वाद देते हुए निकलना चाहिए। तथा भिक्षाका समय अ
अपनी भूखके समयको जानकर कोई नियम ग्रहण करके ईर्यासमितिपूर्वक ग्राम नगर आदि
प्रवेश करना चाहिए। और भोजनके कालका परिमाण जानकर ग्रामादिसे निकलना चाहि
जिन मन्दिरमें अथवा साधु निवासमें प्रवेश करते समय निसिधिका शब्दका प्रयोग करना चाहि
और प्रदक्षिणा करना चाहिए। निकलते समय 'आसीधिका' शब्दका प्रयोग करना चाहिए। आ
शब्दसे स्थान, भोजन, शयन, गमन आदि क्रियाका ग्रहण किया है। उनमें भी यतियोंको सा
धानता बरतनी चाहिए। मैं सब जानता हूँ, गुरुकुलका वासी और सूत्रके अर्थका ज्ञाता हूँ,
दूसरेसे आचारक्रम और सूत्रार्थ नहीं जानता है' ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए ॥१५२॥

शिक्षामें उद्योग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—

गूहितबलवीर्याः, आत्मानं मनसा तुलयन्ति । किमथालन्दविधिरारभ[1]णीयोऽथवा प्रायोपगमनविधिरिति । परिहारस्यासमर्था अथालन्दविधिमुपगन्तुकामास्त्रय, पञ्च, सप्त, नव वा ज्ञानदर्शनसंपन्नास्तीव्रसंवेगमापन्ना, स्थविरमूलनिवासिन, अवधृतात्मसामर्थ्या विदितायुःस्थितय स्थविरं विज्ञापयन्ति—भगवन् ! किमिच्छामोऽथालन्दसंयमं प्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा स्थविरो वारयति धृत्या शरीरेण च दुर्बलान्परिणामातिशयविरहितांश्च काश्चिदनुजानाति । समग्रगुणास्ते निसृष्टा स्थविरेण प्रशस्तेऽवकाशे स्थिता कृतलोचा, गुरुणामालोचना कृत्वा कृतव्रतारोपणा अचिरोद्गते आदित्ये कल्पस्थितमेकं गणस्यालोचनां श्रोतुं शुद्धिं चैव कर्तुं समुद्यतं स्थापयन्ति । स एव प्रमाणं गणस्य । आत्मनः सहायाः । यावन्तो गणान्निर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने स्थापयितव्या गणे ।

आचारो निरूप्यते—अथालन्दसंयताना लिङ्गं औत्सर्गिकं शरीरस्योपकारार्थं आहारं वसतिं च गृह्णन्ति, शेषं सर्वं त्यजन्ति । तृणपीठकटफलकादिकं उपधिं च न गृह्णन्ति । प्राणिसंयमपरिपालनार्थं जिनप्रतिरूपतासंपादनार्थं च दृष्टप्रतिलेखना ग्रामान्तरगमने विहारभूमिगमने, भिक्षाचर्यायां, निषद्यायां च अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्टशरीरसंस्कारा परीषहान्सहन्ते नो वा धृतिबलहीना । अस्ति च मनोबलं संयममाचरितुं इति मत्वा त्रय पञ्च वा सह व्रजन्ति । रोगेणाभिघातेन वा जाताया वेदनाया प्रतिक्रियया वर्ज्या यदा तपसातिश्रान्तास्तदा

योग्य कार्यको कर चुकने वाले, परीषह और उपसर्गको जीतनेमें समर्थ तथा अपने बल और वीर्यको नहीं छिपानेवाले होते हैं, वे अपनी तुलना मनमें करते हैं कि क्या अथालन्दविधि प्रारम्भ करें या प्रायोपगमन विधि ? जो परिहार विशुद्धिको धारण करनेमें असमर्थ है और अथालन्दविधिको स्वीकार करना चाहते हैं ऐसे पाँच, सात या नौ मुनि, जो ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न हैं, तीव्र वैराग्यसे सम्पन्न हैं, आचार्यके पादमूलमें रहते हैं, जिन्होंने अपनी सामर्थ्यका निर्णय कर लिया है और जिन्हें अपनी आयुकी स्थिति ज्ञात है वे आचार्यसे निवेदन करते हैं—भगवन् ! हम अथालन्दक संयमको धारण करना चाहते हैं। यह सुनकर आचार्य जो धैर्य और शरीरसे दुर्बल हैं, जिनके परिणाम उन्नत नहीं हैं उन्हें रोक देते हैं और कुछको अनुमति देते हैं। वे सम्पूर्ण गुणशाली गुरुके द्वारा छोड़ दिये जाने पर प्रशस्त स्थानमें लोच करते हैं। और गुरुके सन्मुख आलोचना करके व्रत धारण करते हैं। सूर्यका उदय होते ही कल्पस्थित मुनियोंमें से एकको जो गणकी आलोचना सुनने और दोषोंकी शुद्धि करनेके लिए तत्पर होता है, स्थापित करते हैं। वही गणके लिए प्रमाण होता है अपने सहायक जितने मुनि गणसे निकले हैं, गणमें उनके स्थानमें उतने ही मुनि स्थापित करना चाहिए।

अब अथालन्दकोंके आचारका निरूपण करते हैं—अथालन्दक मुनियोंके औत्सर्गिक लिंग (नग्नता) होता है। शरीरके उपकारके लिए आहार और वसति स्वीकार करते हैं। शेष सब छोड़ देते हैं। तृणोंका आसन, पटरोंका आसन आदि परिग्रह स्वीकार नहीं करते। प्राणि संयमको पालनेके लिए और जिनदेवका प्रतिरूप रखनेके लिए पीछी रखते हैं। अन्य ग्रामको जाने पर, विहार भूमिमें जाने पर, भिक्षाचर्यामें और बैठते समय प्रतिलेखना नहीं करते। शरीरका संस्कार नहीं करते, परीषहोंको सहते हैं और धैर्यबलसे हीन नहीं होते। संयमका आचरण करनेके लिए हममें मनोबल है ऐसा मानकर तीन या पाँच मुनि एक साथ रहते हैं। रोगसे या चोट आदिसे

---

१ [illegible]—आ० मु०।

सहायहस्तावलम्बनं कुर्वन्ति । वाचनादिकां च न कुर्वन्ति यामाष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता ध्याने यतन्ते ।
कदाचिदपि निद्रा तदाधूमतनिद्राः स्वाध्यायकालप्रतीक्षणादिकाश्च क्रियास्तेषां न सन्ति । सन्ध्याकालमध्येऽपि
ध्यानमप्रतिषिद्धं आवश्यकेषु च प्रयतन्ते । उपकरणप्रतिलेखना कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति । सस्वामिकेषु देवकु-
लेषु तदनुज्ञया वसन्ति । अज्ञायमानस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञां करोतु इत्यभिधाय वसन्ति । सहसाति
जाते अशुभपरिणामे वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तन्ते । दशविधे समाचारे प्रवर्तन्ते । दान, ग्रहण,
पालना, विनयः, सहभोजनं च नास्ति संघेन तेषां । कारणमपेक्ष्य केषांचिदेक एव सम्भाषः कार्य ।
क्षेत्रे सधर्मा तत्क्षेत्रे न प्रविशन्ति । मौनाभिग्रहनिरताः पथानं पृच्छन्ति, शङ्कितद्रव्यं वा द्रव्यं शय्याधरगृहं
एवं त्रिय एव भाषा । ग्रामाद्बहिरागन्तुकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसन्ति । पशुपक्षिप्रभृतिभिर्यत्र ध्
विघ्नो भवति तत स्थानादपयान्ति । को भवान्, कुत आयातः, क्व प्रस्थितः, कियत्कालमत्र भवतो व
र्तते युष्माभिः पृष्टाः श्रमणोऽहमित्येव प्रतिवचनमेकं प्रयच्छन्ति, इतरत्र तूष्णीभावाः । अपसरात्र स्था
दवकाशं मे प्रयच्छ, परिशोधय गृहं, इत्यादिको वाग्व्यापारो यत्रान्येषां भवति, तत्र न निवसन्ति । बहि
वसतः यदि भवति, ततोऽपयान्ति । स्वावासगृहे प्रज्वलिते न निःसरन्ति चलन्ति वा गोचर्यायामप्राप्ता

उत्पन्न हुई वेदनाका प्रतीकार नहीं करते । जब तपसे अत्यन्त थक जाते हैं तब सहायके ह
एक दूसरेका सहारा लेते हैं । वाचना आदि नहीं करते । आठो पहर भी नहीं सोते और एक
होकर ध्यानमें प्रयत्न करते हैं । यदि अचानक निद्रा आ जाती है तो सो लेते हैं, नहीं सोने
प्रतिज्ञा उनके नहीं होती । स्वाध्यायके समय उनके प्रतिलेखना आदि क्रिया नहीं होती । सन्ध्या
के मध्यमें भी वे ध्यान कर सकते हैं उसका उनके लिए निषेध नहीं है । और आवश्यकोंमें प्रय
शील रहते हैं । उपकरणोंकी प्रतिलेखना दोनो समय करते हैं । जिन देवकुलादिके स्वामी होते
उनमें उनकी आज्ञा लेकर ही निवास करते हैं । जिन मन्दिरोंके स्वामीका पता नहीं होता उ
'जिनका यह है वह हमें स्वीकृति प्रदान करें' ऐसा कहकर निवास करते हैं । सहसा अतिच
लगने पर अथवा अशुभ परिणाम होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा कहकर निवृत्त हो ज
हैं । दस प्रकारके समाचारका पालन करते हैं । संघके साथ उनका देन, लेन, अनुपालना, वि
और सहभोजन या वार्तालाप नहीं होता । आवश्यकता होने पर किसीसे एक ही व्यक्तिको व
करना चाहिए । जिस क्षेत्रमें साधर्मी मुनि हो, उस क्षेत्रमें वे नहीं जाते । मौनका नियम पाल
करते हैं किन्तु, मार्ग या शंका युक्त द्रव्य और वसतिकाके स्वामीका घर पूछ लेते है । इस प्रक
तीन ही उनकी भाषा होती हैं । गाँवसे बाहर आने वालोंके लिए जो मकान होता है उसमें कल
स्थित मुनिकी अनुज्ञा मिलने पर ठहरते हैं । जिस स्थानमें पशु-पक्षी आदिके द्वारा ध्यानमें वि
होता हो वहाँसे चले जाते हैं । कोई पूछे कि आप कौन हैं, कहाँसे आये हैं, कहाँ जाते है, कित
समय तक आप यहाँ रहेंगे ? तो 'मैं श्रमण हूँ' इस प्रकार एक ही उत्तर देते हैं, शेष प्रश्नोंके संब
में चुप रहते हैं । 'यहाँसे जाओ, मुझे स्थान दो, घरको देखना, इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ अ
लोग करते हैं वहाँ निवास नहीं करते । घरके बाहर भी ठहरने पर यदि कोई ऐसा व्यवहार करत
है तो वहाँसे भी चले जाते हैं । जिस घरमें वे रहते हैं उसमें आग लगने पर वहाँसे नहीं जा

न्निनय । विक्रिया चारणत्वक्षीरास्रवित्वादयश्च तेषां जायन्ते । विरागतया न सेवन्ते । गच्छविनिर्गतालन्दविधिरेष व्याख्यातः ।

गच्छप्रतिबद्धालन्दकविधिरुच्यते—गच्छान्निर्गच्छन्तो बहिः सक्रोशयोजने विहरन्ति । सपराक्रमो गणधरो ददाति क्षेत्राद् बहिर्निःसार्य । तेऽपि समर्था आगत्य शिक्षां गृह्णन्ति । एको द्वौ त्रयो वा परिहारधारणा गुणगणाः गुण्धारानमारान्ति । कृतप्रतिप्रश्नकार्याः स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहणं कुर्वन्ति । अपराक्रमस्तु गणधरो गच्छे सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अर्थोच्चारणं गत्वा मत्नेन ददात्यर्थपदं । अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरो अन्यान् वारणं कृत्वा एकस्मै उपदिशति । यदि गच्छेऽन्तरे गण अयालन्दिका अपि गुर्वनुज्ञया यान्ति क्षेत्रं यदा गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयतन्ते तदा तत्र मार्गेण द्वौ अयालन्दिकौ यातो । व्याख्यातोऽयमयालन्दविधि ।

परिहार उच्यते—जिनकल्पधारणासमर्थाः परिहारसंयमभरं वोढुं समर्था आत्मनो बलं वीर्यमायुः प्रत्यवायांश्च ज्ञात्वा ततो जिनसकाशं उपगम्य कृतविनयाः प्राञ्जलयः पृच्छन्ति "परिहारसंयमं प्रतिपत्तुमिच्छामो युष्माकमाज्ञया" इति तच्छ्रुत्वा येषां ज्ञानमनुत्कृष्टं उपजायते विघ्नो वा तान्निवारयति । निसृष्टाः यथोद्देशं भगवता कृत्वा शान्त्यानुष्ठानमुपगताः, लोचं कृत्वा मुनिरक्षिता गुरूणां कृतालोचनाः अतानि मुनिरूढानि कुर्वन्ति । परिहारसंयमाभिमुखानां मध्ये एक सूरीश्वरे स्थापयन्ति कल्पस्थितं गु त्वेन । स

[illegible] होते हैं । [illegible] स्थितिवाले होते हैं अर्था
[illegible] ायु बीते वर्षोंसे हीन पू
[illegible] ऋद्धियाँ उत्पन्न होती
किन्तु रागका अभाव होनेसे उनका सेवन नहीं करते । यह गच्छसे निकले हुए आलन्दककी विधि
का कथन है । अब गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दककी विधि कहते हैं—ये गच्छसे निकलकर बाहर ए
योजन और एक कोस क्षेत्रमें विहार करते हैं । यदि आचार्य पराक्रमी होते हैं तो क्षेत्रसे बाह
जाकर उन्हें अर्थपद (शिक्षा) देते हैं । आलन्दकोंमें से भी जो समर्थ होते हैं वे आकर आचार्
[illegible]

मुनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षेत्रको जाते हैं । जब गच्छ निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना कर
हैं तब उस मार्गसे दो अयालन्दक जाते हैं । यह अयालन्दकी विधि कही ।

परिहारका कथन करते हैं—जो जिनकल्पको धारण करनेमें असमर्थ होते है और परिहा
संयमके भारको वहन करनेमें समर्थ होते है वे अपना बल, वीर्य, आयु और विघ्नोंको जानक
जिन भगवान्के पास जाकर हाथ जोड़ विनयपूर्वक पूछते हैं—हम आपकी आज्ञासे परिहार संय
धारण करना चाहते है । यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नहीं होता अथवा जिन्हें कोई बाध

प्रमाणं तस्य[1]। स चालोचनां श्रुत्वा शुद्धिं करोति। कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा शेषाणां मध्ये[2] अग्रे परिहारसंयमं गृह्णन्ति इति परिहारका भण्यन्ते। शेषास्तेषामनुपरिहारका। पश्चात्परिहारसंयमग्राहिण अनुपरिहारका भण्यन्ते। एवं कल्पस्थिते गणि ये पश्चात्परिहारसंयमार्थमात्मानमुपगृह्णन्ति[3] स्वगणे प्रवेशयति गणी। यावद्भिरूनो गण तावत्प्रमाण गण कृत्वा परिहारकाननुपरिहारकांश्च व्यवस्थापयति। तेन परिहारसंयम निविशमाना अनुपरिहारकाश्च एको द्वौ बहवो वा भवन्ति। जदि तिण्णि, एगो गणी बिदिओ परिहारसंयमं पडिवण्णो, तदिओ अणुपरिहारगो। जदि पंच एको कप्पट्ठिदो, दो परिहारसंजमं पडिवज्जंति। तेसिमणुपरिहारगा पत्तेगं। इतरे जदि सत्त एगो कप्पट्ठिदो, तिण्णि परिहारगा, इदरे तिण्णि अणुपरिहारगा। जदि णव एगो कप्पट्ठिदो, चत्तारि परिहारिगा, चत्तारि अणुपरिहारिगा। छहिं मासेहिं परिहारीणिविट्ठाणी हवंति। ततो पच्छा अणुपरिहारी परिहारं पट्ठवेदि। तेसिं णिविट्ठपरिहारी हवंतेणुपरिहारगा ते पुणो छहिं मासेहिं णिविट्ठाइ भवन्ति। तु कप्पट्ठिदो पच्छा परिहार[4] पवज्जदि। तस्सेगो अणुपरिहारी एगो कप्पट्ठिदो वि। असोविअ छहिं मासेहिं णिविट्ठपरिहारगो। अट्ठारसमासा ते एवं होंति पमाणदो।

होनेपर गुरुके रूपसे स्थापित करते हैं। उस गणके लिए वह प्रमाण होता है। वह आलोचना सुनकर उनकी शुद्धि करता है। कल्पस्थित आचार्यको छोड़कर शेषमेंसे आगे पहले परिहार संयमको ग्रहण करते है इसलिए उन्हे परिहारक कहते है। शेष उनके अनुपरिहारक होते हैं। जो पीछे परिहारसंयम ग्रहण करते है वे अनुपरिहारक कहे जाते हैं। इस प्रकार कल्पस्थित होनेपर जो पीछे परिहार सयमके लिए अपनेको उपस्थित करते हैं उन्हे भी गणी अपने गणमें मिला लेता है। जितने साधु गणमें कम हुए हैं उतने प्रमाण गणको करके परिहारकों और अनुपरिहारकोंकी व्यवस्था गणी करता है। अत परिहार सयममे प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक एक दो अथवा बहुत होते हैं। यदि तीन होते है तो उनमेसे एक गणी, दूसरा परिहारसयमका धारी और तीसरा अनुपरिहारक होता है। यदि पाँच होते हैं तो उनमें एक कल्पस्थित गणी, दो परिहारसयमके धारी और उन दोनोंमे प्रत्येकका एक-एक अनुपरिहारक होता है। यदि सात होते हैं तो उनमे एक कल्पस्थित, तीन परिहारक और शेष तीन अनुपरिहारक होते हैं। यदि नौ हों तो एक कल्पस्थित, चार परिहारक और चार अनुपरिहारक होते है। छह महीने तक परिहार सयमी परिहारसयममें निविष्ट होता है। उसके पश्चात् अनुपरिहारक परिहारसयममें प्रविष्ट होता है। उनके भी निविष्ट परिहारक होनेपर अन्य अनुपरिहारक परिहार सयममे प्रविष्ट होते हैं। वे भी छह मासमें निविष्ट परिहारक हो जाते है। पीछे कल्पस्थित परिहारमे प्रविष्ट होता है। उसका एक अनुपरिहारक और एक कल्पस्थित होता है। वह भी छह मासमे निविष्टपरिहारक होता है। इस प्रकार प्रमाणसे अठारह मास होते हैं।

विशेषार्थ—इसका खुलासा है कि परिहारविशुद्धि सयममें तीन मुनि धारण करनेवाले हो तो उनमेंसे एक कल्पस्थित होता है जो गणी कहाता है, दूसरा परिहारक होता है और तीसरा अनुपरिहारक है। सयममे प्रवेश करनेके छह मास बीतनेपर परिहारक निविष्ट हो जाता है तब अनुपरिहारक सयममें प्रवेश करता है। छह महीना बीतनेपर वह भी निविष्ट परिहारक हो जाता

---

१. तस्य गणस्य–आ० मु०। २ णा अग्रे–अ०। ३ रगते आ०।–रगं ते मु०।
४ परिह–मु०।

लिङ्गादिकल्पेऽसामाचारो निरूप्यते—तृतीयमिदं अवमान लिङ्गं परिहारसंयतानां। वसतिमाहारं च मुक्त्वा नान्यद् गृह्णन्ति तृणफलकपीठकटकादिकं। संयमार्थं प्रतिलेखनं गृह्णन्ति। त्यक्तदेहाश्च चतुर्विधानुपसर्गान्सहन्ते। दृढधृतयो निरन्तरं ध्यानावहितचित्ताः। अस्ति नो बलवीर्यं सर्वगुणसम्पन्ना च। एवंभूता अपि यदि गणे वसामो वीर्याचारो न प्रवर्तितः इत्यादिति मत्वा त्रयः, पञ्च, सप्त, नव वा निर्यान्ति। रोगेण वेदनयोपहतास्च तत्प्रतिकारं[1] च न कुर्वन्ति। प्रायोग्यमाहारं मुक्त्वा, वाचनां प्रश्नं परिवर्तनां मुक्त्वा सूत्रार्थपौरुष्यपि सूत्रार्थमेवानुप्रेक्षन्ते। एवं यामाष्टकेऽपि निरस्तनिद्रा ध्यायन्ति। स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषां। श्मशानमध्येऽपि ध्यानं न प्रतिषिद्धं। आवश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति। कालद्वये उपकरणशोधना अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति। असतिश्च यथावस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञानं करोतु इति वसन्ति[2]। आसीधिका च निषीधिका च निष्क्रमणे प्रवेशे च संपादयन्ति। निर्देशकं मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तन्ते। उपकरणादिदानं, ग्रहणं, अनुपालनं, विनयो, वन्दना संल्लापश्च न तेषामस्ति संघेन सह। गृहस्थैरन्यलिङ्गिभिश्च दीयमानं योग्यं गृह्णन्ति। तैरपि न शेषोऽस्ति संभोग.। तेषां त्रयाणां, पञ्चानां, सप्तानां, नवानां च परस्परेणास्ति संभोग।

कप्पट्ठिदो गुरुप्पो भुंजणसंघाडदाणगहणे वि।
सवाससंवंदणालावणाहि भुंजंति अण्णोण्णं ॥

है। तब कल्पस्थित परिहारसंयममें प्रवेश करता है। छह माह बीतनेपर वह भी परिहारमें निविष्ट होता है। इस प्रकार परिहारमें निविष्ट होनेमें तीन मुनियोंको अठारह मास लगते हैं। इसी तरह पाँच, सात और नौ का भी अठारह मास काल जानना। इसका कथन अन्यत्र नहीं मिला।

परिहारसंयतोंका लिंगादिक आचार कहते हैं—

वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन, लकड़ीका आसन, चटाई आदि ग्रहण नहीं करते। संयमके लिए पीछी ग्रहण करते हैं। शरीरसे ममत्व छोड़कर चार प्रकारके उपसर्गोंको सहते हैं। दृढ़ धैर्यशाली तथा निरन्तर ध्यानमें चित्त लगाते हैं। 'हममें बलवीर्य और सब गुणोंकी पूर्णता है। ऐसे होते हुए भी यदि हम संघमें रहते हैं तो वीर्याचारका पालन नहीं होता।' ऐसा मानकर तीन, पाँच, सात अथवा नौ संयमी एक साथ निकलते हैं। रोग और वेदनासे पीड़ित होने पर उसका इलाज नहीं करते। वाचना, पृच्छना और परिवर्तनाको छोड़कर सूत्रार्थ और पौरुषीमें सूत्रार्थका ही चिन्तन करते हैं। आठों पहर निद्रा त्यागकर ध्यान करते हैं। स्वाध्याय काल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नहीं होती; क्योंकि श्मशानमें भी उनके लिए ध्यानका निषेध नहीं है। यथासमय आवश्यक करते हैं। दोनो समय उपकरणोंका शोधन करते हैं। आज्ञा लेकर देवालय आदिमें रहते हैं। जिन देवालयों आदि स्थानोंके स्वामियोंका पता नहीं होता, 'जिसका यह है वह हमें स्वीकारता दे' ऐसा कहकर निवास करते हैं। निकलते और प्रवेश करते समय आसीधिका और निषीधिका क्रिया करते हैं। निर्देशकको छोड़कर शेष दस प्रकारके सामाचार करते हैं। उपकरण आदि देना, लेना, अनुपालन, विनय, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार उनका संघके साथ नहीं होता। गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियोंके द्वारा दी हुई योग्य वस्तुको ग्रहण करते हैं। उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नहीं होता। उनमेंसे तीन पाँच, सात अथवा नौ संयतोंका परस्परमें व्यवहार होता है।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारसंयमी परस्परमें संघाटदान संघाटग्रहण (सहायता देना

---

१. कारकं च न अ०—कारक कथन-आ०। २. विशन्ति मु०।

संवासवंदणोपाइयाण अणुपारणाहि परिहारि ।
अणुपरिहारी भुंजदि णिरसणाणो पइणसंवागाराणाहि ॥
कप्पट्ठिदं भुंजदि अणुपरिहारि णि गहणासंवासणाहि सु ।
णिविसमाणो णिं वसमाण गवासदो ण अण्णेण ॥
कप्पट्ठिदो भुंजदि संवासगुवासणगिराहि ।
कप्पट्ठिदोणुकप्पोव वंदिदा वेंति धम्मलाहोत्ति ॥
णारस्थि अण्णतित्थो अण्णतित्थोहिं णिव्विसंतो ।
[1]पत्तमुणीको सव्वो वि विणयं अण्णोण्णं गणं धारति ॥
दट्ठूण य सोदूण य जत्थ हु साधम्मिगो वसदि लंतो ।
त ण [2]पविसति खेत्त कुदो [3]पुणो वइणादीगं ॥
एवं कल्पोक्तः क्रमः सर्वोऽनुगन्तव्यः ।

मौनाभिग्रहरतास्तिस्रो भाषा मुक्त्वा प्रष्टव्याह्वतिमनुज्ञाकरणी प्रश्ने[4] प्रयुक्तां च मार्गस्य शंकितस्य ...
योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनो वा प्रश्न । ग्रामाद्बहिः श्मशानं, शून्यगृहं, देवकुलं, गुहा ...
आगन्तुकगृहं, तरुकोटर वा अनुज्ञापयन्त्येकवार । कस्त्वं, कुतो वागच्छसि, गमिष्यसि वा क देश, कियच्च...
मत्र वसतिर्यूयं कतिजना इति प्रश्ने श्रमणोऽहमित्येकमेव प्रतिवचनं प्रयच्छन्ति । इतरत्र तूष्णीभाव[5] । इतोऽ...
काशादपसर्पणं कुरु, स्थानमिदं प्रयच्छ, परिपालय त्वमित्येवमादिका वाग्व्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोच...
यद्यपर्याप्ता तृतीययामे गव्यूतिद्वयं यान्ति । वर्षमहावातादिभिर्यदि व्याघातो गमनस्य अतीतगमनकालास्...
तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिव्यालागमने यदि ते भद्रा युगमात्रं अपसर्पन्ति । दुष्टाश्चेत्पदमात्रमपि न चलन्ति । नैत्य...

सहायता लेना), निवास, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार करते है। अनुपरिहार संयमी परिहा...
संयमीके साथ संवास, वन्दना, दान, अनुपालना आदिसे व्यवहार करते हैं। कल्पस्थित भी अ...
परिहारसंयमीके साथ व्यवहार करता है। वन्दना करनेपर धर्मलाभ कहता है। एक दूसरे...
देखकर सब परस्परमें विनय करते है। जहाँ अधार्मिकजन बसते है वहाँ वे प्रवेश नहीं करते...
इस प्रकार सब कल्पोक्त क्रम जानना चाहिए।"

ये तीन भाषाओंको छोड सदा मौनसे रहते हैं। वे तीन भाषाएँ है—पूछनेपर उत्तर दे...
मांगना और स्वयं पूछना। मार्गमें शंका होनेपर मार्ग पूछना पड़ता है ये उपकरणादि योग्य...
या अयोग्य, यह पूछना होता है। शय्याधर, जो वसतिकासे सम्बद्ध होता है उसका घर पूछ...
होता है, वसतिका स्वामी कौन है यह पूछना होता है। गाँवसे बाहर स्मशान, शून्यघर, देवाल...
गुफा, आनेवालोंके लिए बना घर, अथवा वृक्षके खोलमें निवास करते समय 'हमें अनुज्ञा दें'...
एकबार कहना होता है। 'तुम कौन हो, कहाँसे आते हो, कहाँ जाओगे, यहाँ कितने समय...
ठहरोगे, तुम कितने जन हो' इस प्रकारके प्रश्न होनेपर 'हम श्रमण हैं' यह एक ही उत्तर देते...
शेषमें चुप रहते हैं। 'इस स्थानसे चले जाओ, यह स्थान हमें दो, जरा घर देखना' इत्यादि व...
व्यवहार जहाँ होता है वहाँ नहीं ठहरते। गोचरी यदि नहीं मिलती तो तीसरे पहर दो गव्यू...
जाते हैं। यदि वर्षा आँधी आदिसे गमनमें बाधा होती है तो जहाँतक गमन किया है वहीं...
जाते है। व्याघ्र आदि पशुओंके आनेपर यदि वे भद्र होते हैं तो मुनि चार हाथ चलते है...

१. पत्तमुणीको—आ० मु०। २ पसंसन्ति—आ० मु०। ३ कुदो हु णो—आ० मु०...
४ प्रश्ने प्रश्नेने वा मा—आ०। ५ इन गाथाओंका यथार्थ भाव स्पष्ट नहीं हो सका है—अनुवाद...

पुव्वुत्ताणण्णदरे सल्लेहणकारणे समुप्पण्णे ।
तह चेव करिज्ज मदिं भत्तपइण्णाए णिच्छयदो ॥१५९॥

'पुव्वुत्ताणण्णदरे' पूर्वमुक्तानां 'वाहीव दुप्पमत्था' इत्यादीनां मध्ये अन्यतरस्मिन् । 'सल्लेहणकारणे' सम्यक् कायकषायतनूकरणं सल्लेखना तस्या कारणे वा । 'समुप्पण्णे' समुपस्थिते । 'तह चेव' तथैव च । यथाल्प आयुषि करोति भक्तत्यागे मति तथैव 'णिच्छयदो भत्तपइण्णाए मदिं करेज्ज' निश्चयतो भक्तप्रत्याख्याने मतिं कुर्यात् । एतद्गाथाद्वयं सूत्रकारवचनम् ॥१५९॥

आराधकस्य मनःप्रणिधानं प्रदर्शयति—

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ।
जाव य सद्धा जायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥१६०॥

'जाव य सुई ण णस्सदि' यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नत्रयाराधनगोचरा अनुभूतविषयग्राहिणी तदित्थं-भूतमिति प्रवर्तमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिज्ञानविकल्पः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं, तद्याथात्म्यावगमो ज्ञानं, समता चारित्रमिति । एतेनावगते परिणामत्रये यदुपजायते स्मार्तं ज्ञानं तदिह स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहारः, स्मृतौ नष्टायां न स्यादिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारब्धा मया सल्लेखनेति चिन्त्यम् । 'जाव य'

कहा है । भक्त त्यागकी मति होनेका कारण केवल आयुका कम रह जाना ही नहीं है किन्तु अन्य भी कारण हैं ॥१५८॥

विशेषार्थ—स्मृति माहात्म्यसे आशय है—जिनागमके रहस्यका उपदेश सुननेसे जो उसका संस्कार रहा, उसके प्रभावसे 'मैं मरते समय अवश्य विधिपूर्वक सल्लेखना करूँगा' ऐसा जो विचार किया था, उसका स्मरण भी भक्त प्रत्याख्यानका कारण होता है ।

गा०—पहले कहे गये कारणोंमें से किसी एक सल्लेखनाके कारणके उपस्थित होने पर उसी प्रकार निश्चयसे भक्त प्रत्याख्यानमें मति करे ॥१५९॥

टी०—पहले सल्लेखनाके जो कारण 'असाध्य बीमारी' आदि कहे हैं उनमेंसे किसी एक कारणके उपस्थित होने पर भी वैसे ही भक्त प्रत्याख्यानका विचार करना चाहिए जैसा आयुके अल्प रहने पर किया है ॥१५९॥

आराधकके मनकी दृढता बतलाते हैं—

गा०—जब तक स्मृति नष्ट नहीं होती, जब तक मेरे आतापन आदि योग पराधीन नहीं होते, जब तक श्रद्धा रहती है, इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध हीन नहीं होता ॥१६०॥

टी०—पहले अनुभवमें आये विषयको ग्रहण करने वाली और 'वह वस्तु' इस प्रकार प्रवृत्ति वाली स्मृति होती है । यह मतिज्ञानका विकल्प है । यहाँ रत्नत्रयकी आराधना विषयक स्मृति ग्रहण की है । वस्तुके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं [illegible] स्वरूपके जाननेको ज्ञान कहते हैं । तथा समताको चारित्र कहते हैं । [illegible] रत्नत्रय रूप परिणाममें जो स्मृतिज्ञान होता है उसे यहाँ स्मृति कहा है । [illegible] । स्मृतिके नष्ट होने पर व्यवहार नहीं होता । अतः स्मृतिके रहते

यावच्च । 'जोगा' योगा आतापनादय । 'ण मे पराहीणा' न मे परायत्ता. शक्तिवैकल्यात् । विविधेन तपसा निर्जरा विपुला कर्तुकामस्य मम तपोऽतिचारो वा न भवतीति यावन्निरतिचारं इदं तावत्सल्लेखनां करोमीति कार्या चिन्ता । 'जाव य सद्धा आयदि' यावच्छ्रद्धा जायते रत्नत्रयमाराधयितुं । 'तावणमं मे कादुमिति' वक्ष्यमाणेन सम्बन्ध । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभा प्राणिना सुहृदो विद्वान्स इव । मूलं ताः श्रद्धाया, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते । न च तामन्तरेणानिशयवतामाहारत्याग सुखेन संपाद्यते । 'इंदियजोगा' इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां रूपादिभिर्विषयैः सम्बद्धा 'अपरिहीणा' हीना न भवन्ति । दृक्श्रोत्रेन्द्रियाणामपाटवे दर्शनश्रवणाभ्यां परिहार्योऽसंयम कथं परिह्रियते । दृष्ट्वा श्रुत्वा स इदमयोग्यमिति वेत्ति नान्यथा ॥१६०॥

जाव य खेमसुभिक्खं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ।
अत्थि ति गारवरहिदा णाणचरणदंसणविसुद्धा ॥१६१॥

'जाव य खेमसुभिक्खं' यावच्च क्षेमसुभिक्ष, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेर्मार्याश्चाभावः क्षेम इत्युच्यते । प्रचुरधान्यता सुभिक्षत्वम् । एतदुभयमन्तरेण दुर्लभा निर्यापका , तानन्तरेण चतुर्विधाराधना । 'आयरिया जाव' आचार्या यावत् 'अत्थि' सन्ति । कीदृग्भूता 'णिज्जवणजोग्गा' निर्यापकत्वयोग्याः । 'तिगारवरहिदा' गारवत्रयरहिता ऋद्धिरससातगुरुका ये न भवन्ति । ऋद्धिप्रियो ह्यसयतमपि जन निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं च नासंयमभीरुर्भवति । असंयमकारणं अनुमनन च न परिहरतीति । रसासातगुरुको क्लेशासहो आराध-

---

करनी चाहिए ऐसा विचार करे । जब तक मेरे आतापन आदि योग शक्तिकी कमीसे पराधीन नही होते । मैं अनेक प्रकारके तपसे बहुत निर्जरा करना चाहता हूँ किन्तु तपमें दोष लगने पर बहुत निर्जरा नही हो सकती । इसलिए जब तक तप निरतिचार है तब तक सल्लेखना कर लेना चाहिए, ऐसी चिन्ता करना उचित है । जब तक श्रद्धा रत्नत्रयको आराधना करनेकी है 'तब तक मैं करनेमें समर्थ हूँ' ऐसा आगे कहेंगे, उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । जैसे विद्वान् मित्र दुर्लभ हैं वैसे ही प्राणियोंको उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि दुर्लभ है । वे लब्धियाँ श्रद्धाका मूल हैं । एक बार उस श्रद्धाके नष्ट हो जाने पर उसका पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है । श्रद्धाके बिना अतिशय शालियोंका भी आहारत्याग सुखपूर्वक सम्पन्न नही होता । चक्षु आदि इन्द्रियोंका रूपादि विषयोंके साथ सम्बन्धको इन्द्रिययोग कहते हैं । वे जब तक हीन नही होते, चक्षु और कर्ण इन्द्रियके अपने विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ होने पर देखने और सुननेसे दूर होने वाला असंयम कैसे दूर किया जा सकता है । देख और सुनकर 'यह अयोग्य है' ऐसा ज्ञान होता है, अन्यथा नही होता ॥१६०॥

गा०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है, जब तक आचार्य निर्यापकत्वके योग्य तीन गारवोंसे रहित निर्मल ज्ञान चारित्र और दर्शनवाले हैं ॥१६१॥

टी०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है । अपने देश और परदेशकी सेनाके उपद्रव और मारी रोगके अभावको क्षेम कहते हैं । और धान्यकी बहुतायतको सुभिक्ष कहते हैं । इन दोनोंके बिना निर्यापकोंका मिलना दुर्लभ है और उनके बिना चार प्रकारकी आराधना दुर्लभ है । तथा आचार्य निर्यापकत्वके योग्य जब तक है तथा ऋद्धिगारव रसगारव और सातगारवसे जो रहित होते हैं। जो आचार्य ऋद्धिप्रिय होता है वह असंयमी जनको भी निर्यापक बना देता है । और स्वयं भी असंयमसे नहीं डरता । तथा ऐसा अनुमति, जो असंयममें कारण होती है, देनेका त्याग नहीं

रीरपरिकर्म कथ कुरुत ? कि च स्वय सरागो वैराग्यं परस्य मपादयत्येवेति न नियोगोऽस्ति। रणदंसणविसुद्धा' ज्ञानचारित्रदर्शनेषु विशुद्धा. निर्मला.। जीवादियाथात्म्यगोचरता ज्ञानस्य शुद्धि। तापि समीचीनज्ञानसहभाविता, अरतर्द्विष्टता च चारित्रशुद्धि। शुद्धज्ञानचरणदर्शनशुद्धा चारित्रशुद्धा। यथा प्रकृष्टशुक्लगुणयोगाच्छुक्लतम इत्युच्यते पटादि ॥१६१॥

ताव खमं मे कादुं सरीरणिक्खेवणं विदुपसत्थं।
समयपडायाहरणं भत्तपइण्णं णियमजण्ण ॥१६२॥

'ताव खमं मे काउ' तावद्युक्त कर्तुं मम। किं ? 'सरीरणिक्खेवण' शरीरनिक्षेपण शरीरत्यजनं। त्थं' विद्वज्जनस्तुतं आत्महितत्वात्। 'समयपडागाहरणं' समय सिद्धान्त., तस्मिन् कीर्तिता पताका ना पताकेव पताका उपमार्थ.। यथा पताका वस्त्रादिरचिता जयादिकं प्रकटयति। एवमियं आराध-वनिर्युक्ति प्रकटयति। तस्या हरण ग्रहण। 'भत्तपइण्णं' भक्तप्रत्याख्यान 'णियमजण्णं' व्रतयज्ञं। ननु गमोऽन्य., अन्या ज्ञान-श्रद्धान-तप सु परिणतिरन्यद् भक्तत्यजन, अन्यानि च व्रतानि तत्कथ समानाधि-र्देश ? अत्रोच्यते-प्रत्येकमभिसम्बन्ध कार्य। 'ताव खमं मे काउं' इत्यनेन शरीरनिक्खेवण इत्या-तत्रोऽयमर्थ -शरीरत्यजन, सम्यग्दर्शनादिपरिणमन, भक्तप्रत्याख्यानं, व्रतयज्ञश्च तावत्कर्तुं मम ति ॥१६२॥

। जो आचार्य रसप्रेमी और सुख प्रेमी हैं वे सल्लेखना करनेवाले आराधकके शरीरकी कैसे करेंगे ? दूसरे, जो स्वयं सरागी है वह दूसरेको वैराग्य उत्पन्न कराता हो ऐसा कोई नहीं है। तथा आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें विशुद्ध होना चाहिए। जीवादिके यथार्थ को जानना ज्ञानकी शुद्धि है। समीचीन ज्ञानका सहभावी होना दर्शनकी शुद्धि है। और पका न होना चारित्रकी शुद्धि है। जिनका ज्ञान दर्शन चारित्र शुद्ध होता है वे शुद्ध ज्ञान चारित्र वाले कहे जाते हैं। जैसे उत्कृष्ट शुक्ल गुणके सम्बन्धसे वस्त्र आदि 'शुक्लतम'— सफेद कहे जाते हैं ॥१६१॥

गा०—तब तक मुझे शरीरका त्याग, विद्वानोंसे स्तुत, आगममें कही गई आराधना रूपी का ग्रहण, व्रत यज्ञ तथा भक्त प्रत्याख्यान करना युक्त है ॥१६२॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान तब तक मुझे करना उचित है, यह पूर्व गाथाओंसे सम्बद्ध है। यह त्याख्यान शरीरके त्यागरूप है क्योंकि शरीरको त्यागनेके लिए ही किया जाता है। विद्वानों-सनीय है क्योंकि आत्माके हित रूप है। तथा समय अर्थात् सिद्धान्तमें आराधनाको पताका है। जैसे वस्त्रादिसे बनी पताका जयको प्रकट करती है वैसे ही यह आराधना भी संसारसे कको प्रकट करती है। भक्त प्रत्याख्यान उस पताकाको ग्रहण करने रूप है।

शंका—शरीरका त्याग अन्य है, ज्ञान श्रद्धान और तप करना अन्य है, भोजनका त्याग है और व्रत अन्य हैं। ये सब भिन्न है तब कैसे इनका समानाधिकरण रूपसे निर्देश किया है ?

समाधान—'तब तक मुझे करना युक्त है। इसके साथ शरीर त्याग आदि प्रत्येकका सम्बन्ध चाहिए। तब ऐसा अर्थ होता है—शरीरका त्याग, सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणमन, भक्त ख्यान और व्रतयज्ञ मुझे तब तक करना युक्त है ॥१६२॥

कृतार्थितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यकथनायोत्तरगाथा—

एवं सदिपरिणामो जस्स दढो होदि णिच्छिदमदिस्स ।
तिव्वाए वेदणाए वोच्छिज्जदि जीविदासा से ॥१६३॥

एवं सदिपरिणामो' व्यावर्णितस्मृतिपरिणामो न [illegible] परिणाम । 'जस्स दढो होज्ज' 'यस्य
दृढो भवेत्। 'णिच्छिदमदिस्स' निश्चितमते । [illegible] । 'जीविदासा
वोच्छिज्जइ' जीविते आशा व्युच्छिद्यते । 'तिव्वाए वेदणाए' तीव्रायामपि वेदनायामुदीर्णायां । [illegible]
त्वा जीवामीति चिन्ता न भवति । 'से' तस्येति जीविताशाव्युच्छेदो गुण सूचित । परिणामं गदं ॥१६३॥

'उवधि जहणा' इति पदं व्याचष्टे प्रबन्धेन—

संजमसाधणमेत्तं उवधिं मोत्तूण सेसयं उवधिं ।
पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्तिं गवेसंतो ॥१६४॥

'संजमसाहणमेत्तं'—संयम साध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्र कमण्डलुपिच्छमात्रं । 'उवधिं' परिग्रहं
त्तूण' मुक्त्वा । 'सेसयं' अवशिष्ट । 'उवधिं' अवशिष्ट उपधिर्नाम पिच्छान्तरं कमण्डल्वन्तरं वा तदानीं
यमसिद्धौ न कारणमिति संयमसाधनं न भवति । येन साम्प्रतं संयमः साध्यते तदेव संयमसाधनं अथवा ज्ञानो-
करण अवशिष्टोपधिरुच्यते । 'पजहइ' प्रकर्षेण योगत्रयेण त्यजति । 'विसुद्धलेस्सो' विशुद्धलेश्य । 'साहू'
धु । 'मुत्तिं' मुक्ति कर्मणामपायं । 'गवेसंतो' मृगयन् । लोभकषायेणाननुरंजिता योगवृत्तिरिह विशुद्धलेश्या

ऊपर कहे परिणामके गुणोका माहात्म्य कहनेके लिए गाथा कहते हैं—

गा०—ऊपर कहा स्मृति परिणाम 'मैं शरीरत्याग करूँगा ही' ऐसा निश्चय करनेवालेके
ढ होता है । उसके तीव्र वेदना होनेपर जीवनकी आशा नष्ट हो जाती है ॥१६३॥

टी०—'मै शरीरका त्याग करूँगा ही' ऐसा जो दृढ निश्चय कर लेता है तीव्र भी वेदनाके
नेपर मैं उसका प्रतीकार करके जीवित रहूँ ऐसी चिन्ता उसे नही होती । अतः 'जीवनकी
ाशाका विनाश' उसका गुण सूचित किया है ॥१६३॥

'उवधिजहण' अर्थात् परिग्रहत्यागका विस्तारसे कथन करते हैं—

गा०—मुक्तिको खोजनेवाला विशुद्ध लेश्यासे युक्त साधु संयमके साधनमात्र परिग्रहको
ोडकर शेष परिग्रहको प्रकर्ष अर्थात् मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६४॥

टी०—जिस उपकरणसे संयमकी साधना की जाती है वह उपकरण कमण्डलु और पीछी-
ात्र है । उनको छोडकर जो शेष परिग्रह है—दूसरी पीछी दूसरा कमण्डलु, वह उस समय संयम-
ी सिद्धिमे कारण न होनेसे संयमका साधन नही है । जिससे वर्तमानमे संयमकी साधना होती
 वही संयमका साधन है । अथवा शेष परिग्रहमे ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि कहे हैं क्योंकि
माधिके समय उनका उपयोग नही रहता । मुक्ति अर्थात् कर्मोंका विनाश करनेका इच्छुक साधु
ाछी कमण्डलुमात्र परिग्रहके सिवाय शेष परिग्रहको मन-वचन-कायसे छोडता है । वह साधु
िशुद्धलेश्यासे युक्त होता है । यहाँ लोभकषायसे अननुरंजित (नही रंगी हुई अर्थात् लोभरहित)

---

१ यस्मात्तस्मा-आ० मु० २. यस्य स्मृतेर्दृ-आ० मु० ।

गृहीता। सा हि परिग्रहत्यागे प्रवर्तयत्यात्मानमिति ॥१६४॥

वसत्यादिकं तर्हि त्याज्यतया नोपदिष्टमिति आशङ्किते इति तत्त्यागमुपदर्शयति—

अप्पपरियम्म उवधिं बहुपरियम्मं च दोवि वज्जेइ।
सेज्जा संथारादी उस्सग्गपदं गवेसंतो ॥१६५।

'अप्पपरियम्म उवधिं' अल्पपरिकर्म निरीक्षणप्रमार्जनविधूननादिक यस्मिन्न परिग्रह। 'बहु' महत् परिकर्म यत्र तं च। 'दो वि' द्वावपि 'वज्जेदि' वर्जयति मनोवाक्कायैः। 'सेज्जासंथारादी' वसतिसंस्तरादिकं। 'उस्सग्गपदं' उत्सर्जनं त्यागः तदेव पदं। परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारीति यावत्। गाथाद्वयेनातिक्रान्तेन द्रव्योपधित्यागो व्याख्यातः। इयता परिसमाप्तः परिग्रहत्यागः ॥१६५॥

पंचविहं जे सुद्धिं अपाविदूण मरणमुवणमन्ति।
पंचविहं च विवेगं ते खु समाधिं ण पावेन्ति ॥१६६॥

'पंचविहं जे सुद्धिं' इत्यादिना किं प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति। अत्रोच्यते—योग्योपादनमेवायोग्यत्यागस्तत्परिहार इत्युपधित्याग एवाख्यायते उत्तरग्रन्थेनापि। 'पंचविहं' पञ्चप्रकारां। 'सुद्धिं' शुद्धिं। 'अपाविदूण' अप्राप्य। 'जे' ये। 'मरणं' मृतिं। 'उवणमंति' प्राप्नुवन्ति। 'पंचविहं' पञ्चविधं च 'विवेगं' विवेकं, 'परिहरणं' पृथग्भावं, अप्राप्य मृतिमुपयान्ति। खु शब्द एवकारार्थः। स च क्रियापदानन्तरो योज्यः।

मन-वचन-कायकी वृत्तिको विशुद्धलेश्या कहा है; क्योंकि वह जीवको परिग्रहके त्यागमें प्रवृत्त करती है ॥१६४॥

यहाँ कोई शंका करता है कि वसति आदिको तो त्याज्य नहीं कहा ? इससे उसके त्यागका उपदेश करते हैं—

गा०—परिग्रहत्याग पदका अन्वेषण करनेवाला साधु अल्पपरिकर्मवाले और बहुत परिकर्मवाले दोनों ही प्रकारके परिग्रहोंको जिनमें वसति सस्तर आदि भी हैं, मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६५॥

टी०—जिसमें देखना, साफ करना, झाडना आदि कम करना होता है वह परिग्रह अल्पपरिकर्मवाला होता है। और जिसमें यह बहुत करना होता है वह बहुत परिकर्मवाला है। परिग्रहत्यागपदका खोजी साधु दोनोंको ही मन-वचन-कायसे त्यागता है। अत: वसति सस्तर आदि भी त्याग देता है। इन दो गाथाओंसे द्रव्यपरिग्रहके त्यागका कथन किया। यहाँ तक परिग्रहत्यागका प्रकरण समाप्त होता है ॥१६५॥

गा०—जो पाँच प्रकारकी शुद्धियोंको और पाँच प्रकारके विवेकको प्राप्त किये विना मरणको प्राप्त होते हैं, वे समाधिको नहीं ही प्राप्त होते हैं ॥१६६॥

टी०—शंका—'पञ्चविह जे सुद्धिं' इत्यादिके द्वारा पहले सूचित किये विना क्या कह रहे हैं ?

समाधान—योग्यका ग्रहण ही अयोग्यका त्याग है। अत: आगेके ग्रन्थसे भी परिग्रहका त्याग ही कहा है। जो पाँच प्रकारकी शुद्धि और पाँच प्रकारके विवेक अर्थात् भिन्नपनेको प्राप्त किये विना मरते हैं वे समाधिको प्राप्त नहीं ही होते। गाथामें आये 'खु' शब्दका अर्थ 'ही' है और

समाधि न प्राप्नुवन्त्येवेति । उपधिपरित्यागाभावे अभिमतसमाध्यभावो दोष आख्यातः ॥१६६॥

पंचविहं जे सुद्धिं पत्ता णिखिलेण णिच्छिदमदीया ।
पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुवेंति ॥१६७॥

के समाधि प्राप्नुवन्तीत्यत्र आह– पंचविहं' पञ्चविधां, 'जे सुद्धिं पत्ता' ये शुद्धिं प्राप्ताः । 'णिखिलेण' साकल्येन । 'णिच्छिदमदीया' निश्चितमतयः । 'पंचविहं' पञ्चविधं च 'विवेगं' विवेकं 'ते हु समाधिं परमुवेंति' ते स्फुटं समाधिं परमुपयान्ति ॥१६७॥

का एषा पंचविधा शुद्धिरित्याह—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स ।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥१६८॥

'आलोयणाए' आलोचनाया शुद्धि, शय्यासंस्तरयो शुद्धि, उपकरणशुद्धि, भक्तपानशुद्धिः, वैयावृत्यकरणशुद्धिरिति पञ्चविधा । मायामृषारहितता आलोचनाशुद्धि । मनोगतवक्रता माया । व्यलीकता भाषा मृषा । मायाकषाय स चाभ्यन्तरपरिग्रह 'चत्तारि तह कसाया' इति वचनात् । मृषा कथं परिग्रह इति चेत् उपधीयते अनेनेत्युपधिरिति शब्दव्युत्पत्तो उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिरित्युच्यते । यत्र यस्यादरः कर्महेतौ तत्सर्वमुपधिरेवेति भाव । उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितता ममेद इत्यपरिग्राह्यता च वसतिसंस्तरयो शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोपहतयोर्वसतिसंस्तरयोस्त्याग कृत इति भवत्युपधि-

---

उसे क्रियापद 'पावेंति' के परे लगाना चाहिए । परिग्रहत्यागके अभावमें इष्ट समाधिका अभाव नामक दोष कहा है ॥१६६॥

गा०—पूर्णरूपसे निश्चित मति वाले जो पाँच प्रकारकी शुद्धिको और पाँच प्रकारके विवेक को प्राप्त हुए हैं, वे निश्चयसे परम समाधिको प्राप्त होते हैं ॥१६७॥

टी०—कौन समाधि प्राप्त करते हैं यह इस गाथामें कहा है ॥१६७॥

पाँच प्रकारकी शुद्धि कहते हैं—

गा०—आलोचना की शुद्धि, शय्याकी, संस्तरकी और परिग्रहकी शुद्धि, भक्तपानकी शुद्धि और वैयावृत्य करने वालोंकी शुद्धि, निश्चयसे शुद्धि पाँच प्रकारकी होती है ॥१६८॥

टी०—माया और मृषासे रहित होना आलोचनाकी शुद्धि है । मनमें कुटिलताका होना माया है । असत्य भाषणको मृषा कहते हैं ।

माया कषाय है और वह अभ्यन्तर परिग्रह है । 'चार कषाय हैं' ऐसा आगमका वचन है ।

शङ्का—मृषा कैसे परिग्रह है ?

समाधान—'उपधीयतेऽनेनेत्युपधिः' इस शब्द व्युत्पत्तिके करने पर 'अनेन' अर्थात् असत्य भाषणके द्वारा 'उपधीयते' कर्मका ग्रहण होता है अतः मृषा उपधि है । जिस कर्मके हेतुमें जिसका आदर है वह सब उपधि हो है यह कहनेका अभिप्राय है ।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित होना तथा 'यह मेरा है' इस प्रकार परिग्रहका भाव न होना वसति और संस्तरकी शुद्धि है । उस शुद्धिको जिसने स्वीकार किया उसने उद्गम

त्यागः। उपकरणादीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्यां सत्यां उद्गमादिदोषदुष्टानां असंयमसाधनानां ममेदं भावमूलानां परिग्रहाणां त्यागोऽस्त्येव। सम्यग्वैयावृत्त्यक्रमज्ञता वैयावृत्त्यकारिशुद्धिः सत्यां तस्यां असंयता अक्रमज्ञाश्च[1] न मम वैयावृत्त्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति ॥१६८॥

अहवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य।
आवासयसुद्धी वि य पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥१६९॥

'अहवा' अथवा। 'दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य' आवश्यकशुद्धिश्चेति 'पंचवियप्पा' पञ्चविकल्पा 'हवइ सुद्धी' भवति शुद्धिः। निःशङ्कितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनशुद्धिः तस्यां सत्यां शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादीनां अशुभपरिणामानां परिग्रहाणां त्यागो भवति। काले पठनमित्यादिका ज्ञानशुद्धिः, तस्यां सत्यां अकालपठनाद्या क्रिया ज्ञानावरणमूला परित्यक्ता भवन्ति। पञ्चविंशतिभावनाश्चारित्रशुद्धिः। तस्यां सत्यां अनिगृहीतमनःप्रचारादिरशुभपरिणामोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति। दृष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धिः। तस्यां सत्यां उपकरणादिलाभाभिलाषो निरस्तो भवति। सावद्ययोगनिवृत्तिः जिनगुणानुराग वन्द्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्तिः, कृतापराधविषया निन्दा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासारतानुपकारित्वभावना, इत्यावश्यकशुद्धिस्तस्यां सत्यां अशुभयोगो जिनगुणाननुरागः श्रुतादिमाहात्म्येऽनादरः, अपराधाजुगुप्सा, अप्रत्याख्यानं, शरीरममता चेत्यमी भावदोषाः परिग्रहा निराकृता भवन्ति ॥१६९॥

आदि दोषोंसे दूषित वसति और संस्तरका त्याग कर दिया इस प्रकार उपधित्याग होता है। उपकरण आदि की भी शुद्धि उद्गम आदि दोषोंसे रहित होना है। उसके होने पर उद्गम आदि दोषोंसे दूषित, असंयमके साधन और 'यह मेरा है' इस भावके मूलकारण परिग्रहोंका त्याग है ही। संयमी होना और वैयावृत्यके क्रमका ज्ञाता होना वैयावृत्यकारीकी शुद्धि है। उसके होने पर असंयमी और क्रमको न जानने वाले मेरे वैयावृत्य करने वाले नहीं हैं' ऐसा स्वीकार करने पर उनका त्याग होता है ॥१६८॥

गा०—अथवा दर्शन शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि इस प्रकार शुद्धिके पाँच भेद होते हैं ॥१६९॥

टी०—निःशंकित आदि गुणोंका धारण करना दर्शन शुद्धि है। उसके होने पर शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि अशुभ परिणाम रूप परिग्रहोंका त्याग होता है। 'कालमें पढ़ना' आदि ज्ञान शुद्धि है। उसके होने पर अकाल पठन आदि क्रिया, जो ज्ञानावरणके बन्धकी कारण हैं, उनका त्याग होता है। पच्चीस भावनाएँ चारित्र शुद्धि है। उसके होने पर मनकी चंचलताको न रोकना आदि अशुभ परिणाम, जो अभ्यन्तर परिग्रह है उनका त्याग होता है। दृष्ट फलकी अपेक्षा न करके विनय करना विनय शुद्धि है। उसके होने पर उपकरण आदिके लाभका लोभ दूर होता है। सावद्य योगका त्याग, जिन देवके गुणोंमें अनुराग, नमस्कार करनेके योग्य श्रुत आदि के गुणोंका पालन करना, किये हुए अपराधकी निन्दा, मनसे प्रत्याख्यान करना, शरीरकी असारता और उसके अनुपकारीपनेका चिन्तन, ये आवश्यक शुद्धि है। उसके होने पर अशुभ योग, जिन देवके गुणोंमें अनुरागका अभाव, श्रुत आदिके माहात्म्यमें अनादर, अपराधके प्रति ग्लानिका न होना, प्रत्याख्यानका न होना, और शरीरसे ममता, ये दोष परिग्रह हैं, इनका निरास होता

---

१. श्च मम–आ०।

पञ्चविधविवेकप्रख्यापनायोत्तरा गाथा—

इंदियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स ।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥१७०॥

'इंदियकसाय' इति । इन्द्रियविवेकः कषायविवेकः, भक्तपानविवेकः, उपधिविवेकः, देहविवेकः इति एष विवेकः पञ्चप्रकारो निरूपितः पूर्वागमेषु । स पुनः पञ्चप्रकारोऽपि द्विविधः । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपादिविषयेषु चक्षुरादीनामादरेण कोपेन वा अप्रवर्तनं । इदं पश्यामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निबिडकुचतटं पश्यामि, नितम्बरोमराजिं वा विलोकयामि, पृथुतरं जघनं स्पृशामि, कलं गीतं सावधानं शृणोमि, मुखकमलपरिमलं जिघ्रामि, बिम्बाधरं समास्वादयामि इति वचनानुच्चारणं वा द्रव्यतः इन्द्रियविवेकः । भावतः इन्द्रियविवेको नाम जानेऽपि विषयविषयिसम्बन्धे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य रागकोपाभ्यां विवेचनं, रागकोपसहकारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । द्रव्यतः कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविधः । भ्रूलतासङ्कोचनं, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दनं, शस्त्रनिकटीकरणं, इत्यादिकायव्यापाराकरणं । हन्मि, ताडयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलङ्काभावो भावतः क्रोधविवेकः । तथा मानकषायविवेकोऽपि वाक्कायाभ्यां द्विविधः । गात्राणां स्तब्धताकरणं, शिरस उन्नमनं, उच्चासनारोहणादिकं च यन्मानसूचनपरं तस्य कायव्यापारस्याकरणं । मत्तः को वा श्रुतपारगः सुचरितः सुतपोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च । एवमेवैतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति मनसाहङ्कारवर्जनं भावतो

है ॥१६९॥

पाँच प्रकारके विवेकका कथन करते हैं—

गा०—इन्द्रिय विवेक, कषाय विवेक, उपधिविवेक, भक्तपान विवेक और देहका विवेक इस प्रकार यह विवेक पाँच प्रकारका पूर्वागम में कहा है। तथा यह पाँच प्रकारका विवेक द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार है ॥१७०॥

टी०—रूप आदि विषयोंमें चक्षु आदि इन्द्रियोंका आदर भावसे या क्रोधवश प्रवृत्ति न करना, यह देखता हूँ, अथवा यह सुनता हूँ, उसके घने स्तनोंको देखता हूँ, अथवा नितम्ब और रोमपंक्तिको देखता हूँ, स्थूल जघनको स्पर्श करता हूँ, मनोहर गीत सावधानता पूर्वक सुनता हूँ, मुख रूपी कमलकी सुगन्ध सूँघता हूँ, ओष्ठका रसपान करता हूँ, इत्यादि वचनोंका उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है। विषय और विषयी अर्थात् पदार्थ और इन्द्रियका सम्बन्ध होने पर भी रूपादिका जो ज्ञान होता है जिसे भावेन्द्रिय कहते हैं, उस ज्ञानके होने पर भी राग द्वेष न करना अथवा राग द्वेषके सहकारी रूपादि विषय रूपसे मानसज्ञानका परिणत न होना भाव इन्द्रिय विवेक है। द्रव्य कषाय विवेक के दो भेद हैं शरीरसे और वचन से। भौंको संकोचना, आँखोंका लाल होना, ओंठ काटना, शस्त्र उठाना इत्यादि काय व्यापारका न करना काय द्रव्य कषाय विवेक है। मारता हूँ, ताडन करता हूँ, शूली पर चढ़ाता हूँ इत्यादि वचन न बोलना वचन क्रोध कषाय विवेक है। दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार आदिके निमित्तसे चित्तमें मलिनताका न होना भावसे क्रोध विवेक है। तथा मान कषाय विवेकके भी वचन और कायकी अपेक्षा दो भेद हैं। शरीरको स्तब्ध करना, सिर को ऊँचा करना, उच्चासन पर बैठना आदि जो मान सूचक काय व्यापार हैं उनका न करना काय मान कषाय विवेक है। मुझसे बड़ा कौन शास्त्रका पंडित है, चारित्रवान और तपस्वी है, इस प्रकारके वचन न बोलना वचन मान कषाय विवेक है। इसी

मानकषायविवेकः । वाक्कायाभ्यां मायाविवेको द्विप्रकारः । अन्यत् ब्रुवत इवान्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, मायां करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथनं वाचा मायाविवेकः । अन्यत्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरणं कायतो मायाविवेकः । लोभकषायविवेकोऽपि द्विविधः । यत्रास्य लोभस्तद्दिश्य करप्रसारणं, द्रव्यदेशानपायिता, तदुपादातुकामस्य कायेन निषेधनं हस्तसंज्ञया निवारणं, शिरश्चालनया वा एतस्य कायव्यापारस्याकरणं कायेन लोभविवेकः शरीरेण वा द्रव्यानुपादानं । एतन्मदीयं वास्तुग्रामादिकं वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारणं वा लोभविवेकः । नाहं कस्यचिदीशो न च मम किञ्चिदिति वचनं वा । ममेदंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभविवेकः ॥१७०॥

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स ।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥१७१॥

'अहवा' अथवेति । विवेकः प्रकारान्तरेणोच्यते । 'सरीरसेज्जासंथारुवहीणभत्तपाणस्स' शरीरविवेकः, वसतिसंस्तरविवेकादुपकरणविवेकः, भक्तपानविवेकः । 'वेज्जावच्चकराण य' वैयावृत्त्यकराणां च विवेको भवति । 'तहा चेव' तथैव द्रव्यभावाभ्या इति यावत् । तत्र शरीरविवेकः शरीरेण निष्पद्यते । संसारिणः शरीराद्विवेकः कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरणं शरीरविवेकः । शरीरं उपद्रवन्तं नरं तिर्यञ्चं देवं वा न हस्तेन निवारयति । मा कृथा ममोपद्रवमिति दंशमशकवृश्चिकभुजगसारमेयादीन् हस्तेन, पिच्छाद्युपकरणेन, दण्डादिभिर्वा नोत्सारयति । छत्रपिच्छकटप्रावरणादिना वा न शरीररक्षां करोति ।

प्रकार इनसे मैं उत्कृष्ट हूँ ऐसा मनमें अहंकार न करना भावसे मान कषाय विवेक है। माया विवेक भी वचन और कायकी अपेक्षा दो प्रकार है। दिखाना तो ऐसा मानो कुछ अन्य बोलते हैं और बोलना कुछ अन्य, इसका त्याग अथवा माया पूर्ण उपदेशका त्याग, अथवा न मैं माया करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हू ऐसा बोलना वचन माया विवेक है। अन्य करते हुए उसमें अन्यका कायसे न करना काय माया विवेक है। लोभ कषाय विवेक भी दो प्रकारका है। जिस वस्तुका लोभ हो उसको लक्ष्य करके हाथ पसारना, जो उसे लेना चाहे उसे शरीरसे मना करना या हाथके संकेत से रोकना अथवा सिर हिलाकर मना करना, इस काय व्यापारका न करना काय लोभ विवेक है। अथवा शरीरसे वस्तुका ग्रहण न करना काय लोभ विवेक है। यह वस्तु ग्राम आदि मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ इत्यादि वचनका उच्चारण न करना, अथवा न मैं किसी का स्वामी हूँ और न कुछ मेरा है ऐसा बोलना वचन लोभ विवेक है। यह मेरा है इस भावरूप मोहजन्य परिणामका न होना भाव लोभ विवेक है ॥१७०॥

गा०—अथवा शरीर विवेक, वसति विवेक, संस्तर विवेक, उपधि विवेक, भक्तपान विवेक, और वैयावृत्य करने वालोंका विवेक, द्रव्य और भाव रूप होता है ॥१७१॥

टी०—प्रकारान्तरसे विवेकके भेद कहते है। शरीर विवेक शरीर के द्वारा किया जाता है।

शङ्का—संसारी जीवका शरीरसे विवेक कैसे संभव है ?

समाधान—अपने शरीरमें होने वाले उपद्रवोंका दूर न करना, शरीर विवेक है। शरीरपर उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा देव को हाथसे नहीं रोकता कि मेरे ऊपर उपद्रव मत करो। डांस, मच्छर, बिच्छू, सर्प, कुत्ते आदिको हाथसे, पिच्छी आदि उपकरणसे अथवा दण्ड वगैरहसे दूर नहीं करता। छाता, पीछी, चटाई अथवा अन्य किसी आवरणसे शरीरकी रक्षा

शरीरपीडा मम मा कृथा इत्यवचनं । मा पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चैतन्येन सुखदुःखसंवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वचनं वाचा विवेकः । वसतिसंस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्रागध्युषितायां, संस्तरे वा प्राक्तने अशयनं अनासनं । वाचा त्यजामि वसतिं संस्तरमिति वचनं । कायेनोपकरणानामनादानं, अन्यापनं क्वचिद्रक्षा न उपधिविवेकः । वाचा परित्यक्तान्यमानि ज्ञानोपकरणादीनि इति वचनं वाचा उपधिविवेकः । भक्तपानयोरनशनं अपानं वा कायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं वा न गृह्णामि इति वचनं वाचा भक्तपानविवेकः । वैयावृत्यकरा स्वशिष्यादयः ये तेषां कायेन विवेकः तैः सहावासः । मा कृथा वैयावृत्यं इति वचनं, मया त्यक्ता यूयमिति वचनं । सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदं भावस्य वा मनसा अकरणं भावविवेकः ॥१७१॥

परिग्रहपरित्यागक्रमं उपदिशति—

सव्वत्थ दव्वपज्जयममत्तसंगविजडो पणिहिदप्पा ।
णिप्पणयपेमरागो उवेज्ज सव्वत्थ समभावं ॥१७२॥

सव्वत्थ इत्यादिना । 'सव्वत्थ' सर्वत्र देशे । 'पणिहिदप्पा' प्रणिहितात्मा प्रकर्षेण निहितः निक्षिप्त वस्तुयाथात्म्यज्ञाने आत्मा येन स प्रनिनिहितात्मा । 'दव्वपज्जयममत्तसंगविजडो' द्रव्येषु जीवपुद्गलेषु तत्पर्यायेषु च ममतारूपो यः संगः परिग्रहस्तेन परित्यक्तः । प्रणय स्नेहः प्रेम प्रीतिः, राग आसक्तिः । क्व ? द्रव्यपर्यायेषु जीवद्रव्ये पुत्रदारमित्रादौ, तेषां नीरोगत्वधनवत्त्वादौ पर्याये, आत्मनो वा देवत्वे, चक्रवर्तित्वेऽहमिन्द्रत्वे वा । तथा शरीरे आहारादिके भोगसाधने, तदीयरूपरसगन्धस्पर्शपर्यायेषु वा, एतेभ्य

नहीं करता। यह कायसे शरीर विवेक है। मेरे शरीरको पीडा मत दो, अथवा मेरी रक्षा करो, ऐसा न बोलना, अथवा यह शरीर अचेतन है, मुझसे भिन्न है, चैतन्यसे और सुख दु:खके संवेदनसे रहित है ऐसा बोलना वचनसे शरीर विवेक है। जिसमें पहले रहे हैं उस वसति में न रहना कायसे वसति विवेक है। पूर्वके संस्तर पर न सोना न बैठना कायसे संस्तर विवेक है। मैं वसति या संस्तर को त्यागता हूँ यह वचनसे वसति और संस्तर विवेक है। 'उपकरणोंका त्याग करता हूँ' ऐसा बोलना वचनसे उपधि विवेक है, भक्तपानको न खाना न पीना कायसे भक्तपान विवेक है। 'इस प्रकारके भोजन और पानको ग्रहण नहीं करता ऐसा कहना वचनसे भक्तपान विवेक है। वैयावृत्य करने वाले अपने शिष्यों आदिके साथ वास न करना कायसे विवेक है। 'वैयावृत्य मत करो' 'मैंने तुम्हारा त्याग किया ऐसा कहना' वचनसे विवेक है। सर्वत्र शरीर आदिमें अनुरागका 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव मनसे न करना भावविवेक है ॥१७१॥

परिग्रह के त्यागका क्रम बतलाते हैं—

गा०—सर्व देशमें प्रनिनिहित आत्मा द्रव्य और पर्यायोंमें ममतारूपी परिग्रहसे रहित, प्रणय, प्रेम और रागसे रहित सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है ॥१७२॥

टी०—जिसने वस्तुके यथार्थ स्वरूप के ज्ञानमें आत्माको प्रकर्षरूपसे निहित किया है वह प्रनिनिहितात्मा है अर्थात् जो वस्तु स्वरूपके जाननेमें लीन रहता है और द्रव्य अर्थात् जीव पुद्गलमें और उनकी पर्यायोंमें ममता नहीं करता। और जीव द्रव्य अर्थात् पुत्र स्त्री मित्रादि में उनकी नीरोगता, धनवत्ता आदि पर्यायोंमें अथवा आत्माकी देवपना, चक्रवर्तीपना, अहमिन्द्रपना आदि पर्यायोंमें तथा शरीरमें, आहारादिमें; भोगके साधनमें और उनकी रूप, रस, गन्ध,

परिणामेभ्यो निर्गतो 'णिप्पणयपेमराग' इत्युच्यते। 'उवेइ' प्रतिपद्यते। 'समभावं' समचित्तता। द्रव्ये पर्याये वा रागद्वेषावन्तरेण स्वरूपमात्रग्रहणमात्रप्रवृत्तिर्ज्ञातृता समचित्तता॥ उपधी गदा ॥१७२॥

परिग्रहपरित्यागादनन्तरोऽधिकारः श्रितिर्नाम, एतद्व्याख्यातुकामः श्रितिशब्दस्यार्थद्वयं व्याचष्टे भावश्रितिर्द्रव्यश्रितिरिति, अप्रकृतं श्रितिशब्दार्थं निराकर्तुमिष्टं दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि।
दव्वसिदी णिस्सेणी सोवाणं आरुहंतस्स ॥१७३॥

'जा' या। 'उवरि उवरि' उपर्युपरि। 'गुणपडिवत्ती' गुणप्रतिपत्तिः। ज्ञानश्रद्धानसमानभावानां गुणानां प्रवृत्तानां उपर्युपरि गुणानामप्यनूनानामेव प्रतिपत्तिर्या सा। 'भावदो' भावेन। 'सिदी होदि' श्रितिर्भवति। भावश्रितिः श्रयति भावम्। अथ का द्रव्यश्रितिः ? अस्योत्तरमाह-'दव्वसिदी' श्रीयते इति श्रितिः द्रव्यं च तद् श्रितिश्च सा द्रव्यश्रितिः। यदाश्रीयते द्रव्यं निश्रेयणीसोपानादिकं तदपि श्रितिशब्देनोच्यते। 'आरुहंतस्स' आरोहतः॥१७३॥

अनयोः का[1] परिगृहीतेत्यत्राह—

सल्लेहणं करेंतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण।
भावसिदिमारुहित्ता विहरेज्ज सरीरणिव्विण्णो ॥१७४॥

सभी पर्यायोंमें प्रणय अर्थात् स्नेह, प्रेम और राग अर्थात् आसक्ति रूप परिणामोंसे रहित है वह सर्वत्र समभाव अर्थात् समचित्तताको प्राप्त होता है। द्रव्य अथवा पर्यायमें राग द्वेषके बिना उनके स्वरूपको ग्रहण मात्र करनेकी प्रवृत्तिको अर्थात् ज्ञातताको समचित्तता कहते हैं॥१७२॥

उपधि त्याग समाप्त हुआ।

परिग्रह त्यागके अनन्तर श्रिति नामक अधिकार है। उसका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार श्रिति शब्दके दो अर्थ कहते हैं भाव श्रिति और द्रव्य श्रिति। श्रिति शब्दके अप्रकृत अर्थका निराकरण और इष्ट अर्थ का कथन करते हैं—

गा०—जो ऊपर-ऊपर गुणोंकी प्रतिपत्ति है वह भावसे श्रिति है। ऊपर चढने वाले के नसैनी सीढ़ी आदि द्रव्य श्रिति है॥१७३॥

टी०—ज्ञान श्रद्धान समभाव आदि गुणोंका ऊपर-ऊपर उन्नत होना गुण प्रतिपत्ति है और वह भाव श्रिति है। भाव अर्थात् परिणामसे श्रिति भाव श्रिति अर्थात् परिणाम सेवा है। 'श्रीयते' जिसका आश्रय लिया जाये वह श्रिति है। द्रव्यरूप श्रिति द्रव्य श्रिति है। ऊपर चढ़ने वाला नसैनी सीढ़ी आदि जिस द्रव्यका आश्रय लेता है उसको भी श्रिति शब्दसे कहते हैं॥१७३॥

यहाँ इन दोनोंमेंसे किसका ग्रहण किया है, यह कहते हैं—

गा०—सल्लेखना करता हुआ शरीरसे विरक्त साधु सब सुखशीलताको मन वचन कायसे त्यागकर भावश्रिति पर आरोहण करके विहार करे॥१७४॥

---

१. का या गृ-आ० मु०।

"सल्लेहणं' सल्लेखना । 'करेंतो' कुर्वन् । 'सव्वं सुहसीलयं' सर्वां सुखभावनां आसनशयनभोजनादि-विषयां । 'पयहिदूण' प्रकर्षेण त्यक्त्वा योगत्रयेणेति यावत् । 'भावसिदिमारुहित्ता' श्रद्धानादिपरिणामसंश्रयं प्रतिपद्य । 'विहरेज्ज' प्रवर्तेत । 'सरीरणिव्विण्णो' शरीरनिःस्पृहः । किमनेन शरीरेण, सुलभेनासारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन दुःखविधायिनेति ॥१७४॥

दव्वसिदिं भावसिदिं अणुओगवियाणया विजाणंता ।
ण खु उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं पसंसंति ॥ १७५॥

दव्वसिदिं भावसिदिं अणुओगवियाणया विजाणंता' इत्यस्मिन्सूत्रे पदघटना । 'उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं ण खु पसंसंति' इति । ऊर्ध्वगमने कार्ये अधोपादनिक्षेपं नैव प्रशंसन्ति । 'विजाणंता' विशेषेण जानन्त । का 'दव्वसिदिं भावसिदिं' च द्रव्यभावश्रियोः स्वरूपं उपादेयश्रितिशा¹ इति यावत् । न केवलं श्रितिमात्रज्ञा किन्तु 'अणुओगवियाणया' अनुयोगशब्दः सामान्यवचनोऽपि इह चरणानुयोगवृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थ आचाराङ्गज्ञा अथवा चतुर्विधानुयोगज्ञा श्रुतमाहात्म्यवन्त न प्रशंसन्ति । एतदुक्तं भवति—शुभपरिणामवता तदतिशय एव प्रवर्तितव्यं, न जघन्यपरिणामप्रवाहे निपतितव्यं, यतोऽतिशयितश्रुतज्ञानलोचना यतयो निन्दन्ति जघन्यपरिणामान् । कुतो ? मन्दायमानशुभपरिणाम क्रमेण न बहलविशालकर्मतिमिरमपाकर्तुमर्हति नाशाभिमुख प्रदीप इव । यथा नाशाभिमुख प्रदीपोऽतितेजसा प्रवर्तमानो मन्दं मन्दं ज्वलन्नाशमुपैति शनैः शनैस्तमसाच्छाद्यते तथा मन्दायमानपरिणामोऽपीत्यर्थः । अशुभपरिणामसन्ततेर्मूलं भवति । तेन कर्मणां स्थितिरनुभवश्च प्रकर्षमुपैति ततो व्यवस्थिता नैव दीर्घसंसारिता । समीचीनज्ञानसारत्प्रेरितः शुभपरि-

गा०-टी०—इस सुलभ, असार, अपवित्र, कृतघ्न, भाररूप, रोगोंका घर और जन्म मरणसे युक्त, दुःखदायी शरीरसे क्या लाभ ऐसा विचार साधु शरीरसे निस्पृह होकर सल्लेखना धारण करता है और बैठना, सोना, भोजन आदिकी सब सुख भावनाको छोड श्रद्धानादि परिणामोंका आश्रय लेता है ॥१७४॥

गा०—द्रव्यश्रितिके भावश्रितिके स्वरूपको विशेष रूपसे जानने वाले तथा आचारांगके ज्ञाता ऊर्ध्वगमन रूप कार्यमें नीचे पैर रखना प्रशंसनीय नहीं ही मानते ॥१७५॥

टी०—अनुयोग शब्द अनुयोग सामान्यका वाची होने पर भी यहाँ चरणानुयोगका वाचक ग्रहण किया है अतः उसका अर्थ आचारांगके ज्ञाता होना है। अथवा चार प्रकारके अनुयोगोंके ज्ञाता भी होता है। द्रव्यश्रितिके और भावश्रितिके स्वरूपको जानने वाले तथा चरणानुयोगके ज्ञाता ऊपर जानेके लिये नीचे-नीचे पैर रखना प्रशंसनीय नहीं मानते। आशय यह है कि शुभ परिणाम वालोंको शुभ परिणामोंकी उत्कृष्टतामें ही लगना चाहिये, जघन्य परिणामोंके प्रवाहमें नहीं गिरना चाहिये, क्योंकि अतिशय युक्त श्रुतज्ञान रूपी चक्षुसे सम्पन्न यतिगण जघन्य परिणामों की निन्दा करते हैं। क्योंकि जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मन्द होते जाते हैं वह घने विशाल कर्मरूपी अन्धकारको नाशके अभिमुख दीपककी तरह दूर नहीं कर सकता। जैसे बुझता हुआ दीपक तीव्र प्रकाश देता है किन्तु मन्द-मन्द जलकर बुझ जाता है और धीरे-धीरे अन्धकारसे ढक जाता है। उसी तरह मन्द होता हुआ शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामोंकी परम्पराका जनक होता है और उससे कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग उत्तरोत्तर बढ़ता है। उससे बड़ी दीर्घ संसारि-

1. [illegible]

णामानल' प्रवृध्यमाणो विशोषितकर्मपादपरसस्तमुन्मूलयतीति ॥१७५॥

श्रिनेरपायस्थानपरिहारोपायाख्यानायोत्तरगाथा—

गणिणा सह संलाओ कज्जं पइ सेसएहिं साहूहिं ।
मोणं से मिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सजणे य ॥१७६॥

'गणिणा सह' सावधारणमिदं गणिनैव सह । 'संलाओ' प्रश्नप्रतिवचनप्रबन्ध, नान्यै सह चिरभाषणं कार्यम् । आचार्येण सह संलाप शुभपरिणामस्य हेतुरित्यनुज्ञाप्यते । इतरे तु प्रमादिनो यत्किञ्चिद् ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विदध्यु । 'कज्ज पइ' कार्यं स्वं प्रति । 'सेसगेहिं साधूहिं' शेषैं साधुभिः सम्भाषण कार्यं, न प्रबन्धरूपा कथा कार्या । 'मोणं' मौनमेव । 'से' तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य । 'मिच्छजणे मिथ्यादृष्टिजने । स्वार्थे बद्धपरिकरस्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाग्राहिणा जनेन । 'भज्जं' भाज्यं विकल्प्य मौन । 'सण्णीसु' मिथ्यादृष्टिष्वप्युपशान्तेषु । 'सजणे य' स्वजने च । मिथ्यादृष्टौ अस्यामवस्थायां मदीय वचन श्रुत्वा सम्यग्दर्शनादिकमिमे गृह्णन्तीति यद्यस्ति सम्भावना ब्रूयाद् धर्मं न चेन्मौनमेव ॥१७६॥

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिदिमारुहित्तु कारणपरिभुत्तं उवधिमणुवधिं सेज्जं ।
परिकम्मादिउवहदं वज्जित्ता विहरदि विदण्हू ॥१७७॥

'सिदिमारुहित्तु' शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । कारणभुत्तं किञ्चित्कारणमुपदिश्य श्रुतग्रहणं, परेषा वा

पना प्राप्त होता है । सम्यग्ज्ञान रूपी वायुसे प्रेरित शुभ परिणाम रूप आग बढती-बढती कर्म रूपी वृक्षके रसको सुखाकर उसे जडसे नष्ट कर देती है ॥१७५॥

श्रितिके विनाश स्थानोंसे बचनेके उपाय कहते हैं—

गा०—शुभ परिणामोंकी श्रेणि पर आरूढ साधुको आचार्यके ही साथ वार्तालाप करना चाहिये । कार्य हो तो शेष साधुओंसे वार्तालाप करे । मिथ्यादृष्टिजनोंसे मौन रहे । शान्त परिणामी मिथ्यादृष्टियोंमें और अपने ज्ञातिजनोंमें मौन करे, न भी करे ॥१७६॥

टी०—आचार्यके साथ ही 'संलाप' अर्थात् प्रश्नोत्तर आदि करना चाहिये । दूसरोंके साथ लम्बा वार्तालाप नहीं करना चाहिये । आचार्यके साथ संलाप शुभ परिणाम का कारण है इसलिये उसकी अनुज्ञा है । अन्य लोग तो प्रमादी होनेसे जो कुछ भी बोलकर अशुभ परिणाम कर देते हैं । शेष साधुओंके साथ सभाषण करना चाहिये किन्तु लम्बी कथा नहीं करना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जनसे बात नहीं करना चाहिये क्योंकि वह तो स्वार्थमें डूबा है । हितोपदेशको नहीं सुनता । ऐसे अनुपकारी व्यक्तिसे क्या काम ? जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी शान्त परिणामी है और अपने ज्ञातिबन्धु हैं उनसे वार्तालाप किया जा सकता है । ये मेरे वचन सुनकर सम्यग्दर्शन आदिको ग्रहण करेंगे, यदि ऐसी सम्भावना है तो धर्मका उपदेश दें, नहीं तो मौन ही रहे ॥१७६॥

शुभ परिणामके धारी मुनिकी प्रवृत्तिका क्रम कहते हैं—

गा०—क्रमका ज्ञाता मुनि शुभ परिणामों की श्रेणिपर चढकर किसी कारणवश व्यवहार मे आई परिग्रहको और ईषत् उपधिरूप वसतिको तथा जो लीपने-पोतने अयोग्य है, उसे त्याग कर तपश्चरण करता है ॥१७७॥

टी०—शुभ परिणामोंकी परम्परासे जो मुनि ऊपर चढ रहा है वह ऐसे परिग्रहको त्याग

श्रुतोपदेशं, आचार्यादिवैयावृत्त्यार्थं वा [illegible] [illegible] । तथा [illegible]
करणानि वा । 'अणुवधि' ईषदुपधि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
'सेज्जं' सेव्यते इति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] । 'विहरदि' [illegible]
'विहरदि' प्रयम ॥१७७॥

श्रितेरनन्तरं किं करोतीत्यत आह—

> सो पच्छिमम्मि काले धीरपुरिससेविदं परमघोरं ।
> भत्तं परिजाणंतो उवेदि अब्भुज्जदविहारं ॥१७८॥

'सो' असौ श्रितो । 'पच्छिमम्मि काले' पश्चिमे काले । 'धीरपुरिससेविदं' धीरैः पुरुषैः सेवितं 'परमघोरं' अतिदुष्करं । 'भत्तं परिजाणंतो' आहारं परित्यक्तुकामः । 'उवेदि' याति । किं ? अब्भुज्जद-
विहारं' सम्यग्दर्शनादिपरिणामाभिमुख्ये उद्यतं विहारं ॥१७८॥

कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्याचष्टे

> इत्तिरियं सव्वगणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए दु ।
> जहिदूण संकिलेसं भावेइ असंकिलेसेण ॥१७९॥

'इत्तिरियं' कियतः कालस्य । 'सव्वगणं' संयतानां, आर्यिकाणां, श्रावकाणां, इतराणां च समिति

देता है जो कारणवश व्यवहारमें आया है जैसे स्वयं शास्त्राध्ययनके लिये या दूसरोंको शास्त्रका उपदेश देनेके लिये ज्ञान और संयमके उपकरण शास्त्र आदि व्यवहारमें आये हों जो कि स्वयं अपने लिये आवश्यक नहीं है। तथा आचार्य आदिकी वैयावृत्यके लिये औषध आदि व्यवहारमें आई हो। ऐसा परिग्रह कारणभूत परिग्रह है। तथा कारणभूत अनुपधिको भी त्याग देता है। अनुपधिमें अनका अर्थ ईषत् या किञ्चित् है। यह अनुपधि है 'सेज्ज'। 'जो यतिके द्वारा सेवित होती है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सेज्जाका अर्थ वसति है। तथा 'इसमें यति गण रहेंगे' इस अभिप्रायसे जिस वसतिकी सफाई लिपाई पुताई की गई है वह भी त्याज्य है। इन सबको त्यागकर वह मुनि तपश्चरण करता है ॥१७७॥

श्रितिके अनन्तर वह क्या करता है यह कहते हैं—

गा०—उस श्रितिके अन्तिम समयमें वीर पुरुषोंके द्वारा आचरित अतिकठिन आहारको त्याग देनेका इच्छुक वह मुनि सम्यग्दर्शन आदि परिणामोंकी अभिमुखतामें तत्पर विहारको प्राप्त होता है। अर्थात् रत्नत्रयकी मुख्यताको लिये हुए आचरण करता है ॥१७८॥

वह अभ्युद्यत विहार कैसा है, यह कहते हैं—

गा०—तत्काल गुरुके पश्चात् जो संघका पालन करता है उसे, विधिपूर्वक समस्त संघको सौंपकर संक्लेशको छोड़कर असंक्लेशसे आत्माको भाता है ॥१७९॥

टी०—सर्वगणसे मतलब है मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका तथा अन्य जनोंका समूह।

---

१. णामादिसु–आ० मु०।

'वितिरिय' दत्त्वा । कथं 'विधिणा' विधिना । कथ ? सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं बहिः स्थित्वा 'एष निरतिचाररत्नत्रयः आत्मानं युष्मानपि समर्थं संसारसागरादुद्धर्तुं, अनुज्ञातश्च मया सूरिरयमिति। तत एतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्यं इति । 'अणुदिसाए दु' 'अनु'पश्चादर्थे दिशिविधाने गुरोः पश्चा-द्दिशति विधत्ते चरणक्रमं य सोभिधीयते अनुदिशनाब्देन । 'जहिऊण' त्यक्त्वा । 'संकिलेस' संक्लेशं परोपकार-सम्पादनायासं । 'भावेइ' भावयति । 'असंकिलेसेण' न विद्यते संक्लेशोऽस्मिन्निति असंक्लेशः शुभपरिणामस्तेन भावयति आत्मानं ॥१७९॥

जावंतु[1] केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाण ।
ते वज्जिंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥१८०॥

त्यक्तव्यसंक्लेशभावनाविकल्पाख्यानायाचष्टे—

कन्दप्पदेवखिब्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
एसा हु संकिलिट्ठा पञ्चविहा भावणा भणिदा ॥१८१॥

कंदप्प इत्यादिना । गतिकर्म चतुर्विधं नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति तत्र देवगतिरनेक-प्रकारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपंचेन । कन्दर्पदेवगतेः, किल्बिषदेवगतेरभियोग्यदेवगते असुरदेवगते, सम्मोहदेवगतेश्च कारणभूता आत्मपरिणामाः । कारणे कार्योपचारोऽन्नप्राणवत् । यथान्नं वै प्राणा इति

'अनुदिसाए' में अनुका अर्थ है पश्चात् और दिसका अर्थ है विधान । गुरुके पीछे जो चारित्रके क्रमका विधान करता है उसे अनुदिश कहते हैं । सल्लेखनार्थी उसको सर्वसंघके मध्यमें स्थापित करके स्वयं बाहर होता है । उस समय वह कहता है—इसका रत्नत्रय निर्दोष है । यह अपना और तुम्हारा भी संसार सागर से उद्धार करनेमें समर्थ है । मैंने इसे आचार्य बनने की अनुज्ञा दी है । अतः इसके उपदेशके अनुसार आपको चलना चाहिये । गणके भारसे मुक्त होकर वह परोपकार करनेका प्रयत्न रूप संक्लेश छोड देता है, अर्थात् परोपकार करना छोड देता है और जिसमें संक्लेश नहीं है ऐसे असंक्लेश अर्थात् शुभ परिणामसे आत्माकी भावना भाता है ॥१७९॥

गा०—जितना कोई परिग्रह रागद्वेषकी उदीरणा करने वाला होता है, उसे छोडता हुआ निस्संग होकर राग और द्वेष को निश्चयसे जीतता है ॥१८०॥

विशेष—इस पर विजयोदया टीका नहीं है । आशाधरने भी इस पर टीका नहीं की किन्तु इतना लिखा है कि टीकाकार इस गाथाको नहीं मानता ।

छोड़ने योग्य संक्लेश भावनाके भेद कहते हैं—

गा०—कन्दर्पदेवगति, किल्विषदेवगति, आभियोग्यदेवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेव-गतिके कारण भूत आत्म परिणाम यह निश्चयसे पाँच प्रकारकी संक्लिष्ट भावना कही है ॥१८१॥

टी०—गतिकर्मके चार भेद हैं—नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति । इनमें से देवगतिके असुरदेवगति, नागदेवगति आदिके विस्तारसे अनेक भेद हैं । कन्दर्पदेवगति, किल्विष-देवगति, आभियोग्य देवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेवगतिके कारणभूत आत्मपरिणामोंको उस उस गतिके नामसे कहा है । यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया है जैसे 'अन्न ही प्राण है' । यहाँ

---

1. एतां टीकाकारो नेच्छति-मूलारा० ।

प्राणकारणेऽन्ने प्राणोपचारात् । [illegible] ॥१८१॥
भावना, सम्मोहभावनाश्चेति [illegible] ॥१८१॥

तत्र कन्दर्पभावना[illegible]—

कंदप्पकुक्कुआइय चलसीलो णिच्चहासणकहो य ।
विम्भावितो य परं कंदप्प भावणं कुणइ ॥१८२॥

कन्दप्पकुक्कुआइयचलसीलो [illegible] । [illegible] परमुद्दिश्य [illegible] करोति । [illegible] 'णिच्चहासणकहो य' सदा हास्यकथा[illegible] । 'विम्भावितो य परं' [illegible] 'कंदप्पं भावण कुणदि' कन्दर्पभावना करोति । [illegible] कन्दर्पभावनेत्युच्यते । अगाह्यवचनमात्र ॥१८२॥

किल्विषभावनाख्यानायाचष्टे—

णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं ।
माइय अवण्णवादी किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥१८३॥

णाणस्स इत्यादिकं । 'माई अवण्णवादी' इत्येतच्च प्रत्येकं [illegible] । ज्ञानमिह श्रुतं परिगृहीतं श्रुतज्ञानविषया माया यस्य विद्यते स ज्ञानमायी मायावान् ज्ञानभक्तिरहितो बाह्यविनयवृत्तिः । 'केवलिणं'

प्राणके कारण अन्नमें प्राणका उपचार किया है। उन्हीं परिणामोंका कार्य जो कन्दर्प आदि गति है उसी कन्दर्पशब्दसे कन्दर्प भावना, किल्विष भावना, आभियोग्य भावना, असुर भावना, सम्मोह भावना ये पाँच प्रकार की भावनाएँ सर्वज्ञ देवने कही हैं ॥१८१॥

आगेकी गाथा में कन्दर्प भावनाका कथन करते हैं—

गा०—कन्दर्प कौरकुच्य आदिसे चलशील, और सदा हास्य कथा करनेमें तत्पर, दूसरेको विस्मयमे डालने वाला कन्दर्प भावनाको करता है ॥१८२॥

टी०—रागकी अत्यधिकतासे हँसीसे मिला हुआ असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। रागकी अधिकतासे हँसते हुए दूसरे को लक्ष्य करके शरीरमे कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन दोनोंको जो करता है, सदा हास्य कथा करता है, और कुछ कौतुक दिखाकर दूसरेको अचरजमें डालता है, वह कन्दर्प भावना करता है। आशय यह है कि रागकी अधिकतासे होने वाले हास्य पूर्वक वचन योग और काय योग तथा दूसरेको कुतूहल पूर्वक अचरजमें डालना कन्दर्प भावना है ॥१८२॥

किल्विष भावनाको कहते हैं—

गा०—जो ज्ञानके, केवलियोके, धर्मके, आचार्यों और सर्व साधुओंके विषयमे मायाचार करता है, झूठा दोष लगाता है वह किल्विषक भावनाको करता है ॥१८३॥

टीका—'माइय अवण्णवादी' ये दोनो पद प्रत्येकके साथ लगाना चाहिये। 'ज्ञान' से यहाँ श्रुतज्ञान ग्रहण किया है। जो श्रुतज्ञानके विषयमे माया रखता है वह ज्ञान सम्बन्धी मायाचारी है। ज्ञानमें भक्ति नही है, बाहरसे विनय करता है। केवलियोमे आदर तो दिखलाता है किन्तु

केवलिष्वादरमानित्र यो वर्तते । तद्वर्णनायां मनसा तु न रोचते स केवलिनां मायावान् । धर्मश्चारित्रं तत्र मायया प्रवृत्तः । आचार्याणां साधूनां च वञ्चकः । किल्बिषभावनं किल्बिषभावना । 'कुणइ' करोति ॥१८३॥

अभियोग्यभावना निरूपयत्युत्तरगाथा—

मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु ।
इड्ढिरससादहेदु अभिओगं-भावणं कुणइ ॥१८४॥

'मंताभिओगकोदुगभूदिकम्म' मन्त्राभियोगक्रिया, कुतूहलोपदर्शनक्रिया, बालादीनां रक्षार्थं भूति कर्म च । 'पयुंजदे' करोति य । 'अभियोगं भावणं कुणइ' अभियोग्या भावना करोति । किं ? सर्व एव मन्त्राभियोगादौ प्रवृत्तो नेत्याह । 'इड्ढिरससादहेदु' मंताभियोगकोदुगभूदिकम्मं जो पउंजदे सो अभियोगभावणं कुणइ' । द्रव्यलाभस्य, मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतुं मन्त्राद्यभियोगकर्म प्रयुङ्क्ते य स एव अभियोग्यभावना करोति[1] नेतरः । स्वस्य परस्य वा आयुरादिपरिज्ञानार्थं कौतुक उपदर्शयन्, वैयावृत्त्य प्रवर्तयामीति वा । उद्यत , ज्ञानदर्शन चारित्रपरिणामादरवर्तनान्न दुष्यतीति भाव. ॥१८४॥

चतुर्थी भावनां वदन्ति—

अणुबद्धरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी ।
णिक्किवणिराणुतावी आसुरिअं भावणं कुणदि ॥१८५॥

उनकी पूजा मनमें नहीं रखनो । वह केवलियोंके सम्बन्धमें मायावी है । धर्म अर्थात् चारित्रके विषयमें जो मायाचार करता है वह धर्मका मायावी है । तथा जो आचार्यों और साधुओंको ठगता है वह किल्विष भावनाको करता है ॥१८३॥

आगेकी गाथासे अभियोग्य भावनाको कहते हैं—

गा०—जो द्रव्यलाभ, मिष्टरस और सुखके लिए मंत्राभियोग—भूत आदि बुलाना, कौतुक—अकालमें वर्षा आदि दिखलाना और बच्चोंकी रक्षाके लिये भभूत देना आदि करता है वह अभियोग्य भावना करता है ॥१८४॥

टी०—द्रव्यलाभ, मीठा भोजन और सुखके लिये जो मन्त्राभियोग क्रिया, कुतूहल दिखानेकी क्रिया और बालक आदिकी रक्षाके लिये भूतिकर्म करता है वह अभियोग्य भावनाको करता है । जो द्रव्यलाभ आदिके लोभसे मंत्रादि करता है वही अभियोग्य भावना करता है, सब नहीं । जो अपनी या दूसरोंकी आयु आदि जाननेके लिये मन्त्र प्रयोग करता है, धर्मकी प्रभावनाके लिये कौतुक दिखलाता है या वैयावृत्य करनेकी भावनामें तत्पर रहता है वह ज्ञान दर्शन और चारित्र परिणामोंमें आदर भाव रखनेसे दोषका भागी नहीं है, यह भाव है ॥१८४॥

चौथी आसुरी भावनाको कहते हैं—

गा०—अनुबद्ध क्रोध और कलहसे जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदिसे आजीविका करता है, निर्दय है, दूसरेको कष्ट देकर भी पश्चात्ताप नहीं करता वह आसुरी भावनाको करता है ॥१८५॥

---

१. ति सेन य स्वस्य—आ० मु० ।

'अनुबद्धरोषविग्रहसंसक्ततपो निमित्तप्रतिसेवी' [illegible] अनुबद्धो रोषविग्रहो अनुबद्धरोषविग्रहो अनुबद्धरोषविग्रहसंसक्ततपः [illegible] केचन । 'निमित्तजीवी' [illegible] आसुरीभावनां करोति [illegible] । अनुबद्धो भवान्तरानुगामी रोषो यस्य सोऽनुबद्धरोषः । विग्रहेण कलहेन संसक्तं तपो यस्य स [illegible] इत्युच्यते । अनुबद्धो रोषविग्रहो यस्येत्यनुबद्धरोषविग्रहः । संसक्ततपः [illegible] तपः स संसक्ततपोऽभिधीयते । निष्कृपो निरनुतापी च निर्दयः प्राणिषु [illegible] आसुरीं भावनां करोति ॥१८५॥

संमोहभावना निरूप्यते—

उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवण्णी य ।
मोहेण य मोहिंतो संमोहं भावणं कुणइ ॥१८६॥

उम्मग्गदेसणो मिथ्यादर्शनं अविरतिं वा [illegible] आप्ताभासानां [illegible] हितत्वं नाचष्टे । यो वा तत्त्वज्ञो हिंसादिकं कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते । ज्ञानं हि सर्वं पापं दहति इति प्रतिपादयता हिंसादिभ्यो भयं निराकुर्वता हिंसादिषु जीवाः प्रवर्तिता भवन्ति । स एष उन्मार्गस्योपदेष्टा । यज्ञे प्राणिवधो न पापाय शास्त्रचोदितत्वाद्दानादिवत् । [illegible] हि यागार्थमेवासौ सृष्टा याजका यजमानाः पशवश्च मन्त्रमाहात्म्यात्स्वर्गं लभन्ते इति । अयमेक उन्मार्गोपदेशः । मग्गदूसणो संवरस्य निर्जरायाश्च निरवशेषकर्मापायस्य वा हेतुभूता समीचीनज्ञानदर्शनचारित्रात्मिका मार्ग इति उच्यते । अव्याबाधसुखस्य परंपरा-

---

टी०—अनुबद्ध रोष और विग्रहसे जिसका तप सम्बद्ध है और जो निमित्तजीवि है वह आसुरी भावनाको करता है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं। अनुबद्ध अर्थात् आगामी भवमें जानेवाला जिसका क्रोध है अर्थात् ऐसा उत्कट क्रोध है जो दूसरे भवमें साथ जाता है वह व्यक्ति अनुबद्ध रोष है, जिसका तप विग्रह अर्थात् कलहसे सम्बद्ध है वह 'विग्रह संसक्त तप' शब्दसे कहा जाता है। जिसका रोष और विग्रह अनुबद्ध है वह अनुबद्ध रोष विग्रह है। और जिसका तप परिग्रहसे अतीव सम्बद्ध है वह 'संसक्त तप' शब्दसे कहा जाता है। जो प्राणियोंमें दया नहीं करता तथा दूसरोंको पीड़ा पहुँचा कर भी पछताता नहीं है, वह आसुरी भावना करता है ॥१८५॥

सम्मोह भावनाको कहते हैं—

गा०—जो मिथ्यात्व या असयमका उपदेश देता है, मार्गको दूषण लगानेवाला है और रत्नत्रयका विरोधी है, अज्ञानसे मूढ़ है वह सम्मोह भावनाको करता है ॥१८६॥

टी०—उम्मग्गदेसण अर्थात् जो मिथ्यादर्शन अथवा अविरतिका उपदेश देता है, आप्ताभासोंको और उनके द्वारा रचित शास्त्रोंको हितकारी कहता है, जो तत्त्वज्ञ है वह हिंसा आदि करते हुए भी पापसे लिप्त नहीं होता, ज्ञान सब पापको भस्म कर देता है ऐसा कहनेवाला हिंसा आदि पापका भय दूर करके जीवोंको हिंसा आदिमें लगाता है। वह उन्मार्गका उपदेशक है। यज्ञमें किया गया प्राणिवध पापका कारण नहीं है क्योंकि वेदमें कहा है जैसे दान पापका कारण नहीं है। प्रारम्भमें यज्ञके लिये ही पशुओंकी सृष्टि की गई थी। जो यज्ञ करते हैं, कराते हैं और पशु, ये सब मरकर मन्त्रके माहात्म्यसे स्वर्गमें जाते हैं। यह भी उन्मार्गका उपदेष्टा है। 'मग्गदूसणो'—संवर और निर्जराके तथा समस्त कर्मोंके विनाशके हेतु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप परिणाम मार्ग कहे जाते हैं; क्योंकि बाधारहित सुखके परम्परासे कारण हैं,

कारणत्वात् । तस्य मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनचारित्राभ्यां ? चारित्रमेवोपायः किं ज्ञानेनेति बदन्मार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रख्यापनपरं पुनः मार्गस्तस्य दूषको यो मिथ्याव्याख्यानकारी । 'मग्गविप्पडिवण्णो य' मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्नः एष न मुक्तिमार्ग इति तद्विरुद्धाचरणः । मोहेन च अज्ञानेन च संशयविपर्यासरूपेण । 'मूढप्पो' मूढात्मा । सम्मोहेषु तीव्रकामिरागेषु कुत्सितेषु देवेषु उत्पद्यते ॥१८६॥

भावनानां फलं दर्शयति भयोत्पादनाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ ।
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं ॥१८७॥

'एदाहिं भावणाहिं य' एताभिः भावनाभिः । 'देवदुग्गइं लहदि' देवेषु दुष्टा या गतिस्तां गच्छति । 'विराधगो' रत्नत्रयाच्च्युतः । 'तत्तो चुदो समाणो' तस्या देवदुर्गतेश्च्युतः सन् । 'भमिहिदि' भ्रमिष्यति भवसागरमनन्तमिति ॥१८७॥

एदाओ पंच वि वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो ।
पंचसमिदो तिगुत्तो णिस्संगो सव्वसंगेसु ॥१८८॥

'एदाओ पंच वि वज्जिय' एताः पञ्च भावनाः परित्यज्य 'इणमो' अयं यतिः धीरः । 'छट्ठीए' षष्ठ्या भावनया । 'विहरदे' प्रवर्तते । षष्ठ्यां भावनायां प्रवर्तितुं एवंभूतो योग्य इत्याचष्टे—'पंचसमिदो' समितिपञ्चकवृत्तिः । 'तिगुत्तो' गुप्तित्रयालङ्कृतः । 'णिस्संगो' संगरहितः । 'सव्वसंगेसु' सर्वपरिग्रहेषु ॥१८८॥

का सा षष्ठीभावना ? इत्याचष्टे—

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणा चेव ।
धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥१८९॥

उस मार्गको दूषण लगाना । यथा—ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्रसे क्या लाभ । अथवा चारित्र ही मोक्षका उपाय है, ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है । ऐसा कहनेवाला मार्गका दूषक होता है । अथवा मार्गका ज्ञान करानेवाला श्रुतमार्ग है उसका जो दूषक है—मिथ्या व्याख्यान करता है । 'मग्गविप्पडिवण्णो'—रत्नत्रयात्मक मार्गमें विप्रतिपन्न है । यह मुक्तिका मार्ग नहीं है ऐसा मानकर उसके विरुद्ध आचरण करता है और मोह अर्थात् संशय विपर्ययरूप अज्ञानसे मोहित है । वह तीव्रकामी और रागी नीच देवोंमें उत्पन्न होता है ॥१८६॥

भय उत्पन्न करनेके लिये भावनाओंका फल बतलाते हैं—

गा०—*रत्नत्रयसे च्युत हुआ व्यक्ति इन भावनाओंसे देवोंमें जो दुष्टगति है उसे प्राप्त* करता है । उस देवदुर्गतिसे च्युत होकर अन्तरहित संसार समुद्रमें भ्रमण करता है ॥१८७॥

गा०—इन पाँचों ही भावनाओंको त्याग कर यह धीर यति छठी भावनामें प्रवृत्त होता है । जो पाँच समितियोंको पालता है, तीन गुप्तियोंसे सुशोभित है और सब परिग्रहोंमें आसक्ति रहित है । अर्थात् छठी भावनामें प्रवृत्त होनेके योग्य ऐसा यति ही होता है ॥१८८॥

छठी भावनाको कहते हैं—

रागकोपपरिणामानां कर्मास्रवहेतुतया अहितत्वप्रधानपरिज्ञानपुरःसरतपोभावनया विषयसुखपरित्यागात्मकेन अनशनादिना दान्तानि भवन्ति इन्द्रियाणि। पुनः पुनः सेव्यमानं विषयसुखं रागं जनयति। न भावनान्तरान्तर्हितमिति मन्यते ॥१९०॥

तपोभावनारहितस्य दोषमाचष्टे उत्तरप्रबन्धेन सदृष्टान्तोपन्यासेन—

इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराजियपरम्मो ।
अकदपरियम्म कीवो मुज्झदि आराहणाकाले ॥१९१॥

'इंदियसुहसाउलओ' इन्द्रियसुखास्वादलम्पटो। 'घोरपरीसहपराजियपरम्मो' परीषहैः घोरैः दुःसहैः क्षुदादिभिः पराजितोऽभिमुखः सन् यः पराङ्मुखतां गतो रत्नत्रयस्य। 'अकदपरियम्म कीवो' अकृतपरिकर्म तपआराधनायां येनासौ अकृतपरिकर्मा। 'कीवो' दीनः। 'मुज्झइ' मुह्यति विचित्ततामाप्नोति। 'आराहणाकाले' आराधनायाः काले ॥१९१॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

ओग्गमकारिज्जंतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं ।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥१९२॥

'ओग्गमकारिज्जंतो' शब्दचालनभ्रमणलङ्घनादिकां शिक्षां अकार्यमाणः। 'अस्सो' अश्वः। 'सुहलालिओ' सुखलालितः। 'चिरं कालं रणभूमीए' युद्धभूमौ। 'वाहिज्जमाणओ' वाह्यमानः। 'जह ण कज्जकरो' यथा कार्यं न करोति तथा यतिरपि ॥१९२॥

सुगमत्वान्न व्याख्यायते गाथात्रयम् तवभावणा—

पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहे मुच्छिदो जीवो ॥१९३॥

समाधान—इन्द्रियोंके विषयमें होनेवाले राग द्वेषरूप परिणाम कर्मोंके आस्रवमें हेतु होते हैं इसलिये वे अहितकारी हैं। इस परिज्ञानपूर्वक तपोभावनासे किये गये अनशन आदिसे जो कि विषय सुखके परित्यागरूप है, इन्द्रियाँ दमित होती हैं। बार बार सेवन किया गया विषय सुख रागको उत्पन्न करता है। किन्तु भावनासे दमित हुआ नहीं करता ॥१९०॥

जो तपभावनासे रहित है उसका दोष दृष्टान्तपूर्वक आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जो इन्द्रिय सुखके स्वादमें आसक्त है, भूख आदिकी दुःसह परीषहोंसे हारकर रत्नत्रयसे विमुख हुआ है, जिसने परिकर्म-आराधनाके योग्य तप नहीं किया है वह दीन आराधना के कालमें विचित्त हो जाता है उसका मन इधर-उधर भटकता है ॥१९१॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—

गा०—जैसे जिस घोड़ेको शब्दके संकेत पर चलने, भ्रमण, लघन आदिकी शिक्षा नहीं दी गई है और चिरकाल तक सुखपूर्वक लालन पालन किया गया है वह घोड़ा युद्धभूमिमें सवारीके लिये ले जाया गया कार्य नहीं करता वैसे ही यति भी जानना ॥१९२॥

आगेकी तीन गाथाएँ सुगम हैं अतः उनकी टीका नहीं है—

[illegible]

[illegible] ॥१९३॥

[illegible]

[illegible] ॥१९४॥

[illegible]

[illegible] ॥१९५॥

[illegible]

[illegible] ॥१९६॥

[illegible]

गा०—जिसने पूर्व जन्ममें तप नहीं किया और [illegible] मरते समय समाधिकी कामना करता हुआ [illegible] परीषहोंको सहन करनेमें समर्थ नहीं होता ॥१९३॥

गा०—जैसे शस्त्र चलानेका अभ्यास न करनेवाला [illegible] युद्धभूमिमें [illegible] कार्य करता है ॥१९४॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमें तप न करनेवाला [illegible] मरते समय समाधिका इच्छुक हुआ निश्चयसे परीषहोंको सहनेमें [illegible] होता है ॥१९५॥

श्रुतभावनाका माहात्म्य प्रकट करते हैं—

गा०—श्रुतभावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और संयमरूप परिणमन करता है। ज्ञान भावनासे उपयोगकी प्रतिज्ञाको सुखपूर्वक अचलित होता हुआ समाप्त करता है ॥१९६॥

टी०—'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर श्रुतसे शब्दश्रुत कहा जाता है। उसकी भावनाका मतलब है—शब्द और अर्थविषयक ज्ञानमें बार-बार प्रवृत्ति करना अर्थात् उसका अभ्यास करना श्रुतभावना है।

शंका—शब्दरूप श्रुतका बार-बार पढ़ना श्रुतभावना है। ज्ञान उससे भिन्न है?

समाधान—श्रुतका कार्य ज्ञान है अतः उसे भी श्रुतशब्दसे कहते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। जो 'गच्छति' चलती है वह गौ है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी अश्व आदिको 'गौ' शब्दसे नहीं कहा जाता। किन्तु रूढ़िवश गलकम्बलवाले पशुको ही गौ कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी 'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी कानसे जो कुछ वचन समूह सुना जाता है उस सबको श्रुत नहीं कहते। किन्तु अपनी आगमिक रूढ़िवश गणधरके द्वारा रचे गये शब्दसमूहको ही श्रुत कहते हैं। उसी प्रकार श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्त-से होनेवाले ज्ञानको ही श्रुत कहते हैं। उस श्रुतज्ञानकी भावनासे समीचीनज्ञान दर्शन तप और

योगशब्देनार्थोऽन्यते । तेनायमर्थः । तपसा भावितस्य । जिणवयणमणुगदमदिस्स' जिनवचनानुसारिणः । 'सदिलोवं' स्मृतिलोपं । रत्नत्रयपरिणामप्रबन्धसम्पादनोद्योगस्य स्मृतिर्न तस्या विनाशं । 'कादुं' कर्तुं । 'ण चयंति' न शक्नुवन्ति । के ? परिसहा' क्षुधादिपरीषहाः । 'सादं' सदा । तदनुगतमनया गाथया—अभ्यासात् श्रुतज्ञानं निर्मलं पटीयो भवति । पटुत्वाभ्यासवशेन च स्मृतिरखेदेन प्रवर्तते । स्मृतिमूलो हि योगो वाक्काय-व्यापार इति । सुय गदं ॥१९७॥

सत्त्वभावनाया गुणं स्तौति उत्तरगाथया—

देवेहिं भीसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं ।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥१९८॥

बहुसो वि जुद्धभावणाय ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि उवसग्गे ॥१९९॥

'देवेहिं' देवैस्त्रासितोऽपि । हु स्फुटं । कृतापराधोऽपि भीमरूपैः । वा अथवा । तो ततः । सत्त्वभावनया मोहदुःखात् । 'वहइ भरं णिब्भओ सयलं' वहति भरं संयमस्य निर्भयः सकलं । मुनेर्भीमरूपदर्शनात् भीतिरुपजायते । भीतस्य प्रच्युतरत्नत्रयस्य तदतिदुर्लभं । तदप्राप्त्या न कर्मनिर्मूलनं शक्यं कर्तुं । अना-

---

व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ योग शब्दसे बाह्य तप कहा है । अतः 'जोगपरिभाविदस्स' का अर्थ तपसे भावित होता है । जो यत्नपूर्वक तप करता है और अपने चित्तको जिनागमका अनुसारी बनाता है उसकी स्मृतिका—अर्थात् रत्नत्रयरूप परिणामोके प्रबन्ध सम्पादनमें उद्योग करनेकी जो उसकी स्मृति है कि मुझे रत्नत्रयरूप परिणामोंको सम्पन्न करनेमें उद्योग करना है उस स्मृतिका लोप परीषह नहीं कर सकती । इस गाथासे यह कहा है कि सतत अभ्यास करनेसे श्रुतज्ञान निर्मल और प्रबल होता है । प्रबल अभ्यासके बलसे स्मृति बिना खेदके अपना काम करती है । योग अर्थात् वचन और कायके व्यापारका मूल स्मृति है ॥१९७॥

श्रुतभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

आगेकी गाथामें सत्त्वभावनाके गुणका कथन करते हैं—

गा०—देवोंके द्वारा पीडित किया गया भी अथवा भयंकर जीवोंके द्वारा सताया गया यति सत्त्वभावनाके द्वारा दुःख सहन करनेसे निडर होकर संयमके समस्त भारको वहन करता है ॥१९८॥

टी०—मरणसे और भयंकररूपके देखनेसे भय उत्पन्न होता है । डरकर यदि रत्नत्रयको छोड़ बैठा तो पुनः उसकी प्राप्ति बहुत कठिन है । और रत्नत्रयको प्राप्त किये बिना कर्मोंका निर्मूलन करना शक्य नहीं है । तथा कर्मोंका विनाश न होनेपर वे आत्माको नाना प्रकारके कष्ट देते हैं । इसलिए भय ही अनेक अनर्थोंका मूल है ऐसा निश्चय करके सबसे पहले भयको ही भगाना चाहिए ॥१९८॥

गा०—अनेक प्रकारकी भी युद्ध सम्बन्धी भावनासे जैसे योद्धा युद्धमें नहीं ही मोहित होता अर्थात् युद्धसे नहीं डरता । वैसे ही मुनि भी सत्त्वभावनासे उपसर्ग आनेपर मोहित नहीं होता ॥१९९॥

मादिनप्रलयानि च कर्माणि विचिन्त्य ग्रालयस्थारमान । ततो भीतिरेवानेकानर्थमूलमिति निश्चित्य सा प्रागेव निरसनीया । तथाहि—॥१९९॥

खणणुत्तावणवालणवीयणविच्छेयणावरोहत्तं ।
चिंतिय दुह अदीहं मुज्झदि णो सत्तभाविदो दुक्खे ॥२००॥
बालमरणाणि साहू सुचिंतिदूणप्पणो अणंताणि ।
मरणे समुट्ठिए विहि मुज्झइ णो सत्तभावणाणिरदो ॥२०१॥

पृथिवीकायिका सन् खननदहनविलेपनकुट्टनभञ्जनलोठनपेषणचूर्णतादिभिर्बाधा परिप्राप्तोऽस्मि । अपश्च शरीरत्वेनोपादाय घर्मरश्मिकरनिकरापातेन, दहनज्वालाकलापकवलिततनुतया पर्वतदरीसमुन्नतदेशेभ्योऽतिवेगेन शिलाघनवसुन्धरासु पतनेन, आम्ललवणक्षारादिरसमवेतद्रव्यसम्मिश्रणेन, धगधगायमानेऽग्नौ प्रक्षेपणेन, तक्तटशिलापातेन पादकरतलाभिघातेन, तरणोद्यतानां विशालघनोर स्थलावपीडनेन, अवलोकमानमहानागकरणभञ्जनहस्तक्षोभणादिना च महती वेदना अधिगतोऽस्मि ।

तथा समीरण तनुतया परिगृह्य द्रुमगुल्मशिलोच्चयादीनां प्राणभृता नितान्तकठिनकायानां चाभिघातेन समीरणान्तरावमर्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दु खामिकामनुभूतोऽस्मि ।

तथा परिगृहीताग्निशरीरो विध्यापनेन पांसुभस्मसिकतादिप्रक्षेपणेन, मुशलमात्रजलधारापातेन, दण्डकाष्ठादिभिस्ताडनेन, लोष्ठपाषाणादिभिश्चूर्णनेन प्रभञ्जनभञ्जनेन विपदमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलाशपल्लवकुसुमादिकाय स्वीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दनपेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिक

गा०—खोदना, जलना, बहना छेदना रोपनाको विचारकर सत्त्वभावनायुक्त मुनि दु खमे अल्पकालीन दु खसे मोहित नहीं होता अर्थात् नहीं डरता ॥२००॥

गा०—सत्त्वभावनामें लीन साधु अपने अनन्त बालमरणोको सम्यकरूपसे विचारकर मरणके उपस्थित होनेपर भी मोहित नहीं होता ॥२०१॥

टी०—पृथ्वीकायमें जन्म लेकर मैंने खोदने, जलने, जोतने, कूटने, तोडने, लोटने, पीसने और चूर्णकी तरह पीसे जानेका कष्ट उठाया है। जलको शरीररूपसे ग्रहण करके मैंने सूर्यकी किरणोंके समूहके गिरनेसे, आगकी ज्वालाके समूहके द्वारा मेरे शरीरको निगल लेनेसे, पर्वतकी गुफा जैसे ऊँचे स्थानोंसे शिला और कठोर पृथिवी पर अतिवेगसे गिरनेसे, खट्टे, नमकीन, खारे आदि रसोंसे युक्त द्रव्योके मिलनेसे, धक्-धक् जलती हुई आग पर फेंकनेसे, वृक्ष, किनारे और शिलाओंके गिरनेसे, पैर और हथेलीके अभिघातसे, तैरनेमें उद्यत मनुष्योंके विशाल और दृढ छातीसे पीड़ित होनेसे, विशालकाय हाथियोंके तैरते डूबने और सूडके द्वारा क्षोभित होनेसे मैंने बड़ी वेदना भोगी है। तथा वायुको शरीररूपसे ग्रहण करके वृक्ष, झाडी, पर्वत आदि प्राणियोंकी अत्यन्त कठोर कायाके अभिघातसे, दूसरी वायुके द्वारा दबाये जानेसे, और आगके स्पर्शनसे मैंने दुखोंका अनुभव किया है। तथा अग्निको शरीररूपसे ग्रहण करके बुझानेसे, धूल भस्म रेत आदि मेरे ऊपर फेंकनेसे, मूसल जैसी जलधारा डालनेसे, दण्ड काष्ठ आदिसे पीटनेसे, लोष्ठ पत्थर आदि से चूर्णित करनेसे और वायुसे पीडित होनेसे मैं विपत्तियोंका स्थान बन चुका हूँ। फल, पलाश, पत्र, फूल आदिके शरीरको स्वीकार करके तोड़ना, खाना, मलना, पीसना और जलाने आदिसे

[illegible] ॥

नुरान सेसेर, भेदे [illegible]

तथा [illegible]

प्राहदर्शने [illegible]

तथा [illegible]

नैनाहार्गनिर्गमेन [illegible] विनानिगारावहार्न [illegible] वर्धमान, [illegible] काशिपुगल [illegible] नारलमुद्भूतोऽस्मि।

तथा मनुष्यभवेऽपि [illegible] दगरपराभवात्, इविणार्जनाशया दुष्करकर्मा [illegible] विविधा विपद्भुक्ताऽस्मि।

तथैवामरभवेऽपि दूरमपसर [illegible] हृतागदेवीजन पालय, [illegible] रता मनुष्णी [illegible]। [illegible]

तथा झाडी, बेल, वृक्ष आदिको छेदने, भेदने, उखाड़ने, सींचने और जलानेसे मैं कोपलरूप बना हूँ।

तथा कुथु चींटी आदि त्रस पर्यायको धारण करके वेगसे जाते हुए रथके पहियेके आक्रमणसे, गधे घोड़े आदिके कठोर खुरके आघातसे, जलके प्रवाहके गिरावसे, जंगलकी आगसे, वृक्ष, पत्थर आदिके गिरनेसे, मनुष्यके चरणोंसे रौंदे जानेसे और बलवानोंके द्वारा खाये जानेसे मैंने चिरकाल तक कष्ट भोगा है। तथा गधा ऊँट बैल आदिका शरीर धारण करके भारी बोझा लादनेसे, सवारी करनेसे, बाँधनेसे, अत्यन्त कठोर कोड़े, दण्डे, और मूसल आदिसे पीटनेसे, भोजन न देनेसे, शीत उष्ण वायु आदिके चलनेसे, कान छेदनेसे, जलानेसे, नाक छेदनेसे, परशु आदिसे काटनेसे, तीक्ष्ण तलवारकी धारके प्रहारसे मैंने चिरकाल उपद्रव सहे हैं। तथा पैर टूट जाने पर, कमजोर होनेसे अथवा रोगसे पीड़ित होनेसे गिर पड़ने पर, इधर-उधर घूमने पर अतिक्रूर व्याघ्र, सियार, कुत्ते आदिसे खाये जाने पर, कौवे, गिद्ध, कंक आदि पक्षियोंके द्वारा अपना आहार बनाये जाने पर, आखोंमें आँसू बहाते हुए भी कौन मेरी रक्षा करता था। अतः भारी बोझा लादनेसे उत्पन्न हुए घावोंमें पैदा हुए कीटोंसे और उनको खाने वाले कौओंसे मैं निरन्तर सताया गया हूँ। तथा मनुष्यभवमें भी इन्द्रियोंकी कमी होनेसे, गरीबीसे, असाध्य रोगके होनेसे, इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, अप्रियके संसर्गसे दूसरेकी चाकरी करनेसे, दूसरेके द्वारा तिरस्कृत होनेसे, धन कमानेकी इच्छासे दुष्कर कर्मबन्धके कारण षट्कर्मोंको करनेसे अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको मैंने भोगा है। उसी प्रकार देवपर्यायमें भी—दूर हटो, जल्दी चलो, स्वामीके प्रस्थान करनेका समय है। प्रस्थान करनेके नगारे बजाओ, ध्वजा लो, निराग देवियोंकी देखभाल करो, स्वामीको इष्ट वाहनका रूप धारण करके खड़े रहो, क्या अति पुण्यशाली इन्द्रकी दासताको भूल गये जो चुपचाप खड़े हो, आगे नहीं दौड़ते। इस

---

१. स्पष्ट—अ० आ०।

पुरादर्शविभ्रमविलोकनोद्भूताभिलाषदहनमलिनमनसानेन षण्मासावस्थितेरायुषः परिज्ञानेन च महदुदपादि दुःखं । एवं नरकभवेऽपि । इत्थमनन्तकालमनुभूतदुःखस्य मम को विषादो, दुःखोपनिपाते । न च विषण्णं त्यजन्ति दुःखानि, स्वकारणोपनतसन्निधानानि तानीति सत्त्वभावना । यदशुभशरीरदर्शनाद् भीतिः सापि नो युक्ता । तानि शरीराणि असकृन्मया गृहीतानि दृष्टानि च । का तत्र परिचितेभ्यो भीतिरिति चित्तस्थिरीक्रिया सत्त्वभावना ॥२०१॥

एयत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।
मज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥२०२॥

एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणावृत्तिजनितदुःखानुभवने न दुःखं मदीयं संविभजति कश्चित् । दुःखसंविभजनगुणेन स्वजन इत्यनुरागः तदकरणेन च परजन इति च द्वेषो युज्यते । न चेदस्ति सुखं मय्याधातुमयम् इति न तद्गुणेनापि स्वजनपरजनविवेकः । तस्मादेक एवाहं न मे कश्चित् । नाप्यहं कस्यचिदिति चिन्ता कार्या । तस्या गुणमाचष्टे 'एयत्तभावणाए' एकत्वभावनया हेतुभूतया । 'ण सज्जदि' नासक्तिं करोति । क्व ? कामभोगे, गणे शिष्यादिवर्गे, शरीरे वा सुखे वा । कामं स्वेच्छया भुज्यन्ते इति कामभोगाः । सुखसाधनतया संकल्पितभक्तपानादयो वामलोचनादिवर्गश्च तत्र न सङ्गं करोति । बाह्यद्रव्यसंसर्ग-

---

प्रकार देवोंके प्रधानोंके अति कठोर वचन रूपी कीलोंसे कानोंके छेदनेसे, इन्द्रके अन्तपुरकी देवांगनाओंके प्रचुर विलासको देखकर उत्पन्न हुई ऐसी सुन्दर देवांगनाओंकी अभिलाषारूपी आगसे उत्पन्न हुए संतापसे, और आयुके छह मासके शेष रहनेके परिज्ञानसे महान दुःख होता है। इसी प्रकार नरक पर्यायमें भी जानना। इस प्रकार मैंने अनन्तकाल दुःखका अनुभव किया है। सब दुःख आने पर विषाद क्यों ? विषाद करनेसे दुःख छोड़ता नहीं है। दुःख तो अपने कारणोंके होनेसे होता है। यह सत्त्वभावना है। यदि अशुभ शरीरके देखनेसे भय होता है तो वह भी ठीक नहीं है। ऐसे शरीर मैंने बहुत बार धारण किये हैं और देखे हैं। परिचितोंसे भय कैसा ? इस प्रकार चित्तको स्थिर करना सत्त्वभावना है ॥२०१॥

गा०—एकत्व भावनासे कामभोगमें, संघमें अथवा शरीरमें आसक्ति नहीं करता। वैराग्यमें मन रमाये हुए सर्वोत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है ॥२०२॥

टी०—एकत्व भावनाका स्वरूप इस प्रकार है—जन्म, जरा, और मरणके बार-बार होनेसे उत्पन्न हुए दुःखको भोगनेमें कोई मेरे दुःखमें भाग नहीं लेता। अतः दुःखमें भाग लेनेसे यह स्वजन है इसलिए उसमें अनुराग और जो दुःखमें भाग नहीं लेता वह परजन है इसलिए उससे द्वेष करना उचित नहीं है। यदि कोई दुःखमें भाग नहीं लेता तो मुझमें सुख ही पैदा करदे सो भी बात नहीं है। अतः जो मुझमें सुख पैदा करे वह स्वजन है और जो सुख पैदा नहीं करता वह परजन है ऐसा भेद सुखको लेकर भी नहीं होता। अतः मैं अकेला ही हूँ। कोई मेरा नहीं है। और न मैं ही किसीका हूँ ऐसा विचार करना चाहिए। उसका लाभ कहते हैं कि एकत्व भावनासे काम भोगमें, शिष्यादिके समूहरूप गणमें, शरीर अथवा सुखमें आसक्ति नहीं होती।

'काम' अर्थात् अपनी इच्छासे जो भोगे जाते हैं वे कामभोग हैं। सुखका साधन होनेसे मनमें संकल्पित खान-पान आदि और स्त्री आदि वर्ग कामभोग हैं। उसमें वह आसक्ति नहीं

अरसं च अण्णवेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ।
आयंबिलमायामोदणं च विगडोदणं चेव ॥२१८॥

'अरसं' च स्वादरहितं । 'अण्णवेलाकदं च' वेलान्तरकृतं च शीतलमिति यावत् । 'सुद्धोदणं च' शुद्धोदनं च केनचिदप्यमिश्रं । 'लुक्खं च' रूक्षं च स्निग्धताप्रतिपक्षभूतेन स्पर्शेन विशिष्टमिति यावत् । 'आयंबिलं' असंस्कृतसौवीरमिश्रं । 'आयामोदणं' अप्रचुरजलसिक्थाढ्यमिति केचिद्वदन्ति । अन्ये¹ श्रावणसहित-मित्यन्ये । 'विगडोदणं' अतीव² पक्वं । उष्णोदकसंमिश्रं इत्यपरे ॥२१८॥

इच्चेवमादि विविहो णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ ।
एस तवो ³भजिदव्वो विसेसदो सल्लिहंतेण ॥२१९॥

'इच्चेवमादिविविहो' एवमादिविविधो नानाप्रकारो । 'णादव्वो हवइ रसपरिच्चाओ' ज्ञातव्यः सर्वो रसपरित्यागः । 'एस तवो भजिदव्वो' एतद्रसपरित्यागाख्यं तपः । 'भजिदव्वो' सेव्यं । 'विसेसदो' विशेषेण । 'सल्लिहंतेण' कायसल्लेखना कुर्वता । 'काओ रसाणं' ॥२१९॥

वृत्तिपरिसंख्यानिरूपणाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं ।
सम्बूकावट्टंपि पदंगवीघी य गोयरिया ॥२२०॥

गा०—स्वाद रहित अन्य समयमें बनाया गया अर्थात् ठण्डा भोजन, और शुद्ध भात जिसमें कोई अन्य शाक वगैरह न मिला हो, और रूखा भोजन जिसमें घी आदि न हो, आचाम्ल अर्थात् कांजी मिश्रित भात, थोड़ा जल और बहुत चावल वाला भात, और बहुत अधिकपका भात ॥२१८॥

टी०—'आयामोदण' का अर्थ कोई तो थोड़ा जल और चावल बहुत ऐसा भात करते हैं। अन्य कुछ श्रवणावण सहित (?) कहते हैं। विगडोदणका अर्थ दूसरे व्याख्याकार गर्मजलसे मिश्रित भात करते हैं ॥२१८॥

गा०—इत्यादि अनेक प्रकारका रस परित्याग सबको जानने योग्य है। शरीर सल्लेखना करने वालेको यह रस परित्याग नामक तप विशेष रूपमें सेवन करना चाहिये ॥२१९॥

रस परित्याग तपका वर्णन समाप्त हुआ। आगे चार गाथाओंसे वृत्तिपरि संख्यान तपका कथन करते हैं

टी०—'गत्तापच्चागद'—जिस मार्गसे पहले गया उसीसे लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा। 'उज्जुवीहि'—सीधे मार्गसे जानेपर मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा। 'गोमुत्तियं' बैलके मूतते हुए जानेसे जैसा आकार बनता है मोड़ेदार, वैसे जाते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा। 'पेलवियं'—वस्त्र सुवर्ण आदि रखनेके लिए बांस के पत्ते आदिसे जो सन्दूक बनता है, जिसपर ढकना भी हो, उसके समान चौकोर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

'सम्बूकावट्ट'—शंखके आवर्तोंके समान गाँवके अन्दर आवर्ताकार भ्रमण करके बाहरकी

---

१ श्रवणावण आ० मु० । २ अतीवतीव्रपक्वं आ० मु० । ३ कायव्वो अ० आ० ।

'गत्वापच्चागदं'। यथा वीथ्या गतः पूर्वं तयैव प्रत्यागमनं कुर्वन्यदि भिक्षां लभते गृह्णामि नान्यथा। 'उज्जुवीहिं' ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णामि नेतरथा। गोमूत्रिकाकारं भ्रमणं वा सपादयन्। 'पेलवियं' वंशदलादिभिर्निर्मापितं वस्त्रसुवर्णादिनिक्षेपणार्थं पिधानसहितं पेलडचतुरस्राकारं भ्रमणं। 'संबूकावट्टं वि य' संबुकावर्तं इव। 'पदंगवीधी य' पतंगमाला पतंगवीथीत्युच्यते। सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं। 'गोयरिया' गोचरी भिक्षायां भ्रमणं। एवंभूतेन भ्रमणेन लब्धां भिक्षां गृह्णामि नान्यथेति कृतसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानं ॥२२०॥

पाडयणियंसणभिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं।
पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥२२१॥

'पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं' इमं एव पाटकं प्रविश्य लब्धां भिक्षां गृह्णामि नान्यं। एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेवेति। अस्य गृहस्य परिकरतया अवस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहमित्यदभिग्रहः णियंसणमित्युच्यते[1] इति केचिद्वदन्ति। अपरे पाटकस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति संकल्पः पाडयणियंसणमित्युच्यते इति कथयन्ति। भिक्षापरिमाणं एको भिक्षा द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति। 'दत्तिघासपरिमाणं' एकेनैव दीयमानं द्वाभ्यामेवेति दातृक्रियापरिमाणं। आनीतायामपि भिक्षायां इयत एव ग्रासान्गृह्णामि इति वा परिमाणं। 'पिंडेसणा' पिण्डरूपमेवाशनं गृह्णामि। 'पाणेसणाओ' द्रवबहुलतया पानीयमेव अशनं। 'जागूय' यवागू। 'पोग्गलिया वा' धान्यान्येव निष्पावचणकमसूरकादीनि भक्षयामि इति ॥२२१॥

संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिदं च सुद्धगोवहिदं।
लेवडमलेवडं पाणायं च णिस्सित्थगं ससित्थं ॥२२२॥

और भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

'पदंगवीधी'—पक्षियोंकी पंक्ति जैसे भ्रमण करती है उस तरह भ्रमण करते हुए यदि भिक्षा मिली तो मैं ग्रहण करूँगा। गोयरिया'—गोचरी भिक्षाके अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा। इस प्रकारके सकल्प करनेको वृत्ति परिसंख्यान कहते हैं २२०॥

गा०-टी०—'पाडयणियसण'—इसी ही फाटकमें प्रवेश करके मिली हुई भिक्षाको ग्रहण करूँगा, अन्य फाटकमें नहीं। एक ही फाटकमें प्रवेश करूँगा या दो में ही प्रवेश करूँगा। 'अमुक घरसे लगी हुई भूमिमें प्रवेश करूँगा, घरमें नहीं जाऊँगा ? इस प्रकारकी प्रतिज्ञाको णियसण कहते हैं। ऐसा कोई कहते हैं। दूसरोंका कहना है कि पाटकी भूमिमें ही प्रवेश करूँगा, पाटके घरोंमें प्रवेश नहीं करूँगा इस प्रकारके संकल्पको 'पाटकणियसण' कहते है। 'भिक्षा परिमाण'—एक ही भिक्षा या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँगा, अधिक नहीं। 'दत्तिघास परिमाण'—एकके ही द्वारा देने पर या दो के ही द्वारा देनेपर भिक्षा ग्रहण करूँगा। अथवा दाताके द्वारा लाई गई भिक्षामेंसे भी इतने ही ग्रास ग्रहण करूँगा ऐसा परिमाण करना। पिंडेसणा'—पिण्ड रूप भोजन ही ग्रहण करूँगा। 'पाणेसणा'—जो बहुत द्रव होनेसे पीने योग्य होगा वही ग्रहण करूँगा। 'जागूय' यवागू ही ग्रहण करूँगा। 'पुग्गलया'—चना मसूर आदि धान्य ही ग्रहण करूँगा ॥२२१॥

---

१. त्यता वृ—आ० मु०। २ मित्यवग्रह।

'संसिट्ठं' शाककुल्माषादिव्यञ्जनसंमिश्रं [illegible] । [illegible] 'फलिहं' [illegible] 'परिखा' [illegible] । 'पुप्फोवहिदं' [illegible] । 'सुद्धोवहिदं' शुद्धेन निष्पावादिभिरसंमिश्रम् [illegible] । 'लेवडं' [illegible] 'अलेवडं' यन्न हस्ते न लगति । [illegible] 'पाणगं' [illegible] 'सित्थं' [illegible] 'असित्थं' सिक्थरहितं पानं [illegible] ॥२२२॥

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए।
इच्चेवमादिविविहा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥२२३॥

'पत्तस्स' तथाभूतेन भाजनेनानीतं [illegible] । 'दायगस्स' स्त्रियैव तत्रापि बालया, युवत्या, स्थविरया [illegible] ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या [illegible] अभिग्रहोऽवग्रह । 'बहुविहो' बहुविध । 'ससत्तीए' स्वशक्त्या । 'इच्चेवमादि' एवमादयः । 'विविहा' विविधा । 'णादव्वा' ज्ञातव्या । 'वुत्तिपरिसंखा' वृत्तिपरिसंख्या ॥२२३॥

कायक्लेशनिरूपणायोत्तरप्रबन्ध —

अणुसूरी पडिसूरी य उड्ढसूरी य तिरियसूरी य ।
उब्भामगेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ॥२२४॥

'अणुसूरि' पूर्वस्या दिशः पश्चिमायागमन [illegible] । 'पडिसूरी' [illegible] आदित्याभिमुख गमन । 'उड्ढसूरी य' ऊर्ध्वं गते सूर्ये गमन । 'तिरियसूरी य' [illegible] कृत्वा गमनं । 'उब्भामगेण गमण' स्वावस्थितग्रामाद् ग्रामान्तरं प्रति भिक्षार्थं गमनं । 'पडिआगमणं च गंतूणं' प्रत्यागमनं

गा०-टी०—'संसिट्ठ'—जो शाक कुल्माष आदि व्यंजनसे मिला हुआ हो । 'फलिह'—जिसके चारों ओर शाक रखा हो और बीचमें भात हो । 'परिखा'—चारों ओर व्यंजन हो बीचमें अन्न रखा हो । 'पुप्फोवहिद'—व्यंजनोंके मध्यमें पुष्पावलीके समान चावल रखे हों । 'सुद्धोवहिद'—शुद्ध अर्थात् बिना कुछ मिलाये अन्नमें 'उपहित' अर्थात् मिले हुए शाक व्यंजन आदि । 'लेवड' जिससे हाथ लिप जाये । 'अलेवड' जो हाथमें न लिपटे । सिक्थ सहित पेय और सिक्थ रहित पेय । ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा ऐसा संकल्प करना है ॥२२२॥

गा०-टी०—'पत्तस्स'—इसी प्रकार सोने, चाँदी, कांसे या मिट्टीके पात्रसे ही लाया गया भोजन ग्रहण करूँगा । 'दायगस्स'—स्त्रीसे ही, उसमें भी बालिकासे या युवतीसे या वृद्धासे अथवा अलंकार सहित स्त्री या अलंकार रहित स्त्रीसे या ब्राह्मणीसे या राजपुत्रीसे दिया गया आहार ही ग्रहण करूँगा । इस तरह बहुत प्रकारके अभिग्रह अपनी शक्तिके अनुसार होते हैं । ये सब विविध वृत्ति परिसंख्यान जानना चाहिये ॥२२३॥

काय क्लेशका कथन करते हैं—

गा०-टी०—'अणुसूरि'—जिस दिन कड़ी धूप हो सूरजको पीछे करके पूरब दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर जाना । 'पडिसूरि'—पश्चिम दिशासे सूरजकी ओर मुख करके गमन करना । 'उड्ढसूरी'—सूरजके ऊपर आ जाने पर गमन करना, 'तिरियसूरी'—सूरजको एक ओर रखते हुए गमन करना । 'उब्भामगेण गमण'—जिस ग्राममें मुनि ठहरे हों उस ग्रामसे दूसरे गाँवमें भिक्षाके

१. स्थिरमि–अ० आ० ।

च [1]गत्वा ॥२२४॥

स्थानयोगनिरूपणा—

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव वोसट्टं ।
समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥२२५॥

'साधारणं' प्रमृष्टस्तम्भादिकमुपाश्रित्य स्थानं । 'सवीचारं' ससंक्रमं पूर्वावस्थिताद्देशाद्गत्वापि स्थापितस्थानं । 'सणिरुद्धं' निश्चलमवस्थानं । 'तहेव' तथैव । 'वोसट्टं' कायोत्सर्गः । 'समपाद' समौ पादौ कृत्वा स्थानं । 'एगपाद' एकेन पादेन अवस्थानं । गिद्धोलीणं गृद्धस्योर्ध्वगमनमिव बाहू प्रसार्यावस्थानं ॥२२५॥

आसनयोगनिरूपणा—

समपलियंकणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया ।
मगरमुह हत्थिमुण्डी गोणिसेज्जद्धपलियङ्का ॥२२६॥

'समपलियंकणिसेज्जा' सम्यक्पर्यङ्कनिषद्या । 'समपद' स्फिक्पिण्ड[2]समकरणेनासनं । 'गोदोहिगा' गोदोहने आसनमिवासनं । 'उक्कुडिगा' ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । 'मगरमुह' मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावस्थानं । 'हत्थिमुण्डी' हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनं । हस्तं प्रसार्येत्यपरे । 'गोणिसेज्ज अद्धपलियंकं' गोनिषद्या गवामासनमिव अर्द्धपर्यङ्कं ॥२२६॥

वीरासणं च दण्डायउड्ढसाई य लगडसाई य ।
उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥२२७॥

लिये जाना । 'गंतूण पडिआगमण'—जाकर लौट आना ये सब काय क्लेश तप है ॥२२४॥

स्थान योगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—'साधारण'—चिकने स्तम्भ आदिका आश्रय लेकर खड़े होना । सवीचार—पूर्व स्थानसे दूसरे स्थान पर जाकर कुछ काल तक खड़े रहना । 'सणिरुद्ध'—अपने स्थान पर ही निश्चल स्थित होना । 'वोसट्ट'—कायोत्सर्ग करना । समपाद—दोनो पैर बराबर करके खड़े होना । 'एगपाद'—एक ही पैर से खड़े होना । 'गिद्धोलीण'— जैसे गिद्ध उड़ते समय अपने दोनो पंख फैलाता है उस तरह दोनो हाथ फैलाकर खड़े होना ॥२२५॥

आसन योगका कथन करते है—

गा०-टी०—'समपलियंकणिसेज्जा'—सम्यक् पर्यंकासनसे बैठना । 'समपद'—जाघे और कटि भागको सम करके बैठना । 'गोदोहिगा' गौ दूहते समय जैसा आसन होता है वैसे आसनसे बैठना । 'उक्कुडिया'—ऊपरको संकुचित आसनसे बैठना अर्थात् दोनो पैरोंको जोड भूमिको न छूते हुए बैठना । 'मगरमुह'—मगरके मुखकी तरह पैर करके बैठना । 'हत्थिमुंडी'—हाथीके सूँड फैलानेकी तरह एक पैर फैलाकर बैठना । दूसरों का कहना है कि हाथ फैलाकर बैठना हत्थिमुंडी है । 'गोणिसेज्ज' दोनो जघाओको सकोच कर गायकी तरह बैठना । और अर्धपर्यकासन । ये सब कायक्लेश के आसन हैं ॥२२६॥

---

१. कृत्वा अ० । २. समकरणेना-मु० ।

'वीरासणं' जङ्घे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनं। दण्डवदायतं शरीरं कृत्वा शयनं। स्थित्वा शयनं च ऊर्ध्वशायीत्युच्यते। 'लगडसाई' सङ्कुचितगात्रस्य शयनं। उत्ताणो उत्तानं शयनं। अवमस्तकशयनं एकपार्श्वशयनं च ॥२२७॥

अब्भावगासमयण अणिट्ठवणा अकंडुगं चेव।
तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचो य ॥२२८॥

'अब्भावगासमयणं' बहिनिरावरणदेशे शयनं। 'अणिट्ठिवणमं' निष्ठीवनाकरणं। 'अकंडुवर्णं च' अकण्डूयनं। 'तणफलसिलाभूमीसेज्जा' तृणादिषु शय्या। 'तहा' तथा। 'केसलोओ य' केशलोचश्च ॥२२८॥

अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतघोवणं चेव।
कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥२२९॥

'अब्भुट्ठणं च रादो' रात्रावशयनं जागरणमित्यर्थः। 'अण्हाणं' अस्नानं। 'अदन्तधोवणं चेव' दन्तानामशोधनं। 'कायकिलेसो' कायक्लेशः। 'एसो' एषः। 'सीदुण्हादावणादी य' शीतातापनमुष्णातापनमित्येवमादिकं ॥२२९॥

विविक्तशयनासननिरूपणा—

जत्थ ण विसोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूवगन्धफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा ॥२३०॥

'जत्थ ण विसोत्तिग' यस्यां वसतौ न विद्यतेऽशुभपरिणामः। 'सद्दरसरूवगन्धफासेहिं' शब्दरसरूपगन्धस्पर्शैः करणभूतैः मनोज्ञैरमनोज्ञैर्वा। 'सा विवित्ता वसधी' विविक्ता वसतिः। 'सज्झायज्झाणवाघादो' स्वाध्यायध्यानयोर्व्याघातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति ॥२३०॥

गा०-टी०—दोनों जघाओंको दूर रखकर आसन वीरासन है। आगे शयनके भेद कहते हैं—दण्डेके समान शरीरको लम्बा करके सोना। खड़े होकर सोना। इसे ऊर्ध्वशायी कहते हैं। 'लगडसाई'—शरीरको सकुचित करके सोना। उत्ताण—ऊपरको मुख करके सोना। ओमत्थिय-मस्तक नीचे करके सोना अर्थात् नीचे मुख करके सोना। एक करवटसे सोना। मडयसाई—मुर्देकी तरह निश्चेष्ट सोना ॥२२७॥

गा०-टी०—'अब्भवगास सयण'—बाहर खुले आकाशमें सोना। 'अणिट्ठिवण'—थूकना नहीं। अकडुगण—खुजाना नहीं। तथा तृण, काठका पटिया, शिला, या भूमिपर सोना और केशलोच ॥२२८॥

गा०-टी०—रातमें शयन नहीं करना अर्थात् जागना। स्नान नहीं करना। दाँतोंको नहीं धोना उनकी सफाई नहीं करना। और शीतकालमें तथा गर्मीमें आतपन योग करना इत्यादि कायक्लेश है ॥२२९॥

विविक्त शयनासन तपका कथन करते हैं—

गा०—जिस वसतिमें मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शके द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते। अथवा स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नहीं होता वह विविक्त वसति है ॥२३०॥

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अन्तो वा ।
इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥२३१॥

'वियडाए' उद्घाटितद्वारायां । 'अवियडाए' अनुद्घाटितद्वारायां वा । 'समविसमाए' समभूमि-समन्विताया विषमभूमिसमन्वितायां वा । 'बहिं च' बहिर्भागे वा । 'अन्तो वा' अभ्यन्तरे वा । 'इत्थिण-उंसयपसुवज्जिदाए' स्त्रीभिर्नपुंसकैः पशुभिश्च वर्जितायां वसतौ । 'सीदाए' शीतायां । 'उसिणाए' उष्णायां ॥२३१॥

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ।
वसति असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥२३२॥

'उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितायां । तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते । वृक्ष-च्छेदस्तदानयनं इष्टकापाक, भूमिखनन, पाषाणसिकतादिभिः पूरणं, धरायाः कुट्टनं, कर्दमकरणं, कीलानां करणं, अग्निनायस्तापनं कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटनं, वासीभिस्तक्षणं, परशुभिश्छेदनं इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते । यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पाषण्डिनामेवेति वा श्रमणाना-मेवेति, निर्ग्रन्थानामेवेति वा उद्देशिगा वसतिरिति कथ्यते । आत्मार्थं गृहं कुर्वता अपवरकं संयतानां भवत्विति कृतं अब्भोब्भवमित्युच्यते । आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह बहुभिः श्रमणार्थमानीतैरल्पैन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते । पाषण्डिनां गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेश्म मिश्रम् । स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति स्थापितं ठविदं इत्युच्यते । संयत न च यावद्दिवि-

गा०—वह वसति खुले द्वार वाली हो अथवा बन्द द्वार वाली हो। उसकी भूमि सम हो अथवा ऊँची नीची हो। वह बाहरके भागमें हो अथवा अन्दरके भागमें हो। स्त्री नपुंसक और पशुओंसे रहित हो ठंडी हो या गर्म हो ॥२३१॥

गा० उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित, दुष्प्रमार्जन, आदि संस्कारसे रहित, जीवोंकी उत्पत्तिसे रहित, प्राभृतरहित वसतिकामें अन्दर या बाहरमें विविक्त शयनासन तपके धारी मुनि निवास करते हैं ॥२३२॥

टी०—उद्गमदोषको कहते हैं—वृक्षको काटना, उसको लाना, ईंटे पकाना, भूमि खोदना, उसे पत्थर रेत वगैरहसे भरना, पृथ्वीको कूटना कीचड़ तैयार करना, कीले बनाना, आगसे लोहा गरम करके उसे पीटकर करौंतोंसे लकड़ी चीरना। विसौलोंसे छीलना, फरसोंसे काटना, इत्यादि व्यापारसे छहकायके जीवोंको बाधा पहुँचाकर अपने द्वारा बनाई या दूसरेसे बनवाई वसति अधःकर्मनामक दोषसे युक्त है। जितने दीन अनाथ दरिद्र अथवा वेषधारी आयेंगे उनके उद्देशसे बनाई, अथवा यह पाषण्डियोंके ही लिए हैं, या श्रमणोंके ही लिए है या निर्ग्रन्थोंके ही लिए है, ऐसी वसति उद्देशिग दोषसे युक्त होती है। अपने लिए घर बनाते हुए यह कोठरी संयमियो-के लिए रहे ऐसा संकल्पपूर्वक बनाई वसतिका अब्भोब्भव कहलाती है। अपना घर बनानेके लिए लाए गये बहुतस काष्ठ आदिके साथ थोड़ा-सा सामान श्रमणोंके लिए लाकर दोनोंके मेलसे बनी वसति पूतिक कही जाती है। पाषण्डियों अथवा गृहस्थोंके लिए घर बनवाकर पीछे मुनियोंका उद्देश करके उसमें काष्ठआदि मिलाकर बनवाई वसति मिश्रदोषसे दूषित है। अपने ही लिए

नैरागमिष्यन्ति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सर्वं करिष्याम इति चेतसि कृत्वा [illegible] वेश्म प्राभृत-
मित्युच्यते । तदागमानुरोधेन गृहसंस्कार[illegible] [illegible] प्राभृतिका वसतिः । [illegible]
बहुल तत्र प्रकाशनाय भित्तौ [illegible] [illegible] [illegible] प्रादुष्कारिका वसतिः । [illegible]
भण्यते । द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं इति द्विविधं क्रीतं । [illegible] [illegible] [illegible] वा [illegible]
अचित्तं वा घृतगुडखण्डादिकं दत्त्वा क्रीतं द्रव्यक्रीतं । [illegible] [illegible] दत्त्वा संयतार्थं,
कृत्वा वृद्धिमन्तं अवृद्धिं वा गृहीतं [illegible] [illegible] उच्यते । [illegible] वा क्रीतं भावक्रीतं । अल्पमृ-
णमर्णाय तावद्गृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परिवर्तितं उच्यते । [illegible] [illegible] [illegible]
मेव यत्संयतायमानीतं तदभ्याहृतमुच्यते । [illegible] [illegible] [illegible]
मनाचरितं इत्यनाचरितं । इष्टकादिभिः मृत्पिण्डेन वृत्या, कपाटेनोपलेन वा स्थगितं अपनीय दीयते यत-
दुद्भिन्नं । निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमि
मा मालारोहमित्युच्यते । राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य [illegible] [illegible] [illegible] । अच्छेज्जं इति । अनिसृष्टं
पुनर्द्विविधं । गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसतिः [illegible] [illegible] [illegible] दीयते सोऽप्यन-
निसृष्टेति उच्यते । उद्गमदोषा निरूपिता ।

उत्पादनदोषा निरूप्यते—पञ्चविधाना धात्रीकर्मणा [illegible] वसतिः । [illegible]

बनाये घरको संयमियोंके लिए स्थापित करना ठविद दोष है। अमुक मुनि जितने दिनोंमे आवेंगे, उनके प्रवेश करनेके दिन घरकी सब सफाई आदि करायेंगे, ऐसा चित्तमें विचारकर बनाया घर 'पाहुडिग' कहा जाता है। अथवा मुनिके आनेके अनुरोधसे घरका संस्कार करनेका जो समय नियत किया था उस समयसे पूर्व संस्कार करना पाहुडिग दोष है। जिस घरमें बहुत अन्धकार रहता है उसमे मुनियोंके लिए बहुत प्रकाश लानेके उद्देशसे दीवारमें छेद करना, लकड़ीका पटिया हटाना, दीपक रखना पादुकारदोष है। खरीदा हुआ दो प्रकारका होता है द्रव्यकृत और भावकृत। सचेतन गाय बैल वगैरह देकर मुनिके लिए खरीदा गया अथवा अचित्त घी गुड खाँड आदि देकर खरीदा गया घर द्रव्यकृत है। विद्या मंत्र आदि देकर खरीदा गया घर भावकृत है। बिना ब्याजका अथवा ब्याज पर थोड़ा सा ऋण लेकर मुनियोंके लिए लिया गया घर पामिच्छ कहा जाता है। आप मेरे घरमें रहे, अपना घर यतियोंको देदें इस प्रकार ग्रहण किया घर परिवट्ट कहाता है। अपनी दीवार आदिके (?) लिए जो तैयार या उसे मुनिके लिए लाना अभ्याहिड कहाता है। उसके दो भेद हैं आचरित और अनाचरित। जो दूर देशसे या अन्य ग्राममें लाया गया वह अनाचरित है शेष आचरित है। जो घर इंट आदिसे, मिट्टीके ढेलोंसे, बाड़से, कपाटसे या पत्थरसे ढका है इनको हटाकर दिया गया वह घर उद्भिन्न दोषसे युक्त है। सीढ़ी वगैरहसे ऊपर चढ़कर 'यहाँ आओ, आपकी यह वसति है' इस प्रकारसे जो दूसरे या तीसरे खण्डकी भूमि दी जाती है उसे मालारोहण कहते है। राजा मंत्री आदिके द्वारा भय दिखलाकर जो दूसरेकी वसति दी जाती है। वह अच्छेज्ज है। अनिसृष्टके दो भेद है। घरके स्वामीके द्वारा जो नियुक्त नहीं है ऐसे स्वामिके द्वारा जो वसति दी जाये वह अनिसृष्ट है। और जो पराधीन बालक स्वामी के द्वारा दी जाए वह भी अनिसृष्ट है। ये उद्गमदोष कहे।

उत्पादन दोष कहते है—धायके पाँच काम हैं—कोई बालकको नहलाती है। कोई उसे

यति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति स्वापयति वा। वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा। ग्रामान्तरान्नगरान्ता राच्च देशाद्देशान्तरतो वा सम्बन्धिना वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता। अंग, स्वरो, व्यञ्जनं, लक्षणं, छिन्नं, भौमं, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवंभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा। आत्मनो जातिं, कुलं, ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते। भगवन्सर्वेषां आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजनः प्रतिकूलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते। अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता। क्रोधोत्पादिता च। गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रय इतीयं वार्ता दूरादेवास्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा, वसनान्तरकाले च गच्छन्प्रशंसां करोति पुनरपि वसतिं लप्स्ये इति। एवं उत्पादिता सस्तवदोषदुष्टा। विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा, मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायोनिसंस्थापना मूलकर्म। विरक्तानां अनुरागजननं वा। उत्पादनाख्योऽभिहितो दोषः षोडशप्रकारः।

अथ एषणादोषान्दश प्राह—

किमियं योग्या वसतिर्नेति शङ्किता। तदानीमेव सिक्ता सम्मार्जिता सती वा छिद्रस्रुतजलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा म्रक्षितेत्युच्यते। सचित्तपृथिव्या अपां, [1]वायो हरितानां, बीजानां

भूषण पहिनाती है। कोई खेल खिलाती है, कोई भोजन कराती है, कोई सुलाती है, इनमेंसे कोई एक कर्म करके प्राप्त की गई वसति धात्रीदोषसे दूषित है। अन्य ग्राम, अन्य नगर या देशान्तमे रहनेवाले सम्बन्धियोंकी कुशलवार्ता कहकर प्राप्त की गई वसति दूतकर्मके द्वारा उत्पादित होनेसे दूतकर्म दोषसे दुष्ट है। अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष, इस प्रकार निमित्तोंके उपदेशसे—गृहस्थोंको शुभाशुभ बतलाकर प्राप्त की गई वसति निमित्त नामक दोषसे दुष्ट है। अपनी जाति, कुल अथवा ऐश्वर्यको कहकर अपना बड़प्पन प्रकट करके प्राप्त की गई वसति आजीव शब्दसे कही जाती है। भगवन्! सबको आहार देने और वसति देनेसे क्या महान् पुण्य होता है? ऐसा गृहस्थ पूछे तो, 'नही होता' ऐसा कहनेपर गृहस्थ प्रतिकूल वचनसे रुष्ट होकर वसति नहीं देगा' इस विचारसे उनके अनुकूल कहकर प्राप्त की गई वसति 'वणिगवा' शब्दसे कही जाती है। आठ प्रकारकी चिकित्साके द्वारा प्राप्त की गई वसति चिकित्सा दोषसे दुष्ट है। क्रोधादिके द्वारा प्राप्त की गई वसति क्रोध आदि दोषसे दुष्ट है। आने जानेवाले यात्रियोंके लिए आपका ही घर आश्रय है यह बात हमने दूर देशसे ही सुनी है, इस प्रकार पहले स्तुति करके प्राप्त की गई अथवा निवास करनेके पश्चात् जाते समय प्रशंसा करना कि पुनः आनेपर वसति प्राप्त हो तो वह संस्तव दोषसे दुष्ट है। विद्या, मन्त्र या चूर्णके प्रयोगसे गृहस्थको वशमें करके प्राप्त की गई वसति विद्यादोष, मंत्रदोष और चूर्णदोषसे दुष्ट है, मूलकर्मके द्वारा प्राप्त की गई अथवा विरागियोंको राग उत्पन्न करके प्राप्त हुई वसति मूलकर्म दोषसे दुष्ट है।

उत्पादन नामक सोलह प्रकारका दोष कहा।

दस एषणा दोष कहते हैं—

यह वसति योग्य है या नहीं, ऐसी शंका करना शंकित दोष है। जो वसति तत्काल ही सींची गई या लीपी गई है अथवा छिद्रमें बहनेवाले जलके प्रवाहसे या जलपात्रके लुढ़कानेसे

१. वान्या आ०। अपां हरि–मु०।

त्रसानां उपरि स्थापितं पीठफलकादिकं अत्र शय्या क्रियतामिति या दीयते वसतिः सा निक्षिप्तं उच्यते। हरित-कंटकसचित्तमृत्तिकापिधानमाकृष्य या दीयते सा पिहिता। काष्ठचेलकंटकप्रावरणाकर्षणं कुर्वता पुरोगायिनोपदर्शिता वसतिः साधारणशब्देनोच्यते। मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन, मत्तेन, व्याधितेन, नपुंसकेन, पिशाचगृहीतेन, नग्नया वा दीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा। स्थावरैः पृथिव्यादिभिः त्रसैः पिपीलिकामत्कुणादिभिः सहितोन्मिश्रा। वितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकदोषः। शीतवातातपाद्युपद्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दां कुर्वतो वसनं धूमदोषः। निर्वाता विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तदनुराग इङ्गाल इत्युच्यते। एवमेतैरुद्गमादिदोषैरनुपहता वसतिः शुद्धा तस्यां। 'अकिरियाए' तु प्रमार्जनादिसंस्काररहितायां। 'असंसत्ताए' जीवसम्भवरहितायां। 'णिप्पाहुडियाए' सम्मारहितायां। सेज्जाए वसदी। अन्तर्बहिर्वा वसइ वसति। यतिर्विविक्तशयनासनरतः ॥२३२॥

अथ का विविक्ता वसतिरित्यत्राह—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विवित्ताइं ॥२३३॥

शून्य गृहं, गिरेर्गुहा, वृक्षमूलं, आगन्तुकानां वेश्म, देवकुलं, शिक्षागृहं केनचिदकृतं अकृतप्राग्भार-

---

उसी समय लीपी गई है उसे म्रक्षित कहते हैं। सचित पृथिवी, वायु, जल हरे बीज, और त्रस-जीवोंके ऊपर स्थापित पीठ, काष्ठफलक आदिको यहाँ शय्या करें ऐसा कहकर जो वसति दी जाती है उसे निक्षिप्त कहते हैं। हरित काँटे, सचित मिट्टीके आवरणको हटाकर जो वसति दी जाती है वह पिहित दोषसे युक्त है। काष्ठ, वस्त्र, कण्टकके आवरण आदिको खींचते हुए आगे जानेवाले मनुष्यके द्वारा दिखलाई गई वसति साधारण शब्दसे कही जाती है। जिसे मरण अथवा जननका दोष लगा है ऐसे गृहस्थके द्वारा या मत्त, रोगी, नपुंसक, जिसे पिशाचने पकड़ा हुआ है या बालिकाके द्वारा दी गई वसति दायक दोषसे दूषित है। स्थावर पृथिवी आदि, त्रस चींटी खटमल आदिसे सहित वसति उन्मिश्रा है। जितने बालिश्त प्रमाणभूमि साधुको चाहिए उससे एक बालिश्त भूमि भी अधिक लेना प्रमाणातिरेक नामक दोष है। यह वसति शीतवायु, धूप आदि उपद्रवाली है ऐसी निन्दा करते हुए भी उसी वसतिमें रहना धूमदोष है। यह वसति विशाल है इसमें हवा नहीं आती, अधिक गर्म भी नहीं है, सुन्दर है इस प्रकार उससे अनुराग करना इंगाल दोष है। वसति इन दोषोंसे रहित होनी चाहिए ॥२३२॥

विशेषार्थ—साधुको देने योग्य आहार, औषध, वसति, सस्तर, उपकरण आदि दाताकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंसे उत्पन्न होते हैं वे उद्गम आदि सोलह दोष है। और मार्गविरुद्ध जिन क्रियाओंसे भोजन आदि बनाये जाते हैं वे सोलह उत्पादन दोष है। ये बत्तीस भी आधाकर्मरूप होनेसे दोष कहे जाते हैं। यतिके भोजन आदिके लिए छहकायके जीवोंको बाधा देना अथवा ऐसे कारणसे उत्पन्न भोजन आदि आधाकर्म कहे जाते हैं। एषणादोष दस हैं। मूलाचारमें इन दोषोंका कथन है।

विविक्त वसति कौन है यह कहते हैं—

गा०—शून्य घर, पहाड़की गुफा, वृक्षका मूल, आनेवालोंके लिए बनाया घर, देवकुल,

शब्देनोच्यते । आरामगृहं क्रीडार्थमायातानां आवासाय कृतं । एता विविक्ता वसतयः ॥२३३॥

अत्र वसने दोषाभावमाचष्टे—

कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्ति च ।
ज्झाणज्झयणविघादो णत्थि विवित्ताए वसधीए ॥२३४॥

'कलहो बोलो' । ममेयं वसतिस्तवेयं वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । 'बोलो' शब्दबहुलता । 'झंझा' संक्लेशः । 'वामोहो' वैचित्त्यं । 'संकरो' अयोग्यैरसंयतै सह मिश्रणं । 'ममत्तं च' ममेदंभावश्च । 'णत्थि' नास्ति । 'ज्झाणज्झयणविघादो' ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघातः । उक्तः कलहादिर्न विद्यते । क्व ? 'विवित्ताए वसधीए' विविक्तायां वसतौ । एकस्मिन्प्रमेये निरुद्धज्ञानसततिर्ध्यानं । अनेकप्रमेयसचारी स्वाध्यायः ॥२३४॥

इय सल्लीणमुवगदो सुहप्पवत्तेहिं तत्थ जोएहिं ।
पंचसमिदो तिगुत्तो आदट्ठपरायणो होदि ॥२३५॥

'इय' एवं । 'सल्लीणं' एकात्मतां 'उवगदो' उपगतः । केन ? 'जोगेहिं' योगैः तपोभिर्ध्यानैर्वा । सुहप्पवत्तेहिं सुखप्रवृत्तैः सुखेनावलेशेन प्रवृत्तैः । 'पंचसमिदो' समितिपंचकोपेतः । 'तिगुत्तो' कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधः । 'आदट्ठपरायणो होदि' आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्थायी यतिः निष्प्रतिद्वन्द्वध्यानं शुभैस्तपोभिर्वा स्वास्थ्यमुपगतः सवरं निर्जरां च स्वप्रयोजनं संपादयति इति ॥२३५॥

सवरपूर्विका निर्जरां स्तोतुमाह—

जं णिज्जरेदि कम्मं असंवुडो सुमहदावि कालेण ।
तं संवुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥२३६॥

शिक्षाघर, किसीके द्वारा न बनाया गया स्थान, आरामघर—क्रीडाके लिए आये हुओंके आवासके लिये जो बनाया गया है ये सब विविक्त वसतियाँ हैं ॥२३३॥

इनमे रहनेमें कोई दोष नही है, यह कहते हैं—

गा०—विविक्त वसतिमें कलह, शब्द बहुलता, संक्लेश, चित्तका व्यामोह, अयोग्य असयमियोंके साथ सम्बन्ध, यह मेरी है ऐसा भाव, तथा ध्यान और अध्ययनमें व्याघात नही है ॥२३४॥

टी०—विविक्त वसतिमें यह मेरी वसति है यह तेरी वसति है इस प्रकार कलह नही होता क्योंकि वहाँ अन्य लोग नही होते । इसीसे ऊपर कहे अन्य दोष भी नहीं होते । ध्यान अध्ययनमें बाधा नही होती । एक पदार्थमें ज्ञानसन्ततिके निरोधको ध्यान कहते है और अनेक पदार्थोंमें संचारको स्वाध्याय कहते हैं ॥२३४॥

गा०—इस प्रकार विविक्त वसतिमें निवास करनेसे विना क्लेशके सुखसे होनेवाले तप अथवा ध्यानके द्वारा बाह्यतपमें एकात्मताको प्राप्त यति पाँच समितियोंसे युक्त हुआ अशुभ मन वचनकायका निरोध करके आत्माके कार्यमें तत्पर होता है ॥२३५॥

टी०—यहाँ कहा है कि विविक्त वसतिमें रहनेवाला यति निर्विघ्न ध्यानके द्वारा अथवा शुभतपके द्वारा स्वास्थ्यको प्राप्त होकर सवर और निर्जरारूप अपने प्रयोजनको करता है ॥२३५॥

'जं णिज्जरेदि कम्मं' यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाह्येन । क. ? 'असंवुडो' असंवृत अशुभयोगनिरोधरहित. । 'सुमहदावि कालेण' सुष्ठु महता कालेनापि । 'तं' तत्कर्म 'खवेदि' क्षपयति । 'अंतोमुहुत्तेण' अतिस्वल्पेन कालेन । क ? संवुडो' संवृत गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयपरिणतः । 'तवस्सी' तपस्वी अनशनादिमान् ॥२३६॥

एवमवलायमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ।
दोसेणिग्घादंतो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥२३७॥

एवमुक्तेन क्रमेण एतेन । 'तवेण भावेमाणो' तपसा भावयन्नात्मानमुद्यतः । 'अवलायमाणो' अग्लायमान । कुतो दुर्धरात्तपस । एवमवलोयमाणो इति क्वचित्पाठ. । तत्रायमर्थ —किल एवमेदेण तवेण भावेमाणो इति पदसम्बन्ध । एवमेतेन तपसा भावयमान अपलायमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति । तदयुक्तं– अशब्दार्थत्वात् । 'दोसे' दूषयति रत्नत्रयमिति दोषा अशुभपरिणामा. तान् घातयन् । 'पग्गहिददरं' नितरां । 'परक्कमदि' चेष्टते मुक्तिमार्गे ॥२३७॥

यतिना निर्जरार्थिना एवंभूतं तपोऽनुष्ठेयं इति कथयति ।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि ।
जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ॥२३८॥

'सो णाम बाहिरतवो' तन्नाम बाह्य तप । कि ? 'जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि' येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते । 'जेण य सड्ढा जायदि' येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यन्तरे श्रद्धा जायते । 'जेण य जोगा ण हायंति' येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न हीयन्ते । तत्तथाभूतं तपोऽनुष्ठेयमिति यावत् ॥२३८॥

संवरपूर्वक निर्जराकी प्रशंसा करते हैं—

गा०—असंवृत अर्थात् अशुभयोगका निरोध न करनेवाला यति महान् कालके द्वारा भी जिस कर्मकी बाह्य तपके द्वारा निर्जरा नहीं करता उस कर्मको संवृत अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजयको करनेवाला तपस्वी अति स्वल्पकालमें क्षय करता है ॥२३६॥

गा०—उक्त क्रमसे इस तपमें अपनेको तत्पर करता हुआ दुर्धरतपसे न डरकर रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभ परिणामोंको घातता है और अत्यन्त मुक्तिके मार्गमें चेष्टा करता है ॥२३७॥

टी०—कहींपर 'एवमवलोयमाणो' ऐसा पाठ है। 'एदेण तवेण भावेमाणो' पदके साथ उसका सम्बन्ध करके ऐसा अर्थ करते हैं—इस प्रकार इस तपसे भावना करता हुआ 'अपलोयमाण' अर्थात् द्रव्यकर्मका विनाश करता है। यह युक्त नहीं है क्योंकि यह शब्दार्थ नहीं है ॥२३७॥

निर्जराके इच्छुक यतिको इस प्रकार तप करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—उसीका नाम बाह्य तप है, जिस तपके करनेसे मन पापकी ओर नहीं जाता। और जिस तपके करनेसे अभ्यन्तर तपमें श्रद्धा उत्पन्न हो और जिसके करनेसे पूर्वमें गृहीत योग-व्रत विशेष हीन नहीं होते। इस प्रकारका तप करना चाहिए ॥२३८॥

बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता ।
सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३९॥

बाह्यतपोऽनुष्ठाने गुण कथयत्युत्तरे सूत्रे । 'बाहिरतवेण' वाह्येन तपसा हेतुभूतेन । 'सव्वा सुहसीलदा परिचत्ता होदि' सर्वा सुखशीलता परित्यक्ता भवति । सुखभावना रागं जनयति । राग स्वय च कर्मबंधहेतुदोष चानयति । बध. कर्मस्थितिहेतु सैवम'र्षा निरस्ता भवति इति मन्यते । 'सल्लिहिदं च सरीर' भवति । शरीर दु.खनिमित्तं तत्यजनुकामस्य तनूकरणमुपाय तदनुष्ठित भवतीति यावत् । 'ठविदो' स्थापित. । 'आदा य' स्वय च, 'संवेगे' समारभीरुतायां । ननु च ससारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तस्या, ततोऽयुक्तमभाणि सूत्रकारेण वाह्येन तपसा सवेगे स्थापित । लोकेनाय सविग्नचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो युक्तमुच्यते ॥२३९॥

दंताणि इंदियाणि य समाधिजोगा य फासिदा होंति ।
अणिगूहिदवीरियदो जीविदतण्हा य वोच्छिण्णा ॥२४०॥

दंताणि दान्तानि 'इंदियाणिव' इन्द्रियाणि च । 'होंति' भवन्ति । अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेन जिह्वा दान्ता भवति इति । विविक्तशय्यासनेन इतराणि इन्द्रियाणि दान्तानि भवन्ति । मनोज्ञेन्द्रियविषयरहिताया वसतावस्थानात्तानि निगृहीतानि भवन्ति । समाधिजोगा य फासिदा होंति रत्नत्रयैकाग्र्य समाधि । समाधिषु योगा सम्बन्धायोगा । योगा सम्बन्धास्ते च 'फासिदा होंति' स्पृष्टा भवन्ति । रत्नत्रयसमाधानसम्बन्धा स्पृष्टा भवन्ति । अशनादिक त्यजता विषयरागो निरस्तो भवति । विषयरागव्याकुलो हि रत्नत्रये न घटते । असति तस्मिन्व्याकुलोऽशुभपरिणामैकमुखो भवति इति मन्यते । 'अणिगूहिदवीरियदा' अनिगूढवीर्यता

आगेकी गाथासे बाह्यतपको करनेके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य तपसे सब सुख शीलता छूट जाती है। क्योंकि सुख शीलता रागको उत्पन्न करती है। राग-रागको बढाता है और कर्मबन्धके कारण दोषोको लाता है। बन्धकर्मकी स्थितिमें हेतु है। इस तरह बाह्य तपसे अनर्थ करनेवाली यह सुखशीलता नष्ट होती है। शरीर दुःखका कारण है। उसको छोडनेका उपाय है शरीरको कृश करना। बाह्य तपसे शरीर कृश होता है और स्वयं आत्मा ससारसे भीरुतामे स्थापित होता है।

शंका—न तो ससारसे भीरुता तपका हेतु है और न तप संसारसे भीरुताका हेतु है अत. ग्रन्थकारने यह अयुक्त कहा है कि बाह्य तपसे सवेगमें स्थापित होता है ?

समाधान—जो बाह्य तप करता है उसे लोग मानते है कि इसका चित्त संसारसे विरक्त है। अत: ग्रन्थकारका कथन युक्त है ॥२३९॥

गा०-टी०—इन्द्रियाँ दान्त होती हैं। अनशन, अवमौदर्य और वृत्ति परिसंख्यान तप करनेसे जिह्वा दान्त होती है। विविक्त शय्यासन तपसे शेष इन्द्रियाँ दान्त होती हैं। जहाँ इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय नहीं हैं ऐसी वसतिमें रहनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है। रत्नत्रयमें एकाग्रताको समाधि कहते है। समाधिमे योग अर्थात् सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं। भोजन आदिका त्याग करनेसे विषयोंसे राग नहीं रहता। जो विषयरागसे सताया हुआ है वह रत्नत्रयमें नहीं लगता। रत्न-

---

१. सैवमर्ष नि–आ० । सैवमर्षान्नि–मु० ।

च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । 'जीविदतण्हा य' या जीविते तृष्णा च 'वोच्छिण्णा' व्युच्छिन्ना गता । न हि जीविताशावान् अशनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तृष्णावान् यत्किंचिदसंयमादिकं कृत्वा प्राणान् धारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ॥२४०॥

दुक्खं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुक्खे ।
मुसमूरिया कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥२४१॥

'दुक्खं च भाविदं होइ' दुःखं च भावितं भवति । दुःखभावना च ध्यानोपयोगिनी असंक्लेशेन दुःखसहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषकर्मापायस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते । अपि चासकृद्भावितदुःखो निश्चलो भवति ध्याने । 'अप्पडिबद्धो य होइ' अप्रतिबद्धश्च भवति । 'देहरससोक्खे' शरीररससौख्ये । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समाधेर्विघ्नं स निरस्तो भवतीति भाव । 'मुसुमूरिदा कसाया' उन्मर्दिताः कषायाः भवन्ति । कथं अनशनादिना कषायनिग्रहः कृतो भवति ? क्षमामार्दवार्जवसन्तोषभावनादिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कषायान्नेतरदिति चेत् अयमभिप्रायः —अशनालाभे, स्वल्पलाभे, अशोभनाना वा लाभे क्रोधकषाय उत्पद्यते । तथा प्रचुरलाभात्स्वादुभोजनलाभाच्च लब्धिमानहमिति मानकषायः । अस्मदीयभिक्षागृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति चिन्ता मायाकषायः । अशने रसप्राचुर्यविशिष्टे आसक्तिर्लोभकषायः । तथा वसतेरप्रदाने कोपः, तल्लाभे च मानकषायः प्राग्वत् । अन्येऽप्यागच्छन्तीति न मम वसतिरस्त्यवकाशोऽत्रेति वचनान्मायाकषायः । अहमस्य स्वामीति लोभः । इय

संयममें न लगनेसे व्याकुल होकर अशुभ परिणामोंमें ही लगता है। अपनी शक्तिको छिपाता नहीं है और वीर्याचारमें प्रवृत्त होता है। जीवनकी जो तृष्णा है वह भी नष्ट हो जाती है। जिसे जीनेकी तृष्णा है वह भोजनादिकका त्याग करना नहीं चाहता। जीवनकी तृष्णावाला जो कुछ भी असंयम आदि करके प्राणधारण करनेमें ही तत्पर रहता है, रत्नत्रयमें नहीं लगता ॥२४०॥

गा०-टी०—दुःखका सहन होता है। बिना किसी संक्लेशके दुःख सहनेमें कर्मोंकी निर्जरा होती है। और क्रमसे होनेवाली निर्जरा समस्त कर्मोंके विनाशका उपाय है इसलिए दुःखभावना उपयोगी है। दूसरे, बार-बार दुःखकी भावना करने वाला ध्यानमें निश्चल होता है। शरीर, रस और सुखमें अप्रतिबद्ध-अनासक्त होता है। इन तीनोंमें आसक्ति समाधिमें विघ्न करती है। अतः उसका निरास होता है। कषायोंका मर्दन होता है।

शंका—अनशन आदिसे कषायका निग्रह कैसे होता है? कषायोंकी विरोधी क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष भावना आदि कषायोंको नष्ट करते हैं, अन्य नहीं।

समाधान—अभिप्राय यह है कि भोजन आदि न मिलने पर, या कम मिलने पर अथवा अरुचिकर मिलने पर क्रोध कषाय उत्पन्न होती है। तथा प्रचुर लाभमें और स्वादयुक्त भिक्षाके लाभमें मैं 'लब्धि सम्पन्न हूँ' ऐसी मान कषाय उत्पन्न होती है। मेरे भिक्षा लेनेके घरको दूसरे न जान सकें इस तरह घरमें प्रवेश करूँ, यह चिन्ता माया कषाय है। रसीले अत्यधिक भोजनमें आसक्ति लोभ कषाय है। तथा वसति नहीं देने पर क्रोध और उसके मिलने पर मानकषाय होती है जैसा पहले भोजनके सम्बन्धमें कह आये हैं। दूसरे भी आने वाले हैं इस वसतिमें स्थान नहीं है

१ तीतिप्पा—आ० मु० । २. वसतेर—आ० मु० । ३. वाभार—आ० मु० ।

कषायनिमित्तवस्तुत्यागान्न कषायाणामवसरः इति । 'विसएसु' विषयेषु स्पर्शनादिषु । 'अणादरो होइ' अनादरो भवति औदासीन्यं जायते । तदौदासीन्यात् रागादरनिमित्तकर्मसंवरो भवतीति भावः । अशनस्य हि [1]शुक्लादिरूपे मृदुस्पर्शे, सौगन्ध्ये, रसे चादरस्त्यक्तो भवति अशनं त्यजता । तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादिरूपेषु ॥२४१॥

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ।
लाभालाभे समदा तितिक्खणं बंभचेरस्स ॥२४२॥

'कदजोगदा' सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविनः योगश्च कृतो भवति बाह्येन तपसा । 'आददमणं' आत्मनो दमनं आहारे सुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात् । 'आहारणिरासदा' आहारे नैराश्यं सम्पादितं प्रतिदिनं आहारगताशायास्त्यागाभ्यासात् । सर्वत्यागकालेऽपि सुकरा सर्वस्याहारनिराशतेति भावः । 'अगिद्धी य' अगृद्धिश्च अलंपटता च । क्व ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमान्लब्ध्वा तं त्यजति । लाभालाभे समदा लाभालाभयोः समता । लाभे च सत्याहारस्य हर्षाकरणात् अलाभे च तथाऽकोपात् । यः स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथंचित् परेणाप्रदाने दुर्मना भवति । 'तितिक्खणं बंभचेरस्स' ब्रह्मचर्यं च सोढं भवति । रसवदाहारत्यागादभिनवेऽपि शुक्रसंचये अनशने च संचितशुक्रक्षये सति न स्त्रीष्वनुरागी भवति इति भावः । तथा गलितशुक्राणां पुंसां वैमुख्यं वनितानां प्रतीतमेव ॥२४२॥

ऐसा कहना माया कषाय है। मैं इस वसतिका स्वामी हूँ यह लोभ कषाय है। इस तरह जो वस्तु कषायमें निमित्त हैं उनका त्याग करनेसे कषायका अवसर नहीं रहता। (विसएसु अणादरो होई) स्पर्शन आदि विषयोंमें अनादर होता है अर्थात् उदासीनता होती है। विषयोंमें उदासीनतासे विषयोंमें आदर भाव रखनेके निमित्तसे बन्धने वाले कर्मोंका संवर होता है यह भाव है। भोजनके त्यागसे भोजनके शुक्ल आदि रूपमें, कोमल स्पर्शमें, सुगन्धमें अथवा रसमें आदरका त्याग हो जाता है। तथा दूध आदिका भी त्याग करनेसे दूध आदिके रूप रस आदिमें आदरका त्याग हो जाता है ॥२४१॥

गा०-टी०—'कद जोगदा'—बाह्य तपसे मरणकालमें जो सर्व आहारका त्याग करना होता है उसका अभ्यास होता है। 'आदमदमण'—आहार और सुखमें जो अनुराग है उसका प्रशमन होनेसे आत्माका दमन होता है। आहारणिरासदा'—प्रतिदिन आहार सम्बन्धी आशाके त्यागके अभ्याससे आहारके विषयमें निराशा सम्पन्न होती है। अभिप्राय यह है कि समस्त आहारका त्याग करनेके कालमें भी आहार सम्बन्धी इच्छाका विनाश सुकर होता है। 'अगिद्धीय'—और आहारमें लंपटता नहीं रहती। जिसकी आहारमें गृद्धि है वह आहार पाकर उसे छोड़ नहीं सकता। 'लाभालाभे समदा'—लाभ और अलाभमें समता रहती है। आहारका लाभ होने पर हर्ष नहीं करता और अलाभमें क्रोध नहीं करता। जो स्वयं भी प्राप्त आहारको छोड़ देता है वह दूसरोंके न देने पर अपना मन खराब कैसे कर सकता है। 'तितिक्खणं बंभचेरस्स'—ब्रह्मचर्यको धारण करता है। रसीले आहारके त्यागसे नवीन वीर्यसंचय नहीं होता और अनशनसे संचितवीर्य क्षय होता है तब स्त्रीमें अनुराग नहीं होता। तथा जिन पुरुषोंमें वीर्यहीनता होती है उनके प्रति स्त्रियोंकी विमुखता प्रसिद्ध ही है ॥२४२॥

---

१. हि भक्तादिरूपे-आ० ।

णिद्दाजओ य दढझाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो ।
सज्झायजोगणिव्विग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥२४३॥

'णिद्दाजओ य' निद्राजयश्च । प्रतिदिनमशनात् रसाहारसेवातत्परस्य बहुभोजिनश्च निवाते सुखस्पर्शे निरुपद्रवे च देशे शयानस्य निद्रा महती जायते यया परवशो निश्चेतन इव मांसपिण्डीभूतोऽशुभपरिणामप्रवाहे च पतति, न च रत्नत्रयेण घटयति तस्या जयो। 'दढझाणदा' दृढध्यानता च दुःखभावनारहितो ध्यानात् [illegible] भावितदुःखो यति । कृततपोभावनस्तु क्षुदादिपरीषहोपनिपातेऽपि सहते । 'विमुत्ती य' विमुक्तिर्विशिष्टत्याग अनशनादावुद्यतेन शरीरमेव त्यक्तं भवति तच्च दुस्त्यजं । 'दप्पणिग्घादो' असंयमकारणो यो दर्पस्तस्य निर्घातश्च कृतो भवति । 'सज्झायजोगणिव्विग्घदा य' वाचनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशयोगः स्वाध्यायस्तस्य विघ्नाभावश्च । आहारार्थं भ्रमतः कथं स्वाध्यायः क्रियते ? बहुभोजनश्च उत्तानः स्वपिति आसितुमप्यसमर्थः । रसवदाहारभोजी आहारोष्मणा दह्यमान इतस्ततः परावर्तते । अविविक्तायां वसतौ वर्तमान परेषां वचः शृण्वस्तैः सह संभाषणं कुर्वन्नाधीते । विविक्तवसतावासी पुनर्निराकुलः स्वाध्याये यतते । 'सुहदुःखसमदा य' सुखेन हृष्यति दुःखेन दूयते इति रागद्वेषावस्तरेण सुखदुःखानुभवः सुखदुःखसमता । असनरसाश्च सुखसाधनभूतास्त्यक्ता सुखे रागस्त्यक्तो भवति । क्षुधादिजनितवेदनोपनिपाते असंक्लेशात् दुःखे न च द्वेषोऽस्यास्तीति । 'बाहिरतवेण होदि हु' इत्यनेन पश्चाद्गाथासूत्र[1]निर्दिष्टेनाऽस्य संबन्धः ॥२४३॥

गा०-टी०—'णिद्दाजओय'-निद्राजय होता है। जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसीले आहारके सेवनमें तत्पर रहता है, बहुत भोजन करता है, उसे वायुके प्रकोपसे रहित, सुखकारक स्पर्शवाले उपद्रवहीन देशमें सोने पर गहरी नींद आती है, जिसके अधीन होकर वह चेतनाहीन जैसा हो जाता है और अशुभ परिणामोंके प्रवाहमें गिर जाता है। वह रत्नत्रयमें नहीं लगता। उस निद्राका जय होता है। 'दढझाणदा' दृढ ध्यान होता है। जिस यतिको दुःख सहनेका अभ्यास नहीं होता, वह दुःख पड़ने पर ध्यानसे विचलित हो जाता है। किन्तु तपका अभ्यासी भूख आदि परीषह आने पर सहता है। 'विमुत्तीय' विमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग करता है क्योंकि जो अनशन आदिमें तत्पर रहता है वह तो शरीर ही को छोड़ देता है और शरीर ही को छोड़ना कठिन होता है। 'दप्पणिघादो'—असंयमको करने वाला जो दर्प है उसका भी पूरी तरहसे घात होता है। 'सज्झायजोगणिव्विग्घदाय'—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके साथ जो सम्बन्ध है उसमें कोई विघ्न नहीं होता। आहारके लिए भ्रमण करने वाला साधु कैसे स्वाध्याय कर सकता है। बहुत भोजन करने वाला तो ऊपरको मुख करके सोता है बैठ भी नहीं सकता। रसीला आहार खाने वाला आहारकी ऊष्मामें इधर-उधर करवटें बदलता है। जो बहुजन संकुल वसतिमें रहता है वह दूसरोंकी बातें सुनकर उनके साथ बातचीत करता है, स्वाध्याय नहीं करता। किन्तु एकान्त स्थानमें रहने वाला व्याकुलता रहित होकर स्वाध्याय करता है। 'सुहदुक्खसमदाय'—सुखमें हर्षित होना और दुःखसे दुःखी होना राग-द्वेष है। उनके बिना सुख-दुःखका अनुभव सुख-दुःख समता है। सुखके साधनभूत भोजन और रसोंको जो त्यागता है वह सुखमें रागको त्यागता है। भूख प्यासका कष्ट होने पर संक्लेश न होनेसे उसे दुःखमें द्वेष नहीं होता।

---

१ बीरिदि-अ० मु०।

आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविदं हवदि सव्वं ।
अलसत्तणं च विजढं कम्मं च विणिज्जियं होदि ॥२४४॥

'आदा कुलं गणो पवयणं च सव्वं सोभाविदं हवदि' पदघटना । बाह्येन तपसा स्वस्य कुलस्याध्यागणस्य, [illegible] शोभा कृता भवति । 'अलसत्तणं च' आलस्यं च । 'विजढं' त्यक्तं भवति । दुर्धरस्य [illegible] कर्म च विणिज्जियं' कर्म च [illegible] निर्जीर्णं भवति ॥२४४॥

बहुगाणं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।
मग्गो य दीविदो भगवदो य अणुपालिया आणा ॥२४५॥

'बहुगाणं' बहूनां । 'संवेगो जायदि' संसारभीरुता जायते । यथा सम्यङ्मेव दृष्ट्वा [illegible] भयमपि [illegible] प्रवर्तते । [illegible] विरचयति [illegible] निर्जरार्थमेवेति [illegible] । 'सोमत्तणं च मिच्छाणं' मिथ्यादृष्टीनां सौम्यता [illegible] । दुर्द्धरमिदं महत्तपो धर्मात्मा इति प्रसन्ना भवन्तीति यावत् । 'मग्गो य दीविदो' मार्गश्च [illegible] प्रकाशितो भवति मार्गो बाह्येन तपसा [illegible] । न तपसा विना कर्मणां निर्जरास्तीति 'भगवदो य अणुपालिया आणा' भगवत आज्ञा चानुपालिता भवति [illegible] बाह्येन तपसा [illegible] ॥२४५॥

देहस्स लाघव संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।
उवणादाणं गलोसदा य उहलमवेण गुणा ॥२४६॥

'देहस्स लाघवं' शरीरस्य लाघवगुणो बाह्येन तपसा भवति । [illegible] गुणता [illegible] । [illegible] । 'देहस्स सुहमं' [illegible] च गुण । शरीरस्नेहादेव

उक्त तीन गाथाओंमें जो कुछ कहा है उसका सम्बन्ध 'बाह्यतपसे होता है' इस वाक्यके साथ लगाना चाहिए ॥२४३॥

टी०—बाह्य तपसे आत्मा, अपना कुल, गण, अपनी शिष्य परम्परा शोभित होती है। आलस्य छूट जाता है। और दुर्धर तप करनेसे संसारका मूल कर्म विशेषरूपसे नष्ट होता है ॥२४४॥

टी०—यतिके बाह्य तप करनेसे बहुतसे लोगोंको संसारसे भय उत्पन्न होता है। अवश्य ही यहाँ कुछ भय है मैं भी तैयारी करता हूँ। इस प्रकार लोग तपमें प्रवृत्त होते हैं। तपमें उद्यत जनको देखकर 'यह संसारके भयसे इस प्रकारका कष्ट उठाता है'। हम भी इससे बच नहीं सकते ऐसा मान संसारसे डरता है और डरकर उसका प्रतीकार करता है। तपस्वीको देखकर मिथ्यादृष्टियोंमें भी सौम्यता आ जाती है। यतियोंका यह महान तप दुर्धर है इस प्रकार अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। धार्मिकोंके बाह्य तप करनेसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित होता है। क्योंकि तपके विना कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती। और भगवान्की आज्ञाका अनुपालन होता है ॥२४५॥

टी०—बाह्य तपसे शरीरमें हलकापन आता है। जिसका शरीर हल्का होता है वह आवश्यक क्रियाओंको सरलतासे करता है। तथा स्वाध्याय और ध्यान विना कष्टके होते हैं।

'सदि आउगे' आयुषि सति । 'सदि बले' सति बले । 'जाओ' याः 'विविहाओ' विविधाः । 'भिक्खुपडिमाओ' भिक्षुप्रतिमा । 'ताओ वि' ताश्च । 'ण बाधंते' न पीडां जनयंति महतीं । कस्य ? 'अहाबलं सल्लिहंतस्स' यथाबलं तनूकुर्वतः बलमन्तरेण कुर्वतः प्रारब्धमहासंक्लेशस्य योगभङ्गः संक्लेशश्च महान् जायते इति भावः ॥२५१॥

शरीरसल्लेखनाहेतुषु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत आह—

सल्लेहणा सरीरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ।
आयंबिलं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विंति ॥२५२॥

'सल्लेहणा सरीरे' शरीरसल्लेखनानिमित्तं शरीरे सल्लेखना इत्युच्यते । 'तवोगुणविधी' तपोनामको गुणविकल्पः । 'अणेगहा भणिदा' अनेकधा निरूपिता अतीतसूत्रैः । 'तत्थ' तत्र । 'महेसी' महर्षयः । 'आयंबिलं दु' आचाम्लमेव । 'उक्कस्सगं' उत्कृष्टमिति । 'बेंति' ब्रुवन्ति ॥२५२॥

टी०—आयुके होते हुए और बलके होते हुए अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करने वाले यतिके जो विविध भिक्षु प्रतिमाएँ है, वे भी महान् कष्ट नहीं देती । जो शक्तिके बिना करता है उसे प्रारम्भ में ही महान् क्लेश होनेसे योगका भंग तथा महा सक्लेश परिणाम होते हैं ॥२५१॥

विशेषार्थ—आशाधरजीने एक गाथाके द्वारा उसका अर्थ करते हुए भिक्षु प्रतिमाओंका कथन किया है जो इस प्रकार है—

आत्माको सल्लेखना करने वाला, धैर्यशाली, महासत्त्वसे सम्पन्न, परीषहोंका जेता, उत्तम संहननसे विशिष्ट, क्रमसे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानको पूर्ण करता हुआ मुनि जिस देशमें रहता है उस देशके लिये दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है कि यदि एक मासमें ऐसा आहार मिला तो मैं भोजन करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा । उस मासके अन्तिम दिन वह प्रतिमा योग धारण करता है । यह एक भिक्षु प्रतिमा है । इस प्रकार पूर्वोक्त आहारसे सौगुने उत्कृष्ट अन्य-अन्य भोजन सम्बन्धी नियम लेता है । ये नियम दो, तीन, चार, पाँच, छै और सात मासको लेकर होते है । अर्थात् दो या तीन आदि मास मासमें ऐसा आहार मिलेगा तो आहार करूँगा । सर्वत्र नियमोंके अन्तिम दिन प्रतिमा योग धारण करता है । ये सात भिक्षु प्रतिमा हैं । पुनः पूर्व आहारसे सौगुना उत्कृष्ट दुर्लभ अन्य-अन्य आहारका नियम सात-सात दिनका तीन बार ग्रहण करता है । अर्थात् सात दिनमें ऐसा मिला तो ग्रहण करूँगा । ये तीन भिक्षु प्रतिमा हैं । फिर रात दिन प्रतिमायोगसे स्थित रहकर पीछे रात्रि प्रतिमायोग धारण करता है । ये दो भिक्षु प्रतिमा हैं । इनके धारण करनेपर पहले अवधि मन पर्यय ज्ञानको प्राप्त करनेके पीछे सूर्योदय होनेपर केवलज्ञानको प्राप्त करता है । इस तरह बारह भिक्षु प्रतिमायोगसे स्थित होकर पश्चात् रात्रि प्रतिमायोग धारण करता है ॥२५१॥

ऊपर जो शरीरकी सल्लेखनाके हेतु कहे है उनमें कौन उत्कृष्ट हैं, यह कहते हैं—

गा०—शरीरकी सल्लेखनाके निमित्त अनेक प्रकार तप नामक गुणके विकल्प पूर्व गाथाओंके द्वारा कहे है । उनमेंसे महर्षि आचाम्लको ही उत्कृष्ट कहते हैं ॥२५२॥

१. इत्यत्र च आ० । —इत्यत्र च मु० ।

शरीरसल्लेखनोपायेषूत्कृष्टमाचाम्लभोजनमित्युक्तं तत्कीदृगिति चोदिते आह—

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं विदियअट्ठेहिं ।
मिदलहुग आहार करेदि आयंबिलं बहुसो ॥२५३॥

'छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं विदियअट्ठेहिं' द्वित्रिचतुःपञ्चदिनोपवासैः उत्कृष्टैः । 'मिदलहुग आहारं करेदि' परिमितं लघ्वाहारं करोति । 'आयंबिलं' आचाम्लं । 'बहुसो' बहुशः ॥२५३॥

भक्तप्रत्याख्यानस्य वर्ण्यमानस्य कियान्काल इत्यत्रोत्तरं—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो ।
कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ॥२५४॥

'उक्कस्सएण' उत्कर्षेण । 'भत्तपइण्णाकालो' भक्तप्रत्याख्यानकाल । 'जिणेहिं णिद्दिट्ठो' जिनैर्निर्दिष्ट । 'कालम्मि' काले । 'संपहुत्ते' प्रभूते सति । 'बारसवरिसाणि' सम्पूर्णद्वादशवर्षमात्रान् ॥२५४॥

वर्षेषु द्वादशवर्षेषु एवं वर्तन्तामिति क्रमं सल्लेखनाया दर्शयति—

जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि ।
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि [1]सोसेदि ॥२५५॥

'जोगेहिं' कायक्लेशैः । 'विचित्तेहिं दु' विचित्रैर्नानाविधैः । 'खवेदि' क्षपयति । 'संवच्छराणि चत्तारि' वर्षचतुष्टयं । विकृतिर्दुग्धमुख्या । 'वियडी णिज्जूहित्ता' रसादीन्क्षीरादीन्परित्यज्य । 'चत्तारि' वर्षचतुष्टयं । 'पुणो वि' पुनरपि । '[2]सोसेदि' तनूकरोति तनुम् ॥२५५॥

शरीरकी सल्लेखनाके उपायोंमें आचाम्लको उत्कृष्ट कहा, वह कैसा होता है, यह कहते हैं—

गा०—उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पाँच दिनके उपवासके बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार आचाम्लको करते हैं ॥२५३॥

विशेषार्थ—'अदिविकट्ठेहिं' के स्थानमें 'वियदि अट्ठेहिं' पाठ भी मिलता है। उसका अर्थ 'विशेष अतिकष्ट' ऐसा होता है। इस गाथाका तात्पर्य यह है षष्ठ आदि उपवासोंमें सल्लेखनाको न प्राप्त होता यति मित और लघु कांजी का आहार प्राय करता है। उसे सल्लेखनाके हेतुओंमें उत्कृष्ट कहते हैं ॥२५३॥

जिस भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन चल रहा है उसका काल कितना है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यदि आयुका काल अधिक शेष हो तो जिन भगवान्ने उत्कृष्टसे भक्त प्रत्याख्यानका काल पूर्ण बारह वर्ष कहा है ॥२५४॥

उक्त बारह वर्षमें ऐसा करना चाहिये, इस प्रकार सल्लेखनाका क्रम बतलाते हैं—

गा०—नाना प्रकारके कायक्लेशोंके द्वारा चार वर्ष बिताता है। दूध आदि रसोंको त्याग-कर फिर भी चार वर्ष तक शरीरको सुखाता है ॥२५५॥

---

१. सोसेइ अ० । २ सोसेदि अ० ।

एवमुद्भवमुपयाति [illegible] कषायाग्निः [illegible] शमयितव्य इत्येतद्गाथात्रयेणो-
च्यते—

पडिचोदणासहणवायुभिदपडिवयणइंधणाउद्धो ।
चंडो हु कसायग्गी सहसा संपज्जलेज्जादि ॥२६७॥

'पडिचोदणा' प्रतिचोदनाया असहनमेव वातः तेन भणितः प्रतिवचनेन्धनोद्धः [illegible] कषायाग्निः सहसा प्रज्वलति ॥२६७॥

जलिदो हु कसायग्गी चरित्तसारं डहेज्ज कसिणं पि ।
सम्मत्तं पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥२६८॥

'जलिदो हि कसायग्गी' ज्वलितश्च कषायाग्निः । 'चरित्तसारं' चारित्रसारं दहत्येव । सम्यक्त्वं विनाश्यानन्तसंसारपरिभ्रमणे रतं कुर्यात् ॥२६८॥

तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव ।
इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसलिलेण विज्झाहि ॥२६९॥

'तम्हा खु' तस्मात्खलु कषायाग्निं पापमुत्पद्यमानमेव प्रशमयेत् । केन "इच्छामि भगवन् शिक्षां, मिथ्या भवतु मम दुष्कृतं, नमस्तुभ्य" इत्येवंभूतेन सलिलेन ॥२२९॥

तह चेव णोकसाया सल्लिहियव्वा परेणुवसमेण ।
सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ ॥२७०॥

इस प्रकार कषायरूपी अग्निका उदय होता है और वह इस प्रकार अपकार करती है, तथा इस प्रकारसे उसे शान्त करना चाहिए, यह तीन गाथाओंसे कहते हैं—

टी०—शिष्यकी अयोग्य प्रवृत्तिको रोकनेके लिए गुरुके द्वारा शिक्षा दिये जानेपर शिष्यने जो प्रतिकूल वचन कहे वह गुरुको सहन नहीं हुए। वही हुई वायु। उस वायुसे गुरुके मनमें आग भड़क उठी। उसके पश्चात् गुरुने शिष्यको पुनः समझाया तो शिष्यने पुनः प्रतिकूल वचन कहे। उसने गुरुकी कोपाग्निमें ईंधनका काम किया तो आग भड़क उठी। अथवा गुरुने शिष्यको शिक्षा दी। शिष्य उससे क्रुद्ध हुआ। शिष्यकी कोपरूप वायुसे क्षुब्ध होकर गुरुने पुनः उसे शिक्षा दी। उस शिक्षाने शिष्यकी क्रोधाग्निको भड़कानेमें ईंधनका काम किया। ऐसे भयानक कषायाग्नि सहसा भड़कती है ॥२६७॥

गा०—जलती हुई कषायरूप आग समस्त चारित्र नामक सारको जला देती है। सम्यक्त्व-को भी नष्ट करके अनन्त संसारके परिभ्रमणमें लगा देती है ॥२६८॥

टी०—इसलिए पापरूप कषायाग्निको उत्पन्न होते ही बुझा देना चाहिए। उसको बुझानेका जल है—मैं भगवान् जिनेन्द्रदेवकी शिक्षाकी इच्छा करता हूँ। मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मैं नमस्कार करता हूँ ॥२६९॥

---

१. 'सम्मत्तम्मि विराधिद'–अ० ।

'तह चेव णोकसाया' तथैव नोकषाया तनूकर्तव्या । 'परेणुवसमेण' परेणोपशमेन। संज्ञा, गारवाणि, अशुभाश्च लेश्या , हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदा नोकषाया इत्युच्यन्ते । आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा संज्ञा । ऋद्धौ तीव्राभिलाषो, रसेषु, सुखे च गा'रवशब्देन उच्यते ॥२७०॥

कषायवत्कार्यंभ्रं शकरत्वाविशेषान्नोकषायादीनामपि मुमुक्षो सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

पग्गिड्ढिदवधाणो विगडसिराण्हारुपासुलिकडाहो ।
सल्लिहिदतणुसरीरो अज्झप्परदो हवदि णिच्चं ॥२७१॥

'परिवड्ढिदवधाणो' परिवर्द्धितावग्रह । अन्येषा पाठः 'परिवट्टिदवधाणो परिवर्धितावधान । "धियडसिराण्हारुपासुलिकडाहो' प्रकटीभूता महत्य अल्पाश्च सिरा पार्श्वास्थिपंजरत्य कटाक्षदेशश्च यस्य । 'सल्लिहिवतणुसरीरो' सम्यक्तनूकृत शरीरं यस्य स । 'अज्झप्परदो' अध्यात्मं ध्यानं तत्र रत. । 'होइ' भवति । 'णिच्च' नित्य ॥२७१॥

एवं कदपरियम्मो सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणे ।
संसारमोक्खबुद्धी सव्वुवरिल्लं तवं कुणदि ॥२७२॥

'एव कदपरियम्मो' एवमुक्तेन क्रमेण कृतपरिकर । 'सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणे' अभ्यन्तरसल्लेखनासहिताया बाह्यसल्लेखनायां । 'संसारमोक्खबुद्धी' संसारत्यागे कृतबुद्धि 'सव्वुवरिल्लं तवं' सर्वेभ्यस्तपोभ्य उत्कृष्टं तपश्च'रति । सल्लेहणा सम्मत्ता ॥२७२॥

सल्लेखनानन्तरं कार्यमुपदिशति—

वोढुं गिलादि देहं पच्चोढव्वमिणसुचिभारोत्ति ।
तो दुक्खभारभीदो कदपरियम्मो गणमुवेदि ॥२७३॥

गा०-टी०—इसी तरह उत्कृष्ट उपशमभावके द्वारा नोकषाय, सज्ञा, गारव और अशुभ लेश्याओंका घटाना चाहिए। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद इन्हें नोकषाय कहते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी चाहका नाम सज्ञा है। ऋद्धिकी तीव्र अभिलाषा, रस और सुखकी चाहको गारव कहते है ॥२७०॥

गा०-टी०—जो प्रतिदिन अपने नियमोको बढ़ाता है, जिसकी बडी और छोटी सिरायें, दोनों ओरकी हड्डियाँ और नेत्रोंकी हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं—शरीरको सम्यक्रूपसे कृश करनेवाला वह यति नित्य आत्मामें लीन रहता है ॥२७१॥

गा०-टी०—उक्त क्रमके अनुसार अभ्यास करनेवाला अभ्यन्तर सल्लेखना सहित बाह्य सल्लेखना करनेपर संसारके त्यागका दृढ़ निश्चय करके सब तपोसे उत्कृष्ट तप करता है ॥२७२॥

सल्लेखना समाप्त हुई।

सल्लेखनाके अनन्तर होनेवाले कार्यका उपदेश देते हैं—

---

१. गौरव-अ०, आ० । २. परिवधाणो-अ० । ३ इवरइ चरति-अ० ।

'वोढुं गिलादि देहं' शरीरोद्वहनग्लानिरहित । 'पत्तोऽहमं कुणमसुइभारोत्ति' परित्यागार्हमिदं अशुचि-भारभूतं शरीरमिति कृतनिश्चय । 'सो' पश्चात् 'दुःखभारभीदो' दुःखभाजनाच्छरीराद्भीत. । 'कप्पाविज्जो' कृतसमाधिमरणपरिकर । 'गणं' शिष्यवृन्दं । 'उवेदि' ढौकते । अन्येषां पाठ 'वोढुं गिलामि देहं' इति । ते व्याख्यानयन्ति—शरीरं वोढुं अहमालसोऽस्मि । पत्तोऽहमिममसुइभारोत्ति परित्याज्यमिदं अशुचिभारभूतं शरीरमिति कृतनिश्चय ॥२७३॥

सल्लेहणं करेंतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण ।
ताए वि अवत्थाए चिंतेदव्वं गणस्स हियं ॥२७४॥

'सल्लेहणं करेंतो' सल्लेखना कर्तुमुद्यत । 'जइ' यदि 'आयरिओ हवेज्ज' आचार्यो भवेत् । 'तो' ततः । 'तेण' तेन । 'ताए वि' तस्यामपि । 'अवत्थाए' अवस्थायां । 'चिंतेदव्वं' चिन्तनीयं । 'गणस्स' गणस्य । 'हियं' हित ॥२७४॥

कालं संभावित्ता सव्वगणमणुदिसं च वाहरिय ।
सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे[1] मंगलोगासे ॥२७५॥

'कालं संभावित्ता' आत्मन आयु स्थिति विचार्य । 'सव्वगणं' सर्वगण । 'अणुदिसं च' बालाचार्यं च । 'वाहरिय' व्याहृत्य । 'सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे' सौम्ये दिने, करणे, नक्षत्रे, विलग्ने 'मंगलोगासे' शुभे देशे ॥२७५॥

गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू ।
तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥२७६॥

गा०-टी०—यह अपवित्र और भाररूप शरीर त्यागने योग्य है ऐसा निश्चय करके जो शरीरको धारण करनेसे ग्लानि करता है उसे शरीरके धारण करनेमें कोई हर्ष नही होता । पीछे दुःखके घर इस शरीरसे डरकर समाधिमरणकी तैयारी करता हुआ अपने शिष्योंके पास जाता है ।

दूसरे आचार्य 'वोढु गिलामि देह' ऐसा पाठ पढ़ते है वे उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—मुझे शरीर धारण करनेमें कोई रुचि नही है यह अशुचि और भारभूत शरीर छोड़ने योग्य है ऐसा मैंने निश्चय किया है ॥२७३॥

गा०-टी०—सल्लेखना करनेवाले दो प्रकारके होते हैं—एक आचार्य, दूसरे साधु । यदि आचार्य हो तो उसे उस अवस्थामें भी गणका हित विचारना चाहिए । अर्थात् आचार्य यदि सल्लेखना धारण करनेका निश्चय करे तो उसे अपने संघके सम्बन्धमें भी विचार करना चाहिए कि उसकी क्या व्यवस्था की जाये ॥२७४॥

गा०-टी०—अपनी आयुकी स्थिति-विचारकर समस्त संघको और बालाचार्यको बुलाकर शुभ दिन, शुभकरण, शुभनक्षत्र और शुभलग्नमें तथा शुभ देशमें ॥२७५॥

गा०-टी०—गच्छका अनुपालन करनेके लिए गुणोंसे अपने समान भिक्षुका विचार करके

---

१ सो तह मं-अ० ।

'गच्छाणुपालणत्थं' गच्छानुपालनार्थं। 'आहोइय' विचार्य। 'अत्तगुणसम' आत्मनो गुणैः समान। 'भिक्खु' भिक्षुं। 'तो' तत। 'तम्मि' तस्मिन्। 'गणविसग्गं' गणत्याग। 'अप्पकहाए' अल्पया कथया। 'कुणइ धीर' करोति धीरः। अन्ये तु वदन्ति 'अप्पणो' कथयेति ॥२७६॥

किमर्थमेवं प्रयतते सूरि ?

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा।
अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा वोत्ति बोधित्ता ॥२७७॥

'अव्वोच्छित्तिणिमित्तं' धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य व्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थं। 'सव्वगुणसमोयरं' सर्वगुणसमन्वित। 'तयं' तकं 'णच्चा' ज्ञात्वा, 'अणुजाणेदि' अनुज्ञा करोति। 'दिसं' आचार्य 'सो' स एव। दिशा आचार्य 'वोत्ति' युष्माकमिति। 'बोधित्ता' बोधयित्वा। दिशा समत्ता' ॥२७७॥

क्षमाग्रहणक्रम निरूपयति—

आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि य तं गणिं ठवेदूण।
तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं ॥२७८॥

'आमंतेऊण गणिं' आमन्त्र्य आचार्यं। 'गच्छम्मि य' गणे। 'तं गणिं ठवेदूण' त आत्मनानुज्ञात स्थापयित्वा, स्वय पृथग्भूत्वा। 'तिविधेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं' मनोवाक्कायैर्ग्राहयति क्षमा स बालवृद्धै सकीर्णं गण ॥२७८॥

जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहरागेण।
कडुगफरुसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि ॥२७९॥

'जं दीहकालसंवासदाए' दीर्घकाल सह सवासेन यज्जात ममत्वं, स्नेहो, द्वेषो, रागश्च तेन। 'जं' यत् 'कडुगफरुसं च भणिया' कटुक परुष वा वच भणिता 'तं' तद् युष्मान्। 'सव्वं खमावेमि' सर्वान् क्षमा ग्राहयामि ॥२७९॥

पश्चात् वह धीर आचार्य थोडीसी बातचीत पूर्वक उस पर गणका त्याग करता है ॥२७६॥

आचार्य ऐसा क्यो करते हैं ? यह कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक धर्मतीर्थकी व्युच्छित्ति न हो, इसलिए उसे सब गुणोंसे युक्त जानकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा शिष्योंको समझाकर आप इस गणका पालन करें ऐसा उस नवीन आचार्यको अनुज्ञा करते हैं ॥२७७॥

दिसा प्रकरण समाप्त हुआ।

अब क्षमाग्रहणका क्रम कहते हैं—

गा०-टी०—आचार्यको बुलाकर गणके मध्यमे उस अपने द्वारा स्वीकृत गणीको स्थापित करके और स्वयं अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियोसे भरे उस गणसे वह पुराने आचार्य मन वचन कायसे क्षमा माँगते है ॥२७८॥

गा०-टी०—दीर्घकाल तक साथ रहनेमे उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और रागसे जो कटुक

वंदिय णिमुडिय पंडिदो तादार गव्ववच्छलं तादि ।
धम्मायरियं णियय खामेदि गणो वि तिविहेण ॥२८०॥

'वंदिय णिमुडिय पडिदो' अभिवन्द्य गहुनिनमनित । 'तादारं' संसारदुःखात्त्रातारं । 'सव्ववच्छलं' सर्वेषां वत्सल । 'तादि' यति । 'धम्मायरियं' दशविधे उत्तमक्षमादिके धर्मे, स्वयं प्रवृत्तं अन्येषां प्रवर्तकं । 'णियय' आत्मीय । 'खामेदि गणो वि तिविहेण' क्षमा ग्राहयति गणस्त्रिविधेन । क्षमापणा समाप्ता ॥२८०॥

अनुशासननिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्ध —

संवेगजणियहासो सुत्तत्थविसारदो सुदरहस्सो ।
आदट्ठचिंतओ वि हु चिंतेदि गणं जिणाणाए ॥२८१॥

'संवेगजणिदहासो' संसारभीरुतया कारणभूतया उत्पादितहास । परिग्रहेऽस्मिस्त्यक्ते अभ्यन्तराश्च रागादय निमित्तापायादपयान्ति । तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि प्रलयमुपव्रजन्ति । तेषु नष्टेष्वेवं चतुर्गति-भ्रमणं नश्यति' इति जात हर्ष. । 'सुत्तत्थविसारदो' सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थे च विशारदा निपुण. 'सुदरहस्सो' श्रुतप्रायश्चित्तग्रथ । 'आदट्ठचिंतओ वि हु' आत्मप्रयोजनचिन्तापरोऽपि । 'चिंतेदि गणं जिणाणाए' जिनाना-माज्ञया गणचिन्ता करोति ॥२८१॥

और कठोर वचन कहे गये आपसे मैं उन सबको क्षमा माँगता हूँ ॥२७९॥

गणके द्वारा किये जाने वाले कार्यको कहते हैं—

गा०-टी०—वन्दना करके, पृथ्वीपर पाँचो अंगोंको स्थापित करके अर्थात् पञ्चांग नमस्कार करके संसारके दुःखोसे रक्षा करने वाले सबको प्रिय अपने दश प्रकारके उत्तम क्षमादिरूप धर्ममे स्वयं प्रवृत्त और दूसरोंको प्रवृत्त करने वाले आचार्यसे गण भी मन वचन कायसे क्षमा माँगता है ॥२८०॥

क्षमाका प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे अनुशासनका कथन करते हैं—

गा०-टी०—ससारसे डरनेके कारण जिसे हर्ष प्रकट हुआ है अर्थात् इस परिग्रहका त्याग करने पर अभ्यन्तर रागादि अपने निमित्तका विनाश होनेसे चले जायेंगे क्योकि बाह्य परिग्रह रागादिके उत्पत्तिमे निमित्त हैं अतः निमित्तके न रहनेसे नैमित्तिक रागादि भी नही रहेगे। और रागादिके न रहनेसे रागादिके कारण बन्धने वाले कर्म नष्ट हो जायेंगे। उनके नष्ट होने पर चार गतियोंमें भ्रमण नष्ट हो जायेगा, इसलिए जिसे हर्ष उत्पन्न हुआ है. और जिन भगवान्के द्वारा कहे गये सूत्र और उसके अर्थमे जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्त शास्त्र सुना है वह आचार्य अपने प्रयोजनकी चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान्की आज्ञासे गणकी चिन्ता करता है। अर्थात् यद्यपि आचार्य सल्लेखना धारण करनेके लिए अपना गण त्यागकर दूसरे गणमें जानेके लिए तत्पर है फिर भी गणकी चिन्ता करके उसे उपदेश देते है ॥२८१॥

---

१. इति विजित हर्ष. आ० मु०।

णिद्धमहुरगंभीरं गाहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ।
अणुसिट्ठिं देइ तहिं गणाहिवइणो गणस्स वि य ॥२८२॥

'णिद्ध' स्नेहसहिता । 'महुरं' माधुर्यसमन्विता । 'गंभीरं' मारार्थवत्तया गृहीतगाम्भीर्या । 'गाहुगं' ग्राहिका सुखावबोधा । 'पल्हादणिज्जपत्थं च' चेत प्रल्हादविधायिनी । 'पत्थं' पथ्या हिता । 'अणुसिट्ठि देइ' अनुशिष्टि ददाति । 'तहिं' तस्मिन्पूर्वोक्ते काले देशे च । 'गणाहिवइणो गणस्स वि य' गणाधिपतये गणाय च ॥२८२॥

वड्ढंतओ विहारो दंसणणाणचरणेसु कायव्वो ।
कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गो ॥२८३॥

'वड्ढंतओ विहारो कायव्वो' वर्धमानविहार कार्य । क्व ? 'सव्वेसि कप्पाकप्पट्ठियाणं अणागदे मग्गे' सर्वेषा प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थितानां मुक्तिमार्गे । प्रमत्तसयतादिगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्मः दसणव्रत-सामायिकादिविकल्पेन प्रवृत्तिधर्मोऽपि विचित्ररूप । तस्य सकलस्योपादान सर्वेषामित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशङ्कायामाह-सामान्येन 'दंसणणाणचरणेसु' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु । चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुपदेश ॥२८३॥

सूरये कथयति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण वड्ढंती ।
उदधितेण वरणदी तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि ॥२८४॥

'सखित्ता वि य' संक्षिप्तापि च 'पवहे' प्रवाहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाह उत्पत्तिस्थान तत्र सक्षिप्तापि सती वरनदी । 'जह वच्चइ' यथा व्रजति । 'वित्थरेण' पृथुलतया । 'वड्ढंती' वर्धमाना । 'उदधितेण' यावत्समुद्रं । 'तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि' तथा शीलगुणैस्त्व वर्धस्व ॥२८४॥

मज्जारसिदसरिसोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ।
मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च ॥२८५॥

गा०-टी०—उस पूर्वोक्त शुभ तिथि आदिमे युक्त काल और देशमे गणाधिपति और गणको भी स्नेह सहित, माधुर्यसे युक्त, सारवान होनेसे गम्भीर सुखसे समझमे आने वाली, चित्तको आनन्द दायक और हितकारी शिक्षा देते हैं ॥२८२॥

गा०-टी०—सब प्रवृत्ति और निवृत्ति मे स्थित मुनियो और गृहस्थोको मुक्तिके मार्गमें सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रमे वर्धमान विहार उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए । यति धर्म प्रमत्त संयत आदि गुणस्थानोकी अपेक्षा अनेक प्रकार है । प्रवृत्ति रूप गृहस्थ धर्म भी दर्शन, व्रत सामायिकके भेदसे अनेक प्रकार है । उन सबका ग्रहण यहाँ 'सव' शब्दसे किया है । यह चारो प्रकारके सघको लक्ष्य करके आचार्य उपदेश देते हैं ॥२८३॥

नये आचार्यको कहते हैं—

गा०टी०—उत्पत्ति स्थानमें छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तारके साथ बढती हुई समुद्र तक जाती है उसी प्रकार तुम शील और गुणोसे बढो ॥२८४॥

रस्य विहारस्य तन्मार्जाररसितसदृशोऽयम् विहार मम। 'तुमं' भवान्। 'मा हु कासिहिसि' मा कार्षीः। मार्जारस्य रसितं प्राङ्महत् क्रमेणाल्पीयो तद्वद्रत्नत्रयभावनातिशयो प्राक् क्रमेण मन्दायमाना न कार्या यावत्। 'मा णासेहिसि दोण्णि वि अत्ताणं चेव गच्छं च'—आत्मानो गणस्य च विनाशं मा कृथाः। प्रथममेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां प्रवृत्तो भवान् गणं च तथा प्रवर्तयन् दुश्चरतया नश्यति ॥२८५॥

जो सघरं पि पलित्तं णेच्छदि विज्झाविदुमलसदोसेण।
किह सो सद्दहिदव्वो परघरदाहं पसामेदुं ॥२८६॥

'जो सघरं पि' य स्वगृहं अपि। दह्यमानमालस्यान्न वाञ्छति विध्यापयितुं स कथमसौ श्रद्धातव्यः परकीयगृहदाहं प्रशमयितुं उद्योगं करोतीति ॥२८६॥

तस्माद्भवतैवं प्रवर्तितव्यमित्याचष्टे—

वज्जेहि चयणकप्पं सगपरपक्खे तहा विरोधं च।
वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ॥२८७॥

'वज्जेहि चयणकप्पं' वर्जय अतिचारप्रकारं ज्ञानदर्शनचारित्रविषयं। अवाचनाकाले अस्वाध्यायकाले वा पठनं। क्षेत्रशुद्धिं, द्रव्यशुद्धिं, भावशुद्धिं वा विना। निह्नवं, ग्रन्थार्थयोरशुद्धिं, अबहुमानं इत्यादिको ज्ञानातिचारः। शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातिचाराः। समितिभावनारहितता चारित्रातिचारः। एते च्यवनकल्पेनोच्यन्ते। 'सगपरपक्खे तहा विरोहं च' धर्मस्थेषु, मिथ्यादृष्टिषु च विरोधं वर्जयेत्। चेतःसमाधानविनाशकारणं वादं च वर्जनीयं। वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा

गा०-टी०—तुम विलावके शब्दके समान आचरण मत करना। विलावका शब्द पहले जोरका होता है फिर क्रमसे मन्द हो जाता है उसी तरह रत्नत्रयकी भावनाको पहले बड़े उत्साहसे करके पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना। और इस तरह अपना और संघ दोनोंका विनाश न करना। प्रारम्भमें ही कठोर तपकी भावनामें लगकर आप और गणको भी उसीमें लगाकर दुश्चर होनेसे विनाशको प्राप्त होगे ॥२८५॥

गा०-टी०—जो जलते हुए अपने घरको भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता। उसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरेके जलते घरको बचायेगा ॥२८६॥

इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान दर्शन और चारित्रके विषयमें अतिचारोंको दूर करो। जो वाचना और स्वाध्यायका काल नहीं है उसमें क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, और भाव शुद्धिके बिना वाचना आदि करना, निह्नव, ग्रन्थ और अर्थकी अशुद्धि, आदरका अभाव इत्यादि ज्ञान विषयक अतिचार हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और संस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं। समितिकी भावना न होना चारित्रका अतीचार है। ये सब 'च्यवनकल्प' कहे जाते हैं। धार्मिकों और मिथ्यादृष्टियोंके साथ विरोध नहीं करना चाहिए। चित्तकी शान्तिको भंग करने वाला वाद भी नहीं करना चाहिए। वाद करने वाला जिस प्रकार अपनी जय और दूसरेकी पराजय हो वही

मर्वत्र तदेतत्संसारे न सम्यक्समाधानात्। 'विनिघ्नभूते कषाये' च कषाया हि क्रोधादय स्वस्य परस्य च मृत्यु उत्पादयन्ति इति विषभूता., हृदयं दहन्तीति दहनभूता गाव सर्वत्र।

तथा चोक्तं— त्रिलोकमत्ताः कुशलशीलशत्रवो, मलानि दुर्मोचतमानि चापि ते।
यशोहरा हानिकरास्तपस्विनां, भवन्ति दौर्भाग्यकरा हि देहिनाम्॥१॥—[ ]
न केवलं ते परलोकघातिनः, इमं च लोकं प्रहरन्ति दारुणाः।
न धर्ममात्रस्य च विघ्नहेतवो, धनस्य कामस्य च ते विघातकाः॥२॥ इति—[ ]

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु।
ण चएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो॥२८८॥

'णाणम्मि दंसणम्मि य' रत्नत्रये गणमात्मानं च यो न स्थापयितुं समर्थो नैवासौ गणधरः। न च एवं मन्तव्यं। बहवो मम वशवर्तिनः सन्ति एतावता अहं गणी इति गर्वो कार्य॥२८८॥

कीदृशस्तर्हि गणधरो भवतीति चोदितेन उत्तरमाह—

[1]णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु।
चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो॥२८९॥

स्पष्टार्था गाथा॥२८९॥

पिंडं उवधिं सेज्जं अविसोहिय जो हु भुंजमाणो हु।
मूलट्ठाणं पत्तो मूलोत्ति य समणपेल्लो सो॥२९०॥

प्रयत्न करता है उसका समाधान नहीं करता। क्रोधादि कषाय अपनी और दूसरेकी मृत्युमें कारण होती हैं इसलिए वे विषरूप हैं और हृदयको जलाती हैं इसलिए आगके समान हैं। उन्हें छोड़ना चाहिए। कहा भी है—

ये कषायें तीन लोकमें मत्तके समान हैं। कुशल और शीलके शत्रु हैं। ये ऐसे मल हैं जिनको दूर करना बड़ा कठिन है। ये कषायें तपस्वियोंकी हानि करने वाली और उनके यशको हरने वाली हैं तथा प्राणियोंके दुर्भाग्यको करने वाली हैं। 'ये कषायें केवल परलोकको ही नष्ट नहीं करतीं, किन्तु इस लोकको भी हीन करती हैं। ये केवल धर्ममें ही विघ्न नहीं डालतीं किन्तु अर्थ और काम को भी घातक हैं'॥२८७॥

टी०—आगमके सारभूत तीन दर्शन ज्ञान और चारित्र रत्नत्रयमें जो गणको और अपनेको स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है वह गणधर नहीं है। मेरे अधीन बहुतसे मुनि हैं इसलिए आपमें गणी होनेका घमण्ड नहीं होना चाहिए॥२८८॥

तब गणधर कैसा होता है यह कहते हैं—

गा०—आगमके सारभूत तीन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रमें अपनेको और गणको स्थापित करनेमें जो समर्थ होता है वह गणधर है॥२८९॥

---

१. गाथेयं न स–आ०। २. अ० आ० प्रत्योः इयं गाथा 'णाणम्मि दंसणम्मि' इति लिखिता, न सर्वा।

पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिय जो खु भुंजमाणोदु ।
मूलट्ठाणं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो ॥२९४॥

य उद्गमादिदोषोपहृतमाहार, उपकरण, वसति वा गृह्णाति तस्य नेन्द्रियसंयम, नैव प्राणसंयमः, न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ॥२९४॥

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ ममत्ति जो ।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ॥२९५॥

'कुलगामणयररज्जं' कुल, ग्राम, नगर, राज्य च । 'पयहिय' परित्यज्य । तेसु कुणदि ममत्तिं जो' ग्रामादिषु पुनः यः करोति ममता । मदीयं कुल, अस्मदीयो ग्राम', नगर, राज्य चेति । यो हि यत्र ममतां करोति तस्य यदि शोभनं जात तुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, संक्लिश्यति वा । ततो रागद्वेषयोर्लाभे च वर्तमान [1]असंयतेष्वादरवान् (वशात्) कथमिव संयतो भवतीति भावः ॥२९५॥

[2]अपरिस्साई सम्म समपासी होहि सव्वकज्जेसु ।
संरक्ख सचक्खुं पि व सबालउड्ढाउलं गच्छं ॥२९६॥

'अपरिस्साई' गुरुरयमिति शङ्का विहाय निगदितानामपराधानां प्रकटन मा कृथा । 'समपासी चेव होहि कज्जेसु' कार्येषु सम्यक् समदर्शी च भव । 'संरक्ख सचक्खुं पि व' परिपालय स्वनेत्र इव । किं ? 'सबालउड्ढाउल गच्छं' सबालैर्वृद्धैराकीर्णं गण ॥२९६॥

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।
पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो व तं वज्जो ॥२९७॥

'णिवदि विहूणं खेत्तं परिहर' नृपतिरहित क्षेत्र त्यज । 'णिवदि वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज' नृपतिर्वा यस्मिन् देशे दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्र परित्यज । 'पव्वज्जा च ण लब्भदि जत्थ' प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे ।

गा०-टी०—जो उद्गम आदि दोषोंसे सहित आहार, उपकरण अथवा वसतिको स्वीकार करता है उसके न प्राणिसंयम है और न इन्द्रिय संयम है। वह केवल नग्न है। न वह यति है और न गणधर है ॥२९४॥

गा०-टी०—जो कुल, ग्राम, नगर और राज्यको छोड़कर भी उसमे ममत्व करता है कि मेरा कुल है, हमारा गाँव है या नगर है राज्य है, वह भी केवल नग्न है। जो जिससे ममता करता है उसका यदि अच्छा होता तो उसे सन्तोष होता है अन्यथा द्वेष करता है अथवा संक्लेश करता है। इस तरह राग-द्वेष करने पर असंयतोंमें आदरवान होनेसे वह कैसे संयमी हो सकता है ॥२९५॥

गा०-टी०—'हमारा यह गुरु आलोचित दोषोंको दूसरेसे नहीं कहता। ऐसा मानकर शिष्योंके द्वारा प्रकट किये अपराधोंको किसी अन्यसे मत कहो। कार्योंमें समदर्शी ही रहो। और बाल और वृद्ध यतियोंसे भरे गणकी अपनी आँखकी तरह रक्षा करो ॥२९६॥

गा०-टी०—जिस क्षेत्रमें कोई राजा न हो उस क्षेत्रको त्याग दो। अथवा जिस क्षेत्रका राजा

---

1. असयतो भवतीति-आ० मु०।   2. गाथा २९५-२९६ ग०।

प्राण्यहितस्य हन्तुं प्रशम. सुदुर्लभ । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धिः पूर्वोक्तकर्मप्रशान्तौ तदैव श्रेयस्कृतौ शक्तिः चित्तोपशान्तौ कार्यचिन्ता च । इत्थं मृत्युव्याधयो राग इत्येते प्रत्यवाया जगति तान्चेतसि कृत्वा, यदा ते न सन्ति तदोद्योगः कार्यः ॥३०५॥

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ।
आणाए णिज्जरेत्ति य सवालउड्ढाउले गच्छे ॥३०६॥

'सत्तीए भत्तीए' शक्त्या भक्त्या च । 'विज्जावच्चुज्जदा' वैयावृत्त्ये उद्यता । 'सदा होह' नित्यं भवत । 'आणाए णिज्जरेत्ति य' सर्वज्ञानामाज्ञा वैयावृत्त्यं कर्तव्यमिति तदाज्ञया हेतुभूतया, वैयावृत्त्ये हि तत् निर्जरा भवतीति च । 'सवालउड्ढाउले' सह बालैर्वर्धमाना ये वृद्धास्तैराकीर्णे गणे ॥३०६॥

वैयावृत्त्यं कर्तुमित्युक्तं तदिदमिति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे ।
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥३०७॥

'सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे' शय्याकाशस्य, निषद्यास्थानस्य, उपकरणानां च प्रतिलेखना[1], उपग्रह उपकारः । किंविषयः ? 'आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु' योग्यस्य आहारस्य औषधस्य वा दानं स्वाध्यायोत्सारणं अशक्तस्य शरीरमलनिरासः । 'उव्वत्तणे' पार्श्वात्पार्श्वान्तरस्योत्थापनं ॥३०७॥

अद्धाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ।
वेज्जावच्चं उत्तं संगहसारक्खणोवेदं ॥३०८॥

'अद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे' अध्वनां श्रमेण श्रान्तानां पादादिमर्दनं । स्तेनैरुपद्रु-

करनेके लिए प्रशमभाव दुर्लभ है। जैसे चित्तके शान्त होनेपर चित्त काममें लगता है वैसे ही जिस समय पूर्वोक्त कर्मोंका उपशम होनेपर प्रशमभावकी प्राप्ति होती है, उसी समय आत्मकल्याण करनेकी शक्ति आती है। इस प्रकार संसारमें मृत्यु, व्याधि और राग ये बाधक हैं। उनको चित्तमें लाकर जब ये न हों तब तपमें उद्योग करना चाहिए ॥३०५॥

गा०—बालमुनि और वृद्ध मुनियोंसे भरे हुए गणमें सर्वज्ञकी आज्ञासे सदा अपनी शक्ति और भक्तिसे वैयावृत्य करनेमें तत्पर रहो। सर्वज्ञदेवकी आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिये। वैयावृत्य तप है और तपसे निर्जरा होती है ॥३०६॥

वैयावृत्य करनेके लिये कहा है। उस वैयावृत्य को बतलाते हैं—

गा०—सोनेके स्थान, बैठनेके स्थान और उपकरणोंकी प्रतिलेखना करना, योग्य आहार योग्य औषध देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनिके शरीरका मल शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट दिलाना ये उपकार वैयावृत्य हैं ॥३०७॥

गा०—जो मुनि मार्गके श्रमसे थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना, जिन्हें चोरों ने सताया

१. —र्नुमित्युक्त प्रश्नेदमिति अ—आ०, मु० । २. नाया उ—आ० ।

श्वापदैस्तथा स्तेनैः, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकैः मार्या च तदुपद्रवनिरासः विद्यादिभिः। 'दुब्भिक्खे' दुर्भिक्षे सुभिक्षदेशानयनं। 'वेज्जावच्चं वुत्तं' वैयावृत्त्यमुक्तम्। 'संगहसारक्खणोवेदं' संग्रहसंरक्षणाभ्यामुपेतं ॥३०८॥

वैयावृत्त्याकरणं निन्दति—

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥३०९॥

अनिगूहितेत्यादिना–अनिगूहितवीर्यो यो वैयावृत्त्यं जिनोपदिष्टक्रमेण न करोति। शक्तोऽपि सन् स निर्धर्मो भवति धर्मबहिर्भूतो भवति इति गाथार्थः ॥३०९॥

दोषान्तराणि व्याचष्टे—

तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविराधणा अणायारो।
अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ॥३१०॥

'तित्थयराणाकोवो' तीर्थंकराणामाज्ञाकोपः। 'सुदधम्मविराहणा' श्रुतोपदिष्टधर्मनाशनं। 'अणायारो' आचाराभावः वैयावृत्त्याकरणे सर्वाणि भवन्ति। 'अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि' आत्मा साधुवर्गः प्रवचनं च त्यक्तं भवति। तपस्युद्योगाभावात्मा त्यक्तो भवति, आपद्युपकाराकरणान्मुनिवर्गः, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमस्य त्यक्तः ॥३१०॥

गुणान्वैयावृत्त्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।
संधाणं तव पूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥३११॥

'गुणपरिणामो' मतिगुणपरिणतिः। 'सड्ढा' श्रद्धा। 'वच्छल्लं' वात्सल्यं। 'भत्ती' भक्तिः। 'पत्तलंभो'

है, जंगली जानवरोंसे, दुष्ट राजासे, नदीको रोकने वालों से और मारी रोगसे जो पीड़ित हैं, विद्या आदिसे उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्षमें फँसे है उन्हें सुभिक्ष देशमें लाना, आप न डरें इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य देना तथा उनका संरक्षण करना वैयावृत्य कहा है ॥३०८॥

वैयावृत्य न करने की निन्दा करते हैं—

गा०—अपने बल और वीर्यको न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होने हुए भी जिन भगवान के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्य नहीं करता है तो वह धर्मसे बहिष्कृत होता है यह इस गाथा का अभिप्राय है ॥३०९॥

वैयावृत्य न करनेसे तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका भंग होता है। शास्त्रमें कहे गये धर्मका नाश होता है। आचारका लोप होता है और उस व्यक्तिके द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप में उद्योग न करनेसे आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति में उपकार न करनेसे मुनिवर्गका त्याग होता है और शास्त्र विहित आचरण न करनेसे आगमका त्याग होता है ॥३१०॥

दो गाथाओं से वैयावृत्य करनेमें गुणों को कहते हैं—

गा०—वैयावृत्य करनेका पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है

य' पात्रस्य लाभ । 'संधाणं' संधानं । 'तव' तप । पूया पूजा । 'अव्वुच्छित्ती य तित्थस्स' अव्युच्छित्ति तीर्थस्य । 'समाधी य' समाधिश्च ॥३११॥

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य ।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥३१२॥

'आणा संजमसाखिल्लदा य' आज्ञा संयमसाहाय्यं च । 'दाणं च' दानं च । सर्वज्ञाज्ञा वैयावृत्त्यकरणादाज्ञा संपादिता । आज्ञासंपादनमाज्ञासंयम । तस्य वैयावृत्त्यकृत उपकार । रत्नत्रयस्य निरतिचारस्य दान । 'संजमसाखिल्लदा य' संयमसाहाय्यमिति चाग । 'अविदिगिंछा य' अविचिकित्सा च । 'वेज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्त्यस्य गुणा । 'पभावणा' प्रभावना च । 'कज्जपुण्णाणि' कार्यनिर्वहणानि च ॥३१२॥

गुणपरिणामी इत्येतत्पदं व्याचष्टे—

मोहग्गिणादिमहदा घोरमहावेयणाए फुट्टंतो ।
डज्झदि हु धगधगंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥३१३॥

'मोहग्गिणा' अज्ञानाग्निना । 'अदिमहदा' अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महत्त्वात्तेन । 'डज्झदि' दह्यते । 'घोरमहावेदणाए' घोरया महत्या वेदनया । 'फुट्टंतो' विशीर्यमाण । 'धगधगंतो' धगधगायमान । 'ससुरासुरमाणुसो लोगो' देवासुरमानुषैः सह वर्तमानो लोक ॥३१३॥

एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्झविदे ।
डाहुम्मुक्का होंति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ॥३१४॥

'एदम्मि' एतस्मिन्लोके दह्यमाने । 'णवरि' पुन । 'मुणिणो णिव्वेदणा चेव होंति' मुनय एव निर्वेदना

उसकी पीडित साधुके गुणो मे वासना होती है कि मैं भी ऐसा बनूँ । और जिस साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणोंमे विशेष प्रवृत्ति होती है । इसके सिवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रका लाभ, सन्धान-अपने मे जो गुण पूजा छूट गये है उनका पुनः आरोपण, तप, धर्म तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि, ये गुण हैं ॥३११॥

गा०—सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करनेसे सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है। आज्ञा पालनमे आज्ञा सयम होता है । वैयावृत्य करने वालेका उपकार होना है । निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है । संयम मे सहायता होती है । विचिकित्सा—ग्लानि दूर होती है । धर्म की प्रभावना होती है और कार्यका निर्वाह होना है ॥३१२॥

'गुण परिणाम' पद का व्याख्यान करते हैं—

गा०—अति महान मोहरूपी आगके द्वारा सुर असुर और मनुष्यों सहित यह वर्तमान लोक धक्-धक् करते हुए जल रहा है । घोर महावेदनासे उसके अंग टूट फूट रहे है ॥३१३॥

विशेषार्थ—'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इत्यादि प्रत्यय रूप अज्ञान समस्त वस्तुओंके सम्बन्धमें होनेसे उसे अतिमहान कहा है । तथा लोकसे बहिरात्मा प्राणियों का समूह लिया गया है ।

गा०—इस लोकके जलने पर भी मुनियों को कोई वेदना नहीं है । क्योंकि ज्ञानरूपी जलके

भवन्ति। कथं? 'णाणमओवज्झाहेण' ज्ञानमयोदकप्रवाहेण। 'विज्झविदे' नष्टे मोहाग्नौ। 'डाहुम्मुक्का' दाहोन्मुक्ताः। 'समेण' रागद्वेषशमनेन च। एतदुक्तं भवति—शरीरात्मभेदज्ञानजलप्रवाहोन्मुक्तिमोहानलशान्तिरागरोष नाम यतीनां गुणः निर्वेदनत्वं चेति ॥३१४॥

णिग्गहिदिंदियदारा समाहिदा समिदसव्वचेट्ठंगा।
धण्णा णिरावयक्खा तवसा विधुणंति कम्मरयं ॥३१५॥

'णिग्गहिदिंदियदारा' इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं इति। तत्र द्रव्येन्द्रियं पुद्गलस्कन्धा आत्मप्रदेशाश्च तदाकाराः। भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशमः इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च। तत्रेहोपयोगेन्द्रियं गृहीतं तन्माहात्म्याद्रागद्वेषौ अमनोज्ञे मनोज्ञे च विषये प्रवृत्तौ इह पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारशब्देनोच्येते। तेनायमर्थः—निगृहीतेन्द्रियविषयरागद्वेषा इति। 'समाहिदा' रत्नत्रये समवहितचित्ताः। 'समिदसव्वचेट्ठंगा' सम्यक्प्रवृत्तसर्वचेष्टाः। 'धण्णा' पुण्यवन्तः। 'णिरावयक्खा' निश्चला इति केचिद्वदन्ति। अन्ये निरपेक्षाः सत्कारं लाभं चानीहमानाः इति कथयन्ति। 'तवसा विधुणंति कम्मरयं' तपसा कर्मरजोविधूननं कुर्वन्ति। निगृहीतेन्द्रियत्वं, रत्नत्रये समाहितता, निरवद्यचेष्टावत्ता, सत्कारादिनिरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणा एतया गाथया सूचिताः ॥३१५॥

इय दढगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स।
वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥३१६॥

'इय' एवं 'दढगुणपरिणामो' यतिगुणेषु स्थायितेषु दृढपरिणामः। 'साहुस्स वेज्जावच्चं करेदि'

प्रवाहसे—आत्मा और शरीर आदिके भेद ज्ञानरूपी जलके प्रवाहसे मोहरूपी आगके नष्ट हो जाने से तथा रागद्वेषके शान्त हो जानेसे वे दाह से मुक्त हैं। आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान रूपी जलके प्रवाहसे अज्ञानरूपी आगके फैलावको समाप्त कर देना और वेदना रहित होना अर्थात् ज्ञानानन्दमय होना यतियों का गुण है ॥३१४॥

गा०-टी०—इन्द्रियके दो भेद हैं द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल स्कन्धोंके और उनके आधार भूत आत्म प्रदेशोंके इन्द्रियाकार रचनाको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। और ज्ञानावरणके क्षयोपशम और इन्द्रियसे होने वाले रूपादि विषयक उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। इनमेंसे यहाँ उपयोगरूप इन्द्रियका ग्रहण किया है, क्योंकि उसकी सहायतासे मनको प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयों में राग द्वेष होते हैं। पापकर्ममें निमित्त होनेसे यहाँ इन्द्रियद्वार कहा है अतः यह अर्थ होता है जिन्होंने इन्द्रियोंके विषयोंमें होने वाले रागद्वेषका निग्रह कर दिया है। जिनका चित्त रत्नत्रयमें लीन रहता है। जो ईर्याभाषा आदि चेष्टाएँ सम्यक् रूप करते हैं और जो 'णिरावयक्खा' हैं। इसका अर्थ कोई 'निश्चल' कहते हैं और कोई निरपेक्ष कहते हैं अर्थात् जो सत्कार और लाभ की अपेक्षा नहीं करते। वे पुण्यशाली मुनि तपसे कर्म रूपी धूलिको नष्ट करते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का निग्रह करना, रत्नत्रयमें एकाग्र होना, निर्दोष चेष्टाएँ करना, सत्कार आदि की अपेक्षा न करना, तप में लीन रहना और कर्म रूपी रजका दूर करना ये यतियोंके गुण इस गाथाके द्वारा कहे हैं ॥३१५॥

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे यतिके गुणोंमें जिसका परिणाम दृढ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यतिमें

दुर्लभस्वर्गेऽपिष्ठं वा महाकल्याणपंचकं धर्मे तीर्थे राग । तीर्थकरनामकर्मबन्धः सकल गुणमाहात्म्य । अत्यन्तं दुर्लभत्वात्प्रदर्शनं गाथायाम् ॥३१८॥

वैयावृत्त्यस्य च भक्तिनामा यो गुणस्तं कथयति—

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य ।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य ॥३१९॥

'अरहंतसिद्धभत्ती' अर्हतां भगवतामतीतजन्मनि दर्शनविशुद्ध्यादिपरिणामविशेषोपात्ततीर्थकरत्वनामकर्मणां, स्वर्गावतरणादिमहाकल्याणभागिनां, घातिकर्मक्षयाविर्भूतसकलजगत्प्रकाशिकेवलज्ञानानाम्, दर्शनमोहक्षयाविर्भूतक्षायिकसम्यक्त्वानां, चारित्रमोहक्षयाविर्भूतवीतरागतानां, वीर्यान्तरायक्षयाविर्भूतानन्तवीर्याणां, परिनिर्वाणभव्यजनोद्धरणप्रतिज्ञानां, अष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयविशेषोपेतानाम् । सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपात्ताष्टविधकर्मनिर्मुक्ताः अजरामराव्याबाधा अनुपमानन्तसुखाः आवरणरहितज्ञानशरीराः पुरुषाकाराः परमात्मावस्थां प्राप्ताः । एतयोरर्हत्सिद्धयोर्भक्तिः । गुरुशब्देनाचार्योपाध्यायौ गृहीतौ तयोर्भक्तिः । 'सव्वसाहुभत्ती य' सर्वसाधुभक्तिश्च । 'आसेविदा' आसेविता भवति । 'समग्गा' समग्रा 'विमला वरधम्मभत्ती' प्रधाने धर्मे रत्नत्रये भक्तिश्च आसेविता भवति । अर्हदादिवैयावृत्त्यं कुर्वता भक्तिः कृता भवति । रत्नत्रयधारिणामुपकारकरणात् तदादर एव भक्तिः । वैयावृत्त्ये भक्तिमाहात्म्यमर्हदादिविषयम् ॥३१९॥

धर्ममें तीव्रराग रखने वाला मनि सब गुणको प्राप्त होता है। इस गाथासे माहात्म्यका कथन किया ॥३१८॥

वैयावृत्यका भक्ति नामक जो गुण है उसे कहते हैं—

गा०-टी०—इस भवसे पूर्व तीसरे भवमें दर्शन विशुद्धि आदि परिणाम विशेषसे जिनने तीर्थंकरत्व नामक अतिशयशाली कर्मका बन्ध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण के भागी हैं जो कल्याणक किसी अन्यको प्राप्त नहीं होते, घातिकर्मोंके विनाशसे जिनने त्रिकालवर्ती सब द्रव्योंके स्वरूपको प्रकाशित करनेमें पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन मोहके क्षयसे जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्रमोहके क्षयसे जिनने वीतरागता प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्मके क्षयसे जिनमें अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके संसारका अन्त आ गया है उन भव्यजीवोंका उद्धार करनेकी प्रतिज्ञामें जो बद्ध है, जो आठ महाप्रातिहार्य और चौंतीस अतिशय विशेषसे युक्त हैं, वे अर्हन्त हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामोंसे आये आठ कर्मोंके बन्धनसे जो छूट चुके हैं, जो अजर अमर, अव्याबाध गुणसे युक्त हैं अनुपम अनन्त सुखसे शोभित हैं जिनके सदा प्रकाशित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार हैं और जिन्होंने परमात्म अवस्थाको पा लिया है वे सिद्ध हैं। इन अर्हन्तों और सिद्धोंकी भक्ति अर्हन्त सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्दसे यहाँ आचार्य और उपाध्यायका ग्रहण किया है। उनकी भक्ति गुरु भक्ति है। और सर्वसाधुओंकी भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रयमें सम्पूर्ण निर्मल भक्ति। इन अर्हन्त आदि का उपकार रूप वैयावृत्य करनेसे उनकी भक्ति की गई जानना। रत्नत्रयके धारकोंका उपकार करनेसे उनका आदर हो उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमें भक्ति व्यक्त होती है ॥३१९॥

श्रुतरत्ननिधिभूतः ॥३२१॥

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ ।
तो तेण सिद्धिमग्गो ठविदो अप्पा परो चेव ॥३२२॥

'दंसणणाणे' दर्शनज्ञानयो । 'तवसंजमे य' तपश्चारित्रयोश्च । 'संधाणदा होदि' कुतश्चिन्निमित्ताद्विच्छिन्नानां दर्शनादीनां संधानं कृतं भवति वैयावृत्त्येन । 'तो' तस्मात् तेनैव वैयावृत्त्यकारिणा । 'सिद्धिमग्गे' रत्नत्रये । 'ठविदो अप्पा परो चेव' स्थापित आत्मा परश्च । अनया संधानमित्येतत्सूत्रपदव्याख्यानम् ॥३२२॥

तप इत्येतद्व्याख्यानमुत्तरमाह—

वेज्जावच्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥३२३॥

'वेज्जावच्चकरो पुण' वैयावृत्त्यकर पुन 'अणुत्तरं तवसमाधि मारूढो' उत्कृष्टे वैयावृत्त्याख्ये तपसि समाधिमेकाग्रतामुपाश्रित । 'पप्फोडिंतो विहरदि' निधूनयन्विहरति । 'बहुभवबाधाकरं' कम्मं' बहुभवेषु बाधा संपादयत्कर्म ॥३२३॥

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा ।
तिविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होंति ॥३२४॥

'जिणसिद्ध साहुधम्मा' तीर्थंकृत , सिद्धा, साधवो, धर्मश्च । 'अणागदातीदवट्टमाणगदा' सर्वे त्रिकालवर्तिन. 'सव्वे तिविधेण पूजिदा होंति' सर्वे मनोवाक्कायैः पूजिता भवन्ति । 'सुद्धमदिणा' शुद्धचेतसा । तीर्थकृदादयस्तदाज्ञाकरणात्पूजिता , दशविधे धर्मे तपसोऽन्तर्भावाद्वैयावृत्त्यस्य च तदन्तर्गतत्वाद्वैयावृत्त्ये आदरात् तत्प्रवृत्तेश्च धर्मः पूजितो भवति ॥३२४॥

करने वालेको वैयावृत्यके लिये ऐसे सत्पात्र मुनी प्राप्त होते हैं यह एक महान् लाभ है ॥३२१॥

गा०–टी०—किसी निमित्तसे सम्यग्दर्शन आदिमें त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक् चारित्रमें पुनः नियुक्ति हो जाती है। अतः उसी वैयावृत्यकारीके द्वारा स्वयं आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय में पुनः स्थिति होती है। इससे दोनों का ही लाभ है। इस गाथाके द्वारा 'संधान' पदका व्याख्यान किया है ॥३२२॥

तप गुणको कहते हैं—

गा०—वैयावृत्य करनेवाला मुनि उत्कृष्ट वैयावृत्य नामक तपमें एकाग्र होकर अनेक भवोंमें कष्ट देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ विहार करता है ॥३२३॥

गा०—शुद्धचित्तसे वैयावृत्य करनेवालेके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालके सब तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म मन-वचन-कायसे पूजित होते हैं। तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन करनेसे सभी तीर्थंकर आदि इसके द्वारा पूजित होते हैं। तथा दस प्रकारके धर्मोंमें एक तपधर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है अतः वैयावृत्यमें आदरभाव रखने तथा वैयावृत्य करनेसे धर्म पूजित होता है ॥३२४॥

संघस्स धारणाए अव्वोच्छित्ती कदा होई ॥३२५॥

'आइरियधारणाए' आचार्यधारणात् 'संघो सव्वो वि धारिदो होदि' सर्वः संघोऽनुगृहीतो भवति। कथं ? आचार्यो हि रत्नत्रयं ग्राहयति। गृहीतरत्नत्रयांस्तेषु दृढयति। अतिचारांश्चापनयति। तदुपदेशेनैव गुणसंहतिधारकता यतो संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति। संघधारणायां गुणमाचष्टे। 'संघस्स धारणाए अव्वोच्छित्ती कदा होदि' धर्मतीर्थस्याभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अव्युच्छित्तिः कृता भवति। उपाध्यायादयः सर्व एव साधयन्ति निरवशेषकर्मविनाशमिति साधुशब्देनोक्ताः ॥३२५॥

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणायां गुणं कथयति—

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो।
साधू चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥३२६॥

'साधुस्स धारणाए' एकस्य साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणायां। 'होदि' भवति। 'तह चेव' यथैव आचार्यधारणात् संघधारणात्। 'धारिदो संघो' धारितो यतिसमुदायः। कथमेकस्य धारणायां समुदायधारणा, समुदायावयवयोर्भेदादित्याशंकायामाह—'साधू चेव हि संघो' साधव एव हि संघः। 'ण हि संघो साहुवदिरित्तो' नैव संघो नामार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्तः। कथंचित्समुदायावयवयोरव्यतिरेक इति मन्यते गाथा-

---

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञके भेदसे वैयावृत्यके दस भेद है। उनमेंसे आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

गा०-टी०—आचार्यका धारण करनेसे समस्त संघ धारित होता है। क्योंकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं और जो साधु रत्नत्रयको धारण किये होते हैं उन्हें उसमें दृढ करते हैं। उत्पन्न हुए अतिचारोंको दूर करते है। आचार्यके उपदेशके प्रभावसे ही संघ गुणोंके समूहको धारण करता है अतः आचार्यके धारणसे संघका धारण होता है। आचार्यके बिना संघका धारण सम्भव नही है। संघके धारणसे अभ्युदय और मोक्षके सुखका साधन जो धर्म है उस धर्मतीर्थका विच्छेद नही होता। उपाध्याय आदि सभी समस्तकर्मोंके विनाशकी साधना करते हैं इसलिए *साधु शब्दसे उन सबका ग्रहण होता है ॥३२५॥*

विशेषार्थ—धारणाका अर्थ है अपने धर्मकर्मकी शक्तिको भ्रष्ट करनेके निमित्तोंको दूर करके उसको शक्ति प्रदान करना। इसीको वैयावृत्य भी कहते हैं।

उक्त आचार्यादिमेंसे किसी एक साधुकी धारणाके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे आचार्यकी धारणासे संघकी धारणा होती है वैसे ही एक साधुकी धारणासे अर्थात् वैयावृत्य करनेसे साधु समुदायकी धारणा होती है।

शंका—एक साधुकी धारणासे सब साधु समुदायकी धारणा कैसे हो सकती है ? क्योंकि समुदाय और व्यक्तिमें तो भेद है ? इसके उत्तरमें कहते हैं—

समाधान—साधु ही संघ है। साधुओंसे भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नही है। समुदाय

द्वयेनानेन । अभ्युच्छित्तिर्व्याख्याता ॥३२६॥

सिद्धिसुखे चेतस एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगूहनं कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण ।
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि ॥३२७॥

'गुणपरिणामादीहिं य' गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धानं, तप, पूजा, तीर्थाव्युच्छित्तिरित्येवमादिभिः । 'अणुत्तरविधीहिं' उत्कृष्टैः क्रमैः । 'विहरमाणेण' आचरता । 'जा सिद्धिसुहसमाधी' या सिद्धिसुखैकाग्रता । 'सा वि य उवगूहिया होइ' साप्यालिङ्गिता भवति । कारणे ह्यादरं कार्ये समाधानमन्तरेण न प्रवर्तते । न हि साध्ये घटे चेतस्यसति तदुपायभूतदण्डादिकारणव्यापारे जन प्रवर्तते । इह च गुणपरिणामादय उपायाः सिद्धिसुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामन्तरेण ते युज्यन्ते इति भावः ॥३२७॥

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति ।
णिग्गहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥३२८॥

'अणुपालिदा य आणा' अनुपालिता च आज्ञा भवति वैयावृत्त्यं कुर्वता । केषां ? तीर्थकृदादीनां । एतेन 'आणा' इत्येतस्य सूत्रपदस्य व्याख्यानं भवति । 'संजम जोगा य पालिदा होंति' इत्यनेन संयमपदव्याख्या कृता संयमेन सह सम्बन्धः आचार्यादीनाम् । 'पालिदा होंति' रक्षिता भवन्ति । व्याध्याद्यापद्गतानां रोगपरीषहान-सहनेन धर्मविमुखसमर्थानाम् । अथवा संयमयोगाश्च तपांसि अनशनादितपोविशेषाः रक्षिता भवन्ति स्वस्य परेषां च, करणानुमननाभ्यां स्वस्यापन्निरासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादिना संयमसम्पादनात् । परेषां सहायता

और उसके अवयव व्यक्तिमें कथञ्चित् अभेद होता है यह इन गाथाओंके द्वारा माना है ॥३२६॥

अभ्युच्छित्तिका कथन समाप्त हुआ ।

सिद्धि सुखमें चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं। वैयावृत्यमें उसका उपगूहन होता है, यह कहते हैं—

गा०—श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धान, तप, पूजा, तीर्थकी अव्युच्छित्ति (अविनाश) इत्यादि गुणोंका उत्कृष्ट क्रमके साथ आचरण करनेवाले मुनिकी जो सिद्धि सुखमें एकाग्रता है, वह भी प्राप्त होती है; क्योंकि कार्यमें समाधान हुए विना कारणमें आदर नहीं होता। यदि चित्तमें घट बनानेकी भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण हैं उनमें मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। यहाँ गुणपरिणाम आदि सिद्धिसुखके उपाय है, सिद्धिसुखमें एकाग्रताके बिना वे उपाय नहीं हो सकते। यह अभिप्राय है ॥३२७॥

गा०-टी०—'जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन करता है। इस कथनसे गाथाके 'आणा' पदका व्याख्यान किया है। 'संयमयोगका पालन होता है' इस कथनसे संयमपदका व्याख्यान किया है क्योंकि आचार्य आदिका संयमके साथ सम्बन्ध है। जो आचार्य आदि व्याधि आदिसे पीड़ित होते हैं और विना संक्लेशके रोगपरीषहको सहनेमें असमर्थ होते हैं उनकी वैयावृत्य करनेसे संयमकी रक्षा होती है। अथवा 'संयमयोग' अर्थात् अनशन आदि तपके भेदोंकी रक्षा होती है। अपने भी और दूसरोंके भी तपकी रक्षा होती है। दूसरोंसे वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करनेकी अनुमोदना करके स्वास्थ्यको प्राप्तकर अपने तपकी रक्षा करता है तथा दूसरोंकी

याचष्टे—जम्हा इति वाक्यशेषाध्याहारेण सूत्रार्थमाचष्टेतीयानि । कषायेन्द्रियदोषाणि कषायेन्द्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता तस्मात् 'सापेक्खदा य कदा' परानुग्रहः कृतः ॥३२८॥

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंछा दरिसिदा होइ ।
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च ॥३२९॥

'अदिसयदाणं दत्तं' अतिशयदानं दत्तं भवति रत्नत्रयदानात् । 'णिव्विदिगिंछा य दरिसिदा होदि' सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । द्रव्यविचिकित्सा निरस्ता शरीरमलानां निराकरणात् जुगुप्सां विना । 'पवयणपभावणा वि य' प्रवचनप्रभावनापि आगमानुसाराचरणात् प्रवचनप्रभावना कृता भवति । 'णिव्वूढं संघकज्जं च' संघेन कर्तव्यं कार्यं च निर्वाहितं सम्पादितं भवति । एतेन 'कज्जगुणाणि' इत्येतद्व्याख्यातम् ॥३२९॥

वैयावृत्त्यस्य फलमाहात्म्यं दर्शयति—

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ।
तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥३३०॥

'गुणपरिणामादीहिं य' । अत्रैवं पदसम्बन्धः 'वेज्जावच्चुज्जदो' वैयावृत्त्ये उद्यतः । 'गुणपरिणामादीहिं' गुणपरिणामादिभिः कारणभूतैः । 'पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि' पुण्यं तीर्थंकरनामकर्म समर्जयति । कीदृक् ? 'तिलोयसंखोभयं' त्रैलोक्यसंक्षोभकरणक्षमम् ॥३३०॥

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य ।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो ॥३३१॥

'एदे गुणा महल्ला' एते गुणा महान्तः 'वेज्जावच्चुज्जदस्स' वैयावृत्त्योद्यतस्य । 'बहुगा य' बहवः ।

आपत्तिको दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करनेपर उनके संयमकी रक्षा होती है। दूसरोंकी सहायताका कथन गाथाके उत्तरार्द्धसे करते हैं। उसमें 'जम्हा' पदका अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है—यतः वैयावृत्य करनेवाला कषाय और इन्द्रियोंके दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रियोंका निग्रह करता है, अतः वह दूसरोंको सहायता प्रदान करता है ॥३२८॥

गा०-टी०—वैयावृत्य करनेवाला उक्त प्रकारसे दूसरे साधुओंको रत्नत्रयका दान करता है इसलिए वह सातिशयदानका दाता होता है। तथा वैयावृत्यसे सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीरका मलमूत्र आदि बिना ग्लानिके उठानेसे द्रव्यविचिकित्सा दूर होती है। आगममें कहे हुए धर्मका पालन करनेसे प्रवचनकी प्रभावना भी होती है। और संघका जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इस गाथामें 'कज्जगुणाणि' पदका व्याख्यान किया है ॥३२९॥

वैयावृत्यके फलका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—वैयावृत्यमें तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणोंके द्वारा उस तीर्थंङ्कर नामक पुण्यकर्मका बन्ध करता है जो तीनों लोकोंमें हलचल पैदा करता है ॥३३०॥

गा०—वैयावृत्यमें तत्पर साधुके बहुतसे महान् गुण होते हैं। जो केवल स्वाध्याय ही

'अप्पट्ठिदो दु सायदि' आत्मप्रयोजनपर एव जायते । 'सज्झायं चेव कुव्वंतो' स्वाध्यायमेव कुर्वन् । वैयावृत्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्यते ॥३३१॥

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गमग्गिविससरिसं ।
अज्जाणुचरो साधू लहदि अकित्तिं खु अचिरेण ॥३३२॥

'वज्जेह' वर्जयत अग्निना विषेण सदृशं आर्याजनसंसर्गं । प्रमादरहितैर्भवद्भिरित्यर्थः । 'अज्जाणुचरो' आर्यानुचरः । 'साधु' साधुरपि अकीर्ति लभते अयशः 'अचिरेण' अचिरेण । चित्तसंतापकारितया अग्निसदृशता । संयमजीवितविनाशकारितया विषसदृशता । पापस्य अयशसश्च प्रायेण भीरुर्लोकोऽपि साध्वाचारः मिथ्यादृष्टिरसंयतोऽपि किं पुनर्विदितवेदितव्यस्य परिहार्यसंसर्गेषु उद्यतः परिहर्तुं यतिजनः पापमयशश्च न परिहरेत् । तथा चोक्तं —

कायं पातितं वा रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत् ।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ [ ] ॥३३२॥

थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स ।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥३३३॥

'थेरस्स' स्थविरस्य । 'तवसिस्स वि' अनशनादितपस्युद्यतस्यापि । 'बहुसुदस्स वि' बहुश्रुतस्यापि । 'पमाणभूदस्स' प्रमाणभूतस्य । 'अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि' आर्यापरिचयाज्जनापवादो भवति ॥३३३॥

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरित्तो ।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणय ण पावेज्ज ॥३३४॥

करता है वह तो अपने ही प्रयोजनमें लगा रहता है। किन्तु वैयावृत्य करनेवाला अपना और दूसरोंका उपकार करता है। अर्थात् केवल स्वाध्याय करनेवाले साधुसे वैयावृत्य करनेवाला विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करनेवाले साधुपर विपत्ति आवे तो उसे वैयावृत्य करनेवालेका ही मुख ताकना होता है ॥३३१॥

गा०—टी०—हे साधुजनो! आपको प्रमादरहित होकर आग और विषके तुल्य आर्याओंके संसर्गको छोड़ना चाहिए। आर्याके साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है। आर्याका संसर्ग चित्तको सन्तापकारी होनेसे आगके समान है और संयमरूपी जीवनका विनाशक होनेसे विषके समान है। साधु आचारवाले मिथ्यादृष्टि असंयमी लोग भी प्राय पाप और अपयशसे डरते हैं। फिर जो सब कुछ जानते हैं और समस्त त्यागने योग्य पदार्थोंके त्यागमें तत्पर रहते हैं वे साधुजन पाप और अपयशके काममे क्यों नही दूर रहेंगे? कहा भी है—शरीर नष्ट होनेवाला है उसकी रक्षा सम्भव नहीं है। यशकी रक्षा करने योग्य है जो नष्ट नही होता। शरीरके छूट जानेपर मनुष्य यशरूपी शरीरसे जीवित रहता है ॥३३२॥

गा०—वृद्ध, अनशन आदि तपमे तत्पर तपस्वी, बहुश्रुत और प्रमाण माना जानेवाला भी साधु आर्याजनके संसर्गसे लोकापवादका भागी होता है ॥३३३॥

खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ।
अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥३३८॥

'खेलपडिदमप्पाणं' श्लेष्मपरीतमात्मानं । 'जह ण तरइ मच्छिया विमोचेदुं' यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुम् । 'तह अज्जाणुचरो ण तरइ अप्पाणं विमोचेदुं' तथा आर्यानुचरो न शक्नोति आत्मानं विमोचयितुम् ॥३३८॥

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा ।
चम्मेण सह अवेंती ण य सरिसो जोणिकसिलेसो ॥३३९॥

'साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा' साधोर्नास्ति लोके आर्यासदृशी बन्धने उपमा । 'चम्मेण सह अवेंती' चर्मणा सह अपयच्छन् । 'ण य सरिसो जोणिगसिलेसो' नैव सदृशः चर्मकारश्लेषः । न केवलं आर्याजनो दूरत एव परिहार्यः अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥३३९॥

अण्णं पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुणदि ।
तं तं परिहरह तदो होहदि दढसंजदा तुज्झ ॥३४०॥

'अण्णं पि तहा वत्थु' अन्यदपि तथाभूतं वस्तु । 'जं जं साधुस्स बंधणं कुणइ' यद्यत्साधोर्बन्धनं करोति अस्वतन्त्रतां करोति । 'तं तं परिहरह' तत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत । 'तदो' वस्तुत्यागात् । 'होहदि दढसंजदा तुज्झं' भवता दृढसंयतता गुणो भवत्येवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तत्यागे त्यक्तो भवति ॥३४०॥

पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ।
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥३४१॥

'पासत्थादीपणयं' पार्श्वस्थादिपञ्चक पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक्त, कुशीलो, मृगचरित्र इति पञ्च । तान् दूरतो निराकुरुत । अपरित्यागदोषमाह—'मेलणदोसेण तम्मयदा होइ' संसर्गदोषेण पार्श्वस्थादिमयता ॥३४१॥

तन्मयता प्रतिपत्तिक्रमाख्यानायाना गाथा—

गा०—जैसे मनुष्यके कफमें फँसी हुई मक्खी उससे अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ होती है। वैसे ही आर्याका अनुगामी साधु उससे अपनेको छुड़ानेमे असमर्थ होता है ॥३३८॥

गा०—साधुका आर्यिके साथ सहवास ऐसा बन्धन है जिसकी कोई उपमा नहीं है। चर्मके साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नहीं है ॥३३९॥

गा०—साधुको केवल आर्याजनोंके संसर्गसे ही दूर नहीं रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधुको परतन्त्र करती है उस-उस वस्तुको त्यागनेमें तत्पर रहो। उसके त्यागसे तुम्हारा संयम दृढ़ होगा। बाह्य वस्तुके निमित्तसे होने वाला असंयम उस वस्तुके त्यागसे त्यागा जाता है ॥३४०॥

गा०—पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक, कुशील और मृगचरित्र इन पाँच प्रकारके कुमुनियोंसे तुम सदा दूर रहो। उनसे मेल रखनेसे पुरुष उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४१॥

मपि छायामशोभना तद्वता । सन्तोऽपि दोषा नश्यन्ति सुजनाश्रयेण तस्मात्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥३५२॥

सुजनसमाश्रयणे अभ्युदयफलं, पूजालाभं कथयति गाथा—

कुसुममगधमवि जहा देवयसेसत्ति कीरदे सीसे ।
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ ॥३५३॥

कुसुममित्यादिना । यथा सौगन्ध्यरहितमपि कुसुमं देवताशेषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजनमध्यवासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥३५३॥

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तास्रवनिरोधरूपे प्रवृत्तिगुणं कथयति—

संविग्गाणं मज्झे अप्पियधम्मो वि कायरो वि णरो ।
उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहिं ॥३५४॥

संविग्गाणं मज्झे इत्यनया । संसारभीरूणां मध्ये वसन्नपि धर्मप्रियो न भवति । कातरोऽ[1] दुःखे तथापि उद्युङ्क्ते पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥३५४॥

संसारभीरोरपि यतेः सुजनसमाश्रयणेन गुणमभिदधाति—

संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्झयारम्मि ।
होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदव्वसंजोए ॥३५५॥

संविग्नोऽपि इत्यनया । प्रागपि संसारभीरुर्जनः संविग्नमध्यनिवासो संविग्नतरो भवति । यथा गन्धयुक्तिः कृतको गन्धः प्रकृतिसुरभिद्रव्यगन्धसंसर्गे सुरभितरो भवति ॥३५५॥

आश्रय लेने पर कौवा अपनी असुन्दर छविको छोड़ देता है। इसका भाव यह है कि सज्जनोंकी सत्संगतिसे विद्यमान भी दोष नष्ट हो जाते हैं अतः सज्जनोंका आश्रय लेना चाहिए ॥३५२॥

सज्जनोंका आश्रय लेने पर अभ्युदय रूप फल और पूजाका लाभ होता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे सुगन्धसे रहित भी फूल 'यह देवताका आशीर्वाद है' ऐसा मानकर सिर पर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोंके मध्यमें रहने वाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥

वचन और कायके निमित्तसे होने वाले आस्रवके रोकनेको द्रव्य संयम कहते हैं। उस द्रव्य संयममें प्रवृत्तिका लाभ कहते हैं—

गा०—जिसको धर्ममें प्रेम नहीं है तथा जो दुःखसे डरता है वह मनुष्य भी संसार भीरु यतियोंके मध्यमें रहकर भावना, भय, मान और लज्जासे पापके कार्योंसे निवृत्त होनेका उद्योग करता है ॥३५४॥

संसारसे भीत यति भी सज्जनोंका सत्संग करनेसे लाभान्वित होता है यह कहते हैं—

गा०—जो मनुष्य पहलेसे ही संसारसे विरक्त है वह विरागियोंके मध्यमें रहकर और भी अधिक विरागी हो जाता है। जैसे बनावटी गन्धसे युक्त द्रव्य स्वभावसे ही सुगन्धित द्रव्यकी गन्धके संसर्गसे और भी अधिक सुगन्धित हो जाता है ॥३५५॥

---

१. भवद्दु खे आ० । –द्वाप्यसं स० ।

बहव इत्येतावता चारित्रक्षुद्रा न भवद्भिः समाश्रयणीयाः एक इति वा न सुगुणः परिहार्य इत्येतदाचष्टे—

वासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि ।
जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति ॥३५६॥

'वासत्थसदसहस्सादो वि' पार्श्वस्थग्रहणं चारित्रक्षुद्रोपलक्षणार्थं । चारित्रक्षुद्राच्छतसहस्रादपि एकोऽपि सुशीलो वरम् । य संयममाश्रितस्य शीलं, दर्शन, ज्ञान, चारित्र च वर्द्धते, स भवद्भिराश्रयणीय इति भावार्थ ॥३५६॥

संजदजणावमाणं पि वरं खु दुज्जणकदादु पूजादो ।
सीलविणासं दुज्जणसंसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥३५७॥

सयता परिभवन्ति माम सुचरित तत. पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेत. कार्यमित्याचष्टे— 'संजदजणावमाणं पि वरं' सयतजनापमानमपि वर । 'दुज्जणकदादु पूजादो' दुर्जनकृताया पूजाया । कथं ? 'दुज्जणसंसग्गी सीलविणासं कुणदि' दुर्जनसंसर्गः शीलविनाशं करोति । 'ण दु इदरं' न तु इतरं । सयतजनावमानं तु नैव शीलविनाशं करोति ॥३५७॥

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावंति ।
तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह ॥३५८॥

'आसयवसेण' आश्रयवशेन । एवमुक्तेन क्रमेण । 'पुरिसा दोसं गुणं व पावंति' पुरुषा दोषं गुणं वा प्राप्नुवन्ति । 'तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह' तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आश्रय आश्रयेत् ॥३५८॥

चारित्रमे क्षुद्र यति बहुत भी हों तो आपको उनका संग नहीं करना चाहिए। और गुणशाली एक हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए यह कहते हैं—

गा०—पार्श्वस्थ अर्थात् चारित्रमे क्षुद्र यति लाख भी हों तो उनसे एक भी सुशील यति श्रेष्ठ है जो अपने संसर्गीके शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्रको बढ़ाता है। आपको उसीका आश्रय लेना चाहिए। गाथामें आगत 'पार्श्वस्थ' शब्द जो चारित्रमें क्षुद्र है उन सबके उपलक्षणके लिए है ॥३५६॥

गा०—संयमीजन मुझ चारित्रहीनका तिरस्कार करते हैं अतः मै पार्श्वस्थ आदि चारित्रहीन मुनियोंके ही पास रहूँ। ऐसा मनमें विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे संयमीजनोंके द्वारा किया गया अपमान श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि दुर्जनका संसर्ग शीलका नाशक है किन्तु संयमीजनो द्वारा किया गया अपमान शीलका नाशक नहीं है ॥३५७॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—उक्त प्रकारसे अच्छे बुरे आश्रयके कारण पुरुष दोष और गुणको प्राप्त करते हैं। इसलिए प्रशस्त गुणयुक्त आश्रयका ही आश्रय लेना चाहिए ॥३५८॥

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ॥३५९॥

'पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स' पथ्य हितं हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसतः। 'कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स' कटुकमौषधमिवापि तन्मधुरविपाकं भवति। तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माकं स्वं प्रयोजनम्। किन्न वेत्ति स्वयं इति नोपेक्षितव्यम्। परोपकार. कार्य एवेति कथयति। तथाहि—तीर्थकृत विनेयजनसंबोधनार्थं एव तीर्थविहारं कुर्वन्ति। महत्ता नामैव यत्-परोपकारावद्धपरिकरता। तथा चोक्तं—

क्षुद्राः संति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाडवो ।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥ [ ] ॥३५९॥

इतरेणापि श्रवणयोरनिष्टमपि तद्ग्राह्य इति कथयति—

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणं णरेण घेत्तव्वं ।
पेल्लेदूण वि छूढं बालस्स घदं व तं खु हिदं ॥३६०॥

हृदयस्यानिष्टमपि पथ्य नरेण बुद्धिमता ग्राह्य हित इति चेतो निधाय। 'पेल्लेदूण वि छूढं' अवष्टभ्यापि प्रवेशित घृतं बालाना हित भवति यथा तद्वदिति यावत् ॥३६०॥

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ॥३६१॥

गा०—टी०—अपने गणके वासी साधुको हितकारी किन्तु हृदयको अनिष्ट भी लगनेवाले वचन बोलना चाहिए, क्योंकि वे वचन कडुवी औषधीकी तरह उसके लिए मधुर फलदायक होते हैं। दूसरेको अनिष्टवचन बोलनेसे हमारा अपना क्या प्रयोजन है, क्या वह स्वयं नहीं जानता। ऐसा मान उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए। परोपकार करना ही चाहिए। जैसे तीर्थंकर शिष्यजनोंके सम्बोधनके लिए ही विहार करते हैं। महत्ता नाम इसीका है कि परोपकार करनेमें तत्पर रहना। कहा भी है—

'अपने ही भरण-पोषणमें लगे रहनेवाले क्षुद्रजन तो हजारों हैं किन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा पुरुष सज्जनोंमें अग्रणी विरल ही होता है। बडवानल अपना कभी न भरनेवाला पेट भरनेके लिए समुद्रका जल पीता है। किन्तु मेघ ग्रीष्मसे सतप्त जगत्‌के सन्तापको दूर करनेके लिए समुद्रका जल पीता है ॥३५९॥

आगे कहते हैं कि कानोंको अप्रिय भी गुरुका वचन ग्रहण करना चाहिए—

गा०—हृदयको अनिष्ट भी वचन गुरुके द्वारा कहे जाने पर मनुष्यको पथ्य रूपसे ग्रहण करना चाहिए। जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुँह खोलकर पिलाया गया घी हितकारी होता है उसी तरह वह वचन भी हितकारी होता है ॥३६०॥

ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स ।
धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ॥३६४॥

'ण य जायंति असंता गुणा' नैवोत्पद्यन्ते असन्तो गुणाः । विकत्थमानस्य स्तुवतः । 'धंति' नितरां 'महिलायंतो व' स्त्रीवदाचरन्नपि । 'पंडवो पंडवो चेव' षंढः षंढ एव भवति न युवतिः ॥३६४॥

संतं सगुणं किसिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूण ।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा ॥३६५॥

'संतं सगुणं किसिज्जंतं' विद्यमानमपि स्वकं कीर्त्यमानं । 'सुजणो जणम्मि सोदूण' साधुजनस्य मध्ये श्रुत्वा । 'लज्जइ' व्रीडामुपैति । 'किह पुण' कथं पुनः 'सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा' स्वयमेवात्मनो गुणकीर्तनं कुर्यात् ॥३६५॥

स्वगुणाकीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि ।
सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥३६६॥

'अविकत्थंतो अगुणो वि होइ' अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति । 'सगुणो व' गुणवानिव । 'सुजण-मज्झम्मि' सुजनमध्ये । परस्परव्याहतमिदं यत 'अगुणस्य गुण' इति एतस्यामाशंकायामाह—'सो चेव होदि गुणो' स एव गुणो भवति । 'जं अप्पाणं ण थोएदि' यदात्मानं न स्तौति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणाभावा-न्निर्गुणः, आत्मप्रशंसाकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थः ।

यदि सन्ति गुणास्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ॥ [ ] ॥३६६॥

वायाए जं कहणं गुणाण त णासणं हवे तेसिं ।
होदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासणं तेसिं ॥३६७॥

गा०—अपने गुणोंकी प्रशंसा करने वाले पुरुषमें अविद्यमान गुण प्रशंसा करनेसे उत्पन्न नहीं होते । स्त्रीकी तरह खूब हाव-भाव करने पर भी नपुंसक नपुंसक ही रहता है, युवति नहीं बन जाता ॥३६४॥

गा०—सज्जन मनुष्योंके बीचमें अपने विद्यमान भी गुणकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है । तब वह स्वयं ही अपने गुणोंकी प्रशंसा कैसे कर सकता है ॥३६५॥

अपने गुणोंकी प्रशंसा न करनेके गुण कहते हैं—

गा०—अपनी प्रशंसा न करनेवाला स्वयं गुणरहित होते हुए भी सज्जनोंके मध्यमें गुणवान्‌की तरह होता है । गुणरहितको गुणवान कहना तो परस्पर विरुद्ध है, ऐसी आशंका करनेपर कहते हैं—यह जो अपनी प्रशंसा नहीं करता यही उसका गुण है । भावार्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि गुणोंका अभाव होनेसे वह गुणरहित है किन्तु अपनी प्रशंसा न करनेके गुणसे गुणवान् है । 'यदि उसमें गुण हैं तो वे स्वयं कसौटीपर कसे जायेंगे । कस्तूरीकी गन्धके लिए शपथ करना नहीं होता ॥३६६॥

णायम्मि' सर्वजगतो जीवाना नाथे । 'पवसंते य मरंते' प्रवासं मृति वा प्रतिपद्यमाने । 'देसा हिर सुण्णया होंति' देशा किल शून्या भवन्ति ॥३८२॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणायम्मि ।
पवसंते य मरंते होदि हु देसोंधयारोव्व ॥३८३॥
सीलड्ढगुणड्ढेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं ।
पवसंते य मरंते देसा ओगंडिया होंति ॥३८४॥

'सीलड्ढगुणड्ढेहि दु बहुस्सुदेहि अवरोवतावीहिं' शीलाढ्यैर्बहुश्रुतैः अपरोपतापिभिः । 'पवसंते य मरंते' मृतिं प्रवासं वा प्रतिपद्यमानैः । 'देसा ओग्गडिआ होंति' जनपदा अवगण्डिता भवन्ति । गतार्थोत्तरा गाथा ॥३८४॥

सव्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण णिप्पकंपाणं ।
दुक्खं खु विसहिदुं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं ॥३८५॥

'सव्वस्स दायगाणं' ज्ञानदर्शनचारित्रतपोदानोद्यतानां । 'समसुहदुक्खाण' सुखदुःखयोः समानानां । 'णिप्पकंपाणं' परीषहेभ्यो निश्चलानां । 'वरगुरूणं' महतां गुरूणां । 'चिरप्पवासो' चिरकालप्रवासो वियोगः । 'दुक्खं खु विसहिदुं जे' सोढुमतीव दुष्करं ॥३८५॥

एवं परिसमाप्य अनुशासनाधिकारं परगणचर्यां निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अब्भुज्जदं पविहरंतो ।
आराधणाणिमित्तं परगणगमणे मई कुणदि ॥३८६॥

'एवं आउच्छित्ता' आपृच्छय । 'सगणं' स्वगणं । 'अब्भुज्जदं पविहरन्तो' प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमान । 'आराहणाणिमित्तं' आराधनानिमित्तं । 'परगणगमणे मई कुणइ' परगणगमने मतिं करोति ॥३८६॥

के जीवोंके स्वामीके अन्यत्र चले जानेपर अथवा मरणको प्राप्त होनेपर देश शून्य हो जाते हैं ॥३८२॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोंके हितकारी, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा सब जगत्के जीवोंके स्वामीके अन्यत्र चले जाने या मरणको प्राप्त होनेपर देशमें अन्धकार-सा छा जाता है ॥३८३॥

गा०—शीलसे सम्पन्न और गुणोंसे समृद्ध, बहुश्रुत तथा दूसरोंको संताप न देने वाले महर्षियोंके प्रवासमें जानेपर या मरणको प्राप्त होनेपर सब देश उजाड़ सा प्रतीत होते हैं ॥३८४॥

गा०—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपका दान करनेमें तत्पर रहते हैं, सुख और दुःख में समभाव रखते हैं तथा परीषहोंसे विचलित नहीं होते उन महान् गुरुओंके वियोगका दुःख सहना अति कठिन है ॥३८५॥

इस प्रकार अनुशासन अधिकार को समाप्त करके परगणचर्याका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार अपने गण से पूछकर रत्नत्रयमें उत्कृष्ट रूपसे प्रवृत्ति करनेमें तत्पर

परितावणादि इत्येतत्सूत्रपद अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपत्तेसु ।
गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाही वा सिणेहो वा ॥३९३॥

'रोगातंकादीहिं य' अल्पमहद्‌भिर्व्याधिभि । 'परिदावणादिपत्तेसु' परितापनादिप्राप्तेषु । 'सगणे' आत्मीयशिष्यवर्गे । 'गणिणो हवेज्ज दुःक्खं' आचार्यस्य भवेद्दुःख । 'असमाही वा सिणेहो वा' असमाधिर्वा स्नेहो वा ॥३९३॥

तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिब्भओ संतो ।
जाएज्ज व सेएज्ज व अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥३९४॥

'तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि' पिपासादिकेषु परीषहेषु सहनीयेष्वपि । 'सगणम्मि णिब्भओ संतो' स्वगणे निर्भय सन् । 'जाएज्ज व सेवज्ज व' याचते वा सेवते वा । 'अकप्पियं' अयोग्य किञ्चित्प्रत्याख्यातमन्नं पानं वा । 'वीसत्थो' विश्वस्त भयलज्जाविरहित ॥३९४॥

सिणेह इत्यस्य व्याख्या—

उद्दे सअंकवड्ढिद बाले अज्जाउ तह अणाहाओ ।
पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतियवियोगे ॥३९५॥

उद्दे सअंकवड्ढिद इत्यादिना वृद्धान्यतीन्स्वाङ्कवर्धितबालान् यतीन्स्तथा आर्यिका , अनाथा पश्यत स्नेहो भवेदात्यन्तिके वियोगे ॥३९५॥

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुड्डा य खुड्डियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ।
तो होज्ज ज्झाणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥३९६॥

'परितावणादि' इस गाथा पदको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

गा०—अपने शिष्य वर्गके छोटी बडी व्याधियोंसे पीडित होने पर आचार्यको दु ख हो सकता है। अथवा स्नेह पैदा हो सकता है और उससे समाधिकी हानि हो सकती है ॥३९३॥

गा०—अपने गणमे रहकर समाधि करते पर प्यास आदि की परीषह सहने योग्य होने पर भी निर्भय होकर और भय तथा लज्जा को त्याग अयोग्य की भी याचना अथवा सेवन कर सकता। जो त्याग दिया है खानपान, उसको भी मांग सकता है या उसका सेवन कर सकता है, क्योंकि वहाँ उसे कोई भय नहीं है सब उसीके शिष्यगण हैं ॥३९४॥

स्नेह का कथन करते हैं—

गा०—वृद्ध यतियोंको, जिन्हे बचपनसे अपनी गोदमें बैठाकर पाला है उन बाल यतियोंको, आर्यिकाओंको अनाथ होते देखकर मरते समय सर्वदाके लिए वियोग होने पर स्नेह पैदा हो सकता है ॥३९५॥

'कोलुगिण' पदका व्याख्या न करते हैं—

[illegible] । [illegible] । [illegible]
[illegible] ॥३८९॥

आज्ञाकोपदोषं अभिधाय [illegible] —

खुड्डे थेरे सेहे असंवुडे दट्ठूण कुणइ वा फरुसं ।
ममिकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं फरुसेण ॥३९०॥

'खुड्डे थेरे सेहे' [illegible] । 'असंवुडे' [illegible] । 'दट्ठूण' [illegible] ।
[illegible] 'फरुसं' [illegible] । ममिकारेण भणेज्जो' [illegible] । 'भणिज्ज वा तेहिं फरुसेण'
[illegible] ॥३९०॥

कलह पूर्वार्द्धेन [illegible] —

पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहिं सह कलहो ।
परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥३९१॥

'पडिचोदणासहणदाए' [illegible] । 'होज्ज कलहो तेहिं गणिणो वि' [illegible]
[illegible] सह गणिन । 'परिदावणादिदोसा होज्ज' दुःखादिदोषा भवेयुः । 'गणिणो व तेसिं वा' गणिनस्तेषां
क्षुल्लकादीनां वा कलह ॥३९१॥

कलहपरिदावणादीय इत्येतत्सूत्रं प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व असमाउले करंतेसु ।
गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥३९२॥

'कलहपरिदावणादी दोसे व' कलहं परितापादिदोषं वा । 'असमाउले करंतेसु' गणेन सह कुर्वत्सु
क्षुल्लकादिषु । 'गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी' गणिनो भवेत्ममत्वदोषेण असमाधिः ॥३९२॥

वहाँ शिक्षा आदि देनेका काम नहीं रहता। इसमें वहाँ आज्ञा भगका प्रश्न नहीं रहता। आज्ञा भग होने पर भी वह मनमे विचारता है कि मैंने इनका कोई उपकार तो किया नहीं, तब ये मेरी आज्ञाका पालन क्यों करेंगे? अतः आज्ञा भग होने पर भी असमाधि नहीं होती ॥३८९॥

आज्ञाकोप दोषको कहकर दूसरे दोषको कहते हैं—

गा०—गुणोसे हीन क्षुद्र मुनियो, तपसे वृद्ध स्थविरो और रत्नत्रय रूप मार्गको न जानने वालोको असयमरूप प्रवृत्ति करते हुए देखकर 'ये हमारे शिष्य है, सघके हैं' इस प्रकारके ममत्व भावसे उनके प्रति कठोर वचन कहा जाये अथवा वे क्षुद्र आदि उन्हे कठोर वचन कहे, यह दूसरा दोष है ॥३९०॥

पूर्वार्द्धसे कलह दोष कहते हैं—

गा०—गुरुकी शिक्षाको सहन न करनेसे आचार्यको भी उन क्षुद्र आदिके साथ कलह हो सकती है। और उससे आचार्यको अथवा उन क्षुद्र आदि मुनियोंको दुःख आदि दोष होते है ॥३९१॥

'कलहपरिदावणीदीय' इस गाथाका प्रकारान्तरसे कथन करते हैं—

गा०—वे क्षुद्र आदि गणमे कलह परिताप आदि दोष करें तो उसे देखकर ममत्व भावसे आचार्यको असमाधि हो सकती है ॥३९२॥

परितावणादि इत्येतत्सूत्रपदं अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपत्तेसु ।
गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाही वा सिणेहो वा ॥३९३॥

'रोगातंकादीहिं य' अन्तर्महद्भिर्व्याध्यादिभि । 'परिदावणादिपत्तेसु' परितापनादिप्राप्तेषु । 'सगणे' आत्मीयशिष्यवर्गे । 'गणिणो हवेज्ज दुक्खं' आचार्यस्य भवेद्दुःखं । 'असमाही वा सिणेहो वा' असमाधिर्वा स्नेहो वा ॥३९३॥

तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिब्भओ संतो ।
जाएज्ज व सेएज्ज व अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥३९४॥

'तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि' पिपासादिकेषु परीषहेषु सहनीयेष्वपि । 'सगणम्मि णिब्भओ संतो' स्वगणे निर्भयः सन् । 'जाएज्ज व सेवेज्ज व' याचते वा सेवते वा । 'अकप्पियं' अयोग्य किञ्चित्प्रत्याख्यातम-शनं पानं वा । 'वीसत्थो' विश्वस्त भयलज्जाविरहित ॥३९४॥

सिणेह इत्यस्य व्याख्या—

उड्ढे सअंकवड्ढिय बाले अज्जाउ तह अणाहाओ ।
पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतियविओगे ॥३९५॥

उड्ढे सअंकवड्ढिय इत्यादिका वृद्धान्यतीनस्वाकवर्द्धितबालान् यतीस्तथा आर्यिका, अनाथा पश्यत स्नेहो भवेदात्यन्तिके वियोगे ॥३९५॥

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुड्डा य खुड्डियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ।
तो होज्ज ज्झाणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥३९६॥

'परितावणादि' इस गाथा पदको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

गा०—अपने शिष्य वर्गके छोटी बड़ी व्याधियोंसे पीडित होने पर आचार्यको दु ख हो सकता है। अथवा स्नेह पैदा हो सकता है और उसमें समाधिकी हानि हो सकती है ॥३९३॥

गा०—अपने गणमे रहकर समाधि करने पर प्यास आदि की परीषह सहने योग्य होने पर भी निर्भय होकर और भय तथा लज्जा को त्याग अयोग्य की भी याचना अथवा सेवन कर सकता। जो त्याग दिया है खानपान, उसको भी माँग सकता है या उसका सेवन कर सकता है, क्योंकि वहाँ उसे कोई भय नहीं है सब उसीके शिष्यगण है ॥३९४॥

स्नेह का कथन करते हैं—

गा०—वृद्ध यतियोंको, जिन्हे बचपनसे अपनी गोदमे बैठाकर पाला है उन बाल यतियोंको, आर्यिकाओंको अनाथ होते देखकर मरते समय सर्वदाके लिए वियोग होने पर स्नेह पैदा हो सकता है ॥३९५॥

'कोलुगिण' पदका व्याख्या न करते हैं—

'खुड्डा य खुड्डियाओ' क्षुल्लका, क्षुल्लिकाः आर्याः गुरुविरहदर्शनं। ततो ध्यानविघ्नोऽसमाधिर्वा गणधरस्य भवतीति ॥३९६॥

कारणं विवृणोति—

भत्ते वा पाणे वा सुस्सूसाए व सिस्सवग्गम्मि ।
कुव्वंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥३९७॥

'भत्ते वा पाणे वा' भक्ते पाने वा शुश्रूषायां वा प्रमादं शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भवति ॥३९७॥

एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति सगणवासिस्स ।
भिक्खुस्स वि तारिसयस्स होंति पाएण ते दोसा ॥३९८॥

'एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति' एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे वसतः । 'भिक्खुस्स वि तारिसयस्स' भिक्षोरपि तादृशस्य उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रायेण ते दोषाः ॥३९८॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति परगणणिवासिणो गणिणो ।
तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए ॥३९९॥

'एदे सव्वे दोसा ण होंति' एते सर्वे दोषा न भवन्ति । 'परगणणिवासिणो गणिणो' परगणनिवासिनो गणधरस्य । तस्मात्स्वगणं परित्यज्य व्रजति परगणं समाधये ॥३९९॥

संते सगणे अम्हं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ।
सव्वादरसत्तीए भत्तीए वट्टइ गणो से ॥४००॥

'संते सगणे' सत्यपि स्वगणे अस्मद्गणे जातरविरागतो गणमिममिति सर्वादरेण भक्त्या च गणो वर्तते ॥४००॥

गा०—क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ अर्थात् बालमुनि और आर्यिका भी गुरुका वियोग होते देख रो पड़ते हैं तो आचार्यके ध्यानमें विघ्न और असमाधि होती है ॥३९६॥

गा०—खानपान और सेवा टहलमें शिष्यवर्गके प्रमाद करने पर आचार्यकी असमाधि हो सकती है। अर्थात् आचार्यको यह विकल्प पैदा हो सकता है कि हमने इनका उपकार किया और यह हमारी सेवा भी नहीं करते। इससे ध्यानमें विघात होनेसे समाधि बिगड़ सकती है ॥३९७॥

गा०—ये दोष विशेष रूपसे अपने गणमें रहकर समाधि करनेवाले आचार्यके होते हैं। अन्य भी जो भिक्षु उपाध्याय या प्रवर्तक अपने गणमें रहकर समाधि मरण करते हैं उनके भी प्रायः ये दोष होते हैं ॥३९८॥

गा०—ये सब दोष दूसरे गणमें निवास करनेवाले आचार्यके नहीं होते। इसीलिए वह अपना गण छोड़ परगणमें समाधिके लिए जाता है ॥३९९॥

गा०—अपने गणके होते हुए यह हमारे गणमें रुचि रखकर यहाँ आया है ऐसा मानकर दूसरा गण पूर्ण आदरके साथ शक्ति और भक्तिसे उसकी सेवामें लगता है ॥४००॥

आयरिओ' आचार्यः । 'आयारवं खु' आचारवान् । 'एसो' एष । 'पवयणमादासु आउत्तो' प्रवचनमातृकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्तः ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

'आचेलक्कुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । आकिंचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहार्थो ह्यारम्भप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यारम्भे कुतोऽसंयम । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । परं परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ब्रुवन्नेवमचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादित्यजने भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । सगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । 'अजिह्मभावस्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्तियोंमें तत्पर रहता है ॥४२२॥

दस कल्पोंका कथन करते हैं—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प हैं ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते हैं । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अतः समस्त परिग्रहके त्यागको आचेलक्य कहते हैं । दस धर्मोंमें एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरतिको त्याग कहते हैं वही अचेलता भी है । अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है । जो निष्परिग्रह है वह आकिंचन नामक धर्ममें तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमें प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यों करेगा । अतः उसके असंयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममें भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योंकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूठ बोलना होता है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमें झूठ बोलनेका कारण नहीं है । अतः बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होता है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रहकी इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नहीं होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोंकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है । परिग्रहके अभावमें उत्तम क्षमा रहती है । मैं सुन्दर हूँ, धनवान हूँ इत्यादि मद अचेलके नहीं होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको बिना किसी छल कपटके प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योंकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । वस्त्र वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर मुनि विराग

गतो विमुक्तेश्च शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहसहनात्, निश्चेलतामभ्युपगच्छता तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति। एवमचेलतोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण।

अथवान्यथा प्रस्तूयते अचेलतागुणप्रशंसा। संयमशुद्धिरेको गुणः। स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा। ततश्च वस्त्र तावत्तद्याप- र्हीति चेलहि हिंसा स्यात्। बध्यन्ते च ते जिगम्ये तत्र [1]संसक्तचेलस्य स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, सघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवाश्च बाध्यन्ते इति महानसंयमः। अचेलस्यैवंविधासंयमा- भावात् संयमविशुद्धिः। इन्द्रियजयो द्वितीयः। सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनिग्रहे अचेलोऽपि यतते। अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति। कषायाभावश्च गुणोऽ- चेलतायां। चौरैरपहृतमपांशिरेन वेणं सुवस्त्रिगूहनिधा कषायिन्माया करोति। उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चना- वर्तु यायात्। गुल्मवल्ल्यादन्तर्हितो वा स्यात्। चेलादिर्ममास्तीति मानं चोद्वहेत्। बलादपहरणे[2] तेन सह कलहं कुर्यात्। लाभाद्वा लोभः प्रवर्तते। इति चेलग्राहिणामसी दोषाः। अचेलतायां पुनरित्थंभूतदोषानुत्पत्ति- ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च। सूचीसूत्रकर्पटादिपरिमार्गणसीवनादिव्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति। निर्ग्रन्थस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात्। सूत्रार्थपौरुष्योः निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना। ग्रन्थत्यागश्च गुणः।

मार्गमें प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोंमें आसक्त नहीं होता। तथा परिग्रहसे मुक्त होनेसे शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि परीषहोंको सहता है। अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेमें घोर तप भी होता है। इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे संक्षेपसे दस प्रकारके धर्मोंका कथन होता है।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशंसा अन्य प्रकारसे कहते हैं। अचेलतामें संयमकी शुद्धि एक गुण है। पसीना, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है। यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे संबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योंकि उन्हें अलग कर देनेसे वे वहीं मर जायेंगे। जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्रको फाड़ने, काटने, बाँधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने, और धूपमें डालने पर जीवोंको बाधा होनेसे महान् असंयम होता है। जो अचेल है उसके इस प्रकारका असंयम न होनेसे संयमकी विशुद्धि होती है। दूसरा गुण है इन्द्रियोंको जीतना। जैसे सर्पोंसे भरे जंगलमें विद्या मंत्र आदिसे रहित पुरुष दृढ़ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी इन्द्रियोंको वशमें करनेका पूरा प्रयत्न करता है। ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पड़ता है। अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है। चोरोंके डरसे वस्त्रको गोबर आदिके रसमें लिप्त करके छिपानेपर कथंचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोंको धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पड़ता है या झाड़ झंखाड़में छिपना होता है। मेरे पास वस्त्र हैं ऐसा अहंकार होता है। यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है। वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है। इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोंके ये दोष हैं। वस्त्रत्यागकर अचेल होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता। सुई, धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमें लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमें

१. मा गुरागुरसंदीर्घो गोडाश्चोपसर्गाः नि—आ० मु०।

२. गमना से—आ० मु०।

३. शास्तेन—मु०।

'आयरिओ' आचार्यः । 'आयारवं तु' आचारवान् । 'एसो' एषः । 'पवयणमादासु आउत्तो' प्रवचनमातृषु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्तः ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

'आचेलक्कुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलग्रन्थपरित्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । आकिंचन्याख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहार्थो ह्यारम्भः प्रवृत्तिः परिग्रहत्यागस्यारम्भे कुतोऽसंयमः । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । परिग्रहनिमित्तं ह्यलीकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो वदन्नचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । संगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । अजिह्मभावस्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्तियोंमें तत्पर रहता है ॥४२२॥

दस कल्पोंका कथन करते हैं—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प हैं ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते हैं । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अतः समस्त परिग्रहके त्यागको आचेलक्य कहते हैं । दस धर्मोंमें एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरतिको त्याग कहते हैं वही अचेलता भी है । अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है । जो निष्परिग्रह है वह अकिंचन नामक धर्ममें तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमें प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यों करेगा । अतः उसके असंयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममें भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योंकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूठ बोलना होता है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमें झूठ बोलनेका कारण नहीं है । अतः बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होता है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह की इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नहीं होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोंकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है । परिग्रहके अभावमें उत्तम क्षमा रहती है । मैं सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नहीं होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको बिना किसी छल कपट के प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योंकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर मुनि विराग

तथा विमुक्तश्च शीतोष्णदंशमशकादिपरिषहाणां सहनात्, निश्चेलतामभ्युपगच्छता तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति। एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण।

अथवान्यथा प्रक्रम्यते अचेलतागुणप्रशंसा। संयमशुद्धिरेको गुणः। स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा। संसक्तं वस्त्रं तावत्स्थापयामीति चेदपि हिंसा स्यात्। विवेचने च ते म्रियन्ते तत्र [1]संसक्तचेलस्य स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, सम्मर्दने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां बाधेति महानसंयमः। अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमविशुद्धिः। इन्द्रियविजयो द्वितीयः। सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि यतते। अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवतीति। कषायाभावश्च गुणोऽचेलतायाः। स्तेनभयाद्गोमयादिरसेन लेपं कुर्वन्निगूहयित्वा कथंचिन्मायां करोति। उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चनार्थं यायात्। गुल्मवल्ल्याद्यन्तर्हितो वा स्यात्। चेलादिमानहमस्मीति मानं चोद्वहते। बलादपहरणात्तेन[2] सह कलहं कुर्यात्। लाभाल्लोभः प्रवर्तते। इति चेलग्राहिणामेते दोषाः। अचेलतायां पुनरित्थंभूतदोषानुत्पत्तिः। ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च। सूचीसूत्रकर्पटादिपरिमार्गणसीवनादिव्याक्षेपेण स्वाध्यायविघ्नो भवति। निर्ग्रन्थस्य तथाभूतव्यापाराभावात्। ग्रन्थापरिग्रहेऽपि निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना। ग्रन्थत्यागश्च गुणः।

भावसे प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोंमें आसक्त नहीं होता। तथा परिग्रहसे मुक्त होने से शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि परीषहोंको सहता है। अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप भी होता है। इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे संक्षेपसे दस प्रकारके धर्मोंका कथन होता है।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशंसा अन्य प्रकारसे कहते हैं। अचेलतामें संयम की शुद्धि एक गुण है। पसीना, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है। यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे सबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योंकि *उन्हें अलग कर देनेसे वे मर जायेंगे।* जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बाँधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने, और धूपमें डालने पर जीवोंको बाधा होनेसे महान् असंयम होता है। जो अचेल है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम की विशुद्धि होती है। दूसरा गुण है इन्द्रियोंको जीतना। जैसे सर्पोंसे भरे जंगलमें विद्या मंत्र आदिसे रहित पुरुष दृढ़ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी इन्द्रियोंको वशमें करनेका पूरा प्रयत्न करता है। ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पड़ता है। अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है। चोरोंके डरसे वस्त्रको गोबर आदिके रससे लिप्त करके छिपानेपर कथंचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोंको धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पड़ता है या झाड़ झंखाड़में छिपना होता है। मेरे पास वस्त्र हैं ऐसा अहंकार होता है। यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है। वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है। इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोंके ये दोष हैं। वस्त्रत्यागकर अचेल होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता। सुई, धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमें लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमें

१. स सुरासुरादीनां संसक्तचेलस्य नि—आ० मु०।

२. ममत्वं चे—आ० मु०।

३. —णात्तेनेन—मु०।

'आयरिओ' आचार्यः । 'आयारवं खु' आचारवान् । 'एसो' एषः । 'पवयणमादासु आउत्तो' प्रवचनमातृकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्तः ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

'आचेलक्कुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिंचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहार्थो ह्यारम्भप्रवृत्तिनिष्परिग्रहः त्यागस्यारम्भे कुतोऽसंयमः । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । परं परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ब्रुवन्नेवमचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि सम्पूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । संगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । 'अजिह्मभावस्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्तियोंमें तत्पर रहता है ॥४२२॥

दस कल्पोंका कथन करते हैं—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प है ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते हैं । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अतः समस्त परिग्रहके त्यागको आचेलक्य कहते है । दस धर्मोमें एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरति को त्याग कहते है वही अचेलता भी है । अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है । जो निष्परिग्रह है वह आकिंचन नामक धर्ममें तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमें प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यों करेगा । अतः उसके असंयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममें भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योंकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूंठ बोलना होता है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमें झूंठ बोलनेका कारण नहीं है । अतः बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होता है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रहकी इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुके ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नहीं होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोंकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है । परिग्रहके अभावमें उत्तम क्षमा रहती है । मैं सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नहीं होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको बिना किसी छल कपटके प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योंकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर मुनि विराग

तथो विमुक्तेन शीतोष्णदंशमशकादिपरिषहाणामुदीरणात्, निरचेलतामभ्युपगच्छता तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति। एवमचेलतोपदेशेन दशविधधर्मव्याख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण।

अथवान्यथा प्रक्रम्यते अचेलतागुणप्रशंसा। संयमशुद्धिरेको गुणः। स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा। संसक्तं वस्त्रं तावत्स्थापय-तीति चेत्तर्हि हिंसा स्यात्। स्थिताश्च ते म्रियन्ते तत्र [1]संसक्तचेलस्य स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, संघट्टने, आतपप्रक्षेपे च जीवानां बाधेति महानसंयमः। अचेलस्यैवंविधासंयमा-भावात् संयमविशुद्धिः। इन्द्रियजयो द्वितीयः। सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि यतते। अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवतीति। कषायाभावश्च गुणोऽचेलतायाः। स्तेनभयाद्गोपनपरिग्रहस्य तेन कुर्वन्निगूहनमिच्छा कथंचिन्मायां करोति। उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चनार्थं यायात्। गुल्मवल्ल्याद्यन्तर्हितो वा स्यात्। चेलादिसंपन्नोऽस्मीति मानं चोद्वहति। बलादपहरणात्तेन[2] सह कलहं कुर्यात्। लाभाच्च लोभः प्रवर्तते। इति चेलग्राहिणामभी दोषाः। अचेलतायां पुनरित्थंभूतदोषानुत्पत्तिः ध्यानस्वाध्यायादिविघ्नता च। सूचीसूत्रवसनादिपरिमार्गणसीवनादिव्याक्षेपेण स्वाध्यायविघ्नो भवति। निःसंगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात्। सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना। ग्रन्थत्यागश्च गुणः।

भावसे प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोंमें आसक्त नहीं होता। तथा परिग्रहसे मुक्त होने से शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि परीषहोंको सहता है। अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप भी होता है। इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे संक्षेपसे दस प्रकारके धर्मों का कथन होता है।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशंसा अन्य प्रकारसे कहते हैं। अचेलतामें संयम की शुद्धि एक गुण है। पसीना, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है। यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे सबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योंकि उन्हें अलग कर देनेसे वे वहाँ मर जायेंगे। जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बांधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने, और धूपमें डालने पर जीवोंको बाधा होनेसे महान् असंयम होता है। जो अचेल है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम की विशुद्धि होती है। दूसरा गुण है इन्द्रियोंको जीतना। जैसे सर्पोंसे भरे जंगलमें विद्या मंत्र आदिसे रहित पुरुष दृढ़ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी इन्द्रियोंको वशमें करनेका पूरा प्रयत्न करता है। ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पड़ता है। अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है। चोरोंके डरसे वस्त्रको गोबर आदिके रससे लिप्त करके छिपानेपर कथंचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोंको धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पड़ता है या झाड़ झंखाड़में छिपना होता है। मेरे पास वस्त्र हैं ऐसा अहंकार होता है। यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है। वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है। इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोंके ये दोष हैं। वस्त्रत्यागकर अचेल होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता। सुई, धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमें लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमें

१ मा॰ गुरासुरोदीर्णा गोचावचोपसर्गा नि—आ॰ मु॰।

२. गसक्त. चे—आ॰ मु॰।

३. णात्स्तेनेन—मु॰।

'आयरिओ' आचार्यः । 'आयारवं य' आचारवान् । 'एगो' एवं । 'पवयणमादासु आउत्तो' प्रवचनमातृकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्तः ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

'आचेलक्कुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । आकिंचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहार्थो ह्यारम्भप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहः त्यागस्यारम्भे कुतोऽसंयमः । तथा सत्येऽपि धर्मे सम्यग्स्थितो भवति । परं परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ब्रुवन्नचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि सम्पूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । संगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा अवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । 'अजिह्मभावस्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्तियोंमें तत्पर रहता है ॥४२२॥

दस कल्पोंका कथन करते हैं—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प है ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते है । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अतः समस्त परिग्रहके त्यागको आचेलक्य कहते है । दस धर्मोमें एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरतिको त्याग कहते है वही अचेलता भी है । अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है । जो निर्परिग्रह है वह अकिंचन नामक धर्ममें तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमें प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यों करेगा । अतः उसके असंयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममें भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योंकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूँठ बोलना होता है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमें झूँठ बोलनेका कारण नही है । अतः बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होता है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रहकी इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नही होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोंकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है । परिग्रहके अभावमें उत्तम क्षमा रहती है । मैं सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नहीं होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको बिना किसी छल कपट के प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योंकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर मुनि विराग

ततो विमुक्तस्य शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहा¹णामुरोदानात्, निरचेलतामभ्युपगच्छता तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति । एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण ।

अथवान्यथा प्रक्रम्यते अचेलतागुणप्रशंसा । संयमशुद्धिरेको गुणः । स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा । संसक्तं वस्त्रं तावत्स्थापयतीति चेत्तद्धिंसा स्यात् । विवर्तने च ते म्रियन्ते तत्र ²संसक्तचेलस्य स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, संघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां बाधेति महानसंयमः । अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमविशुद्धिः । इन्द्रियविजयो द्वितीयः । सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि यतते । अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति । कषायाभावश्च गुणोऽचेलतायाः । स्तेनभयाद्गोमयादिरसेन लेपं कुर्वन्निगूहयित्वा कथंचिन्मायां करोति । उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चनां कर्तुं यायात् । गुल्मवल्ल्याद्यन्तर्हितो वा स्यात् । चेलादिर्ममास्तीति मानं चोद्वहते । बलादपहरणात्तेन³ सह कलहं कुर्यात् । लाभाच्च लोभः प्रवर्तते । इति चेलग्राहिणाममी दोषाः । अचेलतायां पुनरित्थंभूतदोषानुत्पत्तिः । ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूचीसूत्रपटादिपरिमार्गणसीवनादिव्यासंगेन तयोर्विघ्नो भवति । निःसंगस्य तथाभूतव्यासंगाभावात् । सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रन्थत्यागश्च गुणः ।

भावको प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोंमें आसक्त नहीं होता । तथा परिग्रहसे मुक्त होने से शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि परीषहोंको सहता है । अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप भी होता है । इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे संक्षेपसे दस प्रकारके धर्मोंका कथन होता है ।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशंसा अन्य प्रकारसे कहते हैं । अचेलतामें संयम की शुद्धि एक गुण है । पसीना, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेमें उनको बाधा पहुँचती है । यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे सम्बद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योंकि उन्हें अलग कर देनेसे वे वहाँ मर जायेंगे । जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बाँधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने, और धूपमें डालने पर जीवोंको बाधा होनेसे महान् असंयम होता है । जो अचेल है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम की विशुद्धि होती है । दूसरा गुण है इन्द्रियोंको जीतना । जैसे सर्पोंसे भरे जंगलमें विद्या मन्त्र आदिसे रहित पुरुष दृढ़ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी इन्द्रियोंको वशमें करनेका पूरा प्रयत्न करता है । ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पड़ता है । अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है । चोरोंके डरसे वस्त्रको गोबर आदिके रससे लिप्त करके छिपानेपर कथंचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोंको धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पड़ता है या झाड़ झंखाड़में छिपना होता है । मेरे पास वस्त्र हैं ऐसा अहंकार होता है । यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है । वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है । इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोंके ये दोष हैं । वस्त्रत्यागकर अचेल होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता । सुई, धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमें लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमें

१. सा सुरासुरोदीर्णा शीतादयश्चोपसर्गा नि—आ० मु० ।

२. संसक्ता चे—आ० मु० ।

३. णात्स्तेनेन—मु० ।

'आयरिओ' आचार्य । 'आयारवं णु' आचारवान् । 'एसो' एष । 'पवयणमादासु आउत्तो' प्रवचनमातृषु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्त ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

'आचेलक्कुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिंचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहार्थो ह्यारम्भस्तन्निमित्तपरिग्रह-त्यागस्यारम्भे कुतोऽसंयम । तथा सत्येऽपि धर्मे सम्यक्स्थितो भवति । परं परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ब्रुवन्नेवमचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि सम्पूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । सङ्गनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दव-मपि तत्र सन्निहितं । 'अजिह्मभावस्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्तियोंमें तत्पर रहता है ॥४२२॥

दस कल्पोंका कथन करते हैं—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प हैं ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते है। चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है। अतः समस्त परिग्रह के त्यागको आचेलक्य कहते हैं। दस धर्मोंमें एक त्याग नामक धर्म है। समस्त परिग्रहसे विरति को त्याग कहते है वही अचेलता भी है। अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है। जो निष्परिग्रह है वह अकिंचन नामक धर्ममें तत्पर होता है। परिग्रहके लिये ही आरम्भमें प्रवृत्ति होती है। जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यों करेगा। अतः उसके असंयम कैसे हो सकता है? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममें भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है। क्योंकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूठ बोलना होता है। बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमें झूठ बोलनेका कारण नहीं है। अतः बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है। अचेलके लाघव भी होता है। अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह की इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति होती है। अन्यथा नहीं होती। तथा रागादिका त्याग होने पर भावोंकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है। परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है। परिग्रहके अभावमें उत्तम क्षमा रहती है। मैं सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नहीं होता अतः उसके मार्दव भी होता है। अचेल अपने भावको बिना किसी छल कपट के प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योंकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है। यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर मुनि विराग

तनो निमूलेरय शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहाभ्युपगमात्, निर्ग्रन्थस्यापरिग्रहत्वात् तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति। एवमचेलतोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण।

अथवाऽचेलता [illegible] प्रशस्तता। संयमशुद्धिरेको गुणः। स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा। [illegible] हिंसा स्यात्। विवेचने च ते म्रियन्ते एव जन्तुसंसक्तवस्त्रस्य स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, घट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां बाधेति महानसंयमः। अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमविशुद्धिः। इन्द्रियविजयो द्वितीयः। सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनिग्रहे प्रयत्नमचेलोऽपि करोति। अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवतीति। कषायाभावश्च गुणोऽचेलतायां। [illegible] उन्मार्गेण वा स्तेनहस्ता-[illegible] कुर्यात्। [illegible] । [illegible] । अचेलस्य [illegible] भवति। [illegible] ध्यानस्वाध्यायविघ्नाभावश्च गुणः।

आदकी प्राप्ति होकर शब्द आदि विषयोंमें आसक्त नहीं होता। तथा परिग्रहसे मुक्त होने से शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि परीषहोंको सहता है। इस वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप भी होता है। इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे संक्षेपसे दस प्रकारके धर्मोंका कथन होता है।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशंसा अन्य प्रकारसे कहते हैं। अचेलतामें संयम की शुद्धि एक गुण है। पसीना, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है। यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे संबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योंकि उन्हें अलग कर देनेसे वे मर जायेंगे। जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बांधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने, और धूपमें डालने पर जीवोंको बाधा होनेसे महान् असंयम होता है। जो अचेल है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम की विशुद्धि होती है। दूसरा गुण है इन्द्रियोंको जीतना। जैसे सर्पोंसे भरे जंगलमें विद्या मन्त्र आदिसे रहित पुरुष दृढ़ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी इन्द्रियोंको वशमें करनेका दृढ़ प्रयत्न करता है। ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पड़ता है। अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है। क्योंकि इसमें वस्त्रको चोर आदिके भयसे छिपाकर रखनेमें कथंचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोंको धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पड़ता है या झाड़ झंखाड़में छिपना होता है। मेरे पास वस्त्र हैं ऐसा अहंकार होता है। यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है। वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है। इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोंके ये दोष हैं। वस्त्रत्यागकर अचेल होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता। सुई, धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमें लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमें

१. ता गुणानुरागीणां गांडारूपोपकरणं नि—आ० मु०।
२. संगाश्च पं—आ० मु०।
३. बाधातेनैव—मु०।

बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः । यथा तुषनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपायः अतुषं धान्यं नियमेन शुद्ध्यति । भाज्या तु सतुषस्य शुद्धिः । एवमचेलवति नियमादेव भाज्या सचेले । वीतरागद्वेषता च गुणः । सचेलो हि मनोज्ञे वस्त्रे रक्तो भवति । द्वेष्टयमनोज्ञे । बाह्यद्रव्यालम्बनो हि रागद्वेषौ तावगति परिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनादरो गुणः शरीरगतादरवशेनैव हि जनोऽसंयमे परिग्रहे च वर्तते । अचेलेन तु तदादरस्त्यक्तः, वातातपादिबाधासहनात् । स्ववशता च गुणः देशान्तरगमनादौ सहायाप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्रं गृहीत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहः पक्षीव यातीति । सचेलस्तु सहायपरवशः चौरभयात् भवति परवशमानसश्च कथं संयमं पालयेत् । चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलतायां । कौपीनादिना प्रच्छादयतो भावशुद्धिर्न ज्ञायते । निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतया स्फुटा विरागता । निर्भयता च गुणः । ममेदं किमपहरन्ति चौरादयः, किं ताडयन्ति, बध्नन्तीति वा भयमुपैति सचेलो नाचेलो, भयातुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र विश्रब्धता च गुणः । निष्परिग्रहः न किंचनापि शङ्कते । सचेलस्तु प्रतिमार्गयायिनं अन्यं वा दृष्ट्वा न तत्र विश्वासं करोति । को वेत्ययं, किं करोति इति । अप्रतिलेखनता च गुणः । चतुर्दशविधं उपधिं गृह्णतो बहुप्रतिलेखनता न तथाचेलस्य । परिकर्मवर्जनं च गुणः । उद्वेष्टनं, मोचनं, सीवनं, बंधनं, रंजनं इत्यादिकमनेकं परिकर्म

विघ्न होता है। जो निःसंग है उसके इस प्रकारकी बाधा नहीं होती। सूत्र पौरुषी और अर्थपौरुषीमें निर्विघ्नता रहती है तथा स्वाध्याय और ध्यान की भावना होती है।

अचेलतामें एक गुण परिग्रहका त्याग है। बाह्य वस्त्र आदि परिग्रहका त्याग अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागका मूल है। जैसे धानके छिलकेको दूर करना उसके अभ्यन्तर मलको दूर करनेका उपाय है। बिना छिलकेका धान्य नियमसे शुद्ध होता है। किन्तु जिसपर छिलका लगा है उसकी शुद्धि नियमसे नहीं होती। इसी प्रकार जो अचेल है उसकी अभ्यन्तर शुद्धि नियमसे होती है किन्तु जो सचेल है उसकी शुद्धि भाज्य है। अचेलता में रागद्वेषका अभाव एक गुण है जो वस्त्र धारण करता है वह मनको प्रिय सुन्दर वस्त्रसे राग करता है और मनको अप्रिय वस्त्रसे द्वेष करता है। राग और द्वेष बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे होते हैं। परिग्रहके अभावमें राग द्वेष नहीं होते। तथा शरीरमें अनादर भी अचेलताका गुण है। शरीरमें आदर होनेसे मनुष्य असंयम और परिग्रहमें प्रवृत्ति करता है। जो अचेल होता है उसका शरीरमें आदरभाव नहीं होता। तभी तो वह वायु धूप आदिका कष्ट सहता है। अचेलतामें स्वाधीनता भी एक गुण है क्योंकि देशान्तर में जाने आदिमें सहायकी प्रतीक्षा नहीं करनी होती। समस्त परिग्रहका त्यागी पीछी मात्र लेकर पक्षी की तरह चल देता है। जो सचेल होता है वह सहायके परवश होता है तथा चोरके भयसे उसका मन भी परवश होता है वह संयमको कैसे पाल सकता है। तथा अचेलतामें चित्तकी विशुद्धिको प्रकट करनेका भी गुण है। लंगोटी वगैरहसे ढाँकनेसे भावशुद्धिका ज्ञान नहीं होता। किन्तु वस्त्र रहितके शरीरके विकार रहित होनेसे विरागता स्पष्ट दीखती है। अचेलतामें निर्भयता गुण है। चोर आदि मेरा क्या हर लेंगे, क्या वे मुझे मारेंगे या बाँधेंगे। किन्तु सवस्त्र डरता है और जो डरता है वह क्या नहीं करता। सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है। जिसके पास कोई परिग्रह नहीं वह किसी पर भी शंका नहीं करता। किन्तु जो सवस्त्र है वह सा। मार्ग में चलने वाले प्रत्येक जन पर अथवा अन्य किसी को देखकर उस पर विश्वास नहीं करता। यह कौन है क्या करता है यह शंका होती है। अचेलतामें प्रतिलेखनाका न होना भी एक गुण है। चौदह प्रकारकी परिग्रह रखनेवालोंको बहुत प्रतिलेखना करना होती है. अचेलको वैसी प्रतिलेखना नहीं करना पड़ती। परिकर्मका नहीं होना भी एक गुण अचेलका है। वस्त्रको लपेटना, छोड़ना,

सचेलस्य । स्वस्य वस्त्रप्रावरणादेः स्वयं प्रक्षालनं सीवनं वा कुत्सितं कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च । लाघवं च गुणः । अचेलोऽल्पोपधिः स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नेतरः । तीर्थकराचरितत्वं च गुणः—संहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपरा जिनाः सर्वे एवाचेला भूता भविष्यन्तश्च । यथा मेर्वादिपर्वतगता-प्रतिमास्तीर्थंकरमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्वं । चेलपरिवेष्टि-ताङ्गो न जिनसदृशः । प्रलम्बितभुजो निश्चेलो जिनप्रतिरूपतां धत्ते । अनिगूहितबलवीर्यता च गुणः । परीषहसहने शक्तोऽपि सचेलो न परीषहानसहते इति । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेल-परिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रन्थं यो वदेत्तस्य किमपरे पापण्डिनो न निर्ग्रन्थाः ? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति वाङ्मात्रं नाद्रियते मध्यस्थः । इत्थं चेले दोषा अचेलतायां वा अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थिति-कल्पत्वेनोक्ता ।

अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम् । तथा ह्याचारप्रणिधौ भणितं—"प्रतिलेखेत् पात्र-कंबलं ध्रुवमिति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ।" आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोक-विचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तं[2]—"पडिलेहणं पादपुंछणं, उग्गहं, कडासणं, अण्णदर

सीना, बाँधना, रंगना इत्यादि अनेक परिकर्म करने होते हैं। अपने वस्त्र, ओढ़ने वगैरहको स्वयं धोना, सीना ये कुत्सित कर्म तथा शरीरको भूषित करना ममत्व आदि परिकर्म करने होते हैं। लाघव गुण भी अचेलतामें है। अचेलके पास थोड़ा परिग्रह होता है। उठना बैठना जाना आदि क्रियाओंमें वह वायुकी तरह बेरोक और लघु होता है, सवस्त्र ऐसा नहीं होता। तीर्थंकरोंके मार्गका आचरण करना भी अचेलताका गुण है। संहनन और बलसे पूर्ण तथा मुक्तिके मार्गका उपदेश देनेमें तत्पर सभी तीर्थंकर अचेल थे तथा भविष्यमें भी अचेल ही होंगे। जैसे मेरु आदि पर्वतों पर विराजमान जिन प्रतिमा और तीर्थंकरोंके मार्गके अनुयायी गणधर भी अचेल होते हैं। उनके शिष्य भी उन्हींकी तरह अचेल होते हैं। इस प्रकार अचेलता सिद्ध होती है। जिसका शरीर वस्त्रसे वेष्टित है वह तीर्थंकरके समान नहीं है। जो दोनों भुजाओंको लटका कर खड़ा है और वस्त्र रहित है वह जिनके समान रूपका धारी होता है। अपने बल और वीर्यको न छिपाना भी अचेलताका गुण है। सवस्त्र परीषहोंको सहनेमें समर्थ होते हुए भी परीषहोंको नहीं सहता। इस प्रकार उक्त गुणोंके कारण अचेलता जिनदेवके द्वारा कही गई है। जो अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्टित करके अपनेको निर्ग्रन्थ कहता है उसके अनुसार अन्य मतानुयायी साधु निर्ग्रन्थ क्यों नहीं हैं। हम ही निर्ग्रन्थ हैं वे निर्ग्रन्थ नहीं हैं यह तो कहना मात्र है। मध्यस्थ पुरुष इसे नहीं मानते। इस प्रकार वस्त्रमें दोष और अचेलतामें अपरिमित गुण होनेसे अचेलताको स्थितिकल्परूपसे कहा है।

यदि आप मानते हैं कि पूर्व आगमोंमें वस्त्र पात्र आदिके ग्रहणका उपदेश है। जैसे आचार प्रणिधिमें कहा है—'पात्र और कंबलकी प्रतिलेखना अवश्य करना चाहिये।' यदि पात्रादि नहीं होते तो उनकी प्रतिलेखना आवश्यक कैसे की जाती। आचारांगका भी दूसरा अध्याय लोक विषय नामक है। उसके पाँचवे उद्देशमें कहा है—'प्रतिलेखना, पैर पूँछना, उग्गह (एक उपकरण),

---

१. प्रतिलिखे-मु० ।

२. 'वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा' ।—आचा० २।५।९०।

ज्ञानजीवनिकायस्य दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति षष्ठः स्थितिकल्पः । अचेलतायां स्थितः उद्देशिकराजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृद्विनीतो व्रतारोपणार्हो भवति । उक्तं च—

आचेलक्के य ठिदो उद्देसादी य परिहरदि दोसे ।
गुरुभत्तिगो विणीओ होदी वदाणं सदा अरिहो ॥ [ ]

इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमाभिमुखेषु गुरुषु, अभिमुखं स्थिताभ्यो विरतिभ्यः, श्रावकश्राविकावर्गाय व्रतं प्रयच्छेत् । स्वयं स्थितः सूरिः स्ववामे देशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात् । उक्तं च—

विरदी सावगवग्गं च णिविट्ठ ठविय तं च सम्मुहदो ।
विरदं च ठिदो वामे ठविय गणिदो उवट्ठावो उवट्ठवेज्ज ॥ [ ]

इति ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमणं व्रतं वृत्तिकरणं छादनं संवरो विरतिरित्येकार्थाः । उक्तं च—

णाऊण अब्भुवेच्चय पावाण विरमण वद होई ।
विदिकरण छादणं संवरो विरदित्ति एगट्ठो ॥ [ ]

इति । आद्यन्तव्रतयोर्मध्ये रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पंच महाव्रतानि । तत्र प्राणवियोगकरणं प्राणिनः प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणतो विरतिरहिंसाव्रतं । व्यलीकभाषणेन दुःखं प्रतिपद्यन्ते जीवाः इति दयावतो असत्याभिधानात् द्वितीयं व्रतं । ममेदमिति संकल्पितस्य तद्द्रव्यवियोगे दुःखिता भवन्ति इति तद्

६ जीवोंके भेद-प्रभेदोंको जानने वालेको ही नियमसे व्रत देना चाहिए । यह छठा स्थितिकल्प है । जो अचेलतामें स्थित हो, उद्दिष्ट और राजपिण्डका त्याग करनेमें तत्पर हो, गुरुभक्ति करने वाला हो, विनयी हो, वही व्रत देनेके योग्य होता है । कहा है—

'जो अचेलकपनेमें स्थित है और उद्दिष्ट आदि दोषोंका सेवन नहीं करता, गुरुका भक्त और विनीत है वह सदा व्रतोंको धारण करनेका पात्र होता है ।' यह व्रत देनेका क्रम है— अपने सन्मुख हुए आचार्य स्वयं स्थित होकर सामने स्थित विरत स्त्रियों और श्रावक श्राविका वर्गको व्रत प्रदान करें । तथा अपने वाम देशमें स्थित विरतोंको व्रत प्रदान करें । कहा है—

'विरत स्त्रियों और श्रावक वर्गको अपने सामने स्थित करके और विरत पुरुषोंको अपने वाम भागमें स्थित करके गणि व्रत प्रदान करें ।' इस प्रकार जानकर तथा श्रद्धा करके पापोंसे विरत होना व्रत है । वृत्तिकरण, छादन, संवर और विरति, ये सब शब्द एकार्थक हैं— 'जानकर और स्वीकार करके पापोंसे विरत होना व्रत है । वृत्तिकरण, छादन, संवर, विरति ये सब एकार्थक हैं ।'

प्रथम और अन्तिम व्रतोंके बीचमें रात्रिभोजन त्यागनामक छठे व्रतके साथ पाँच महाव्रत हैं । प्रमत्तयोगसे प्राणीके प्राणोंका वियोग करना हिंसा है और उससे विरति अहिंसा व्रत है । [illegible] दुःखी होते हैं ऐसा मानकर दयालु पुरुषका असत्य [illegible] दूसरा व्रत है । 'यह मेरा है' ऐसा मानते हैं उस द्रव्यके नष्ट होनेपर [illegible] होते हैं । इसलिए [illegible] बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरत होना तीसरा व्रत

१ [illegible] ।

अदत्तादानाद्विरमणं तृतीयं व्रतम्। सर्वपूर्णायां नाल्यां तप्तायःशलाकाप्रवेशनवद्योनिद्वारस्थानेकजीवपीडा-साधनत्वं तेनेति तदपाकरणार्थं तीव्रो रागाभिनिवेशः कर्मबन्धस्य महतो मूलं इति ज्ञात्वा श्रद्धाय मैथुनाद्विरमणं चतुर्थं व्रतम्। परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलग्रन्थत्यागो भवति इति पञ्चमं व्रतम्। तेषामेव पञ्चानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं व्रतम्। सर्वजीवविषयं हिंसादत्तं अदत्तपरिग्रहत्यागो सर्वद्रव्यविषयो द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि। उक्तं च—

'पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे य सव्वदव्वाइं।
सेसा महव्वया खलु तदेक्कदेसम्मि दव्वाणं ॥' [आवश्यक ७९१ गा०]

पञ्चमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवति अद्यप्रव्रजितः पुमान् इत्येष सप्तमः स्थितिकल्पः पुरुषज्येष्ठत्वं। पुरुषत्वं नाम संग्रहं उपकारं, रक्षां च कर्तुं समर्थः। पुरुषप्रणीतश्च धर्म इति तस्य ज्येष्ठता। ततः सर्वाभिः संयताभिः विनयः कर्तव्यो विरतस्य। येन च स्त्रियो लघ्व्यः परप्रार्थनीयाः, पररक्षापेक्षिण्यः, न तथा पुमान् इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्वं। उक्तं च—

जेणिच्छी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जा य।
भीरु परक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो ॥ [ ]

अचेलतादिकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमण कर्तव्यमित्येषोऽष्टमः स्थितिकल्पः। नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन षड्विधं प्रतिक्रमणं। अहिंसा महाव्रतिना इत्याद्ययोग्यनामोच्चारणं इत्यादि-

---

अनेक जीवोंसे भरी हुई नलीमें तपाई हुई लोहेकी कीलके प्रवेशकी तरह योनिद्वारमें स्थित अनेक जीवोंको लिंगके प्रवेशसे पीड़ा होती है। उस पीड़ाको दूर करनेके लिए 'रागका तीव्र अभिनिवेश महान् कर्मबन्धका मूल है' ऐसा जानकर और श्रद्धा करके मैथुनसे विरत होना चतुर्थ व्रत है। परिग्रह छह कायके जीवोंको पीड़ा पहुँचानेका मूल है और ममत्वभावमें निमित्त है ऐसा जानकर समस्त परिग्रहका त्याग पाँचवाँ व्रत है। उन्हीं पाँच व्रतोंका पालन करनेके लिए रात्रि भोजनका त्याग छठा व्रत है। अहिंसाव्रतका विषय सब जीव हैं अर्थात् सब जीवोंकी हिंसाका त्याग उसमें है। बिना दी हुई वस्तुका त्याग और परिग्रहका विषय भी सब द्रव्य हैं। अर्थात् अचौर्यव्रती बिना दिया हुआ कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं लेता जिसका कोई स्वामी है। परिग्रहका त्यागी भी सब द्रव्योंका त्याग करता है। किन्तु शेष व्रत द्रव्योंके एकदेशको विषय करते हैं। कहा है—

'प्रथम व्रतमें सब जीव, तीसरे और अचौर्यव्रतमें सब द्रव्य तथा शेष महाव्रत द्रव्योंके एकदेशमें होते हैं।'

७ चिरकालसे दीक्षित और पाँच महाव्रतोंकी धारी आर्यिकासे तत्काल दीक्षित भी पुरुष ज्येष्ठ होता है। इस प्रकार पुरुषकी ज्येष्ठता सातवाँ स्थितिकल्प है। पुरुषत्व कहते हैं संग्रह, उपकार और रक्षा करनेमें समर्थ होना। धर्म पुरुषके द्वारा कहा गया है इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है। इसलिए सब आर्यिकाओंको साधुकी विनय करनी चाहिए। यत: स्त्रियाँ लघु होती हैं, परके द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य होती हैं। दूसरेसे अपनी रक्षाकी अपेक्षा करती हैं। पुरुष ऐसे नहीं होते इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है। कहा है—'यत: स्त्री लघु होती है, दूसरेके द्वारा प्रसाध्य होती है, प्रार्थनीय होती है, डरपोक होती है, अरक्षणीय होती है इसलिए पुरुष ज्येष्ठ होता है।'

८. अचेलता आदि कल्पमें स्थित साधुको यदि अतिचार लगता है तो उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह आठवाँ स्थितिकल्प है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह

हरणं नामप्रतिक्रमणं । असंयतमिथ्यादृष्टिजीवप्रतिबिंबपूजादिषु प्रवृत्तस्य तत्प्रतिक्रमणं स्थापनाप्रति सचित्तमचित्तं मिश्रमिति त्रिविकल्पं द्रव्य तस्य परिहरणं द्रव्यप्रतिक्रमणं । त्रसस्थावरबहुलस्य स्व ध्यानविघ्नसंपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रप्रतिक्रमणं । संध्यास्वाध्यायाकालादिषु गमनागमनादिप कालप्रतिक्रमणं । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणसहितो धर्मः आद्यन्त योजिनयो जातापराधप्रतिक्रमणं मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति ।[1]

'आलोयणादिवसिय राइय इत्तिरियभिक्खचरिया य ।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठे य ॥ एते आलोचनाकल्पा
पडिकमणे राइय देवसियं इत्तिरियभिक्खचरिया य ।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठे य ॥ [ ]

अमी प्रतिक्रमणभेदा आद्यन्ततीर्थकरप्रणीते पञ्चमे धर्मे, इतरत्र च चतुर्थे प्रतिक्रमणस्य का उक्त । यदायमतिचारं प्राप्तस्तदा प्रतिक्रमणमध्यात्मिकं दर्शनं । उक्तं च—

'समणो पाणेसणो विय दूरायादो य सवसमणो वि ।
[2]सुमणे वि मत्ति य सव्वो जागरमाणो वि अणवो वि ॥
टावणिओ आयरिय णावज्झामिसि मज्झिमजिणेसु ।
ण पडिक्कमणं तेण दु जे णातिक्कमदि सो बोज ॥ [ ]

प्रकारका प्रतिक्रमण होता है। भट्टिणी, भर्तृदारिका इत्यादि अयोग्य नामका उच्चारण [illegible] उसका परिहार करना नाम प्रतिक्रमण है। असंयत मिथ्यादृष्टि जीवके प्रतिबिम्बकी पूज[illegible] करनेवाला जो उसका प्रतिक्रमण करता है यह स्थापना प्रतिक्रमण है। सचित्त, अचि[illegible] मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका द्रव्य होता है उसका परिहार द्रव्य प्रतिक्रमण है। जो [illegible] और स्थावर जीवोंसे भरा है स्वाध्याय और ध्यानमें विघ्न करनेवाला है उसका परिह[illegible] प्रतिक्रमण है। सन्ध्याके समय, स्वाध्यायके समय तथा असमयमें गमन आगमन आदिका [illegible] कालप्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व असंयम कषाय और योगसे निवृत्ति भावप्रतिक्रमण है। प्रथ[illegible] अन्तिम तीर्थंकरका धर्म प्रतिक्रमण सहित है अर्थात् प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। और [illegible] बाईस तीर्थंकर दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमणका उपदेश करते हैं। आलोचना दैवसिक, [illegible] ईर्यापथिक, भिक्षाचर्या पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, उत्तमार्थ—ये दस आलोचनाकल्प[illegible]

दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, ईर्यापथिक, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्[illegible] सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ये प्रतिक्रमणके भेद हैं। आदि और अन्तिम तीर्थंकरके द्वारा [illegible] [illegible]। [illegible] और अन्य तीर्थंकरोंके द्वारा कहे चार याम [illegible] प्रतिक्रमणके [illegible] [illegible] है। जब साधु अतिचार लगाता है तब प्रतिक्रमण आध्यात्मिक दर्शन है। [illegible]

[इन गाथाओंका शुद्धपाठ न मिलनेसे अर्थका स्पष्टीकरण नहीं हो सका है।] [illegible] [illegible] मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके साधुओंके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक नहीं है [illegible]

१ पडिकमणं देवसियं राइयं च इत्तिरियमावकहियं च ।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठे य ॥—मूला० ६१८ । [illegible]
२ [illegible]

सदृवादिसु वि पडिसो आदिम अंतिम सो पडिक्कमदि ।
मज्झिमगा सव्वोंवि य अपराधाणं हवे उभय ॥
इरियं गोयर सुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमेसु सव्वो सव्व णियमा पडिक्कमदि ॥ [मूलाचार ७।१३१]

मध्यमतीर्थंकरशिष्या दृढबुद्धय, एकाग्रचित्ता, अमोघलक्ष्यास्तस्मादाचरितं तद्गर्हया शुद्धयति । इतरे तु चलचित्ता न लक्षयन्ति स्वापराधानिति सर्वं प्रतिक्रमणं उपदिष्टं जिनाभ्यां अन्धघोटकदृष्टान्तन्यायेन ।

ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवम स्थितिकल्प । एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षम. । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषा. । पज्जोसमणकप्पो नाम दशम । वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्याग । स्थावरजङ्गमजीवाकुला हि तदा क्षिति । तदा भ्रमणे महानसंयम वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना । पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यत इति विंशत्यधिक

लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते हैं। इसी बातको इन गाथाओंमें कहा है। शब्दादि विषयोंमें प्रवृत्ति होनेपर आदि और अन्तिम तीर्थंकरोंके साधु प्रतिक्रमण करते ही हैं। मध्यम तीर्थंकरोंके साधु करते भी हैं और नहीं भी करते।

ईर्यासमिति, गोचरी और स्वप्न आदिमें अतिचार लगे या न लगे। किन्तु प्रथम तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य सब प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढ़ते हैं अर्थात् अतिचार नहीं लगनेपर भी उन्हें प्रतिक्रमण करना होता है।'

मध्यम बाईस तीर्थंकरोंके शिष्य दृढ़ बुद्धिवाले, एकाग्रचित्त और अव्यर्थ लक्ष्यवाले होते हैं। इसलिए अपने आचरणकी गर्हा करनेसे शुद्ध होते हैं। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य चंचल चित्त होनेसे अपने अपराधोंको लक्ष्यमें नहीं लेते। इसलिए प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरने सबके लिए प्रतिक्रमण करनेका उपदेश दिया है। इसमें अन्धे घोड़ेका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे घोड़ेके अन्धे होनेपर अनजान वैद्यपुत्रने अपने पिताके अभावमें उसपर सब दवाइयोंका प्रयोग किया तो घोड़ा ठीक हो गया। इसी तरह अपने दोषोंसे अनजान साधु भी प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है।

९. छह ऋतुओंमें एक-एक महीना ही एक स्थानपर रहना और अन्य समयमें विहार करना नवम स्थितिकल्प है। एक स्थानमें चिरकाल ठहरनेपर नित्य ही उद्गमदोष लगता है। उसे टाला नहीं जा सकता। तथा एक ही स्थानमें बहुत समयतक रहनेसे क्षेत्रसे बँध जानेका, सुखशीलता, आलसीपना, सुकुमारताकी भावना तथा जाने हुएसे भिक्षा ग्रहण करनेके दोष लगते हैं।

१०. पज्जोसमण नामक दसवाँ कल्प है। उसका अभिप्राय है वर्षाकालके चारमासोंमें भ्रमण त्यागकर एक ही स्थानपर निवास करना। उस कालमें पृथिवी स्थावर और जंगम जीवोंसे व्याप्त रहती है। उस समय भ्रमण करनेपर महान् असंयम होता है। तथा वर्षा और शीतवायुके बहनेसे आत्माकी विराधना होती है। वापी आदिमें गिरनेका भय रहता है। जलादिमें छिपे

एदेसु दससु णिच्चं समाहिदो णिच्चवज्जभीरू य ।
खवयस्स विसुद्धं सो जधुत्तचरियं उवविधेदि ॥४२४॥

'एदेसु दससु णिच्चं' एतेषु दशस्थितिकल्पेषु नित्यं । 'समाहिदो' समाहित । 'णिच्चवज्जभीरू य' नित्य पापभीरु । 'खवगस्स' क्षपकस्य । 'विसुद्धं जधुत्तचरियं' यथोक्ता चर्या । 'सो उवविधेदि' स विदधाति ॥४२४॥

निर्यापकस्य सूरेराचारवत्त्वे क्षपकस्य गुणं व्याचष्टे—

पंचविधे आयारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ ।
सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुट्ठु आयारे ॥४२५॥

'पंचविधे आयारे समुज्जदो' पञ्चप्रकारे आचारे समुद्यत । 'समिदसव्वचेट्ठाओ' सम्यक् प्रवृत्ता सर्वाश्चेष्टा यस्य स । 'सुट्ठु उज्जमेदि' सुष्ठु उद्योगं कारयति । 'खवगं' क्षपकं । क्व ? 'पंचविधे' आचारे ॥४२५॥

यः आचारवान्न भवति तदाश्रयणे दोषमाचष्टे—

सेज्जोवधिसंथारं भत्तं पाणं च चयणकप्पगदो ।
उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरए वा असंविग्गे ॥४२६॥

'सेज्जं' वसतिं । 'उवधिं' उपकरणं । 'संथारभत्तपाणं च' संस्तरं भक्तपानं च । 'असुद्धं' उद्गमादिदोषोपहतं । 'उवकप्पेज्ज' उपकल्पयेत् । क 'चयणकप्पगदो' ज्ञानाचारादिकादीषत्च्यवनमुपगत 'पडिचरए वा' प्रतिचारकान्वा योजयेत् । 'असविग्गे' अमविग्नान् । एवमसंयमे कृते महान्कर्मबन्धो भविष्यति ततोऽस्माकं महती संसृतिरनेकापन्मूलेति भयरहितान् ॥४२६॥

सल्लेहणं पयासेज्ज गंधं मल्लं च समणुजाणिज्जा ।
अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज सइरं व जंपिज्ज ॥४२७॥

'सल्लेहणं पगासेज्ज' सल्लेखनां प्रकाशयेत् लोकस्य । 'गंधं मल्लं च समणुजाणेज्ज' गन्ध माल्य वानुजानीयात् । गन्धमाल्यानयनमभ्युपगच्छेत् । 'अप्पाउग्गं व कहं कहेज्ज' अप्रयोग्या वा कथा कथयेत्

गा०—इन दस कल्पोमें जो सदा समाधान युक्त रहता है और नित्य पापसे डरता है वह आचार्य क्षपक ऊपर कहे विशुद्ध आचरणको पालन कराता है ॥४२४॥

निर्यापकाचार्यके आचारवान होने पर क्षपकका लाभ बतलाते हैं—

गा०—जो आचार्य पाँच प्रकारके आचारमे तत्पर रहता है और जिसकी सब चेष्टाएँ सम्यग्रूपसे होती हैं वह क्षपकसे पाँच प्रकारके आचारमें उद्योग कराता है ॥४२५॥

जो आचार्य आचारवान नही होता, उसका आश्रय लेनेमे दोष कहते हैं—

गा०—ज्ञानाचार आदिसे थोडा सा च्युत हुआ आचार्य उद्गम आदि दोषोसे दूषित अशुद्ध वसति, उपकरण, संस्तर और भक्तपानकी व्यवस्था करेगा। तथा ऐसे परिचारक मुनियोको नियुक्त करेगा जिन्हे यह भय नहीं है कि इस प्रकारका असयम करने पर महान् कर्मबन्ध होगा और उससे हमारा ससार बढ़ेगा जो अनेक आपत्तियोंका मूल है ॥४२६॥

गा०—तथा वह क्षपककी सल्लेखनाको लोगो पर प्रकाशित कर देगा। सुगध माला आदि सेवनकी अनुमति दे देगा। क्षपकके अशुभ परिणाम करने वाली अयोग्य कथा वार्ता करेगा। और

सूत्रेषु गूढेषु वा प्रवर्तयति श्रुतमनाचारमुपदिशन्नतो दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च आधारत्ववान्। ज्ञानाधारे[1]स्वज्ञानाधारवान् ॥४३०॥

यस्तु ज्ञानवान्न भवति तदाश्रयणे दोषमाचष्टे—

[2]णासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ।
णट्ठम्मि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥४३१॥

'णासेज्ज अगीदत्थो' नाशयेदगृहीतसूत्रार्थः। 'तस्स' तस्य क्षपकस्य। 'चउरंगं' चत्वारि ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि अङ्गानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं चतुरङ्गं। लोके यत्सारं निर्वाणं तस्याङ्गं उपकारकं। चतुरङ्गं यदि नाम नष्टं तथापि तच्चतुरङ्गं पुनर्लप्स्यते इति शङ्कामिमां निरस्यति। 'णट्ठम्मि य चउरंगे' नष्टे इह जन्मनि चतुरङ्गे मुक्तिमार्गे। 'ण उ सुलहं होदि चउरंगं' नैव सुखेन लभ्यते तच्चतुरङ्गं। विनाशितचतुरङ्गो मिथ्यात्वपरिणतः कुयोनिषु पतन् कथमिव लभते चतुरङ्गं इत्यभिप्रायः ॥४३१॥

क्षपकस्य चतुरङ्गं कथमगृहीतार्थो नाशयतीत्यारेकायामित्थमसौ नाशयतीति दर्शयति—

संसारसायरम्मि य अणंतबहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ।
संसरमाणो दुक्खेण लहदि जीवो मणुस्सत्तं ॥४३२॥
तह चेव देसकुलजाइरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिं ।
सवणं गहणं सद्धा य संजमो दुल्लहो लोए ॥४३३॥

जो ज्ञानवान् है वह आधारवान् है ॥४३०॥

जो ज्ञानवान् नहीं है उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते हैं—

गा०-टी०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण नहीं किया है ऐसा आचार्य उस क्षपकके चतुरंगको नष्ट कर देता है। ज्ञान दर्शन चारित्र तप ये चार अंग जिस मोक्षमार्गके होते हैं वह चतुरंग है। लोकमें जो सारभूत निर्वाण है उसका चतुरंग-मोक्षमार्ग उपकारक है। वह नष्ट कर देता है। शायद कोई कहे कि यदि चतुरंग नष्ट हुआ तो पुनः प्राप्त हो जायेगा ? इस शंकाका निरास करते हैं—इस जन्ममें चतुरंग मोक्षमार्गके नष्ट होने पर चतुरंग सुलभ नहीं है—सुखसे नहीं मिलता। क्योंकि जो चतुरंगको नष्ट कर देता है वह मिथ्यात्व रूप परिणत होकर कुयोनिमें चला जाता है। तब वह कैसे चतुरंगको प्राप्त कर सकता है यह उक्त कथनका अभिप्राय है ॥४३१॥

सूत्रके अर्थको ग्रहण न करने वाला आचार्य क्षपकके चतुरंगको कैसे नष्ट करता है ? ऐसी आशंका करने पर बतलाते हैं कि वह इस प्रकार नष्ट करता है—

गा०—जिसमें अनन्त अत्यन्त तीव्र दुःखरूप जल भरा है उस संसार सागरमें भ्रमण करते हुए जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४३२॥

गा०—उस संसारमें देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्मका सुनना, उसे ग्रहण करना, उस पर श्रद्धा होना तथा संयम ये सब दुर्लभ हैं ॥४३३॥

---

१. स्वज्ञानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् आ० मु०। २. इयं गाथा व्यवहारसूत्रे (उ० ३, गा० ३७७) अस्ति।

एवमवि दुल्लहपरंपरेण लद्धूण संजमं खवओ ।
ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अप्पसुदसयासे ॥४३४॥

सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्धं मुत्तिमुवगमित्ता वि ।
परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥४३५॥

सक्का वंसी छेत्तुं तत्तो उक्कड्ढिओ पुणो दुक्खं ।
इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कड्ढिदुं दुक्खं ॥४३६॥

आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ।
अट्टदुहट्टो जीवो ण रमदि णाणे चरित्ते य ॥४३७॥

सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयणेण य पुणो उवग्गहिदो ।
तण्हाछुहाकिलंतो वि होदि झाणे अवक्खित्तो ॥४३८॥

पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ।
ण कुणदि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ॥४३९॥

'पढमेण वा' क्षुधा । 'दोवेण वा' पिपासया वा । 'बाधिज्जंतस्स तस्स' बाध्यमानस्य तस्य । 'खवयस्स' क्षपकस्य । 'न कुणदि उवदेसादिं' न करोत्युपदेशादि । 'समाधिकरणं' समाधिः क्रियते येनोपदेशादिना तं । 'अगीदत्थो' अगृहीतार्थः ॥४३९॥

गा०—इस प्रकार परम्परा रूपसे दुर्लभ संयमको पाकर क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पासमें वैराग्य करने वाली देशना नहीं प्राप्त करता ॥४३४॥

गा०—सम्यक् उपदेश प्राप्त न करनेसे चिरकाल तक असंयमके त्यागपूर्वक संयमको धारण करके आधारवत्त्व गुणसे रहित आचार्यके पासमें मरते समय संयमसे गिर जाता है ॥४३५॥

गा०—जैसे छोटेसे बाँसको छेदना शक्य है। किन्तु बाँसोंके झाडमेंसे खींचकर निकालना बहुत कठिन है। इसी तरह संयमीका भी मन विषयोंसे हटाना अल्प ज्ञानी गुरुके लिए कठिन है। आशय यह है कि यद्यपि क्षपकने रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की तथापि शरीरकी सल्लेखना करनेपर जब भूख प्यासकी परीषह सताती है तो वह श्रुतज्ञानमें उपयोग लगाये बिना अल्पज्ञ आचार्यके पासमें रागद्वेषमें पड़कर चारित्रका आराधक नहीं रहता ॥४३६॥

गा०—यह जीव आहारमय है, अन्न ही इसका प्राण है। आहारके न मिलनेपर आर्त और रौद्रध्यानसे पीड़ित होकर ज्ञान और चारित्रमें मन नहीं लगाता ॥४३७॥

गा०—किन्तु ज्ञानी आचार्यके द्वारा श्रुतका पान करानेसे और योग्य शिक्षारूप भोजनसे उपकृत होनेपर भूख प्याससे पीड़ित होते हुए भी ध्यानमें स्थिर होता है ॥४३८॥

गा०—भूख और प्याससे पीड़ित उस क्षपकको अल्पज्ञानी आचार्य समाधिके साधन उपदेश आदि नहीं करता ॥४३९॥

सो तेण विडज्झंतो पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो ।
कलुणं कोलुणियं वा जायणकिविणत्तणं कुणइ ॥४४०॥

'सो तेण विडज्झंतो' स क्षपकस्तेन प्रथमेन द्वितीयेन वा । 'विडज्झंतो' विविध दह्यमान । 'पप्प भावस्स भेदमप्पसुदो' प्राप्य शुभपरिणामस्य भेद 'विडज्झंतो' 'अप्पसुदो' अल्पश्रुत । 'कलुण कोलुणियं च कुणदि' यथा शृण्वता करुणा भवति तथा करोति । 'जायण च कुणदि' याञ्चा वा करोति । 'किविणत्तणं कुणदि' दीनतां वा करोति ॥४४०॥

उक्कूवेज्ज व सहसा पिएज्ज असमाहिपाणयं चावि ।
गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ॥४४१॥

'उक्कूवेज्ज व सहसा' पूत्कुर्याद्वा सहसा । 'पिएज्ज' पिबेद्वा । 'असमाधिपाणगं चावि' असमाधिपानकमुच्यते यस्स्वयं स्थित्वा स्वहस्ताभ्यां काले प्रायोग्यपान ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पान तदसमाधिपानकमुच्यते । 'गच्छेज्ज व मिच्छत्तं' मिथ्यात्वं वा गच्छेत् । कष्टोऽयं धर्मं किमनेन श्रमविधायिनेति निन्दापरेण चेतसा । 'मरेज्ज असमाधिमरणेण' मृतिमुपेयात् असमाधिना ॥४४१॥

संथारपदोसं वा णिब्भच्छिज्जंतओ णिगच्छेज्जा ।
कुव्वंते उड्डाहो णिच्चुब्भंते विकिंते वा ॥४४२॥

'संथारपदोस वा कुणदि' इति शेष', संस्तरं वा दूषयति । 'णिब्भच्छिज्जंतगो णिगच्छेज्ज' रोदनं पूत्कारं वा कुर्वन्न यदि निर्भर्त्सयन्ति निर्यायात् । 'कुव्वंते' पूत्कुर्वति सति क्षपके । 'उड्डाहो' अयशो धर्मस्य भवति । 'णिच्चुब्भंते' बहिर्निःसरणे । 'विकिंते वा' पृथक्करणे वा । 'उड्डाहो होदि' धर्मदूषणो भवति । एवमगृहीतार्थः प्रतिकारानभिज्ञो नाशयति क्षपकम् ॥४४२॥

गृहीतार्थः पुन किं करोतीति चेदाह—

गीदत्थो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ।
कण्णाहुदीहिं उव-गाहिदो य पज्जलइ ज्झाणग्गी ॥४४३॥

गा०—वह अल्पज्ञानी क्षपक भूख प्याससे पीडित हो शुभभावको छोड देता है और ऐसा रुदन करता है कि सुननेवालोको दया आती है, याचना करता है और दीनता प्रकट करता है ॥४४०॥

गा०—अथवा सहसा चिल्लाने लगता है अथवा असमाधिपानक पीता है। स्वय खड़े होकर अपने दोनों हाथोंसे भोजनके कालमें जो योग्यपान किया जाता है उससे अन्य विना खड़े हुए असमयमें जो पान किया जाता है उसे असमाधिपानक कहते है। तथा यह धर्म कष्टदायक है इससे केवल श्रम ही होता है ऐसे निन्दायुक्त चित्तसे मिथ्यात्वको प्राप्त होता है असमाधिपूर्वक मरणको प्राप्त होता है ॥४४१॥

गा०—अथवा वह सस्तरको दोष देता है। रोने चिल्लानेपर उसका तिरस्कार करो तो बाहर भाग जायेगा। उसके रोने चिल्लानेपर, या बाहर निकल जानेपर अथवा सघसे निकाल देनेपर धर्ममें दूषण लगता है। इस प्रकार अज्ञानी आचार्य प्रतीकार न जानता हुआ क्षपकका जीवन नष्ट कर देता है ॥४४२॥

गृहीतार्थज्ञानी आचार्य क्या करता है यह कहते है—

---

१. उवढोइदो आ० मु०।

'गीदत्थो पुण' [illegible] । [illegible] 'करणाणि' [illegible] । [illegible] 'ज्झाणग्गी' [illegible] ॥४४३॥

[illegible] वेज्जावच्चकरणेण ।
अण्णेहिं वा उवायेहिं सो दु समाधिं कुणदि तस्स ॥४४४॥

'[illegible]' [illegible] समाधिं [illegible] वेज्जावच्चकरणेण [illegible] क्रियया । अण्णेहिं वा उवायेहिं [illegible] करोति ॥४४४॥

णिज्जूढं पि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो ।
संघेइ समाधिं पि य वारेइ असंवुडगिरं च ॥४४५॥

'णिज्जूढं पि य पासिय' [illegible] अस्माकं ? [illegible] । 'मा भीहि देइ' मा भैषीरित्यभयं ददाति । 'होदि' भवति । 'य आसासो' च आश्वास । 'संघेइ' [illegible] समाधिं पि य' [illegible] । वारेदि असंवुडगिरं च' [illegible] संवृतानां वचन नैवं वक्तव्यो भवद्भिरयं महात्मा । को [illegible] इति प्रोत्साहयन् ॥४४५॥

जाणदि फासुगदव्वं उवकप्पेदुं तहा उदिण्णाणं ।
जाणइ पडिकारं वादपित्तसिंभाण गीदत्थो ॥४४६॥

'जाणदि य' जानाति च । 'फासुगदव्वं' [illegible] । 'उवकप्पेदुं' [illegible] । 'तहा उदिण्णाणं' तयो-

---

गा०—किन्तु गृहीतार्थ आचार्य विधिपूर्वक क्षपकका समाधान करनेकी क्रिया करता है। उसके कानोंमे धर्मोपदेशकी आहुति देता है उससे उपगृहीत होकर ध्यानरूपी अग्नि भड़क उठती है ॥४४३॥

गा०—वह क्षपककी इच्छा पूर्ति करके—जो वह चाहता है वह देकर—समाधि करता है अर्थात् रत्नत्रयमे उसका मन स्थिर करता है। तथा शारीरिक बाधाका प्रतिकार करके और अन्य उपायोमे जैसे शान्तिदायक वचन, उपकरणदान और प्राचीन क्षपकोंके दृष्टान्त आदिसे समाधि करता है ॥४४४॥

गा०—निर्यापक अर्थात् सेवा करनेवाले यतियोने जिस क्षपकको यह कहकर 'कि आप परीषह सहन नही करते और आपका चित्त चंचल है हमे आपसे अब कुछ भी प्रयोजन नही है' छोड़ दिया है, उसको भी देखकर बहुश्रुत आचार्य 'मत डरो' इस प्रकार अभय देते है। आश्वासन देते है, और रत्नत्रयमे एकाग्रता बनाये रखते है। तथा असंयतवचनोंका निवारण करते है कि इस महात्माको आपको ऐसा नही कहना चाहिए। इनके समान कठिनतासे छोड़नेके योग्य शरीर और आहारको कौन छोड़नेमे समर्थ है। इस प्रकार प्रोत्साहन देते हैं ॥४४५॥

गा०—शास्त्रके अर्थको हृदयंगम करनेवाले आचार्य उदीर्ण हुई भूख प्यासकी वेदनाको

---

१. अन्यैर्वा उपायै तस्य समाधि करोति—अ० ।

दीर्णानां क्षुधादीनां विनाशने समर्थं । 'जाणदि पडिमारं' जानाति प्रतिकारं । 'वादपित्तसिभाणं' वातपित्तश्लेष्मणां । 'गीदत्थो' गृहीतार्थं ॥४४६॥

अहव सुदिपाणयं से तहेव अणुसिट्ठिभोयणं देइ ।
तण्हाछुहाकिलिंतो वि होदि ज्झाणे अवक्खित्तो ॥४४७॥

'अहव सुदिपाणयं' अथवा श्रुतिपानं । 'से देदि' तस्मै ददाति । 'अणुसिट्ठिभोयण देदि' अनुशासनभोजनं वा । तेन पानेन भोजनेन च । 'तण्हाछुहाकिलिंतो वि' क्षुधा तृषा वा बाध्यमानोऽपि । 'ज्झाणे अवक्खित्तो होदि' ध्याने अव्याक्षिप्तचित्तो भवति ॥४४७॥

दोषान्तरमप्याचष्टे–अगृहीतार्थसकाशे वसत क्षपकस्य–

संसारसागरम्मि य णंते बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ।
संसरमाणो जीवो दुक्खेण लहइ मणुसत्तं ॥ ४४८ ॥

'संसारसागरम्मि य' संसार सागर इव तस्मिन्संसारसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमान. संसारसागर । तत्र द्रव्यसंसारो नाम शरीरद्रव्यस्य ग्रहणमोक्षणाभ्यावृत्तिरसकृत् । तद्यथा–प्रथमाया पृथिव्या सप्तधनूंषि त्रयो हस्ता षडङ्गुलाधिका प्रमाण नारकाणा शरीरस्य । अधोऽधस्तद्द्विगुणोच्छ्रयता यावत्पञ्चधनुःशतानि । एवंविकल्पेषु शरीरेषु एकैकं शरीरमनन्तवारं गृहीतमतीते काले भव्याना तु भाविनि काले भाज्यमनन्तवारग्रहण । अभव्याना तु भविष्यति कालेऽप्यनन्तानि तथाविधानि शरीराणि । एष द्रव्यसंसार स्थूलत ।

नष्ट करनेमें समर्थ प्रासुकद्रव्योंको देना जानते हैं। तथा वात पित्त कफका प्रकोप होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जानते है ॥४४६॥

गा०—अथवा वह आचार्य क्षपकको शास्त्रोपदेशरूपी पेय और अनुशासनरूप भोजन देते हैं। उस पान और भोजनसे भूख और प्याससे पीड़ित भी क्षपक ध्यानमें एकाग्रचित्त होता है ॥४४७॥

अल्पज्ञानी आचार्यके पास रहने वाले क्षपकके अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—बहुत तीव्र दुःख रूपी जलसे भरे अनन्त संसार रूपी सागरमें संसरण करता हुआ जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४४८॥

टी०—संसारके पाँच प्रकार हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव संसार और भाव संसार। शरीर द्रव्यका बारम्बार ग्रहण और त्याग द्रव्य संसार है। प्रथम नरकमें नारकियोंके शरीरका प्रमाण सात धनुष, तीन हाथ छह अंगुल है। नीचे-नीचेके नरकोंमें उसकी दुगुनी ऊँचाई होते होते अन्तमें पाँच सौ धनुष ऊँचाई है। इस प्रकारके भेद वाले शरीरोंमें जीवोंने अतीत कालमें एक-एक शरीर अनन्त बार ग्रहण किया। भविष्य कालमें भव्य जीवोंका अनन्तबार ग्रहण करना भाज्य है अर्थात् जो मुक्त हो जायेंगे वे अनन्त बार ग्रहण नहीं कर सकेंगे, शेष कर सकेंगे। किन्तु अभव्य जीव तो भविष्य कालमें भी उन शरीरोंको अनन्त बार ग्रहण करेंगे। यह द्रव्य संसारका कथन स्थूलरूपसे है।

क्षेत्रसंसार उच्यते—सीमन्तकादीनि अप्रतिष्ठानान्तानि चतुरशीतिनरकशतसहस्राणि। तत्रैकैकस्मिन् नरके अनन्ता जन्ममरणयोर्वृत्तिरतीते काले। भविष्यति तु भाज्या भव्यानाम्। अभव्यानां तु भविष्यत्यनन्ता।

कालसंसार उच्यते—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये प्रथमनरके उत्पन्नो, मृतोऽन्यत्रोत्पन्नः, पुनः कदाचिदुत्सर्पिण्या द्वितीयादिसमये उत्पन्न एव तृतीयादिसमयेषु। एवं उत्सर्पिणी समाप्तिं नीता। तथा अवसर्पिण्या अपि। एवमितरेष्वपि नरकेषु। तदनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालयोरनन्तवृत्तिः। भवसंसार उच्यते—

प्रथमायां पृथिव्यां दशवर्षसहस्रायुर्जातः पुनः समयेनैकेन अधिकानि दशवर्षसहस्राणि। एवं द्विसमयाद्यधिकक्रमेण सागरोपमपर्यन्तमायुः समाप्तिं नीतम्। द्वितीयायां समयाधिकं सागरोपमादिं कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमत्रयपरिसमाप्तिः। तृतीयायां समयाधिकं त्रिसागरोपमादिं कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमसप्तकपरिसमाप्तिः। चतुर्थ्यां समयाधिकसप्तसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्तिः। पञ्चम्यां समयाधिकदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्तिः। षष्ठ्यां समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्द्वाविंशतिसागरोपमपरिसमाप्तिः। सप्तम्यां समयाधिकद्वाविंशतिसागरोपमादारभ्य यावत्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिसमाप्तिः। एवमेतेष्वायुर्विकल्पेषु परावृत्तिः भवसंसारः।

क्षेत्र ससार कहते हैं—प्रथम नरकके सीमन्तकसे लेकर सातवें नरकके अप्रतिष्ठ बिलें पर्यन्त चौरासी लाख बिलें हैं। उनमेसे एक-एक बिलेमे अतीत कालमे अनन्त बार जन्म मरण जीवोने किया है। भविष्यमे भव्य जीवोका अनन्त बार जन्म मरण भाज्य है। अभव्य जीवोका तो भविष्यमे भी अनन्त जन्म मरण होगे।

काल ससार कहते हैं—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमे प्रथम नरकमे जीव उत्पन्न हुआ। मरने पर अन्यत्र उत्पन्न हुआ। फिर कभी उत्सर्पिणीके दूसरे आदि समयमें उत्पन्न हुआ। इसी तरह तीसरे आदि समयोमे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उत्सर्पिणी कालके सब समयोमे जन्म लेकर उत्सर्पिणी समाप्त की। इसी प्रकार अवसर्पिणी भी समाप्त की। इस तरह अन्य नरकोमे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमे अनन्त बार जन्मा मरा।

भव ससार कहते हैं—प्रथम नरकमे दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा। पुनः एक एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा। ऐसा करते करते क्रमसे एक सागर प्रमाण आयु पूर्ण की। फिर दूसरे नरकमें एक समय अधिक एक सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ मरा। इस तरह एक एक समय बढाते हुए तीन सागर प्रमाण आयु पूर्ण की। तीसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और एक एक समय बढाते हुए सात सागरकी आयु पूर्ण की। फिर चतुर्थ नरकमे एक समय अधिक सात सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा। फिर एक एक समय बढाते बढाते दस सागरकी आयु पूर्ण की। फिर पाँचवें नरकमें एक समय अधिक दस सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा। फिर एक एक समय बढाते बढाते सतरह सागरकी आयु पूर्ण की। फिर छठे नरकमे एक समय अधिक सतरह सागरसे लेकर एक एक समय बढाते-बढाते बाईस सागरकी आयु पूर्ण की। फिर सातवेंमें एक समय अधिक बाईस सागरसे लेकर तैंतीस सागरकी आयु पूर्ण की' इस प्रकार इन आयुके विकल्पोके परावर्तनको भव ससार कहते हैं।

भावसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिगम्य इति नेह प्रतन्यते । एवंभूते संसारसागरे अनन्ते । बहुविधदुःखस-लिलमिति शारीरं, आगन्तुकं, मानसं, स्वाभाविकमिति त्रिविधत्वेन बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन् तस्मिन् संसरमाणो परिवर्तमानः । जीवो 'दुक्खेण' कष्टेन । 'लभइ' लभते । किं 'मणुसत्तं' मनुष्यत्वं । मनुष्यक्षेत्रस्याल्पत्वात् सर्वजगति तिरश्चामुत्पत्तेर्मनुजगतिनिर्वर्तकानां कर्मणां कारणभूता ये परिणामास्तेषां दुर्लभत्वाच्च । के ते परिणामा इत्यत्रोच्यते—

सर्वे एव हि जीवपरिणामा मिथ्यात्वासंयमकषायाख्यास्त्रिप्रकारा भवन्ति । तीव्रो मध्यमो मन्द इति । पुनः कर्मनिमित्ता हि मिथ्यात्वादयः कर्माणि च तीव्रमध्यममन्दानुभवविशिष्टानि । तेन कारणभेदेन कार्याणां परिणामानां विचित्रता । तत्र ये हिंसादयः परिणामा मध्यमास्ते मनुजगतिनिर्वर्तका वालिकाराज्या, दारुणा, गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समाना यथासंख्येन क्रोधमानमायालोभा परिणामाः । जीवघातं कृत्वा हा दुष्कृतं, यथा दुःखं मरणं चास्माकं अप्रियं तथा सर्वजीवानां । अहिंसा शोभना वयं तु असमर्था हिंसादिकं परिहर्तुमिति च परिणामः । मृषा परदोष[1]सूचनं, परगुणानामसहनं वञ्चनं चासज्जनाचारः । साधूनामयोग्य-वचने दुर्व्यापारे च प्रवृत्तानां का नाम साधुतास्माकमिति परिणामः । तथा शस्त्रप्रहारादप्यनर्थं परद्रव्यापहरणं, द्रव्यविनाशो हि सकलकुटुम्बविनाशो । तेनदस्य तस्माद्दुष्टु[2] कृतं परधनहरणमिति परिणामः । परदारादि-सेवनमस्माभिः कृतं तदतीवाशोभनं । यथास्मद्दाराणां परैर्ग्रहणे दुःखमस्माकमिव तद्वत्तेषामिति परिणामः । यथा गङ्गादिमहानदीनां जलपूरप्रवेशेऽपि न तृप्तिः सागरस्यैवं द्रविणेनापि जीवस्य सन्तोषो नास्तीति परि-

---

भाव संसारको तो सभी सुखपूर्वक जान लेते हैं। अतः यहाँ उसका विस्तार नहीं किया। इस प्रकारके अनन्त संसार सागरमें मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है। क्योंकि मनुष्य क्षेत्र अल्प है। तिर्यञ्च तो सब जगत्में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य पर्यायमे जन्म लेनेके कारणभूत जो परिणाम हैं वे दुर्लभ हैं। वे परिणाम कौनसे हैं यह कहते हैं—मिथ्यात्व असंयम और कषाय रूप सभी जीव परिणाम तीन प्रकारके हैं—तीव्र, मध्यम, मन्द, क्योंकि मिथ्यात्व आदि परिणाम कर्मके निमित्त-से होते हैं और कर्म तीव्र मन्द और मध्यम अनुभाग शक्तिसे युक्त होते हैं। अतः कारणके भेदसे उनके कार्य परिणामोंमे भी विचित्रता होती है। उनमेंसे जो हिंसा आदि रूप परिणाम मध्यम होते हैं वे मनुष्य गतिके कारण होते है। ऐसे परिणाम हैं बालूकी लकीरके समान क्रोध, लकडीके समान मान, गोमूत्रिकाके समान माया और कीचड़के रागके समान लोभ। जीवघात करके पछ-ताना, हा बुरा किया। जैसे दुःख और मरण हमे अप्रिय हैं उस तरह सभी जीवोको अप्रिय हैं। अहिंसा उत्तम है किन्तु हमलोग हिंसा आदिको त्यागनेमे असमर्थ हैं। इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं। दूसरेको झूठा दोष लगाना, दूसरेके गुणोको न सहना, ठगना ये दुर्जनोके आचार हैं। साधुओंके अयोग्य वचन और खोटे व्यापारमें लगे हम लोगोमे साधुता कैसे सभव है इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं। दूसरेके द्रव्यका हरण करना शस्त्र प्रहारसे भी बुरा है। द्रव्यका विनाश समस्त कुटुम्बका विनाश है। इसलिए दूसरेका धन हरना खोटा काम है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं। हमने जो परस्त्री आदिका सेवन किया यह बुरा किया। जैसे हमारी स्त्रियोंको दूसरे पकड़ें तो हमे दुःख होता है उसी तरह दूसरोको भी होता है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्य गतिके कारण हैं। जैसे गगा आदि महा नदियोंके द्वारा रात दिन जल आने पर भी सागरको तृप्ति नही होती, इसी तरह धनसे भी जीवोंको सन्तोष नही होता।

---

१. दोषसूचनं-आ० । २ दुष्ट-आ० ।

णामः । एवमादिपरिणामानामसुलभता अनुभवसिद्धैव । इत्थं दुर्लभमनुजत्वं साधुजने परुषमिव वच । घर्मरश्मिमण्डले तम इव, चण्डक्रोधे दयेव, लुब्धे सत्यवचनमिव, मानिनि परगुणस्तवनमिव, वामलोचनासु आर्जवमिव, खलेषूपकारज्ञतेव, आप्ताभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव । तत्र भेद मनुजत्वमिव । 'देसकुलरूवमारोग्गमाउग बुद्धी' देश, कुल, रूप, आरोग्यं, आयुर्बुद्धिश्च । ग्रहणं श्रवणं श्रद्धा च संयमो च्चानां, श्रद्धा संयमश्चेत्येते 'दुल्लहा' दुर्लभा लोके । तत्र देशदुर्लभतोच्यते । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वीपजा सम्मूर्च्छिमा इति चतुःप्रकारा मनुजा । पञ्च भरता, पञ्चैरावता, पञ्च विदेहा इति पञ्चदशकर्मभूमयः । पञ्च हैमवतवर्षा, पञ्च हरिवर्षा, पञ्च देवकुरव, पञ्च उत्तरकुरव, पञ्च रम्यका, पञ्च हैरण्यवतवर्षा त्रिंशद्भोगभूमयः । लवणकालोदधिसमुद्रयोरन्तर्द्वीपा । चक्रिस्कन्धावारप्रस्रवोच्चारभूमयः शुक्रसिंहाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलानि चाङ्गुलासंख्यातभागमात्रशरीराणां सम्मूर्च्छिमानां जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमन्तर्द्वीपं च परिहृत्य कर्मभूमिषूत्पत्तिर्दुर्लभा । कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकपारसीकादिदेशपरिहारेण अङ्गवङ्गमगधादिदेशेषु उत्पत्ति । लब्धेऽपि देशे चाण्डालादिकुलपरिहारेण तपोयोग्ये कुले जातौ । जातिर्मातृवंशः । सुकुलं कथं दुर्लभं इति चेदत्रोच्यते । जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तपो, बलं वा प्राप्य अगर्वितत्वं अन्येऽप्येतैर्गुणैरधिका स्वबुद्ध्यानमन, परानवज्ञाकरण, गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्ति, परेण पृष्टस्यापि अन्यदोषाकथनं, आत्मगुणस्यास्तवनं, इत्येतै परिणामै. उच्चैर्गोत्रं कर्म आपाद्यते तेन कुलेषु पूज्येषु जायते जन्तुस्य पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमति. । किन्त्वेतद्विपरीतेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव बध्नाति अमङ्गलेन पूज्य कुलं दुर्लभं । उक्तं च—

इस प्रकारके परिणामोकी दुर्लभता अनुभवसे सिद्ध है। इस प्रकार मनुष्य जन्म वैसे ही दुर्लभ है जैसे साधुके मुखमे कठोर वचन सूर्यमण्डलमे अन्धकार, प्रचण्ड क्रोधीमे दया, लोभीमे सत्यवचन, मानीमे दूसरेके गुणोका स्तवन, स्त्रीमे सरलता, दुर्जनोमे उपकारको स्वीकृति, आप्ताभासोके मतों मे वस्तु तत्त्वका ज्ञान दुर्लभ है। देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, ग्रहण, श्रवण और सयम ये लोकमे उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं।

उनमेसे देशकी दुर्लभता कहते है—मनुष्य चार प्रकारके हैं—कर्मभूमिया, भोगभूमिया, अन्तर्द्वीपज और सम्मूर्छिम। पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमिया हैं। पाँच हैमवत वर्ष, पाँच हरिवर्ष, पाँच उत्तरकुरु, पाँच देवकुरु, पाँच रम्यक, पाँच हैरण्यवत, ये तीस भोगभूमियाँ हैं। लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रमे अन्तर्द्वीप हैं। चक्रवर्तीकी सेनाके निवासस्थानकी मलमूत्र त्यागनेकी भूमियाँ, वीर्य, नाक, थूक, कान और दाँतका मैल, ये अगुलके असंख्यात भाग शरीरवाले सम्मूर्छन जीवोंके जन्मस्थान हैं। उनमेसे भोगभूमि और अन्तरद्वीपको छोड कर्मभूमियोमे उत्पत्ति दुर्लभ है। कर्मभूमियोंमे वर्बर, चिलातक, पारसीक आदि देशोंको छोड़ अंग, बंग, मगध आदि देशोंमे उत्पत्ति दुर्लभ है। योग्य देश मिलनेपर भी चाण्डाल आदि कुलोंको छोड तपके योग्य कुल जाति मिलना दुर्लभ है। मातृवंशको जाति कहते हैं।

शङ्का—सुकुल कैसे दुर्लभ है?

समाधान—जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप और बलको पाकर अन्य भी इन गुणोंसे अधिक हैं ऐसा अपनी बुद्धिमे मानकर गर्व न करना, दूसरोंकी अवज्ञा न करना, अपनेसे जो गुणोंमे अधिक हो उनसे नम्र व्यवहार करना, दूसरेके पूछनेपर भी किसीके दोष न कहना, अपने गुणोंकी प्रशंसा न करना, इस प्रकारके परिणामोंसे उच्चगोत्रका बन्ध होता है। उससे पूज्य कुलोंमे जन्म होता है। किन्तु यह अज्ञानी जीव उस प्रकारकी प्रवृत्ति नही करता, बल्कि उक्त

जात्या मत्तो यः कुलाद्वापि रूपादैश्वर्याद्वा ज्ञानतो वा बलाद्वा ।
प्राप्यार्थं वा यस्तपो वा परेषु निन्दायुक्तः स्तौति चात्मानमेव ॥ १ ॥
अन्यावज्ञानादरातिक्रमाणां कर्ता मानं योऽतिमात्रं बिभर्ति ।
नीचैर्गोत्रं नाम कर्मैव बध्वा्यात्युग्रं निन्दितं जन्मवासे ॥ २ ॥
यस्तु प्राप्याप्युत्तमत्वं कुलाद्यैरन्यान्बुद्ध्या मन्यमानो विशिष्टान् ।
अन्यान्कांश्चिन्नावजानाति धीरान्नीचैर्वृत्त्या युज्यते चाधिकेषु ॥ ३ ॥
पृष्टोऽप्यन्यैर्नान्यदोषान्ब्रवीति नात्मानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः ।
उच्चैर्गोत्रं नाम कर्मैव धीमान् बध्नातीष्टं जन्मवासे प्रजानाम् ॥ ४ ॥ इति । [ ]

नीरोगतापि दुर्लभा, असकृदसद्वेद्यकर्मबन्धनात् । बन्धाच्छेदात्ताडनान्मारणाद्दाहाद्रोधाच्चासद्वेद्यमेव बध्नाति । तथा चान्यत्रापि—

अन्येषां यो दुःखमज्ञोऽनुकम्पां त्यक्त्वा तीव्रं तीव्रसंक्लेशयुक्तः ।
बन्धच्छेदैस्ताडनैर्मारणैश्च दाहै रोधैश्चापि नित्यं करोति ॥
सौख्यं काङ्क्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सदैव ।
पश्चात्तापं तापिना यः प्रयाति बध्नात्येषोऽसातवेद्यं सदैवम् ॥ इति । [ ]

रोगाभिभवान्नष्टबुद्धिचेष्टः कथमिव हितोद्योगं कुर्यात् ।

तथा चाभाणि—

प्राप्नोत्युपात्ताविह जीवतोऽपि महाभय रोगमहाशनिभ्यः ।
यथाशनिः सन्निपतत्यबुद्धो रोगस्तथागत्य निहन्ति देहम् ॥ १ ॥

परिणामोंसे विपरीत परिणाम करके बार-बार नीचगोत्रका बन्ध करता है इससे पूज्य कुल दुर्लभ है। कहा है—

जो जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान या बलका मद करता है, धन अथवा तपको प्राप्त करके दूसरोकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अन्यकी अवज्ञा, अनादर और तिरस्कार करके खूब घमण्ड करता है वह बचपनमे ही नीचगोत्र नामक कर्मका बन्ध करके नीचकुलमे जन्म लेता है। और जो उत्तमकुल आदि प्राप्त करके दूसरोको अपनेसे विशिष्ट मानता है, किसीकी भी अवज्ञा नही करता। अपनेसे अधिकोमे नम्रव्यवहार करता है। पूछनेपर भी दूसरोंके दोष नही कहता और अपनी प्रशंसा नहीं करता। वह मानरहित व्यक्ति उच्चगोत्रका बन्ध करता है जो जनताको इष्ट है।

नीरोगता भी दुर्लभ है क्योकि जीव निरन्तर असातावेदनीयकर्मका बन्ध करता है। बन्धन, छेदन, ताडन, मारण, दाह, और रोगसे असातावेदनीय ही कर्म बँधता है। कहा है—जो अज्ञानी तीव्र संक्लेशसे युक्त हो, दया त्याग दूसरोको बन्धन, छेदन, ताडन, मारण, दाह और रोधसे नित्य तीव्र दुःख देता है, जो दुष्टचित्त नीच पुरुष अपनेको सुख चाहता हुआ सदैव नीचकर्म करता है और सताये हुएसे सताये जानेपर पछताता है वह सदैव असातवेदनीयको बाँधता है।

रोगसे ग्रस्त होनेपर उसकी बुद्धि और चेष्टा नष्ट हो जाती है तब वह कैसे अपने हितका उद्योग कर सकता है? कहा है—

इस लोकमे जीवन प्राप्त करके भी वह रोगरूपी महान् वज्रपातसे महाभयग्रस्त रहता

इति । तथा चान्ये—[1]षोडशवर्षिका स्त्री विंशतिवार्षिकः पुमान् तयो परस्परं प्रेमपूर्वहावभावविभ्रमकटाक्षशृङ्गारकिलकिंचितादिभावपूर्वकः संयोग एव स्वर्ग नान्यः ।

स्त्रीमुद्रा मकरध्वजस्य जयिनी सर्वार्थसंपत्करी
एनां ये प्रविहाय यान्ति कुधियः स्वर्गापवर्गेच्छया ।
तद्दोषैर्विनिहत्य ते द्रुततरं नग्नीकृता मुण्डिता
केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥ [शृं० श० पृ० ४५]

तथान्यैरभिहित—जलबुद्बुदवज्जीवा, परलोकिनोऽभावात्परलोकाभाव इति च । सत्यामपि बुद्धौ समीचीनज्ञानलोचनतया, सकलप्राणिभृद्गोचरकृपापरिष्वक्तचेतसा लाभसत्कारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरिभ्रमणप्रभवयातनासहस्रमवलोक्य प्राणभृतां परमामनुकम्पामुपगतेन हा जनो विचेतन मिथ्यादर्शनाद्यशुभपरिणामकदम्बकमिदमस्माभिरशुभगतिनिर्वर्तनप्रवणमवहातव्यमित्यजानानस्तत्रैवासकृत्प्रवर्तमानो दुःखरत्नाकरमपारमुपविशत्यशरणो वराक इति कृतसकल्पेन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभः । कुत ? दर्शनमोहोदयाज्ज्ञानावरणोदयाच्च न यतिगुणान्वेत्ति श्रद्धत्ते वा जन । तत एव न ढौकते यतीन्स वा सुगुणमविदुषस्तदुपसर्पणमुपपद्यते । अपि च चारित्रमोहोदयादसंयतेष्वतिरतिरा[2]पतिनस्ततोऽसौ हिंसादिक स्वय करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिषु

मोक्ष है। यह सब मिथ्या और व्यर्थकी मन्त्रणा है। जो काम भोग प्राप्त है उन्हे यथेष्ट सेवन करना चाहिए। सामने वर्तमानको छोड़ दूरवर्तीकी अभिलाषा क्यों ?।'

तथा अन्य भी कहते हैं—सोलह वर्षकी स्त्री और बीस वर्षके पुरुषका परस्परमें प्रेमपूर्वक हाव भाव, विलास, कटाक्ष, शृङ्गारादि भावपूर्वक संयोग ही स्वर्ग है। इसके सिवाय कोई दूसरा स्वर्ग नही है। कहा है—'कामदेवको जीतनेवाली और समस्त अर्थ सम्पदाको करने वाली स्त्री मुद्रा है। जो कुबुद्धि स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे इसे छोड़कर जाते हैं वे उसके दोषोंसे सताये जाकर जल्द ही सिर मुण्डाकर नग्न हो जाते हैं। कुछ लाल वस्त्र धारण करते हैं और कुछ जटायें बढाते हैं। कुछ हाथमें मनुष्यकी खोपडी लेकर कापालिक हो जाते हैं।' तथा कुछ दूसरोने भी कहा है—जीव जलके बुलबुलेके समान हैं और जब कोई परलोकी आत्मा नही है तो परलोक भी नही है।

यतिजनोंका चित्त समस्त प्राणियों पर कृपा भावसे युक्त होता है, उन्हे लाभ सत्कार पुरस्कार आदिकी अपेक्षा नही होती। चार गतियोंमे परिभ्रमणसे होनेवाली हजारो यातनाओंको देखकर प्राणियोंमें अत्यन्त दयालु हो उन्होने सकल्प किया—'हा, यह अज्ञानी जन—अशुभगतिमे ले जानेमे समर्थ यह मिथ्यादर्शन आदि अशुभ परिणामोंका समूह हमे त्यागना चाहिए' ऐसा नही जानते और बार-बार उसीमें प्रवृत्ति करते हुए बेचारे अशरण होकर दुःखके अपार समुद्रमे प्रवेश करते हैं।' उनमे बुद्धि होते हुए भी यतिजनके साथ उनका सम्बन्ध नही हो पाता, क्योंकि दर्शनमोहके उदय और ज्ञानावरणके उदयसे मनुष्य यतिजनोंके गुण न तो जानता है और न उनपर श्रद्धा करता है। इसीसे न तो यतियोंकी ओर देखता है और उनके गुणोको न जाननेसे उनके पास नही जाता। तथा चारित्र मोहका उदय होनेसे असंयमी जनोंके प्रति उसका अत्यधिक प्रेम होता है इससे वह प्राणियोंकी स्वयं हिंसा करता है, दूसरोंसे कराता है और कोई स्वय हिंसा करता है तो

---

१. तथा चान्येरत आरभ्य स्त्रीमुद्रा इत्यादि श्लोक पर्यन्तं नास्ति आ० । २. सयतेष्वतितरा-आ० मु० ।

वर्तमानेष्वेव रतिं बध्नाति न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु । विना रतिं कथं तैः संसर्गस्तत्सेवा वा । सा हि—

संसारोच्छेदकरी प्रशमकरी ज्ञानवृद्धिवृद्धिकरी ।
कीर्तिकरी पुण्यकरी संसेवा साधुवर्गस्य ॥
दर्शनमात्रमपि सतो संसारोच्छेदने भवति बीजं ।
किं पुनरधिकारकृता संसेवा साधुवर्गस्य ॥
तत्सेवा यदि न स्यान्न स्याद् ज्ञानागमो विना ज्ञानात् ।
हितकर्मप्रतिपत्तिर्न स्यान्न स्यात्ततो मोक्षः ॥
साधुजनसेवनं यदि पारम्पर्येण मोक्षमानयति ।
हानिश्रमौ च नृणां को साधूनसेवमानानाम् ॥
श्रेयः कथं न यतयो विबुधा श्रेयोऽर्थिना मनुष्येण ।
अप्रार्थिता हि ये श्रेयो मुधार्थिनेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥
इति सततमरोहमानमोहार्तिविहरल्लोकहितेप्सिना नरेण ।
जगत्त्रयविभूतिपूज्या यतिवृषभा विनयेन सेवितव्याः ॥

यदृच्छया जातेऽपि यतिजनसमागमे न गुणः न चेद्धितं शृणुयात् । यथा न वर्षस्य पात एव गुणो नरस्य अपि तु भुवि बीजवाप । तद्वच्छ्रवण गुणो यतिसमीपगमनेन । तदेवं श्रवणं दुर्लभं कथयति । गम्भीरमधुराण्यपि निशम्यति ।

धर्मोपदेशानां वचांसि यदि कश्चित् शृणोति, न रोचते, या तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशनं मोहोदयात् । न जानाति

उसकी अनुमोदना करता है। जो हिंसा आदिमें लगे रहते हैं उन्हींसे प्रेम करता है। जो हिंसासे बचनेमें तत्पर हैं उनमें उसकी प्रीति नहीं होती। बिना प्रीति हुए कैसे उनके साथ सम्बन्ध हो सकता है अथवा कैसे उनकी सेवा कर सकता है?

ऐसे यतिजनोंकी सेवा संसारका विनाश करती है, शान्ति प्रदान करती है, ज्ञान और बुद्धिको बढ़ाती है तथा यश पुण्यको लाती है।

सज्जनोंका दर्शनमात्र भी संसारके विनाश करनेमें बीज होता है फिर साधुवर्गकी अधिकार पूर्वक की गई उत्कृष्ट सेवा का तो कहना ही क्या है? यदि उनकी सेवा न की जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञानके बिना हितकारी कर्मोंका ज्ञान नहीं होता और उनके ज्ञान बिना मोक्ष नहीं होता। यदि साधुजनोंकी सेवा परम्परासे मोक्ष लाती है तो साधुओंकी सेवा करनेवाले मनुष्योंको हानि और श्रम कैसे सम्भव है? कल्याणका इच्छुक ज्ञानी मनुष्य यतियोंका आदर क्यों न करे, जो बिना याचना किये भी आश्रय लेनेवालोंको अक्षय कल्याण प्रदान करते हैं। इसलिए इस लोक और परलोकमें हित चाहने वाले मनुष्यको निरन्तर मान और मोहको त्यागकर [illegible] लोककी विभूतिसे पूज्य श्रेष्ठ यतियोंकी विनयपूर्वक सेवा करनी चाहिए।

अकस्मात् यतिजनका समागम होनेपर भी यदि उनसे हितकी बात न सुने तो कोई लाभ नहीं है। जैसे वर्षाके होनेसे ही मनुष्यका लाभ नहीं है किन्तु जमीनमें बीज बोने पर लाभ है। इसी प्रकार यतिजनका समागम होनेसे [illegible] उनसे हितकी बात सुननेसे है। इस प्रकार आचार्य उपदेश सुननेको दुर्लभ बतलाते हैं। [illegible] भी होता है। धर्मोपदेश [illegible] वचन

१ [illegible]

वा मतिमान्द्यात् एव तत्र नानुरागोऽस्य । अन्तरेण चानुरागं कथं श्रोतुमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

'साधूनां शिवमार्गदेशकानां संप्राप्तो निलयमपि प्रमादवान् ।
आस्ते यो जनवचनानि तत्र शृण्वन् सरसो हृदमपि पङ्क एव मग्नः ॥' इति [ ]

कथंचित् श्रवणे ग्रहणं विज्ञानं चाभिहितस्यार्थस्य दुष्करं । सौक्ष्म्याज्जीवादिवस्तुतत्त्वस्य कदाचिदप्यश्रुतत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावाच्च । ज्ञाते धर्मतत्त्वे तत्र श्रद्धा दुर्लभा । योऽयं जिनप्रणीतो धर्म अहिंसालक्षणः, सत्याधिष्ठानः, परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मकः, नवविधब्रह्मचर्यगुप्तः, परित्यक्तममत्वमूलः, विनयमूलः, समीचीनज्ञानपूर्वकः, क्षमामार्दवार्जवसंतोषगुणः, नरकवर्तन्यर्गलभूतः, तिर्यग्गतिलताकुठारः, कठोराशनिर्दुःखाचलनिपातने, मोहमहामहीरुहोत्पाटनपटुमातरिश्वा, जराज्वलनशिखाप्रशमनमुखरो घनाघनः प्रावृषेण्यः, मरणहरिणविनाशनप्रचण्डपुण्डरीकः, क्रूररोगभोगिनां विनतासुतः, सम्पद्गङ्गायाः हिमवान्, स गम्भीरशोकपङ्कसेतुः, पिता सुभगतायाः, ऐश्वर्यरत्नानामाकरः, कुयोनिवनविप्रनष्टानां पृथुलशिवपुरं, इति श्रद्धानं अतिदुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । उपशमात् क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शनमोहस्य जातेऽपि श्रद्धाने संयमो दुर्लभतरः प्रत्याख्यानावरणोदयात् । उक्तं च—

थोड़ा बहुत सुनता है किन्तु रुचिसे नहीं। अथवा मोहके उदयसे उनके धर्मके महत्त्वका प्रकाशन उसे नहीं रुचता। अथवा बुद्धिकी मन्दतामें समझता नहीं है। इसीसे उसका उस उपदेशमें अनुराग नहीं होता। और अनुरागके बिना सुननेका उत्साह कैसे हो सकता है। कहा है—'जो मोक्षमार्गके उपदेशक साधुओंके निवास स्थान पर जाकर भी प्रमादवश वहाँ लोगोंकी बातचीत सुनता हुआ बैठता है वह तालाब पर जाकर भी कीचड़में ही फँस जाता है।

उपदेश सुनकर भी उसमें कहे गये अर्थका ग्रहण, उसका ज्ञान कठिन है; क्योंकि एक तो जीवादि वस्तु तत्त्व सूक्ष्म है, दूसरे पहले कभी सुना नहीं, तीसरे श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष नहीं है। धर्मतत्त्वको जानने पर भी उसमें श्रद्धा दुर्लभ है। यह यह जिन भगवानके द्वारा कहा गया धर्म अहिंसा रूप है, सत्य उसका आधार है, उसमें परद्रव्यका अपहरण त्यागना होता है, नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यसे वह रक्षित है, उसमें समस्त ममत्वभाव छोड़ना होता है। विनय उसका मूल है। समीचीन ज्ञानपूर्वक यह धर्म होता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष उसके गुण हैं। नरकके मार्गके लिए अर्गलाकी साँकल रूप है। तिर्यञ्चगतिरूपी बेलके लिए कुठार है। दुःखरूप पर्वतोंके लिए कठोर वज्र है। मोहरूपी महावृक्षको उखाड़नेमें चतुर प्रचण्ड वायु है। जरारूपी आगकी लपटोंको शान्त करनेके लिए वर्षाकालीन मेघ है। मृत्युरूपी हिरणका वध करनेके लिए प्रचण्ड बाघ है। क्रूर रोगरूपी सर्पोंके लिए गरुड़ है। सम्पत्तिरूपी गंगाकी उत्पत्तिके लिए हिमवान पर्वत है। गम्भीर शोक रूपी कीचड़से पार उतरनेके लिए पुल है। सौभाग्यका पिता है। ऐश्वर्य रूपी रत्नोंकी खान है, कुयोनिरूपी वनमें भटकते हुए लोगोंके लिए विशाल मोक्ष नगर है।' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शनमोहका उदय होनेसे अति दुर्लभ है। दर्शनमोहका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे श्रद्धान होनेपर भी प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेसे संयम उससे भी अधिक दुर्लभ है। कहा है—

---

१. गुणभूषण आ० मु०।

दुर्मेयो भवति नरेण तत्त्वधर्मो ज्ञात्वापि प्रयतनमत्र कष्टमेव ।
तज्ज्ञात्वा धृतिमुपलभ्य दृष्टतत्त्वः, सद्धर्मे क्षणमपि मा कृथाः प्रमादम् ॥
भूत्वाय सुकरतरोऽपि पापकार्यात् धर्मोऽभूत्क्षणमपि दुष्करो मनुष्ये ।
आश्चर्यं किमपि न चात्र सन्ति मूढाः स्यादेतद् ध्रुवमिह कर्मणां गुरुत्वम् ॥
काकिण्यामपि गणयन्गुणं महान्तं सद्धेतो श्रममतुलं करोति यत्नात् ।
न त्वत्र सुरमनुजर्द्धिमोक्षमूले सद्धर्मे हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥
यत्नात्ते भृशमहिते करोति चेष्टामालस्यं परमहिते च याति धर्मे ।
पुण तद्यदि न तथा भवेत्पृथिव्यां संसारं ननु पुरुषः कथं लभेत ॥ इति । [　　　　]

एवमपि 'परंपरया' दुर्लभपरम्परया । 'लद्धूण वि' लब्ध्वापि । 'संयमं' संजमं । 'खवगो' क्षपक । किं न 'लभेज्ज सुदिं' न लभते श्रुतिं । 'संवेगकरीं' संसारभयजननी । 'अबहुस्सुदसकासे' अबहुश्रुतस्य सूरेः पार्श्वे । तस्माद्बहुश्रुतानामाचार्याणामाश्रयणीय इति प्रस्तुतेन सम्बन्धः ॥

'सम्मं सुदिमलभंतो' समीचीनां श्रुतिमलभमानः । कदा ? मरणकाले । 'अबहुस्सुदसयासे' अबहुश्रुतस्य पार्श्वे । 'चिरम्हि' चिरं कालं । 'सुत्तिमुवगमित्तावि' सुत्तिशब्देनात्र प्राणेन्द्रियविषयासंयमत्यागः परिगृह्यते । तेनायमर्थः —विरतसंयमोऽपीति । 'परिवडदि' प्रच्यवते । कुत ? संयमात् । संयमहानिकथनेन चारित्राराधनाया अभावः आख्यायते । संयमात्प्रच्यवते कथमिति चेत्—मनोज्ञानाममनोज्ञानां च विषयाणां सर्वत्र सदा संनिधानात् [illegible] कर्मगौरवात् रागद्वेषमोहपरिणामाः प्रादुर्भवन्तीति ते दुर्निवारा इति वदन्ति ।

मनुष्योंके द्वारा धर्मका तत्त्व जानना कठिन है । जानकर भी उसमें प्रयत्नशीलता कष्टकर है । उस धर्मको जानकर, तत्त्व दृष्टिसे सम्पन्न मनुष्यो धैर्य धारण करके समीचीन धर्मके विषयमें एक क्षणके लिए भी प्रमाद मत करो । पापकार्यमें अति सुकर होने पर भी यह धर्म मनुष्योंको क्षणभरके लिए दुष्कर होता है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । यह निश्चय ही कर्मोंकी गुरुताका फल है । यह मनुष्य एक कौड़ीमें भी महान् गुण मानकर उसके लिए अतुल श्रम करता है । किन्तु मनुष्य देव और मनुष्योंकी ऋद्धिके मूल समीचीन धर्ममें अपने मनको भी स्थिर नहीं करता । अत्यन्त अहितकारी पापमें तो चेष्टा करता है और परमहितकारी धर्ममें आलस्य करता है । यह ठीक ही है । यदि ऐसा न होता तो पुरुष इस पृथिवी पर संसार कैसे पाता, केवल मोक्ष प्राप्त करता ।

इस प्रकार परम्परासे दुर्लभ संयमको धारण करके भी क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पास संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला उपदेश नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिए शास्त्रज्ञ आचार्यका आश्रय [illegible] सम्बन्ध लगाना चाहिए । अल्पज्ञानी आचार्यके पास समीचीन उपदेशको न पाकर चिरकाल तक मुनि होकर भी—यहाँ मुनिशब्दसे प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमें असंयमका त्याग करनेवाला ग्रहण किया है । अतः इसका अर्थ होता है—संयमको धारण करके भी संयमसे गिर जाता है । संयमकी हानि कहनेसे उसके चारित्र आराधनाका अभाव कहा है । संयमसे कैसे गिर जाता है ? यह कहते हैं—

मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंके सदा सर्वत्र समीप रहनेसे तथा अभ्यन्तर [illegible] रागद्वेष और मोहरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं और वे दुर्निवार होते

'दक्कं वंसी छेत्तु' अत्यवन वशीत्युच्यते गाढावलग्नता हि तत्र समवति शक्यते वंशी च्छेत्तु । 'तत्तो' गुल्मात् 'उक्कट्टिदु' अवकृष्टु । 'पुणो' पश्चात् । 'दुक्खं' दुष्कर । 'इय' एव । 'संजदस्स वि' सयतस्यापि मन । 'विसएसु' रूपादिविषय । 'उक्कड्ढिदु' अपकृष्टु । 'दुक्खं' दुष्कर । रागद्वेषेभ्यो व्यावर्तयितु अशक्य । एतदुक्त भवति—रागद्वेषविजये यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसल्लेखनस्य क्षुदादिपरीषहैरुपद्रुत य मन्दवीर्यस्य न श्रुतज्ञानप्रणिधानन्तस्यान्तरेण रागद्वेषयो प्रवृत्तेर्न चारित्राधकता स्यात् । बहुश्रुत पुन यथास्य रागद्वेषौ न जायेन तथोपदिशति भोगनिर्वेजनी शरीरनिर्वेजनी वा कथामित्य—

एकान्तदु:खं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्षु देवेषु च मानुषेषु ।
क्वचित्क्वाचिन्नु कथंचिदेव सौख्यस्य संज्ञात्र शरीरिणां स्यात् ॥ १ ॥
एकेन जन्मस्वटताऽप्रमेयं शरीरिणा दुःखमवाप्यते यत् ।
अनन्तभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखम् सर्वशरीरसस्यं ॥ २ ॥
तत्रैकजीवः सुखभागमेकं भजेत्कियन्तं जननार्णवेऽस्मिन् ।
चचूर्यमाणः परितो वराको वनेऽतिभीतो हरिणो यथैकः ॥ ३ ॥
भवेष्वनन्तेषु सुखे तथापि शरीरिणैकेन समापनीये ।
एकप्रसूतौ यदवाप्यते तत्कियद्भवेत्तस्य विमृश्यमाणे ॥ ४ ॥
अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु तावत्तद्दुःखराशौ पतितं तदीयम् ।
स्यात्तद्रसं स्वादुरसं यथाम्बु प्राप्याम्बुदानां लवणार्णवाम्बु ॥ ५ ॥
यच्चाप्यत्र: सौख्यमितीप्यतेऽत्र पूर्वोत्थदुःखप्रतिकार एष: ।
विना हि दुःखारम्भमप्रसूतात् न लभ्यते किंचन सौख्यमत्र ॥ ६ ॥

है। जैसे बाँसका झुण्ड गाढरूपसे बृहद् रहता है उसमेंसे छोटा बाँस तो खींचा जा सकता है। किन्तु पीछे उसको अलग करना बहुत कठिन है। उसी तरह संयमीका भी मन रूपादिविषयोंमें फँसनेपर निकालना कठिन होता है अर्थात् रागद्वेषसे हटाना अशक्य होता है। कहनेका आशय यह है कि यद्यपि रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है फिर भी शरीरकी सल्लेखना करनेपर भूख आदिकी परीषहसे पीडित और मन्दशक्ति उस क्षपकके श्रुतज्ञानकी ओर उपयोग नहीं होता। और उसके बिना रागद्वेषमें प्रवृत्ति होनेसे चारित्रकी आराधना नहीं होती। किन्तु बहुश्रुत आचार्य उसको रागद्वेष पैदा न हो इस प्रकारको भोग और शरीरमें वैराग्य करानेवाली कथा इस प्रकार कहता है—

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंमें सर्वथा दुःख ही है। उनमें प्राणियोंको सुखकी संज्ञा कभी, कहीं किञ्चित् ही होती है। एक प्राणी नाना जन्मोंमें भ्रमण करते हुए जो अपरिमित दुःख भोगता है उसका अनन्तभाग भी सब सुख सब शरीरोंमें मिलकर भी नहीं होता। तब इस जन्मरूपी समुद्रमें एक जीव उस सुखका कितना भाग भोगता है? जैसे वनमें एक अत्यन्त डरा हुआ बेचारा हरिण सब ओरसे त्रस्त हुआ रहता है वैसी ही दशा जीवकी संसारमें है। अनन्तभवोंमें एक प्राणी के द्वारा प्राप्त सुखकी जब यह स्थिति है तो उसका विचार करनेपर एक जन्ममें जो सुख प्राप्त होता है वह कितना होगा। अत्यन्त अल्प भी यह सुख दुःखके समुद्रमें गिरकर दुःखरूप ही हो जाता है। जैसे मीठा भी मेघोंका पानी लवण समुद्रके जलमें पड़कर खारा हो जाता है। तथा उसमें जो सुखका आभास होता है वह सुख नहीं है किन्तु पहले उत्पन्न हुए दुःखका प्रतीकार है।

---

१. स्य श्रुतज्ञानप्रणिधानात्त–आ०।

प्रपीयते ह्यम्बु तृषाप्रशान्त्यै क्षुन्नाशनायाशनमश्यते च ।
वेश्माम्बुवातातपवारणाय गुह्याङ्गसंछादनमम्बरं च ॥ ७ ॥
शीताद्यनुप्रावरणं च दृष्ट शय्या च निद्राश्रमनोदनाय ।
यानानि मार्गश्रमवारणार्थं स्नानं श्रमस्वेदमलापनुत्यै ॥ ८ ॥
स्थानश्रमस्यौपशमासनं च दुर्गन्धनाशाय च गन्धसेवा ।
वैरूप्यनाशाय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिबाधनाय ॥ ९ ॥
तथेह सर्वं परिचिन्त्यमानं भोगाभिधानं सुरमानुषाणाम् ।
दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भैषज्यसेवेव रुगर्दितस्य ॥१०॥
पित्तप्रकोपेन विदह्यमाने द्रव्याणि शीतानि निषेवमाणः ।
मन्येत भोगा इति तानि योऽज्ञः कुर्वीत सोऽन्नादिषु भोगसंज्ञाः ॥११॥
यतश्च नैकान्तसुखप्रदानि द्रव्याणि तोयप्रभृतीनि लोके ।
अतश्च दुःखप्रतिकारबुद्धि तेषु प्रकुर्वीत न भोगसंज्ञाम् ॥१२॥
क्षुधाभिभूतस्य हि यत्सुखाय तदेव तृप्तस्य विषायतेऽन्नम् ।
उष्णार्दितः काङ्क्षति यानि चेह तान्येव विद्वेषकराणि शीते ॥१३॥

किं च स्वचक्रविक्रमाक्रान्तदेवमानवविद्याधरचक्राणां निकटोपनिविष्टाक्षयनवनिधीनां, समधिगतचतुर्द-
ना, चक्रलाञ्छनानां, दशाङ्गभोगानुभवचतुराणां तथा सुधाशनानामप्यनेकसमुद्रोपमजीविनां, अप्रच्यवप्रत्य-
नानां, सहजस्वेच्छानुसारिदिव्याभरणमाल्यवसनगंधसौभाग्यस्कन्धेन मनोनयनवल्लभसप्रसूनोज्ज्वलेन

हुए दुःखके बिना उसमें किञ्चित् भी सुख प्रतीत नहीं हो सकता। प्यासकी शान्तिके लिए
पिया जाता है और भूखकी शान्तिके भोजन किया जाता है। पानी, हवा और घाममें
के लिए मकान होता है और गुह्यभागको ढकनेके लिए वस्त्र होता है। ठंडसे बचनेके लिए
ा होता है। निद्रा तथा थकान दूर करनेके लिए शय्या होती है। मार्गके श्रमसे बचनेके
सवारी होती है। थकान, पसीना और मल दूर करनेके लिए स्नान होता है। बैठनेके
ा इलाज आसन है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए सुगन्धका सेवन होता है। विरूपताको
करनेके लिए आभूषण पहने जाते हैं। अरतिको दूर करनेके लिए कलाएँ हैं। इस प्रकार
ार करने पर देव और मनुष्योंके जो ये भोग हैं वे सब दुःखको दूर करनेमें ही निमित्त
जैसे रोगसे पीड़ित रोगी औषधिका सेवन करता है। पित्तके प्रकोपसे शरीरके जलने पर
शीत पदार्थोंके सेवनको भोग मानता है वही अज्ञानी अन्न आदिको भोग नामसे कहता
किन्तु इस लोकमें जल आदि पदार्थ एकान्तसे सुख देनेवाले नहीं हैं अतः उनको दुःखका
तकार करनेवाला ही कहना चाहिए, भोग नामसे नहीं कहना चाहिए। जो अन्न भूखसे
उसको सुख देता है वही अन्न पेटभरे व्यक्तिको विषके समान लगता है। गर्मीसे पीड़ित मनुष्य
ल पदार्थोंकी इच्छा करता है, शीतसे पीड़ित उन्हींसे द्वेष करता है।

तथा अपने चक्ररत्नसे देव, मनुष्य और विद्याधरोंके समूहको वशमें करनेवाले, अक्षय नौ
निधियोंके स्वामी और चौदह रत्नोंसे सम्पन्न चक्रवर्तियों को, जो दस प्रकारके भोगोंको भोगनेमें
र हैं, भोगोंसे तृप्ति नहीं होती। तथा अनेक सागरोंकी आयुवाले अमृतभोजी देवोंको भी
ोगोंसे तृप्ति नहीं होती जो देवाङ्गनारूपी लताओंके वनसे घिरे रहते हैं। ये देवाङ्गना लताएँ भी
ी हैं? जो जन्मजात अपने इच्छानुसार दिव्य आभरण, माला, वस्त्र गन्धरूपी सौभाग्य

विलासपल्लवेन, सौकुमार्याङ्कुरेण दिगङ्गनामुखवासायमानसौरभेण विद्रुमाधरपल्लवेन, निबिडोन्नतवृत्तस्तन
मनोभववाहिनिःश्वासमारुतान्दोलितेन, ललितभुजशाखाविस्तारेण, स्फुरत्पर्णजघनस्थलवेदिकापरिवृतकामजल-
सविलासजघनसरोविभूषणेन नूपुररवभ्रमरझङ्कारेण देवाङ्गनालतावनेन परिवृतानामपि परैर्भोगै
र्न पुनरितरमानवानां। अपि च शरीरमदनदेवोदयानलजनितवेदनाविदाहाना नैवौषधं वामलोचनासङ्गम
प्रवर्धनकारणात्। रूपयौवनविलासचातुर्यसौभाग्यादीनां प्रकर्षोत्कर्षेणावस्थितत्वादङ्गनानां। तास्ता
तासु उत्कण्ठानुरागमुत्पद्यमाना विदाहमावहन्ति दुर्वहं। तास्त्यक्त्वा चेत् यान्ति मृति वा ढौकन्ते, परै
र्वियोगितां यान्ति। स्वयं वा दुर्निमोचनवनजालपाशबद्धाङ्गो विहाय तानि विवृतमुखो, निर्निमेष
निशाल्लोचनाभ्यां रुदन्तोऽपि शोचना जहाति। तासां तनवोऽपि स्फटिकमालेवोपाश्रितगुणग्राहिका। तासां
रागा सन्ध्याभ्ररागवदस्थिरा एव दुर्लभाश्च। स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादीनि बलवन्तोऽपहरन्ति बलिन इति मह
न च तैर्नार्पयन्ति। तदर्थमार्यं षट्कर्मसु प्रवर्तितव्यं। तानि च संदिग्धफलानि बहुतरायासमूलानि हिं
सावद्यक्रियारम्भाणि, दुर्गतिवर्धनानि इत्येवमादिकथा भोगनिर्वेदजननी। शरीरं पुनरिदमशुचिनिधानं, आ
महान् भारः, न चास्मिन् किञ्चित्सारमस्ति। सन्निहितानेकापाय व्याधिसर्पाणां क्षेत्रं, जराडाकिनीगृहीत

स्कन्धवाली हैं, मन और नेत्रोंको प्रिय रूप सौन्दर्यरूपी पुष्पोंसे शोभित हैं, विलासरूपी प
वेष्टित हैं, सौकुमार्य उनका अंकुर है, दिशारूपी अंगनाओंके मुखकी सुवास जैसी उनकी सु
है, मूँगेके समान उनके ओष्ठरूपी पल्लव हैं, घने ऊँचे गोल स्तनरूपी फल हैं, काम
रूपी दक्षिण वायुकी प्रेरणासे वे हिलती हैं, ललित भुजारूपी उनका शाखाविस्तार है, चमक
सोनेकी करधनीरूपी वेदिकासे घिरे और कामजलसे भरे विशाल जघनरूपी सरोवरसे भूषित
बजते हुए नूपुररूपी भौंरोंकी गुंजारसे गुंजित हैं। ऐसी देवांगनाओंसे घिरे हुए देवोंकी भो
भोगोंसे तृप्ति नहीं होती तब अन्य मनुष्योंका तो कहना ही क्या है? तथा जिनका चित्त तीव्र
पुरुषवेदके उदयरूपी अग्निसे जल रहा है, स्त्रियोंका संगम उनकी औषधी नहीं है। उससे
उनका सन्ताप और भी अधिक बढ़ेगा; क्योंकि स्त्रियोंमें रूप, यौवन, विलास, चतुरता, सौभ
आदि क्रमसे बढ़ती पाया जाता है। उन-उन स्त्रियोंको देखकर निरन्तर उत्कण्ठा उत्पन्न हो
ऐसी दाह होती है जिसको सहना कठिन होता है। वे स्त्रियाँ पतिको छोड़कर चली जाती हैं,
मर जाती हैं अथवा दूसरे बलवान् पुरुष उन्हें हर लेते हैं। अथवा जिससे छूटना किसी भी
सम्भव नहीं है उस मृत्युके फन्देमें फँसकर मनुष्य, मुँह खोले, आँखें पथराये हुए स्वयं, अत्य
रुदन करनेसे म्लान आँख हुई स्त्रीको स्वयं छोड़कर चला जाता है। उन स्त्रियोंके शरीर
स्फटिककी मालाकी तरह जो पासमें आता है उसीके गुणोंको ग्रहण करनेवाले होते हैं। जैसे सन्ध्या
कालीन मेघोंका रंग अस्थिर होता है वैसे ही स्त्रियोंका अनुराग भी अस्थिर होता है। तथा
दुर्लभ होती हैं क्योंकि स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदिको बलवान् हर लेते हैं और देते नहीं।
इस प्रकार बड़ा भय रहता है। स्त्रीकी प्राप्तिके लिए छह कर्मोंको करना पड़ता है। उन
फल सन्दिग्ध होता है। उनके लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। तथा वे षट्कर्म हिंसा आ
सावद्य क्रियाके अधीन होते हैं उनमें हिंसा आदि होती है। अतः वे दुर्गतिको बढ़ाते हैं। इत्य
कथा भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न करती है। तथा यह शरीर अपवित्रताका स्थान है, आत्माके ि
बड़ा भाररूप है। इसमें कुछ भी सार नहीं है इसके साथ अनेक संकट लगे हैं। व्याधिरूपी घा

च मान्ये कुले जातो विशालकीर्ति गुणवानपि धनविभवो नीचं कर्म, पुरो धावनं, प्रेषणकरण, उच्छिष्ट भोजनं वा करोति शरीरपोषणार्थ।

सारमन्तरतोऽस्य न बहिर्न च मध्ये शरीरेऽस्ति येन मनसा परिगृह्यमाणं।
तस्मिन्ननगारजनवांछितकाममात्रे कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबुद्धसारः॥
वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च रोगैः सदा दुरितजैः प्रविमथ्यमानः।
देहोऽप्ययं मतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति यदतोऽत्र कुरुध्व धर्मं॥
संघातजं शिथिलकास्थि तनुप्रगाढ स्नायुप्रबद्धमशुभं प्रततं शिराभिः।
लिप्तं च मांसरुधिरोरुकर्दमेन रोगावृतं स्पृहति को हि शरीरगेहं॥ [ ]
इत्येवमादिका शरीरनिर्वेजनी।

गीदत्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुगा।
ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती ॥४४९॥

'गीदत्थपादमूले' गृहीतार्थस्य बहुश्रुतस्य पादमूले। 'होंति बहुगा गुणा' 'गीदत्थो पुण खवगस्स' इत्येवमादिसूत्रपञ्चकनिर्दिष्टा। 'ण य होइ संकिलेसो' नैव भवति संक्लेशः 'ण चावि उप्पज्जइ विवत्ती' न चोत्पद्यते विपद्रत्नत्रयस्य। तस्मादाधारवानाचार्य उपाश्रयणीय इत्युपसंहारः इति आधारत्व ॥४४९॥

व्यवहारवत्त्वनिरूपणायोत्तरगाथा—

लिए यह खेत है। जरारूपी डाकिनीके लिए श्मसान है। मान्यकुलमें जन्म लेकर विशाल यश अर्जन करके गुणी मनुष्य भी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर शरीर-पोषणके लिए नीचकर्म करता है, आगे-आगे दौडता है, मालिकका सन्देश ले जाता है उसका जूठा भोजन करता है। कहा है—

उस शरीरके अन्दर, बाहर और मध्यमें कोई सार नहीं है जिससे मन उसे स्वीकार करे। अनगारजनोंके द्वारा पसन्द किये जानेवाला काम ही जिसमें सार है उस शरीरके सारको जाननेवाला कौन व्यक्ति अपना मन लगायेगा। यह शरीर वायुके प्रकोपसे उत्पन्न हुए और कफ तथा पित्तके प्रकोपसे और पापकर्मसे उत्पन्न हुए रोगोंसे सदा मथा जाता है। इस तरह यह अति दुःख का निमित्त होता और नाशको प्राप्त होता है इसलिए धर्मका आचरण करो।

यह शरीररूपी घर रज और वीर्यके मेलसे बना है। इसकी अस्थियाँ ढीली ढाली हैं। स्नायुओंसे बंधा है, अशुभ है, सिराओंसे वेष्टित है, माँस और रुधिररूपी कीचड तथा जलसे लीपा गया है। रोगोंसे घिरा है इसे कौन इच्छा पसन्द करेगा।

इत्यादि कथा शरीरसे वैराग्य उत्पन्न करती है ॥४४८॥

गीतार्थ अर्थात् बहुश्रुत आचार्यके पादमूलमें रहनेसे 'गीदत्थो पुण खवगो' इत्यादि पाँच गाथासूत्रोंमें कहे गये बहुत गुण-लाभ होते हैं। उस क्षपकके परिणामोंमें संक्लेश नहीं होता और न रत्नत्रयमें लेकर ही कोई विपत्ति आती है अर्थात् उसके रत्नत्रयका विनाश नहीं होता। अतः आधारवान् आचार्यका आश्रय लेना चाहिए। इस प्रकार आधारवत्व गुणका कथन हुआ ॥४४९॥

पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं ।
बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो ववहारवं होइ ॥४५०॥

'पंचविहं ववहारं' पञ्चप्रकार प्रायश्चित्त । 'जो जाणदि तच्चदो सवित्थार' यो जानाति तत्त्वत सवि-
तर । 'बहुसो य दिट्ठकदपट्ठवणो' बहुशश्च दृष्टकृतप्रस्थापन । आचार्याणा प्रायश्चित्तदान दृष्ट, स्वय
न्येषा दत्तप्रायश्चित्त । 'ववहारव होदि' व्यवहारवान् भवति । पूर्वार्द्धेन प्रायश्चित्तज्ञानता दर्शिता, कर्म-
र्शनं कर्माभ्यासश्च प्रख्यापित । अशास्त्रज्ञो यत्किंचिद्दात्यात्मनोऽभिलषित न तेन पर शुद्धयति, शास्त्र-
ऽप्यदृष्टकर्माकर्मसु विषादमेति । ततो ज्ञान, कर्मदर्शन, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणा यस्य स व्यवहार-
ानित्युच्यते ॥४५०॥

क पञ्चविधो व्यवहार, को वा विस्तर इत्याशङ्कायां तदुभय निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणा य जीवो य हुंति ववहारा ।
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिद्दिट्ठा ॥४५१॥

'आगमसुद आणाधारणा य जीवो य हुंति ववहारा' आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत इति व्यव-
रा. पञ्च । 'एदेसिं' एतेषा आगमादीना । परूवणा कीदृशी ? 'सवित्थारा' विस्तारसहिता । 'सुत्तणिद्दिट्ठा'
त्रेषु चिरतनेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रान्तरे च निर्दिष्टत्वादिह
च्यते ॥४५१॥ उक्तं च—

सव्वेण वि जिणवयण सोदव्व [1]सड्ढिदेण पुरिसेण ।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण सोदव्वो ॥ इति ॥ [ ]

गा०—जो पाँच प्रकारके व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्तको तत्त्वरूपसे विस्तारके साथ जानता
तथा जिसने अनेक आचार्योंको प्रायश्चित्त देता देखा है और स्वय भी दूसरोंको प्रायश्चित्त
या है वह आचार्य व्यवहारवान् होता है। गाथाके पूर्वार्द्धसे आचार्यका प्रायश्चित्तका ज्ञाता
ना दर्शाया है तथा प्रायश्चित्तकर्मका दर्शन और प्रायश्चित्तकर्मका अभ्यास होना कहा है।
प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता नहीं होता वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रायश्चित्त देता है
न्तु उससे दूसरेके दोषकी विशुद्धि नहीं होती। प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञाता होते हुए भी यदि
सने अन्य आचार्योंको प्रायश्चित्त देते न देखा हो तो प्रायश्चित्त देते समय खेदखिन्न होता है।
सलिए प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान, प्रायश्चित्तकर्मका देखना तथा प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास ये
न गुण जिसमे होते है उस आचार्यको व्यवहारवान् कहते है ॥४५०॥

पाँच प्रकारका व्यवहार कौन-सा है ? और उसका विस्तार क्या है? ऐसी आशका होनेपर
नोको कहते हैं—

गा०—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीव ये पाँच प्रकारका व्यवहार है। इन आगम
ादिका विस्तारसे कथन प्राचीन सूत्रोंमे कहा है। प्रायश्चित्त सब जनोके आगे नहीं कहा जाता,
था अन्य शास्त्रोंमें उसका कथन है इसलिए यहाँ नहीं कहा। कहा है—'समस्त श्रद्धालु पुरुषों-
ो जिनागम सुनना चाहिए। किन्तु छेदशास्त्रका अर्थ सबको नहीं सुनाना चाहिए' ॥४५१॥

१. अदृष्ट कर्मसु–आ० । २ सुद्धिदेण–आ० ।

[illegible]

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ।
सरीरं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥४५२॥

[illegible]

ई—पं० आशाधरजीने अपनी मूलाराधना टीकामें इतना अर्थ इस प्रकार किया [illegible] मे कहे गये प्रायश्चित्तको आगम कहा है। चौदह पूर्वोंके धारीको श्रुत कहा है। [illegible] अन्य आचार्यके द्वारा अन्य स्थानमें [illegible] अन्य आचार्यके द्वारा आलोचित [illegible] ज्येष्ठ शिष्यके द्वारा भेजना आज्ञा है। कोई गुरुको [illegible] दोष लगनेपर वहीं रहते हुए पूर्वनिर्दिष्ट प्रायश्चित्तको [illegible] है वह धारणा [illegible] स्वम्भको लेकर वर्तमान आचार्योंने जो शास्त्रमें कहा है वह जीत है। [illegible] गमोंमें भी व्यवहारके ये ही पांच भेद किये है। आगमव्यवहारी छह है—केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और नौपूर्वी। [illegible] और ग्यारह [illegible] से व्यवहार करते है। आगमव्यवहारी आगमसे व्यवहार करता है अन्यमें यह भी चर्चा आती है कि केवलीका व्युच्छेद हो जानेपर चौदह पूर्व [illegible] भी [illegible] अतः प्रायश्चित्तदायक न रहनेसे प्रायश्चित्तका विच्छेद हो गया। किन्तु इसका [illegible] है। जो व्यवहार एक बार प्रवृत्त हुआ, दुबारा और तिबारा प्रवृत्त हुआ उसे [illegible] कार किया। यही पांचवां जीतकल्प व्यवहार है। जीत अर्थात् अवश्य ही [illegible] ल्प है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव, संहनन आदिकी हानिका लक्ष्य रखकर दिया गया [illegible] त है ॥४५१॥

व्यवहारवान् आचार्य दूसरेके आलोचित दोषका प्रायश्चित्त कैसे देता है? ऐसी [illegible] जाने पर दो गाथासे प्रायश्चित्त देनेके क्रमका निरूपण करते हैं—

-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रवज्याकाल, आगम जानकर प्रायश्चित्त देते है ॥४५२॥

-द्रव्यके तीन भेद है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। पृथिवी, जल, आग, वायु, [illegible] नन्तकाय और त्रस इन्हे सचित्त द्रव्य कहते है। जीवोंसे रहित तृण, फलक आदि है। जीवोंसे सम्बद्ध उपकरण मिश्र है। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवनाके तीन भेद हैं। [illegible] कोस अथवा आधा योजन जाना सम्मत है। उससे अधिक क्षेत्रमें जाना क्षेत्र प्रति-

---

[illegible] तिहं च—आ०।

गमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीयागमनं तस्यार्द्धो यदा भ्रान्तः। उन्मार्गेण वा गमनं। अन्तःपुरप्रवेशः। अननुज्ञातगृहभूमिगमनं। इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा। आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरणं वर्षावग्रहातिक्रमः इत्यादिका कालप्रतिसेवना। दर्प, प्रमाद, अनाभोग, भय, प्रदोष इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा। एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा अथवा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्द्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसबहुलं, धान्यबहुलं, शाकबहुलं यवागूशाकमात्रं वा पानकमेव वेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञानं। प्रायश्चित्तमाचरत अनूपजांगलसाधारणक्षेत्रपरिज्ञानं। घर्मशीतसाधारणकालज्ञानं। क्षमामार्दवार्जवसंतोषादिकं भावं क्रोधादिकं वा। करणपरिणामः प्रायश्चित्तक्रियायां परिणामः। सहवासार्थं किमयं प्रायश्चित्ते प्रवृत्त उत यशोर्थं, लाभार्थमुत कर्मनिर्जरार्थं इति। 'उच्छाहं' उत्साहं। 'संघदणं' शरीरबलं। 'परियायं' प्रव्रज्याकालं। 'आगमं' अल्पं श्रुतमस्य बहु वेति। पुरिसं [1]जादतरोभयान्तरंगो इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा ॥४५२॥

मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो ॥४५३॥

'मोत्तूण' त्यक्त्वा। 'रागदोसे' रागं द्वेषं च मध्यस्थ सन्निति यावत्। 'ववहारं पट्ठवेदि सो तस्स' प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्तस्मै। 'ववहारकरणकुसलो' प्रायश्चित्तदानकुशलः। 'जिणवयणविसारदो' जिनप्रणीते आगमे निपुणः। धीरो धृतिमान् ॥४५३॥

सेवना है। अथवा वर्जित क्षेत्रमें जाना, विरुद्ध राज्यमें जाना कटे-टूटे मार्गसे जाना, ऐसे मार्गका आधा भाग जानेपर वहाँसे अरक्षणीय मानकर लौट आना अथवा उन्मार्गसे जाना, अन्तःपुरमें प्रवेश करना, जहाँ जानेकी आज्ञा नहीं है ऐसी गृहभूमिमें जाना इत्यादिके द्वारा क्षेत्र प्रतिसेवना करना। आवश्यककालमें छह आवश्यक न करके अन्यकालमें करना, वर्षाकालके नियमका उल्लंघन करना, इत्यादि काल प्रतिसेवना है। घमण्ड, प्रमाद, अनाभोग, भय, प्रदोष आदि परिणामोंमें प्रवृत्ति भाव सेवा है। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवना आदिके द्वारा अपराधका निदान जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। अथवा प्रकृतिके द्रव्यादिको जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। *आहारके सम्बन्धमें ज्ञान होना द्रव्यपरिज्ञान है,* रसबहुल—जिसमें रसकी अधिकता हो, धान्यबहुल—जिसमें अन्नकी अधिकता हो, शाकबहुल—जिसमें शाकसब्जीकी अधिकता हो, यवागू—हलवा लपसी, शाकमात्र अथवा पानकमात्र। आहारके साथ दोषीकी प्रकृति जानकर उसे आहार बतलाना चाहिये। प्रायश्चित्त देते समय क्षेत्रका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह क्षेत्र जलबहुल है या जलकी कमी वाला है अथवा साधारण है। कालका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह गर्मीके दिन हैं या शीतके दिन हैं अथवा साधारण हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि भाव हैं। अथवा क्रोधादि भाव है। करण परिणामका अर्थ है प्रायश्चित्त करनेके परिणाम। यह प्रायश्चित्त क्यों लेना चाहता है? क्या यह साथ रहनेके लिए प्रायश्चित्तमें प्रवृत्त हुआ है अथवा यश, लाभ या कर्मोंकी निर्जराके लिए प्रवृत्त हुआ है। उसका प्रायश्चित्तमें उत्साह कैसा है, शरीरमें बल कितना है, दीक्षा लिए कितना काल हुआ है, शास्त्रज्ञान थोड़ा है या बहुत है। और वैराग्यमें तत्पर है या नहीं ॥४५२॥

गा०—प्रायश्चित्त देनेमें कुशल और जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये आगममें निपुण धीर वह आचार्य रागद्वेषको त्याग अर्थात् मध्यस्थ होकर उसको प्रायश्चित्त देता है ॥४५३॥

---

१. जाद जाद तरो–आ०। जातादरो भयान्तरगो–मु०।

ननु समानतायाः प्रस्तुतत्वात् सामण्ण इत्यनेन तत् परित्यज्य संयमग्रहणमन्यदुपन्यस्तं 'तं संजममिति'। अस्यायमभिप्रायः[1] श्रमणशब्दस्य द्रव्येऽप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छ्रामण्यं किं च तत्संयमः। तथाहि सावद्यक्रियापरो नायं श्रमण इति लोको वदति। ततो युक्तमेव भावशल्यमात्मन्यवस्थितमिय[2] दोषमावहतीति दृष्टान्तमुखेन कथयति—॥४६५॥

जह णाम दव्वसल्ले अणुद्धुदे वेदणुद्दिदो होदि।
तह भिक्खू वि ससल्लो तिव्वदुहट्टो भयोव्विग्गो ॥४६६॥

'जह णाम' यथा नाम स्फुट। 'दव्वसल्ले' शरकण्टकादौ 'अणुद्धुदे' अनुद्धृते अनिराकृते। 'वेदणुद्दिदो होदि' वेदनार्तो भवति। 'तह' तथा। 'भिक्खु वि' भिक्षुरपि। 'ससल्लो' भावशल्यवान्। 'तिव्वदुहिदो होदि' तीव्रदुःखितो भवति। 'भयोव्विग्गो' भयेन चलो भवति। एवमनुद्धृतशल्यो यामिष्यामि कां गतिमिति भयमस्य जायते। एवमर्थं दृष्टान्तेनाविरोधयति ॥४६६॥

कंटकमल्लेण जहा वेधाणी चम्मखीलणाली य।
रप्फइयजालगत्तागदो य पादो पडदि पच्छा ॥४६७॥

'कंटकसल्लेण जहा' कण्टकाख्येन शल्येन करणभूतेन यथा। 'वेधाणी चम्मखीलनाली य' व्यधनचर्मकीलनालिकाश्च भवन्ति। 'रप्फइयजालगत्तागदो य' कुथितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः स पादः 'पडदि' पतति पश्चाद्यथा ॥४६७॥

एवं तु भावसल्लं लज्जागारवभएहिं पडिबद्धं।
अप्पं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥४६८॥

लिया है। मायाशल्य सहित मरणसे अज्ञानी संयमको नष्ट करता है।

शङ्का—यहाँ तो 'सामण्ण' शब्दसे समानता ली गई है। उसे छोड़कर 'संयम' क्यों कहा?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यमें प्रवृत्ति न करनेमें निमित्त जो श्रामण्य है वही संयम है। लोग कहते ही हैं कि यह पापकार्योंमें प्रवृत्ति करता है अतः श्रमण नहीं है। अतः आत्मामें स्थित भावशल्य दोषकारी है यह कहना उचित ही है ॥४६५॥

इसे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—जैसे शरीरमें लगे बाण, काँटा आदि द्रव्यशल्यको न निकालनेपर मनुष्य कष्टसे पीड़ित होता है। उसी प्रकार भावशल्यसे युक्त भिक्षु भी तीव्र दुःखित होता है और भयसे विचल होता है कि शल्यको दूर न करनेपर मैं किस गतिमें जाऊँगा। इस प्रकार दृष्टान्तसे अविरोध दिखलाया है ॥४६६॥

गा०—जैसे पैरमें काँटा घुसनेपर पहले पैरमें छिद्र होता है फिर उसमें मांसका अंकुर उग आता है और वह नाड़ीव्रण पहुँचता है। पीछे उस पैरमें साँपकी बाँबी जैसे दुर्गन्ध युक्त छिद्र हो जाते हैं ॥४६७॥

---

1. प्राय नदिति संयम श्रामण्यमेवेति निर्वाराज्ञानश्रमिति ततो युक्त–आ०। 2. मिह दो–आ०।

परिणमते' निराकृतदोषो गुणे बाऽपरिणतो वचमाराधर, स्यादाराधनार्थमागतोऽपगतस्तारीदो । उ
गदं ॥४८६॥

तम्हा गणिणा उप्पीलणेण खवयस्स सव्वदोगाहु ।
ते उग्गालेदव्वा तस्सेव हिदं तया चेव ॥४८७॥

उप्पीलआत्ति गदं ।

एवं अवपीडकता व्याख्यायावसरप्राप्तामपरिश्राविता व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ।
ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥४८८॥

'लोहेण पीदमुदयं व' एवमत्र पदसंबन्ध । 'जस्स आलोइदा दोसा ण परिस्सवंति अण्णत्तो
कथिता दोषा न परिस्रवन्त्यन्यत्र । किमिव 'लोहेण पीदमुदगंव' लोहेन तप्तेन पीतमिवोदकं । 'सो
एवभूतोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्रावो भवति ॥४८८॥

दंसणणाणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ।
देसच्चाए विविधे सव्वच्चाए य आवण्णो ॥४८९॥

दंसणणाणादिचारे य वदादिचारे' श्रद्धानस्यातिचार शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासं
ज्ञानस्य अतिचारा अकाले पठन, श्रुतस्य श्रुतधरस्य वा विनयाकरण अनुयोगादीनां ग्रहणे तद्योग्या
ग्रहण, उपाध्याय निह्नव, व्यञ्जनाना न्यूनताकरण, आधिक्यकरण, अर्थस्य अन्यथाकथनं वा । तपसो

गुणमें लगे बिना आराधक कैसे हो सकता है ? आराधनाके लिए गुरुके पास आकर भी यदि
अवपीडक न हो तो उक्त बात नहीं बन सकती है ॥४८६॥

गा०—इसलिए उत्पीडक आचार्यको क्षपकके सब दोष उगलवाना चाहिए। क
क्षपकका हित इसीमें है ॥४८७॥

उत्पीडक गुणका कथन समाप्त हुआ।

इस प्रकार अवपीडक गुणका व्याख्यान करके अवसर प्राप्त अपरिश्रावी गुणको कहते

गा०—जैसे तपाये हुए लोहेके द्वारा पिया गया जल बाहर नहीं जाता वैसे ही
आचार्यसे कहे गए दोष अन्य मुनियोंपर प्रकट नहीं होते, वह आचार्य अपरिस्राव गुणसे
होता है ॥४८८॥

गा०—किसीके सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगा हो, अथवा ज्ञानमें अतिचार लगा हो,
व्रतोंमें अतिचार लगा हो, या तपमें अतिचार लगा हो, वह एकदेशसे अथवा सर्वदेशसे अति
लगा हो तो ॥४८९॥

टी०—सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रश
और संस्तव। ज्ञानके अतिचार हैं—असमयमें स्वाध्याय, श्रुत अथवा श्रुतके धारीकी विनय
करना, अनुयोग आदिके ग्रहण करनेमें उसके योग्य अवग्रह न करना, गुरुका नाम छिपा
व्यंजन शब्द छोड़ जाना या अधिक जो उसमें नहीं है, बोलना, और अर्थका अन्यथा क

चारः—स्वयं न भुङ्क्ते अन्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च, स्वयं क्षुधा [illegible] आहारमभिलषति, मनसा पारणां मम कः प्रयच्छति, क्व वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचारः । [illegible] परिश्रमो मम नाशेति इति वा । षड्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्तिः प्रचुर- [illegible] । संक्लेशात् अनर्थमिदमनुष्ठितं मया, सन्तापकारीदं नाचरिष्यामि इति सङ्कल्पः । अवमोदर्यातिचारः [illegible] बहुभोजनादरः परं बहु भोजयामीति चिन्ता । भुङ्क्ष्व यावद्भवतस्तृप्तिरिति वचनं भुक्तं मया गृह- [illegible] सम्यक्कृतमिति वा वचनं, हस्तसंज्ञया प्रदर्शनं कण्ठदेशमुपस्पृश्य । वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारः गृहसप्तक- [illegible] प्रविशामि, एकमेव पाटं दरिद्रगृहमेव । एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्तं ग्रहीष्यामीति वा कृत- [illegible] गृहसप्तकादिरधिकप्रवेश, पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिकः । वृत्तरसपरित्यागस्य रसाति- [illegible], परस्य वा रसवदाहारभोजनं, रसवदाहारभोजनानुमननं, वातिचारः । कायक्लेशस्यानशनस्यातिचार [illegible] शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, सन्तापापायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशाना- [illegible], कठोरातपस्य द्वेषः, शीतलाद्देशादनुकृतशरीरप्रमार्जनस्य आतपप्रवेशः, आतपसन्तप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्ट- [illegible] छायानुप्रवेशः इत्यादिकः । वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन, पादेन, शरीरेण वा या बाधना पीडा ।

ना । सप अनशन आदिके अतिचार हैं—स्वयं भोजन न करते हुए भी दूसरेको भोजन कराना, वचनकायसे दूसरेको भोजनकी अनुमति देना, स्वयं भूखसे पीड़ित होनेपर मनमें आहारकी [illegible]ना करना, मुझे पारणा कौन करायेगा, अथवा कहाँ पारणा होगी, इत्यादि चिन्ता अनशनके अतिचार हैं। अथवा रसील आहारके विना मेरी थकान दूर नहीं होती, प्रचुर निद्रासे [illegible]र छहकायके जीवोंकी बाधामें मन या वचन या कायसे प्रवृत्ति होना। मैंने यह सक्लेशकारी [illegible]काम व्यर्थ ही किया, यह सन्तापकारी है इसे नहीं करूँगा इस प्रकारका सकल्प भी अनशनका [अति]चार है।

अवमौदर्यतपके अतिचार—मनसे बहुत भोजनमें आदर, दूसरेको बहुत भोजन करानेकी [चि]न्ता, जबतक आपको तृप्ति हो तबतक भोजन करो ऐसा कहना, 'मैंने बहुत भोजन किया' [ऐस]ा कहनेपर 'आपने अच्छा किया' ऐसा कहना, हाथके सकेतसे कठ देशको स्पर्श करके बतलाना [कि] मैंने आकण्ठ भोजन किया।

वृत्तिपरिसंख्यानतपके अतिचार—सात घरमें ही प्रवेश करूँगा, या एक ही मुहल्लेमें [जा]ऊँगा, या दरिद्रके घर ही जाऊँगा, इस प्रकारका दाता पुरुष या दात्री स्त्रीके द्वारा दिया गया [आ]हार ग्रहण करूँगा। ऐसा सकल्प करके दूसरेको भोजन कराना है इस भावसे सात घरसे [अध]िक घरोंमें प्रवेश करना और एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेमें जाना।

रसपरित्यागतपके अतिचार—रसोंमें अति आसक्ति, दूसरेको रसयुक्त आहारका भोजन [करा]ना, अथवा रसयुक्त आहारके भोजनकी अनुमति। ये अतिचार हैं।

कायक्लेशतपके अतिचार—गर्मीसे पीड़ित होनेपर शीतलद्रव्यकी प्राप्तिकी इच्छा होना, [यह] सन्ताप कैसे दूर हो यह चिन्ता होना, पूर्वमें भोगे हुए शीतलद्रव्यों और शीतल प्रदेशोंको [या]द करना, कठोर धूपसे द्वेष करना, शीतल प्रदेशसे अपने शरीरको [illegible] विना धूपमें [illegible] गर्मस्थानमें प्रवेश करना, अथवा घामसे सन्तप्त [illegible] पीछीसे [illegible] छायामें प्रवेश [कर]ना आदि। वृक्षके मूलमें जाकर हाथ, पैर [illegible] को पीड़ा

मतविरम्याश्च । 'सव्वकाले य' सर्वस्मिन्काले च 'आपण्णो' आपन्नः ॥४८९॥

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे ।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥४९०॥

'आइरियाणं' आचार्याणां । 'भिक्खु' भिक्षुः । 'कहेदि' कथयति । 'वीसत्थदाए' विश्रम्भेन । किं 'सगदोसे' स्वातिचारान् । 'कोई पुण' कश्चित्पुनराचार्यः । 'णिद्धम्मो' निष्क्रान्तो बहिर्भूतो जिनप्रणीताद्धर्मात् । 'अण्णेसिं' अन्येभ्यः । 'कहेदि ते दोसे' कथयति तान् आलोचितान्दोषान् । अनेन इदमपराधं कृतं इति ॥४९०॥

तेण रहस्सं भिंदंतएण साधू तदो य परिचत्तो ।
अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव ॥४९१॥

'तेण' तेन । 'रहस्सं भिंदंतएण' प्रच्छन्नालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । 'साहू' साधुः । 'तदो य परिचत्तो' ततस्तु परित्यक्तः । स्वदोषप्रकाशने मया कृते लज्जावान् दुःखितो भवति । आत्मानं वा घातयेत् दुःखितो वा रत्नत्रयं त्यजेत् इति स्वचित्तेऽकुर्वता परित्यक्तो भवति । 'अप्पा परिचत्तो', 'गणो परिचत्तो, संघो परिचत्तो', इति प्रत्येकमभिसंबन्धः । 'मिच्छत्ताराहणा चेव' मिथ्यात्वाराधना दोषो भवति ॥४९१॥

इत्थं साधु परित्यक्तो भवतीत्याचष्टे—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोत्ति ।
विपरिणामिज्ज उधावेज्ज व गच्छेज्ज वाध मिच्छत्तं[1] ॥४९२॥

'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण व' गुरुतया वा । 'कोई' कश्चित् । 'दोसे' दोषान् । 'परस्स' परस्मै । 'कहिदो त्ति' कथितोऽपि । 'विपरिणामेज्ज' परिणमेत् । नाय मम गुरुः प्रियः यदि स्यात्कि मदीयान्दोषान्नि-

---

अनुमोदनाके भेदसे देशाविरतके अनेक भेद हैं ॥४८९॥

गा०—भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषोंको आचार्योंसे कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मसे भ्रष्ट होता है, वह भिक्षुके द्वारा आलोचित दोषोंको दूसरोंसे कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसे करनेवाला आचार्य जिनधर्मसे बाह्य होता है ॥४९०॥

गा०—उस आलोचित दोषको प्रकट करनेवाले आचार्यने ऐसा करके उस साधुका ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने चित्तमें यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देनेपर यह लज्जित होकर दुःखी होगा, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रयको ही छोड़ देगा। तथा उस आचार्यने अपनी आत्माका त्याग किया, गणका त्याग किया, संघका त्याग किया। इतना ही नहीं, उसके मिथ्यात्वकी आराधना दोष भी होता है ॥४९१॥

उस आचार्यने साधुका परित्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—निर्यापकाचार्यके द्वारा दूसरेसे साधुके गुप्त दोष कहनेपर कोई क्षपक लज्जावश या मानको गुरुतावश विपरीत परिणाम कर सकता है। यह मेरा गुरु नहीं है। यदि मैं इसे

---

1. गच्छाहि वा णिज्जा–मु०। 'गच्छाहि वा णिज्जा', 'गच्छेज्ज मिच्छत्तमिति पाठे—मूलारा०।

तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइद्धं ।
णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥५०६॥

'तह संजमगुणभरिदं' तथा संयमेन गुणैश्च सम्पूर्णं । संयमस्य सर्वेभ्यो गुणेभ्य प्रधानत्वात् संयमशब्दस्य पूर्वनिपातः । 'परिस्सहुम्मीहिं' क्षुत्पिपासादुःखानि परीषहास्ते ऊर्मय इवानुक्रमेणोद्गच्छन्तीति ऊर्मिव्यपदेशं लभन्ते । परीषहोर्मिभि 'खुभिद' चलितं । 'आइद्ध' नियंत्रित पतितोत । 'णिज्जवगो धारेदि हु' निर्यापकसूरिर्धारयति । 'मधुरेहिं हिदोवदेसेहिं' मधुरैर्हितोपदेशैः ॥५०६॥

धिदिबलकरमादहिदं महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ ।
सिद्धिसुहमावहंती चत्ता आराहणा होइ ॥५०७॥

'धिदिबलकर' धृतिबलकारिणीं । स्मृतेः स्थैर्यं धृतिस्तस्या अवष्टम्भकारिणीं । 'आदहिद' आत्महितां । 'मधुरं' मधुरां । 'कण्णाहुदिं' कर्णाहुतिं । 'जदि ण देदि' यदि न दद्यात् । सिद्धिसुखमावहन्तीति । सिद्धिसुखानयनकारिणी । 'आराहणा' आराधना । 'चत्ता होदि' त्यक्ता भवति ॥५०७॥

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ।
होइ य कित्ती पथिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥५०८॥

'इय' एवं । 'णिव्ववगो' निर्वापक । 'खवगस्स' क्षपकस्य । 'णिज्जावगो होदि' निर्यापको भवति । 'सदायरिओ' सदाचार्य. निर्यापकत्वगुणसमन्वित क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूरेर्दर्शयति । 'होदि य कित्ती पथिदा' भवति च कीर्ति. प्रथिता । 'एदेहि गुणेहि जुत्तस्स' आचारवत्त्वादिभिर्गुणैर्युक्तस्य ॥५०८॥

गा०—जैसे नौका चलानेका अभ्यासी बुद्धिमान् नाविक तरंगोंसे क्षुभित समुद्रमें रत्नोंसे भरे जहाजको धारण करता है ॥५०५॥

गा०—वैसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणोंसे पूर्ण, किन्तु परीषह रूप लहरोंसे चंचल और तिरछे हुए क्षपकरूप जहाजको मधुर और हितकारी उपदेशोंसे धारण करता है उसका संरक्षण करता है ॥५०६॥

इसलिए संयम शब्दको गुणसे पहले रखा है। तथा तरह एकके बाद एक क्रमसे उठती है इसलिए परी-

गा०—यदि आचार्य स्मृतिकी स्थिरता रूप धैर्यको बल देने वाली और आत्माका हित करनेवाली मधुर वाणी क्षपकके कानोंमें न सुनाये तो मोक्ष सुखको लानेवाली आराधनाको क्षपक छोड़ बैठे ॥५०७॥

प्रस्तुत चर्चा का उपसंहार करते हैं।

गा०—इस प्रकार निर्यापकत्व गुणसे युक्त आचार्य क्षपकका निर्यापक होता है। वह उसका उपकारी होता है। इतना कहकर उस निर्यापकाचार्यका भी इसमें स्वार्थ बतलाते हैं कि

स्थानं, मनसा चतुर्विंशति तीर्थंकृतां गुणानुस्मरणं 'लोगस्सुज्जोययरे' इत्येवमादीनां गुणानां वचनं । ललाट-विन्यस्तकरमुकुलता जिनेभ्य कायेन । वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवन्दना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशन-परवचनोच्चारणं । कायवन्दना प्रदक्षिणीकरणं कृतानतिश्च । मनसा कृतातिचारान्निवृत्तिः । हा दुष्कृतमिति वा मनःप्रतिक्रमणं । सूत्रोच्चारणं वाक्प्रतिक्रमणं । कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणं । मनसातिचारादीन्न करिष्यामि इति मनःप्रत्याख्यानं । वचसा तन्नाचरिष्यामि इति उच्चारणं । कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यङ्गीकारः । मनसा शरीरे ममेदंभावनिवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः । कायं त्यजामीति वचनं वाचा कायोत्सर्गः । प्रलम्ब-भुजस्य, चतुरङ्गुलमात्रपादान्तरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्गः । कायापायनिरासमकृत्वा एकान्ते गुरावासीने प्रसन्नचेतसि शनैरागत्य शरीरं भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृताञ्जलिः भगवन्कृति-कर्मवन्दनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञातः शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकरः अविलम्बितमद्रुतं सामायिकं पठेत् । सूत्रानुगतं, अविकारं, अविकृतं स्थितः कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवमभिधाय सूरिगुणानुरक्तमना गुरुस्तवनं पठेत् इत्येषा कृतिकर्मवन्दना । वन्दनोत्तरकाले 'विणएण' विनयेन 'अञ्जलिकदो' मुकुलीकृताञ्जलिः । 'वाइय-वसभं' आचार्यवृषभं 'इणं' इदं । भणदि ब्रवीति इति ॥५११॥

तुज्झेत्थ बारसंगसुदपारया सवणसंघणिज्जवया ।
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥५१२॥

'तुज्झेत्थ' यूयमत्र । 'बारसंगसुदपारगा' द्वादश आचारादीनि अङ्गानि यस्य तत् द्वादशाङ्गं श्रुतं सागर इव तस्य पारं गताः । 'समणसंघणिज्जवगा' श्रामयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघः

'मैं सर्व सावद्ययोगको त्यागता हूँ' ऐसा कहना, कायसे सावद्य क्रियाओंका न करना। मनसे चौबीस तीर्थंकरोंके गुणोंका स्मरण, वचनसे 'लोगस्सुज्जोयकरे' इत्यादि स्तुतिका पढ़ना, कायसे दोनों हाथ मुकुलित करके मस्तकसे लगाना। वदनीय गुणोंका स्मरण करना मनोवन्दना है। वचनसे उनके गुणोंके माहात्म्यको प्रकट करने वाले वचनोंका उच्चारण करना वचन वन्दना है। प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना काय वन्दना है। मनसे किये हुए दोषोंकी निवृत्ति या हा, मैंने बुरा किया' ऐसा सोचना मनःप्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण सूत्रका पढ़ना वाक् प्रतिक्रमण है। कायसे उन दोषोंका न करना काय प्रतिक्रमण है। मनसे मैं अतिचार आदि नहीं करूँगा ऐसा संकल्प मन प्रत्याख्यान है। मैं उन्हें नहीं करूँगा ऐसा कहना वचन प्रत्याख्यान है। कायसे नहीं करूँगा ऐसा स्वीकार करना काय प्रत्याख्यान है। मनमें शरीरसे 'यह मेरा है' ऐसा भाव न होना मानस कायोत्सर्ग है। वचनसे मैं कायका त्याग करता हूँ ऐसा कहना वचन कायोत्सर्ग है। दोनों हाथोंको लटकाकर और दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खड़ा होना कायसे कायोत्सर्ग है। कायके अपायका निरास न करके (?) जब गुरु एकान्त मे बैठे हों और प्रसन्न मन हों तब धीरेसे आकर शरीर और भूमिकी प्रतिलेखना करके, गुरुसे न तो दूर और न समीप बैठकर हाथोंकी अंजलि बनाकर निवेदन करे कि भगवन् ! कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ। इस प्रकार आलोचना करके गुरुकी अनुज्ञा मिलने पर धीरेसे उठकर दोनों हाथ मस्तकसे लगा न बहुत धीरे, न बहुत जल्दीमें सामायिक पाठ पढ़े। शास्त्रके अनुसार विकार रहित निश्चल खड़े होकर कायो-त्सर्ग करे। फिर चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन करे। फिर आचार्यमें अनुराग पूर्वक गुरु स्तवन पढ़े। यह कृतिकर्म वन्दना है। वन्दनाके अनन्तर विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़ आचार्यसे इस प्रकार निवेदन करे ॥५११॥

रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च पडिलिहित्ताणं।
गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ॥५१९॥

'रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च' राज्यं, क्षेत्रं, देशं ग्रामनगरादिकं अधिपतिं गणमात्मानं च। 'पडिलिहित्ताणं' परीक्ष्य। 'गुणसाधणो' गुणान्सम्यक्त्वादीन् साधयति यः सूरिः सः। 'पडिच्छदि' प्रतिगृह्णाति। क्षपकं। अन्यत्र गुणसाधण इति पाठः। गुणान्साधयितुं उद्यतं साधुं प्रतिगृह्णाति। 'अप्पडिलेहाए' उक्ताया परीक्षाया अभावे। 'बहुदोसा' बहवो दोषा भवन्ति। के ते इति चेदुच्यन्ते। निरस्ताहारतृष्णो न वेति यदि न परीक्षितः आहारे तृष्णावान्रात्रिंदिनं तमेव चिंतयतीति कथमाराधकः। क्षुत्पिपासापरीषहावष्टम्भासहनात् कुर्वन् धर्मदूषणं कुर्यात्। आराधनाया व्याक्षेपो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि तं न त्याजयति तस्यापि न कार्यसिद्धिः स्वयं च निन्द्यते जनेन। राज्यक्षेत्रादीनां शुभाशुभपरीक्षा येन कृता सोऽशुभं चेत्पश्यति तस्य राज्यादेरेव न राज्यक्षेत्रादिकं अन्यदुद्दिश्य तं गृहीत्वा याति। तथा च तस्योपकारको भवति। अपरीक्षायां तु राज्यादिभ्रंशे न च क्षपकं स्वयं न विसर्जयति गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति, आत्मनो वा न प्रारभते कार्यं। अपरीक्षितकारी नास्ति तस्योपकारको न चात्मन इति दोषाः ॥५१९॥

परीक्षानन्तरं आपृच्छा इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

आचार्य प्रमादरहित होकर दिव्य निमित्तज्ञानके द्वारा परीक्षा करते हैं कि इसकी आराधना निर्विघ्न होगी या नहीं होगी ॥५१८॥

गा०-टी०—सम्यक्त्व आदि गुणोंका साधक वह आचार्य राज्य, क्षेत्र, अधिपति, गण, और अपनी परीक्षा करके क्षपकको ग्रहण करता है। अन्यत्र 'गुणराधणं' पाठ मिलता है। उसके अनुसार आचार्य गुणोंकी साधनाके लिए उद्यत साधुको ग्रहण करता है। उक्त परीक्षा न करनेमें बहुत दोष हैं।

उनका कथन करते हैं—क्षपककी आहार विषयक तृष्णा दूर हुई है या नहीं, ऐसी परीक्षा यदि नहीं की और क्षपक आहारमें तृष्णा रखनेवाला हुआ, तो रात दिन आहारकी ही चिन्ता करनेसे वह आराधक कैसे हो सकता है। भूख प्यासकी परीषहोंको न सहनेसे चिल्ला-चिल्लाकर धर्मको दूषित करता। आराधनामें विघ्न आयेगा या नहीं, इसकी परीक्षा न करके यदि उस विघ्नको दूर नहीं किया गया तो क्षपकका भी कार्य सिद्ध न हो और स्वयं आचार्य लोगोंकी निन्दाका पात्र बने। जो आचार्य राज्य क्षेत्र आदिकी अच्छे बुरेकी परीक्षा करता है वह यदि राज्य और क्षेत्र आदिको अशुभ देखता है तो उस क्षपकको लेकर अन्य राज्य और अन्य क्षेत्र आदिमें चला जाता है। इस तरहसे वह क्षपकका उपकार करता है। परीक्षा न करनेपर यदि राज्य आदिमें उपद्रव हुआ तो क्षपक और आचार्य दोनोंको कष्ट उठाना पड़ता है। यदि गणका या अपना अनिष्ट देखता है तो आचार्य कार्यका प्रारम्भ नहीं करता। अतः बिना परीक्षा किए कार्य करनेवाला आचार्य न क्षपकका उपकार करता है और न अपना उपकार करता है ॥५१९॥

परीक्षाके अनन्तर आपृच्छाका कथन करते हैं—

---

१. [illegible]

पडिचरए आपुच्छिय तेहिं णिसिट्ठं पडिच्छदे खवयं।
तेसिमणापुच्छाए असमाधी होज्ज तिण्हंपि ॥५२०॥

आपृच्छा। 'पडिचरए' प्रतिचारकान्यतीन्। 'आपुच्छिय' आपृच्छ्य रत्नत्रयाराधने अस्माकं सहायतामयन् प्रापूर्णको यति साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणं च तीर्थकरनामकर्मणो मूलमिति भवद्भिरिदमवगतमेव, ततो वदत किमस्माभिरयमनुग्राह्यो न वेति, परार्थवन्त परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि किमुत यतयः। सकलमासन्नभव्यलोकः समारपङ्कादुत्तारयितुमुद्यता।

'अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वमिति' वचनाच्च।

एतस्यानुग्रहोद्योगे किं कार्यं इति प्रष्टव्य इति कथयति। 'तेहिं' परिचारकैः। 'णिसिट्ठं' निसृष्टं अभ्युपगतं। 'पडिच्छदे' प्रतिगृह्णाति। 'खवगं' क्षपकं। 'तेसिमणापुच्छाए' परिचारकाणामपरिप्रश्ने तु। 'असमाही होज्ज तिण्हंपि' सूरेः क्षपकस्य संघस्य च असमाधिः संक्लेशो भवेत्। अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा अनुयोगादिना मम न किञ्चित् कुर्वन्ति इति क्षपकस्य संक्लेशो भवति। गुरोरपि संक्लेशो भवति, ममास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमे नोपयान्ति इति। परिचारकाणां च संक्लेशो बहुजनसाध्यं कार्यमस्मान्गुरुर्नानुमानयति। न बलाबलमस्माकं परीक्षते इति ॥५२०॥

पडिच्छणा इत्येतत्सूत्रार्थं व्याचष्टे—

एगो संथारगदो जजइ सरीरं जिणोवदेसेण।
एगो सल्लिहदि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहिं ॥५२१॥

'एगो संथारगदो' एकः संस्तरमारूढः। 'जजइ सरीरं' यजते शरीरं। 'जिणोवदेसेण' जिनानामुपदे-

---

गा०—टी०—आचार्य परिचर्या करनेवाले यतियोंसे पूछता है—यह क्षपक रत्नत्रयकी साधनामें हमारी सहायता चाहता है। साधु समाधि और वैयावृत्य करना तीर्थंकर नामकर्मके बन्धके कारण हैं यह आप जानते ही हैं। अतः कहिये, हमलोग इसपर अनुग्रह करें या न करें? प्रायः लौकिकजन भी परोपकारी और परोपकारके लिए सदा तत्पर रहनेवाले होते हैं। तब यतिजनोंका तो कहना ही क्या है? वे तो समस्त निकट भव्यजीवोंको गहरे संसार पंकसे निकालनेमें तत्पर रहते हैं। आगममें भी कहा है—'आत्माका हित करना चाहिए। यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए।' अतः क्या इसके कल्याणका उद्योग करना चाहिए या नहीं। इस प्रकार आचार्यके पूछनेपर यदि वे स्वीकार करते हैं तो आचार्य क्षपकको स्वीकार करते हैं। परिचारक यतियोंसे न पूछनेपर आचार्य, क्षपक और संघ तीनोंको ही संक्लेश होता है। हम लोगोंने इस क्षपकको स्वीकार नहीं किया ऐसा मानकर यतिगण यदि उसकी विनय या वैयावृत्य न करें तो क्षपकको संक्लेश होता है कि ये मेरा कुछ भी नहीं करते। गुरुको भी संक्लेश होता है कि मैंने इसका उपकार करना प्रारम्भ किया किन्तु वे इसमें सहायता नहीं करते। परिचारक यतियोंको भी संक्लेश होता है कि यह कार्य बहुत जनोंके करनेका है किन्तु हमारा गुरु यह नहीं मानता और न हमारे बलाबलकी परीक्षा करता है ॥५२०॥

आगे 'पडिच्छणा' पदको कहते हैं—

गा०—एक मुनि तो संस्तरपर चढ़कर जिनेन्द्रके उपदेशसे शरीरको आराधनामें लगाता

---

१. मम भक्ति विकु—आ०। मम न भक्ति कु—मु०।

सम्यक् न भिक्षां शोधयति नाप्युपकरणं। कुशीलः[1] उद्गमादिदोषं न परिहरति मनोज्ञोपकरणश्रद्धाभिध्यात्वात्। कष्टासहो यत्र क्वचिद्वसतिगमनात् ॥५२४॥

इन्द्रियजयं कषायजयं च सूरिरनुशास्ति—

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं।
सव्वेसु कसाएसु य णिग्गहपरमो सदा होह ॥५२५॥

'सद्दे रूवं गंधे' इत्यनया। ननु शब्दादयो विषयास्तेषां जयो नाम कः ? तद्विषयो हि रागो बन्धहेतुत्वात् तत्प्रतिपक्षवैराग्यभावनया जेतव्य इत्युपदेष्टव्यम्। अत्रोच्यते—षोडशकारकत्वाल्लुप्ताः सद्दे, रूवे, गन्धे, रसे च फासे च रागं तुमं णिज्जाहि इति पदसम्बन्धः। अथवा शब्दादीनां विषयाणां वशे न तिष्ठति इति कृत्वा जेता भण्यते। यथा पुरुषो जितोऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशानुवर्तिनी न भवति। 'सव्वेसु कसाएसु य' सर्वेषु कषायेषु वा क्रोधादिषु। 'णिग्गहपरमो' निग्रहपरः क्षमादिभावनया सदा भव ॥५२५॥

एवं कृतेन्द्रियकषायजयेन मया कर्तव्यमिति क्षपकप्रश्ने उत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता।
तो मलिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धिं ॥५२६॥

कुशील मुनि भोजन, उपकरण और वसतिका शोधन नहीं करता। जो स्वादिष्ट भोजनका लम्पट होता है न वह भिक्षाका शोधन करता है और न उपकरणका शोधन करता है। तथा कुशील मुनि उद्गम आदि दोषका परिहार नहीं करता, उसका मन तो मनोज्ञ भोजन और उपकरणमें रहता है। कष्ट न सहकर जिस किसीकी वसतिमें ठहर जाता है ॥५२४॥

आगे इन्द्रिय और कषायोंको जीतनेका उपदेश देते हैं—

गा०—टी०—हे यति! तुम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको जीतो।

शङ्का—शब्द आदि इन्द्रियोंके विषय हैं उनको जीतना कैसे? उन विषयोंमें राग बन्धका कारण है। अतः उनके विरोधी वैराग्य भावनाके द्वारा उनको जीतनेका उपदेश देना चाहिए?

समाधान—सूत्र उपकार सहित होते हैं अतः शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शमें जो राग है उसे तुम जीतो ऐसा पदका सम्बन्ध होता है। अथवा जो शब्दादि विषयोंके वशमें नहीं है उसे जीतनेवाला कहते हैं। जैसे जो स्त्री पुरुषकी अनुगामिनी नहीं होती उसके सम्बन्धमें कहा जाता है कि इसने पुरुषको जीत लिया।

तथा सब क्रोधादि कषायोंमें क्षमा आदि भावनाके द्वारा सदा निग्रह करनेमें तत्पर रहो ॥५२५॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायको जीतनेपर मुझे क्या करना चाहिए, क्षपकके इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

---

१. कुशीलः उद्गमादिदोषान् परिहरति—आ०।

पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण ।
पडिसेविदं तहा तं आलोचिंतो पदविभागी ॥५३७॥

'पव्वज्जादी सव्वं' प्रव्रज्यादिकं सर्वं । 'कमेण जं जत्थ जेण भावेण पडिसेविदं' क्रमेण यद्यत्र कालत्रये वा देशे येन भावेन प्रतिसेवितं । 'तहा तं' तथा तत् । आलोचितो निरूपयन्निति । यदि पदविभागी विशेषालोचना भवति ॥५३७॥

शल्यानिराकरणे दोषं शल्यापाये च गुणं दृष्टान्तेन दर्शयति—

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्दुदो होदि ।
तम्हि दु समुद्धिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥५३८॥

'जह कंटएण विद्धो' यथा कण्टकेन विद्ध । 'सव्वंगे' सर्वस्मिन् शरीरे । 'वेदणुद्दुदो होइ' वेदनयोद्द्रुतो भवति । 'तम्हि समुद्दिदे' तस्मिन्कण्टके उद्धृते । 'सो' तु नित्य । 'णिस्सल्लो' निःशल्यो शल्येन रहितः । 'णिव्वुदो' निर्वृतो । 'होदि' भवतीति सुखी भवतीति यावत ॥५३८॥

दार्ष्टान्तिकयोजना—

एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ।
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥५३९॥

'एवं' कण्टकेन विद्ध इव । 'अणुद्धुददोसो' अनुद्धृतदोष । 'माइल्लो' मायावान् । स्वापराधानुद्धृतदोषेण । 'दुक्खिदो होदि' दुःखितो भवति । 'सो चेव वंददोसो' स एव वान्तदोषः । 'सुविसुद्धो णिव्वुदो होदि' निर्वृतो भवति ॥५३९॥

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च ।
अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥५४०॥

'मिच्छादंसणसल्लं' मिथ्यादर्शनशल्यं । 'मायासल्लं' मायाशल्य । 'णिदाणसल्लं' निदानशल्यं च । 'अहवा सल्लं दुविहं' अथवा शल्यं द्विप्रकार । 'दव्वे भावे य' द्रव्यशल्य भावशल्यमिति । 'बोधव्वं' बोद्धव्यम् ॥५४०॥

गा०—दीक्षासे लेकर सब कालमें सब क्षेत्रमें जिस भावसे और जिस क्रमसे जो दोष किया हो उसकी उसी प्रकार आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना है ॥५३७॥

शल्यको दूर न करनेमें दोष और दूर करनेमें गुण दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

गा०—जैसे कण्टकसे बिंधा हुआ मर्वशरीरमें पीड़ासे पीडित होता है और उस कण्टकके निकल जानेपर वह दुःखी मनुष्य शल्यसे रहित हो सुखी होता है ॥५३८॥

गा०—उसी प्रकार जो काँटेकी तरह दोषको नहीं निका[illegible] मायावी अपने अपराधको न कहने रूप दोषसे दुःखी रहता है। और दोषको [illegible] विशुद्ध होकर सुखी होता है ॥५३९॥

गा०—शल्यके तीन भेद हैं—[illegible] निदानशल्य, अथवा

तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य ।
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ॥५४१॥

'तिविह तु' त्रिविध एव । 'भावसल्लं' परिणामशल्य । 'दंसणणाणे चरित्तजोगे य' दर्शने, ज्ञाने, चारित्रयोगे वा । दर्शनस्य शल्य शङ्कादि । ज्ञानस्य शल्य अकाले पठन अविनयादिकं च । चारित्रस्य शल्यं समितिगुप्त्योरनादर । [[1]योगस्य तपस प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजातं । असंयमपरिणमनं वा । तपसश्चारित्रे अन्तर्भावविवक्षया त्रिविहमित्युक्तम्] 'दव्वम्मि सल्लं तिविहं' द्रव्ये शल्यं त्रिविधं । 'सचित्तं अचित्ते मिस्सगे य' सचित्तद्रव्यशल्य दासादि । अचित्तद्रव्यशल्य सुवर्णादि । 'मिस्सगे वा' विमिश्रद्रव्यशल्य ग्रामादि । एतत्त्रिविधं द्रव्यशल्यमित्युच्यते—चारित्राचारस्य शल्यस्य कारणत्वात् ॥५४१॥

भावशल्यानुद्धरणे दोषमाचष्टे—

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं ।
लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥५४२॥

'एगमवि' एकमपि भावाना रत्नत्रयाणा शल्य । अतिचार । 'अणुद्धरित्ताण' अनुद्धृत्य । 'जो कुणदि काल' य करोति मरण । कस्मान्नोद्धरति ? 'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण य' गारवेण वा । 'सो ण हु आराधगो होदि' स आराधको नैव भवति । निरतिचारता हि तेषा यतीनां आराधना ॥५४२॥

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्यं न कालक्षेप कार्य इति शिक्षयति—

कल्ले परे व परदो काहं दंसणणाणचरित्तसोधित्ति ।
इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणंति ॥५४३॥

'कल्ले' श्व प्रभृतिके काले । अहं करिष्यामि 'दंसणचरित्तसोधित्ति' दर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिमिति । 'इय संकप्पमदीया' एव कृतसंकल्पमतय । 'गयंपि कालं ण जाणंति' गतमतिक्रान्तमपि आयु:कालं नैव जानन्ति ।

गा०-टी—भावशल्यके तीन भेद है—दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य, चारित्रयोगशल्य । शंका आदि दर्शनके शल्य हैं । अकालमें पढ़ना, विनय न करना आदि ज्ञानके शल्य हैं । समिति और गुप्तिमें अनादर चारित्रके शल्य हैं । पहले कहे अनशन आदिके अतिचार अथवा असंयमरूप परिणाम योग अर्थात् तपके शल्य हैं । तपका अन्तर्भाव चारित्रमें होता है इस विवक्षामें यहाँ भावशल्य तीन कहे हैं । द्रव्यशल्य भी तीन हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र । दास आदि सचित्त द्रव्यशल्य हैं । सुवर्ण आदि अचित्त द्रव्यशल्य हैं । गाँव आदि मिश्र द्रव्यशल्य है । इन तीनोंको द्रव्यशल्य कहते हैं क्योंकि ये चारित्राचारके शल्यके कारण हैं ॥५४१॥

भावशल्यको दूर न करनेमें दोष कहते हैं—

गा०—जो साधु लज्जा अथवा गारवसे एक भी भाव अर्थात् रत्नत्रयके शल्य अर्थात् अतिचारको निकाले बिना मरण करता है, वह मुनि आराधक नहीं है । निरतिचारता ही यतियोंकी आराधना है ॥५४२॥

आगे शिक्षा देते हैं कि अपराध होनेपर तत्काल कहना चाहिए, देर नहीं करना चाहिए—

गा०-टी०—कल या परसों मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी शुद्धि करूँगा ! ऐसा सकल्प

1 योगस्यतपसो नास्ति—अ० आ० प्रत्यो ।

ततः सशल्यं मरणं तेषां भवति । अत एवोक्तं—'उप्पण्णाणुप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा' इति ॥—[मूलाचार ७।१२५ ॥] व्याधयः शत्रवः । कर्माणि, चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाश्यन्ते । अथवा अतिचारकालं सर्वं चिरातिक्रान्तं नैव जानन्ति । ये हि अतिचारा प्रतिदिनं जातास्तेषां कालं, सन्ध्या रात्रिः दिनं इत्यादिकं । पश्चादालोचनाकाले गुरुणा 'पृष्टा वा न वक्तुं जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य । अथवा अतीचारकालं तथातिचारस्य । अतिशब्देन क्षेत्रभावौ चातिचारस्य हेतू न जानन्ति न स्मरन्ति । सामान्यवाक्यमिति जानाति । इह स्मृतिज्ञान'गोचरं इति केचिद्व्याख्या ॥५४३॥

सशल्यमरणे को दोष इत्याशङ्कायामाचष्टे—

रागद्दोसाभिहदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा ।
ते दुक्खसल्लबहुले भमंति संसारकांतारे ॥५४४॥

'रागद्दोसाभिहदा' रागद्वेषाभ्यामभिहताः । 'ससल्लमरणं' सशल्यमरणं । 'मरंति' म्रियन्ते । 'जे मूढा' ये मूढास्ते 'संसारकांतारे भमंति' । ते संसाराटव्यां भ्रमन्ति । कीदृशि ? 'दुक्खसल्लबहुले' दुःखानि शल्यवत् दुर्धरत्वाच्छल्य इत्युच्यन्ते । दुःखशल्यबहुले ॥५४४॥

शल्योद्धरणे गुणं व्याचष्टे—

तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं ।
पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे ॥५४५॥

'तिविहंपि' त्रिविधमपि । 'भावसल्लं' भावशल्यं । 'समुद्धरित्ताण' समुद्धृत्य । 'जो कुणदि कालं' यः कालं करोति । कीदृग्भूतः ? 'पव्वज्जादी' प्रव्रज्यादिकं । 'सव्वं' सर्वं । 'स होदि' स भवति । 'आराधओ' आराधको दर्शनादीनां । 'मरणे' भवपर्यायप्रध्वंसे ॥५४५॥

करनेवाले बीतने हुए आयुकालको नहीं जानते। इसीसे उनका मरण शल्य सहित होता है। इसीसे कहा है—'जैसे ही मायाशल्य उत्पन्न हो, उत्पन्न होते ही उसे आनुपूर्वीक्रमसे नष्ट कर देना चाहिए।' व्याधि, शत्रु और कर्मकी यदि उपेक्षा की जाये तो उनकी जड़ जम जाती है फिर सुखपूर्वक उनका विनाश नहीं होता। अथवा अपराधकी उपेक्षा करनेवाले साधु दोष लगनेके कालको बहुत दिन बीत जानेपर भूल जाते हैं। जो अतिचार प्रतिदिन होते हैं उनका काल सन्ध्यामें अतिचार लगा था या रातमें या दिनमें, इत्यादि भूल जाते हैं। पीछे आलोचना करते समय गुरुके पूछनेपर नहीं कह पाते क्योंकि बहुत काल बीतनेसे भूल जाते हैं। अथवा बीते अतीचारके कालको और 'अपि' शब्दसे अतिचारके हेतु क्षेत्र और भावको नहीं जानते, उन्हें उनका स्मरण नहीं होता। ऐसी किन्हीकी व्याख्या है ॥५४३॥

शल्यसहित मरणमें दोष कहते हैं—

गा०—राग और द्वेषसे पीड़ित जो मूढ़ मुनि शल्यसहित मरते हैं वे दुःखरूपी शल्योंसे भरे संसाररूपी वनमें भटकते हैं। शल्यकी तरह दुर्द्धर होनेसे दुःखोंको शल्य कहा है ॥५४४॥

शल्यको निकालनेमें गुण कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा लेनेके दिनसे लेकर तीन प्रकारके सब भावशल्यको निकालकर मरण

---

१ पृष्टातावन्न आ० मु० । २ ज्ञानागोच-ज्ञानागारच आ० मु० ।

बालो जंपंतो यथा बालो जल्पन्। 'कज्जमकज्जं च' कार्यमकार्यं वा। 'भणदि' वदति। 'उज्जुगो' । 'तह' तथा। 'आलोचइदव्वं' बालस्योऽपराधं। 'मायामोसं च मोत्तूण' मनोगतां वक्रता, वचन- मुक्त्वा ॥५४९॥

ाहरति प्रस्तुतम्—

दंसणणाणचरित्ते कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं।
णिस्सल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणदु ॥५५०॥

सणाणचरित्ते' दर्शनज्ञानचारित्रविषयां। 'आलोयणं कादूण' अपराधमभिधाय। 'सुपरिसुद्धं' ायाशल्यरहित। 'कयसुद्धी' कृतगुरुनिरूपितप्रायश्चित्तः। 'कमेण सल्लेहणं कुणदु' क्रमेण सल्ले- ५५०॥

सो सो एवं भणिओ अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ।
सव्वंगजादहासो पीदीए पुलइदसरीरो ॥५५१॥

िनिश्चितो क्षपकः 'सो' स। 'सो' आचार्य। 'एवं भणिदो' एवं निगदितं गुरुणा। णणिच्छिदमदीओ' अभ्युद्यते मरणे निश्चितबुद्धिः। 'सव्वंगजादहासो' सर्वांगजातहर्षः। पीदीए ' प्रीत्या पुलकितशरीरः ॥५५१॥

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥५५२॥

ाचीणोदीचिमुहो' प्राङ्मुख उदङ्मुख। 'चेदियहुत्तो व' चैत्याभिमुखो वा भूत्वा। 'कुणदि काउस्सग्गं' र्गं। कीदृग्भूत ? 'आलोयणपत्तीयं' आलोचनाप्रत्ययं आलोचनानिमित्तं। कायोत्सर्गं स्थित्वा र्यन्ते कथयितुं तस्मात्कायोत्सर्गं आलोचनाहेतुः। क्व स करोति ? 'एगंते' एकान्ते जनरहित-

—जैसे बालक बोलते हुए कार्य हो या अकार्य हो, सरलभावसे ही कहता है कुछ ाहै। वैसे ही साधुको भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूँठको त्यागकर अपना ना चाहिए ॥५४९॥

त कथनका उपसंहार करते हैं—

—अतः दर्शन ज्ञान और चारित्रसम्बन्धी अपने अपराधोंको कहकर, मायाशल्यसे , गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करके क्रमसे सल्लेखना करो ॥५५०॥

—इस प्रकार गुरुके द्वारा शिक्षित किया गया वह क्षपक समाधिमरण करनेका निश्चय उसके सब अंगोंमें हर्षकी लहर दौड़ती है और प्रीतिसे शरीर रोमांचित हो जाता

—टी०—वह पूरब, उत्तर या जिनबिम्बकी ओर मुख करके जनरहित एकान्त प्रदेशमें प्रकारकी बाधाकी सम्भावना नहीं है ऐसे जनरहित एकान्तमें स्थानमें आलोचनाके ोत्सर्ग करता है। यत कायोत्सर्गसे खड़े होनेपर गुरुसे कहनेके लिए दोषोंका स्मरण

ती। 'अणायाधे' अमार्गे बहुजनमध्ये एकाग्रं न भवति चित्तं। मार्गे स्थित परकार्यव्याघाताद्दुर्भीति इति
त्वा एकान्ते। अमार्गश्च कायोत्सर्गदेश आख्यात ॥५५२॥

कायोत्सर्गं किमर्थं करोति आलोचयितुकाम इत्याशङ्कायां कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—

एवं खु वोसरित्ता देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो।
णिम्ममदा णिस्संगो णिस्सल्लो जाइ एयत्तं ॥५५३॥

'एवं खु' इत्यादिना। एवमित्यनन्तरसूत्रनिर्दिष्टक्रमेण। प्राङ्मुख उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा। एकान्ते
मार्गे। वोसरित्ता त्यक्त्वा किं? न हि त्याज्यमन्तरेण त्यागो युज्यते। देहमिति चेत् 'देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं
सो' इति न घटते निर्ममत्वमेव ननु त्याग। भिन्नयो पूर्वापरकालविषययो क्रिययोर्यत्र एक कर्ता तत्र पूर्वकाल-
क्रियावचनात् क्त्वा विधीयते। अत्रोच्यते वचसा त्याग 'वोसरित्ता' इत्यनेन उच्यते। मनसा ममाय न भवति
देह इति त्याग पश्चादुच्यते। तेन वाङ्मन करणभेदात्त्यागो भिद्यते। 'णिम्ममदा णिस्संगो' निर्ममतया निस्सगो
निष्परिग्रह। 'णिस्सल्लो' नि परिग्रहत्वादेव नि शल्य। 'एयत्तं जादि' एकत्वभावना[1] प्रतिपद्यते ॥५५३॥

होता है अत कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है। बहुतसे लोगोंके मध्यमें चित्त एकाग्र नहीं होता
तथा रास्तेमें खडे होकर कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोंके कार्यमें बाधा आती है। ऐसा मानकर
कायोत्सर्गका स्थान एकान्त और मार्गरहित कहा है ॥५५२॥

आलोचना करनेवाला कायोत्सर्ग क्यों करता है ऐसी शंका होनेपर कायोत्सर्गका उपयोग
कहते हैं—

गा०-टी०—इस प्रकार आलोचनाके लिए एकान्त स्थानमें पूरबके सन्मुख अथवा उत्तरके
सन्मुख अथवा जिनबिम्बके सन्मुख होकर 'मैं शरीरका त्याग करता हूँ' इस प्रकार वचनसे त्याग
करके 'यह शरीर मेरा नहीं है' इस प्रकार मनसे त्याग करता है। अत: वचन और मनके भेदसे
त्यागके दो भेद होते हैं। इस प्रकारसे शरीर ममत्व त्यागकर निर्ममत्वको प्राप्त होता है और
निर्ममत्वको प्राप्त होनेसे बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहसे रहित होता है। परिग्रह रहित होनेसे
ही निःशल्य होकर एकत्वभावनाको प्राप्त होता है।

शङ्का—'त्याज्यके बिना त्याग नहीं होता। यदि देहका त्याग करता है तो देहमें भी
निर्ममत्व होता है' यह कथन नहीं घटता। क्योंकि शरीरसे निर्ममत्व ही शरीरका त्याग है।
आगे पीछे होनेवाली दो भिन्न क्रियाओंका कर्ता जहाँ एक ही होता है वहाँ पूर्वकालकी क्रियामें
'क्त्वा' (करके) प्रत्यय किया जाता है। शंकाकारका अभिप्राय यह है कि गाथामें कहा है कि
देहका त्याग करके देहमें निर्ममत्व होता है। किन्तु देहका त्याग और देहमें निर्ममत्व यह भिन्न
कार्य नहीं हैं निर्ममत्व ही त्याग है। अत. देहका त्याग करके देहमें निर्ममत्व होता है ऐसा कहना
ठीक नहीं है।

समाधान—'वोसरित्ता' शब्दसे वचनसे त्याग कहा है। उसके पश्चात् ही 'यह शरीर मेरा
नहीं है' इस प्रकार मनसे त्याग होता है। अत वचन और मनके भेदसे त्यागमें भेद होनेसे उक्त
कथन घटित होता है।

---

१ वनायां प्र-आ०।

तो एयत्तमुवगदो सरेदि सव्वे कदे सगे दोसे ।
आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सल्लत्ति ॥५५४॥

'एगत्तमुवगदो' एकत्वभावनामुपगतः । निरतिचाररत्नदर्शनचारित्राण्येवाहं । शरीरमिदमन्यदनुपकारि मम दुर्गतिनिमित्तत्वात्, तद्विनाशे मम किं विनश्यति, अतीचारवर्जितोऽस्मरातिमिति मन्यमानः, प्रायश्चित्ताचरणे न खिद्यते । मायां च कर्मोदयनिमित्तां हातुं इच्छा मम शुद्धस्वरूपस्याशुद्धिरिति । 'तो' ततः । 'सरेदि' स्मरति । 'सव्वे' सर्वेषां । 'कदे' कृतानां । 'सगे' स्वकानां । 'दोसे' दोषाणां । किमर्थं स्मरति ? 'आयरियपादमूले' आचार्यपादमूले । 'उप्पाडिस्सामि' उत्पाटयिष्यामि । 'सल्लत्ति' दर्शनातिचारमिति ॥५५४॥

स्मृत्वा किं करोति पश्चादित्याशङ्कायामित्याचष्टे—

इय उजुभावमुपगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ।
लेस्साहिं विसुज्झंतो उवेदि सल्लं समुद्धरिदुं ॥५५५॥

'इय' एवं । 'उजुभावं उवगदो' ऋजुभावं उपगतः । 'सव्वे दोसे' सर्वेषां दोषाणां । 'तिक्खुत्तो सरित्तु' त्रिः स्मृत्वा । 'लेस्साहिं विसुज्झंतो' लेश्याभिर्विशुद्धाभिर्विशुद्ध्यन् । 'उवेदि' ढौकते आचार्यं । 'सल्लं' शल्यं । 'समुद्धरिदुं' समुद्धर्तुम् ॥५५५॥

आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स ।
पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिकरणवेलाए ॥५५६॥

'आलोयणादिया' आलोचनप्रतिक्रमणादिका क्रिया । अथवा 'आलोयण' आलोचना । 'दिया' दिवसे । 'पुण' पश्चात् । 'होइ' भवति । क्व ? 'पसत्थे' प्रशस्ते क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रशुद्धिरुक्ता । विशुद्धभावस्य विशुद्धि-

---

विशेषार्थ—इस समय मैं आलोचना करता हूँ। मेरे सम्यक्त्व आदिमें कोई भी दोष नहीं है। इस प्रकार दोषकी शंकासे मुक्त होकर मैं एक असहाय अथवा नित्य हूँ। यह शरीर मुझसे भिन्न है। दुर्गतिका कारण होनेसे मेरा उपकारी नहीं है। मैं तो निरतिचार रत्नत्रयस्वरूप ही हूँ। अतः देहके नाशसे मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होता। मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ। इस प्रकार एकत्व भावनामय होता है ॥५५३॥

गा०-टी०—एकत्व भावनामय होकर प्रायश्चित्तका आचरण करनेमें खिन्न नहीं होता। कर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाली मायाको छोड़नेमें तत्पर होता है। मैं शुद्धस्वरूप हूँ। मेरी यह माया अशुद्धि है ऐसा मानता है। अतः यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है। मैं आचार्यके पादमूलमें अपने दोषोंको जड़मूलसे दूर करूँगा, इस भावनासे अपने द्वारा किये गये सब दोषोंको स्मरण करता है ॥५५४॥

दोषोंके स्मरण करनेके पश्चात् क्या करता है यह कहते हैं—

गा०—इस प्रकार सरलभावको प्राप्त हुआ क्षपक सम्पूर्ण दोषोंको तीन बार स्मरण करके लेश्याओंसे विशुद्ध होता हुआ शल्योंको दूर करनेके लिए आचार्यके पास जाता है ॥५५५॥

गा०—आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया विशुद्ध परिणामवाले क्षपकके प्रशस्त क्षेत्रमें

कोऽभिप्रायो येन प्राङ्मुखो भवति । प्रारब्धपरानुग्रहणकार्यसिद्धेरङ्गं तद्दिगभिमुखता तिथिवारादिवदिति । उदङ्मुखता तु स्वयंप्रभादितीर्थकृतो विदेहस्थान् चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चैत्यायतनाभिमुखतापि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धेरङ्गं । निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्रवणं तदालोचयितुः सम्माननं । यथा कथंचिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरिति नोत्साहः परस्य स्यात् । एक एव शृणुयात्सूरिर्लज्जापरो बहूनां मध्ये नात्मदोषं प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदश्चास्य भवति, तथा कथयतः एकस्यैवालोचनां शृणुयात् दुरवधारत्वा-द्युगपदनेकवचनसन्दर्भस्य । तद्दोषनिग्रहं नायं करोति 'पडिच्छदि' । प्रतीच्छति इत्यनेनैवात्र गतत्वाद्विरहम्मि इति वचनं निरर्थकं । यद्यन्योऽपि तत्र स्यात् एकेनैव श्रुतं स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधश्चास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य सकाशे शृणुयात् इति एतत्सूच्यते । 'विरहम्मि' एकान्ते इति आचार्यशिक्षेति ।।५६२।।

शिष्यस्य आलोचनाक्रममाचष्टे—

काऊण य किरियम्मं पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ।
आलोएदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ।।५६३।।

'काऊण य किरियम्मं' कृतिकर्म वन्दना पूर्वं कृत्वा । 'पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो' प्रतिलेखनागृहीतः

करना है। आचार्य किस अभिप्रायसे पूरबकी ओर मुख करके बैठते हैं ?

समाधान—शुभ तिथि वार आदिकी तरह पूरबकी ओर मुख करना, प्रारम्भ किए गये क्षपक पर अनुग्रह करनेके कार्यकी सिद्धिका अंग है इसलिए आचार्य पूर्वाभिमुख बैठते हैं। विदेह क्षेत्र उत्तर दिशामें है। अतः विदेह क्षेत्रमें स्थित स्वयंप्रभ आदि तीर्थंकरोंको चित्तमें स्थापित करके उनके अभिमुख होनेसे कार्यकी सिद्धि होती है इस भावनासे उत्तर दिशाकी ओर मुख करते हैं। जिनालयके अभिमुख होना भी शुभ परिणामरूप होनेसे कार्यसिद्धिका अंग है। व्याकुलता रहित हो बैठकर सुनना आलोचना करने वालेका सम्मान है। जिस किसी प्रकारसे सुननेपर क्षपक समझेगा कि गुरुका मेरे प्रति आदरभाव नहीं है, इससे उसे उत्साह नहीं होगा। आचार्यको अकेले ही सुनना चाहिए क्योंकि लज्जालु क्षपक बहुत जनोंके बीचमें अपना दोष प्रकट करना नहीं पसन्द करता। सबके सामने कहते हुए उसके चित्तको खेद भी होता है। आचार्यको एक समयमें एककी ही आलोचना सुनना चाहिए क्योंकि एक साथ अनेक क्षपकोंके वचनोंको अव-धारण करना कठिन होता है। क्षपक कहेगा कि गुरु इसके दोषोंका निग्रह करना नहीं चाहता।

शंका—उक्त कथनसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि गुरु एकाकी आलोचना सुनते हैं। फिर गाथामें 'विरहम्मि' वचन निरर्थक है ?

समाधान—'विरहम्मि' या 'एकान्तमें' पदसे यह सूचित किया है यदि अन्य भी वहाँ हों तो वह एकके द्वारा ही सुना गया नहीं माना। सुनने वाले कहेंगे कि यह लज्जित नहीं होता। इसने इसका अपराध जान लिया। अतः अन्योंके पास होते हुए आचार्यको आलोचना नहीं सुनना चाहिए ।।५६२।।

शिष्यकी आलोचनाका क्रम कहते हैं—

---

१. [illegible]

प्राञ्जलीकरणशुद्धः । 'आलोएदि' कथयति । 'सुविहिदो' सुचारित्रः । 'सव्वे दोसे' पूर्वदोषान् । 'पमोत्तूण' त्यक्त्वा । आलोचना ॥५६३॥

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोषा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध —

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥५६४॥

'आकंपिय' अनुकम्प्यमात्मनि गमयित्वा आलोचना । 'अणुमाणिय' गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना । 'जं दिट्ठं' यद् दृष्टं दोषजातं परैस्तस्यालोचना । 'बादर च' स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना । 'सुहुमं च' सूक्ष्ममतिचारजातं तस्यालोचना । 'छण्णं' प्रच्छन्नं अदृष्टलोचना । 'सद्दाउलयं' शब्दाकुला यस्यां आलोचनायां सा शब्दाकुला । बहुजनशब्दः सामान्यविषयोऽपीह गुरुजनबाहुल्ये वर्तते । गुरोरालोचनाया प्रस्तुतत्वाद्बहुभ्यो गुरुभ्यो आलोचना क्रियते सा बहुजनशब्देनोच्यते । 'अव्वत्त' अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना । 'तस्सेवी' तानात्मसदृशान्दोषान् सेवते स तत्सेवी तस्य आलोचना । इदं सूत्रं । अस्य व्याख्यानोत्तरप्रबन्धः ॥५६४॥

आकंपिय इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ।
अणुकंपेऊण गणिं करेइ आलोयणं कोई ॥५६५॥

'भत्तेण व पाणेण व' स्वयं भिक्षालब्धिसम्पन्नत्वात्प्रवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्रासुकेन उद्गमादिदोष-

---

गा०—सुविहित अर्थात् सुचारित्र सम्पन्न क्षपक दक्षिण पार्श्वमें पीछीके साथ हाथोंकी अंजलिको मस्तकसे लगाकर मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक प्रथम गुरुको वन्दना करके सब दोषोंको त्याग आलोचना करता है ॥५६३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है कि गुरुकी वन्दना सिद्धभक्ति और योगभक्तिपूर्वक की जाती है ऐसा वृद्धोंका मत है। किन्तु श्रीचन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्र-भक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक कहते हैं ॥५६३॥

आलोचनाका क्रम कहकर उसके गुण-दोष कहते हैं—

गा०-टी०—१ आकम्पित-अपने पर गुरुकी कृपा प्राप्त करके आलोचना करना। २ अनुमानित-उपायसे गुरुका अभिप्राय जानकर आलोचना करना। ३ दूसरोंने जो दोष देखा उसकी आलोचना करना। ४. बादर-स्थूल अतिचारकी आलोचना करना। ५ सूक्ष्म अतिचारकी आलोचना करना। ६ छन्न-कोई न देखे इस प्रकार आलोचना करना। ७ शब्दाकुलित-शब्दोंकी भरमार होते समय आलोचना करना। ८ बहुजन शब्द सामान्य वाची होते हुए भी यहाँ गुरुजनोंकी बहुलतामें लिया गया है। गुरुसे आलोचना करनेका प्रकरण होनेसे बहुतसे गुरुओंसे आलोचना करना बहुजन है। ९ अव्यक्तसे आलोचना करना। १० तत्सेवी-जो अपने समान दोषोंका भागी है उससे आलोचना करना। इसका व्याख्यान आगे करेंगे ॥५६४॥

आकम्पित दोषको कहते हैं—

गा०—स्वयं भिक्षालब्धिसे युक्त होनेके कारण प्रवर्तक होकर आचार्यकी उद्गम आदि

स्पृष्टं । 'सरक्खे य' सचित्तधूलिसहिते स्थाने स्थितं गुप्तगामितं वा । 'गब्भिणी' गर्भिण्या । 'बालवच्छाए' बालवत्सया वा । दीयमानं गृहीतं इति ॥५८२॥

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहदे थूलं ।
भयमयमायाहिदओ जिणवयणपरंमुहो होदि ॥५८३॥

'इय' एवं । 'जो' य । 'दोस' अतिचारं । कीदृग्भूतं ? 'लहुगं' स्वल्पं । 'आलोचेदि' कथयति । 'विणिगूहदि' विनिगूहयति । किं ? 'थूलं' स्थूलं । 'भयमयमायाहिदओ' भयमदमायागृहीतचित्तः । महतो दोषान्यदि ब्रवीमि महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति भयं, त्यजन्ति मामिति वा । यथा निरतिचारत्वगर्वसमानभङ्गासह स्थूलान्न शक्नोति वक्तुं । कश्चित्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न निगदति । 'जिणवयणपरंमुहो होदि' जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥५८३॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण स गुरूणं ।
आलायणाए दोसो पंचमओ गुरुसयासे से ॥५८४॥

मायाशल्यत्यागस्य जिनवचनोपदर्शितस्य अकरणात् प्रसिद्धार्था ॥५८४॥

उत्तर गाथा—

रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुक्कडं जहा कडयं ।
अहवा जदुपूरिदयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५८५॥

'रसपीदयं व कडयं' रसोपलेपमात्रमात्रबहिः पीतवर्णकटकमिव । 'अथवा कवडुक्कडं' तनुसुवर्णपत्राच्छादितमिव वा अन्तर्निस्सारं । 'अथवा जदुपूरिदयं' अन्तर्निश्छद्रं जतुपूर्णकटकमिव । पीतता रसोपलिप्तस्य यथा तथाल्पा शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्तः । गुरुतरपापप्रच्छादनमात्रताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्तः । गुरुतर-

---

में बैठा, या सोया या खड़ा हुआ। या जलादिसे मैंने शरीरको छुआ। या सचित्त धूलिसे सहित स्थानमें मैं खड़ा हुआ या बैठा या सोया। अथवा आठ आदि मासका गर्भ धारण करने वाली या जिसे प्रसव किए एक माह भी नहीं बीता था ऐसी स्त्रीसे मैंने आहार ग्रहण किया ॥५८२॥

गा०—इस प्रकार जो अपने सूक्ष्म दोषको कहता है और भय, मद, माया सहित चित्त होनेसे स्थूल दोषको छिपाता है। यदि मैं महान् दोष कहता हूँ तो गुरु मुझे महान् प्रायश्चित्त देंगे या मुझे त्याग देंगे यह भय है। मेरा चारित्र निरतिचार है ऐसा गर्व करके स्थूल दोषोंको नहीं कहता।

कोई स्वभावसे ही मायावी होनेसे अपने दोषोंको नहीं कहता। ऐसा करने वाला साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५८३॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक गुरुके सामने सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषको नहीं कहता तो यह आलोचनाका पाँचवाँ दोष है क्योंकि उसने जिनागममें कहा मायाशल्यका त्याग नहीं किया ॥५८४॥

गा०-टी०—जैसे सोनेके रसके लेपसे लोहेका कड़ा बाहरसे पीला दिखाई देता है। अथवा जैसे सोनेके पतले पत्रसे ढका लोहेका कड़ा अन्दरसे निःसार होता है। अथवा लाखसे भरा कड़ा जैसा होता है उन्हींके समान यह आलोचना शुद्धि है। यहाँ तीन दृष्टान्तोंके द्वारा सूक्ष्म दोषकी आलोचनाकी निन्दा की गई है। जैसे सोनेके रससे लिप्त कड़ा ऊपरसे पीला होता है उसी प्रकार

मय प्रभृति निस्सारं वस्तु बाह्ये तु सुवर्णशकलेन प्रच्छादितं यथा तथा स्वल्पानपराधान्कथयति । पापभीरुता-प्रकर्षादियं मुनिरित्थं संयत कथं महत्यतिचारे प्रवर्तेत इति प्रत्ययजननाय अतः[1]साररहितता तृतीयेनोच्यते । सूक्ष्मं ॥५८५॥

जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ विराहणा होज्ज ।
पढमे बिदिए तदिए चउत्थए पंचमे च वदे ॥५८६॥

यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यचिद्विद्यते मूलगुणे, चारित्रे, तपसि वा अनशनादावुत्तरगुणे अतिचारो भवेत् । अहिंसादिके व्रते ॥५८६॥

को तस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा हवदि सुद्धो ।
इय पच्छण्णं पुच्छदि पायच्छित्तं करिस्सत्ति ॥५८७॥

'को तस्स दिज्जइ तवो' किं तस्मै दीयते तपः ? 'केण उवाएण होदि वा सुद्धो' केनोपायेन वा शुद्धो भवतीति । 'पच्छण्णं' प्रच्छन्नं । 'पुच्छदि' पृच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मयायमपराधः कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्तं इति न पृच्छति । किमर्थमेव प्रच्छन्नं पृच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिस्सति करिष्यामि ॥५८७॥

इय पच्छण्णं पुच्छिय साधू जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं ।
तो सो जिणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥५८८॥

'इय' एवं । 'पच्छण्ण' प्रच्छन्नं । 'पुच्छिय' पृष्टवा । 'जो साहू' यः साधुः । 'अप्पणो सोधिं कुणदि' आत्मनः शुद्धिं करोति । 'सो छट्ठो आलोयणा दोसो वुत्तो जिणेहिं' । षष्ठोऽयमालोचनादोषस्तस्य भवतीति जिनैरुक्तः ॥५८८॥

अल्प शुद्धि होती है यह प्रथम दृष्टान्तका भाव है । गुरुतर पापको ढाँकने मात्रको प्रकट करनेके लिए दूसरा दृष्टान्त है । भारी लोहा वगैरह वस्तु निस्सार होती है, बाहरमें उसे सोनेके पत्रसे जैसे ढाक देते हैं उसी प्रकार वह सूक्ष्म अपराधोंको कहता है । ऐसा वह यह विश्वास उत्पन्न करनेके लिए करता है कि गुरु समझें कि यह मुनि पापसे इतना भयभीत है कि सूक्ष्म पापको भी नहीं छिपाता तब बड़ा पाप कैसे कर सकता है ? तीसरे दृष्टान्तके द्वारा इस अन्तःसार रहित कहा है ॥५८५॥

गा०—यदि किसीके मूलगुण चारित्र अथवा उत्तर गुण अनशन आदि तपमें या अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग व्रतमें अतिचार लग जाये ॥५८६॥

गा०—तो उसे कौन सा तप दिया जाता है ? वह किस उपायसे शुद्ध होता है ? ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है । अर्थात् अपनेको लक्ष करके कि मुझसे यह अपराध हुआ है उसका क्या प्रायश्चित्त है ऐसा नहीं पूछता । किन्तु यह जानकर प्रायश्चित्त करूँगा इस भावसे पूछता है ॥५८७॥

गा०—इस प्रकार प्रच्छन्नरूपसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि करता है उसको छठा आलोचना दोष होता है ऐसा जिनदेवने कहा है ॥५८८॥

---

१. अंतस्सार–अ० ।

इय अव्वत्तं जइ सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं ।
आलोचणाए दोसो सत्तमओ सो गुरुमयासे ॥५९३॥

'जदि इय अव्वत्तं सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूण' यद्येवमव्यक्तं श्रावयन्दोषान्कथयति स्वगुरुभ्य । 'सत्त-मगो आलोयणादोसो' सप्तम आलोचनादोष.। 'गुरुसयासे' गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥५९३॥

अरहट्टघडीसरिसी अहवा चुंदछुदोवमा होइ ।
भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लुद्धरणसोधी ॥५९४॥

'अरहट्टघडीसरिसी' अरगर्तघटीसदृशी यथा घटी पूर्णाप्यपूर्णा। एवमपराधकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमपि अप्रवृत्तमेव गुरुणा अश्रुतत्वात् । 'अहवा चुंदछुदोवमा होइ' अथवा मथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुक्तापि बध्नाति एवमियं वाङ् मुखकुहरमुक्तापि मायाशल्यसहितेति बध्नाति । 'भिन्नघडसरिच्छा वा' भिन्नघटसदृशी वा । यथा भिन्नो घटो घटकार्यं जलधारणं जलाद्यानयनं वा कर्तुमसमर्थ एवमियमालोचना न निर्जरा संपादय-तीति साधर्म्यं । सद्दाउलय ॥५९४॥

आयरियपादमूले हु उवगदो वंदिऊण तिविहेण ।
कोई आलोचेज्ज हु सव्वे दोसे जहावत्ते ॥५९५॥

'आयरियपादमूले उवगदो' आचार्यपादमूलमुपगतः । 'तिविधेण वंदिदूण' मनोवाक्कायशुद्धया वन्दना कृत्वा । 'कोई' कश्चित् । 'आलोएज्ज हु' कथयेत् । 'सव्वे दोसे जहावत्ते' सर्वान्दोषान्स्थूलान्सूक्ष्मांश्च 'यथा-वृत्तान्मनोवाक्कायक्रियारूपान् कृतकारितानुमतभेदान् ॥५९५॥

तो दंसणचरणाधारएहिं सुत्तत्थमुव्वहंतेहिं ।
पवयणकुसलेहिं जहारिहं तवो तेहिं से दिण्णो ॥५९६॥

गा०—यदि अपने गुरुओंको स्पष्टरूपसे सुनाई न दे इस प्रकार दोषोंको कहता है तो गुरुके निकट शब्दाकुल नामक सातवें आलोचना दोषका भागी होता है ॥५९३॥

गा०-टी०—जैसे रहटमे लगी हुई पानी भरनेकी घटिकाएँ भरकर भी रीति होती जाती हैं उसी प्रकार वह आलोचना करनेवाला मुनि है। वह अपने मुखसे अपराध प्रकट करनेके लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त ही है क्योंकि गुरुने उसे नहीं सुना। अथवा वह मन्थन चर्मपालिकाके समान है। जैसे मथानी डोरीसे छूटते हुए भी डोरीसे बँधती जाती है उसी प्रकार उसकी आलो-चनावाणी मुखरूपी गर्तसे छूटकर भी मायाशल्यसे सहित होनेसे कर्मसे बद्ध करती है। अथवा फूटे घटके समान है। जैसे फूटा घड़ा घटका कार्य जलधारण अथवा जल आदिका लाना करनेमे असमर्थ होता है। उसी प्रकार यह आलोचना निर्जरारूप कार्यको नहीं करती। यह इन दृष्टान्तों-में और दार्ष्टान्तमें समानता है। यह शब्दाकुलित नामक सातवाँ आलोचना दोष है ॥५९४॥

गा०—कोई साधु आचार्यके पादमूलमे जाकर, मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक वन्दना करके मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदरूप सब स्थूल और सूक्ष्म दोषोंको कहता है ॥५९५॥

---

१ यथावृत्त अ०।

तथा इय । 'सल्लुद्धरणसोधी' आलोचनाशुद्धि । मायामृषापरित्यागेन कृता अतिशोभना सद्वृत्ता दोषा' गुरुदत्तप्रायश्चित्ताश्रद्धानशल्यसमन्वितत्वाद्दु:खावहं[2] त्वात् । बहुजण ॥५९९॥

आगमदो वा बालो परियाएण व हवेज्ज जो बालो ।
तस्स सगं दुच्चरियं आलोचेदूण बालमदी ॥६००॥

'आगमदो वा बालो' आगमेन ज्ञानेन वा बाल । 'परियाएण व हवेज्ज जो बालो' चारित्रबालो वा यो भवेत् । य स 'तस्स' तस्मै । 'सग दुच्चरिदं' आत्मीयमतिचार । 'आलोचेदूण बालमदी' उक्त्वा बालबुद्धि ॥६००॥

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।
बालस्सालोचेंतो णवमो आलोचणा दोसो ॥६०१॥

'आलोचिद' कथितं । 'असेसं सव्वं' निरवशेषं सर्वं । मनोवाक्कायकृतोऽतिचारः सर्वशब्देन उच्यते । कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याख्यायन्ते । 'मएत्ति जाणादि' मयेति जानाति । 'बालस्सालोचेंतो' ज्ञानबालाय चारित्रबालाय वा कथयति । 'णवमो आलोयणादोसो' नवम आलोचनादोष ॥६०१॥

कूडहिरण्णं जह णिच्छएण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ।
पच्छा होदि अपत्थं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०२॥

कूडहिरण्णं जह पच्छा अपत्या णिच्छएण होदिति पदघटना । यथा कूटहिरण्य धनमिति गृहीत पश्चादपथ्य निश्चयतो भवति अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि इयमपि बालस्य क्रियमाणालोचना अनुरूपप्रायश्चित्तप्राप्तौ अनुपायत्वात् सदृशी । न ज्ञानबालः परार्थयोग्यप्रायश्चित्त दातु' क्षम । 'दुज्जणकदा य मेत्ती'

नही देता ? देता ही है । उक्त आलोचना भी उसी घावकी तरह है । यद्यपि यह आलोचना माया और असत्यको त्यागकर की जानेसे अति सुन्दर है, दोष रहित है । तथापि गुरुके द्वारा दिए गये प्रायश्चित्तके प्रति अश्रद्धान रूपी शल्यसे युक्त होनेसे दुःखदायी है । यह बहुजन नामक दोष है ॥५९९॥

गा०—जो मुनि आगम अर्थात् ज्ञानसे बालक है अथवा जो चारित्रसे बालक है अर्थात् जिसे शास्त्रज्ञान भी नही है और चारित्र भी जिसका हीन है उसके सन्मुख जो अज्ञानी अपने दोषकी आलोचना करता है ॥६००॥

गा०—और मैंने अपने मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे किए सब दोष कह दिये, ऐसा जानता है । इस प्रकार ज्ञान बालक और चारित्र बालक मुनिसे दोषोका निवेदन करना नौवाँ आलोचना दोष है । इसे अव्यक्त दोष कहते हैं ॥६०१॥

गा०-टी०—जैसे नकली सोनेको धन समझकर ग्रहण करे तो पीछेसे वह निश्चय ही अहितकर होता है क्योंकि उससे यदि कुछ इच्छित वस्तु खरीदना चाहे तो नही खरीद सकते । इसी प्रकार बालमुनिके सन्मुख की गई आलोचना भी अनुरूप प्रायश्चित्तकी प्राप्तिका उपाय न होनेसे नकली सोनेके ही समान अहितकारी है । क्योकि ज्ञानसे बालमुनि परमार्थके योग्य प्रायश्चित्त

---

१. महत्तदोषानि–मूलारा० । २ दु:खावहा–आ० ।

'तधिमा सल्लुद्धरणसोधी' आलोचनाशुद्धि दोषं न निरस्यति। तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजल पङ्कं वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्त वस्त्र शोधयति तथाभूतमेव लोहितं। एवमतीचारागुद्धि अशुद्धरत्नत्रयोद्देशप्रवृत्ते अशुद्धयालोचनया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥६०६॥

पवयणणिण्हवयाणं जह दुक्कडपावयं करेंताणं।
मिद्धिगमणमइदूरं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०७॥

'पवयणणिह्नवयाणं' जिनप्रणीतवचननिह्नवकारिणां। 'दुक्कडपावगं करेंताणं' दुष्करपापकारिणां। 'जह सिद्धिगमणमइदूरं' यथा सिद्धगमनमतिदुष्कर। तस्सेवी गद ॥६०७॥

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ।
णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥६०८॥

'सो' क्षपक। 'तदो' तत आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात्। 'दोसे णिज्जूहिय' दोषास्त्यक्त्वा। 'दस वि' दशापि। 'भयमायामोसमाणलज्जाओ' भयं माया मनोगता मृषा वचनगतां, मान लज्जा च त्यक्त्वा। 'संसुद्धो' सम्यक्शुद्ध। 'विधिना आलोयणं करेदि' विधिना आलोचना करोति ॥६०८॥

कोऽसावालोचनाविधिरित्याशङ्क्याह—

णट्टचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च मोत्तूण।
आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥६०९॥

'णट्टचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च' हस्तनर्तनं, भ्रूक्षेपं, चलन गात्रस्य, वलिन, गृहिवचन, मूकवत्संज्ञाकरण, धर्घरस्वर च मुक्त्वा। 'आलोचेदि' कथयति। 'विणीदो' कृताञ्जलिपुटोऽवनतशिरस्क। 'अदुदुदं' अद्रुत। अविलम्बितं। स्पष्टं। 'गुरुणो अहिमुहत्थो' गुरोरभिमुखः ॥६०९॥

उसी तरह यह आलोचना शुद्धि दोषको दूर नही करती। उसके विपरीत निर्मल जल वस्त्रमे लगे कीचडको दूर करता है। किन्तु रुधिरसे लिप्त वस्त्रको रुधिर शुद्ध नही कर सकता। इसी प्रकार अशुद्ध रत्नत्रयवाले मुनिसे की गई अशुद्ध आलोचनासे अतीचार सम्बन्धी अशुद्धि दूर नही होती। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमे समानता जानना ॥६०६॥

गा०—जैसे जिन भगवान्के वचनोका लोप करनेवाले और दुष्कर पाप करनेवालोका मुक्तिगमन अति दुष्कर है उसी प्रकार पार्श्वस्थ मुनिसे दोषोको कहनेवालोकी शुद्धि अति दुष्कर है। यह तत्सेवी नामक दसवे दोषका कथन हुआ ॥६०७॥

गा०—सदोष आलोचनासे शुद्धि नही होती, इसलिए निर्यापकाचार्यके पादमूलमे उपस्थित क्षपक दसो दोषोको तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जाको त्यागकर सम्यक्प्रकारसे शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करता है ॥६०८॥

वह आलोचनाकी विधि क्या है, यह कहते हैं—

गा०—हाथका नचाना, भौं मटकाना, शरीरको मोडना, गृहस्थकी तरह बोलना, गूँगेकी तरह सकेत करना और घर्घर स्वरको त्याग कर, दोनों हाथोकी अजली बनाकर, सिर नवाकर गुरुके सामने उनकी बायी ओर एक हाथ दूर गवासनमें बैठकर, न अति जल्दीमे और न अति रुकरुक कर स्पष्ट आलोचना करता है ॥६०९॥

भिरुतर्धनं, अग्निमेवा [1]शीतापनोदनार्थं प्रावरणग्रहणं वा, उद्वर्तनं, म्रक्षणं वा। उपकरणं विनश्यतीति तेन स्वकार्याकरणं यथा पिच्छविनाशभयादप्रमार्जनं इत्यादिकं। म्रक्षणं तैलादिना, कमण्डल्वादीनां प्रक्षालनं वा, वसतितृणादिभक्षणस्य भञ्जनादेर्वा ममतया निवारणं, बहूनां यतीनां प्रवेशनं मदीयं कुलं न सहते इति भाषणं, प्रवेशे कोपः, बहूनां न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्यैव वैयावृत्यकरणं। निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र म[2]मतया ग्रामे नगरे देशे वा अवस्थाननिषेधनं। यतीनां सम्बन्धिनां सुखेन सुखमात्मनो दुःखेन दुःखमित्यादिरतिचारः। पार्श्वस्थानां वन्दना, उपकरणादिदानं वा तदुल्लङ्घनाक्षमर्थता। गुरुत्वा ऋद्धित्यागासहता, ऋद्धिगौरवं, परिवारे कृतादरः। परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन। अभिमतर[3]साल्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरां रसगौरवं। निकामभोजने, निकामशयनादौ वा आसक्तिः। सातगौरवं अनात्मवशतया प्रवर्तितातिचारः। उन्मादेन, पित्तेन पिशाचादेशेन वा परवशता। अथवा ज्ञातिभिः परिगृहीतस्य बलात्कारेण गन्धमाल्यादिसेवा प्रत्याख्या[4]तभोजनं, रात्रिभोजनं मुखवासताम्बूलादिभक्षणं वा स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलादब्रह्मकरणं। चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्यं। उपधिशब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः। ज्ञात्वा दातृकुलं पूर्वमन्येभ्यः

मुनियोंमें ममत्वभाव स्नेह है। उससे हुआ अतीचार स्नेह कहाता है। मेरे इस शरीरको शीत कष्ट देता है। इसलिए चटाई वगैरहसे शीतको रोकना, आग तापना, शीत दूर करनेके लिए कुछ प्रावरण ग्रहण करना, उबटन लगाना, तेलकी मालिश करना। उपकरण नष्ट हो जायेगा इसलिए उससे अपना कार्य न करना, जैसे पिच्छीके नाशके भयसे उससे प्रमार्जन न करना, कमंडलु आदिको धोना। वसतिके तृण आदि खानेको अथवा उसके टूटने आदिको ममत्व भावसे रोकना, मेरे कुलमें बहुत यतियोंका प्रवेश सह्य नहीं है ऐसा कहना, प्रवेश करने पर कोप करना, बहुत यतियोंका प्रवेश देनेका निषेध करना, अपने कुलकी ही वैयावृत्य करना, निमित्त आदिका उपदेश देना, ममत्व होनेसे ग्राम नगर अथवा देशमें ठहरनेका निषेध न करना, सम्बन्धी यतियोंके सुखसे अपनेको सुखी और दुःखमें दुःखी मानना इत्यादि अतिचार हैं। पार्श्वस्थ आदि मुनियोंकी वन्दना करना, उन्हें उपकरण आदि देना, उनका उल्लंघन करनेमें असमर्थ होना, इत्यादि अतीचारोंकी आलोचना करना है।

१४ ऋद्धिके त्यागमें असमर्थ होना ऋद्धिगारव है। मुनि परिवारमें आदरभाव होनेसे प्रिय वचन और उपकरण दानके द्वारा दूसरोंको अपनाता है। इष्ट रसका त्याग न करना और अनिष्ट रसमें अनादर होना रसगारव है। अति भोजन अथवा अतिशयनमें आसक्ति सात गौरव है। ये गारव सम्बन्धी अतिचार हैं।

१५ अपने वशमें स्वयं न होनेसे अतिचार होते हैं। उन्मादसे, पित्तके प्रकोपसे अथवा पिशाच आदिके कारण परवशता होती है। अथवा जातिके लोगोंके द्वारा बलपूर्वक पकडकर गन्ध माल्य आदिका सेवन, त्यागी हुई वस्तुका भोजन, रात्रि भोजन, मुखवास, ताम्बूल आदिका भक्षण कराया गया है। स्त्रियों अथवा नपुंसकोंके द्वारा बलपूर्वक अब्रह्म सेवन कराया गया हो।

१६ चार प्रकारकी स्वाध्याय अथवा आवश्यकोंमें आलस्य किया हो।

१७ उपधि शब्दसे माया कही है अर्थात् छिपकर अनाचार करना। दाताका घर जानकर

---

१. ग्रीष्मातपनो–आ० मु०। २. मतस्य ग्रा–आ०। ३. रसत्या–अ० आ०। ४. ख्यान भो–अ० आ०।

प्रवेश' । कार्यनिर्देशेन यथा परे न जानन्ति तथा वा । भक्तं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तमिति कथनं । ग्लानस्याचार्यादेर्वा वैयावृत्यं करिष्यामि इति किञ्चिद्गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवा । स्वप्नेनायोग्यप्रतिसेवा सुमिणमित्युच्यते । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयेण प्रवृत्तस्यातिचारस्यान्यथा कथनं पलिकुञ्चनशब्देनोच्यते । कथं ? सचित्तसेवां कृत्वा अचित्त सेवितमिति । अचित्तं सेवित्वा सचित्त सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिक्षे कृत दुर्भिक्षे कृतमिति, दिवसे कृत रात्रौ कृतमिति, अकषायतया संपादितं तीव्रकोपादिना संपादितमिति । यथावत्कृतालोचनो यतिर्यावत्सूरि प्रायश्चित्त न प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेदं मम प्रायश्चित्तं इति स्वयं गृह्णाति स स्वय शोधक । एवं मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदनं । एवमेतैर्दशादिभिः समानान्तोऽतिचार 'उद्धरदि' कथयति । 'कम' स्वकृतातिचारक्रम । 'अभिदंतो' अनिराकुर्वन् ॥६१३॥

इय पयविभागियाए व ओघियाए व सल्लमुद्धरिय ।
सव्वगुणसोधिकंखी गुरूवएसं समायरइ ॥६१४॥

'इय' एव । पदविभागियाए व विशेषालोचनया वा । 'ओघियाए व' सामान्यालोचनया वा । 'सल्लं' मायाशल्य । 'उद्धरिय' उद्धृत्य । 'सव्वगुणसोधिकंखी' सर्वेषां गुणानां दर्शनज्ञानचारित्रतपसां शुद्धिमभिलषन् । 'गुरुवएसं' गुरुणोपदिष्ट प्रायश्चित्त । 'समाचियदि' सम्यगादत्ते । रोष दैन्यमश्रद्धानं च त्यक्त्वा ॥६१४॥

परिहार्यालोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचना निन्दना गुणवतीति वदति—

दूसरे साधुओंसे पहले ही किसी बहानेसे भिक्षाके लिए पहुँचना जिससे दूसरे न जान सकें। या अच्छा भोजन करके यह कहना कि मैंने नीरस भोजन किया है। मैं रोगीकी या आचार्यकी वैयावृत्य करूँगा, इस बहानेसे कुछ वस्तु ग्रहण करके स्वयं उसका सेवन करना।

१८ स्वप्नमें अयोग्य वस्तुके सेवनको सुमिण कहते हैं।

१९. द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे हुए अतिचारको अन्य रूपसे कहना पलिकुंचन शब्दसे कहा जाता है। जैसे सचित्तका सेवन करके कहना कि मैंने अचित्तका सेवन किया है। अचित्तका सेवन करके कहना कि सचित्तका सेवन किया है। तथा अपने स्थान पर किये गये दोषको 'मार्गमें किया है' ऐसा कहना। सुभिक्षमें किये गये दोषको दुर्भिक्षमें किया कहना। दिनमें किये को रातमें किया कहना। अकषाय पूर्वक कियेको कषायपूर्वक किया कहना।

२० विधिपूर्वक आलोचना करके आचार्यके प्रायश्चित्त देनेसे पहले स्वयं ही 'यह मेरा प्रायश्चित्त है' इस प्रकार जो स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करता है उसे स्वयं शोधक कहते हैं। उसे आचार्यसे निवेदन करना चाहिए मैंने इस प्रकार स्वयं शुद्धि की है।

इस प्रकार क्षपक अपने द्वारा किये गये दोषोंके क्रमका उल्लंघन न करके दशादिसे हुए अतिचारोंको गुरुसे कहता है ॥६१३॥

गा०—इस प्रकार विशेष आलोचना अथवा सामान्य आलोचनाके द्वारा मायाशल्यको दूर करके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन सब गुणोंकी शुद्धिका इच्छुक क्षपक गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको रोष, दीनता और अश्रद्धाको त्यागकर स्वीकार करता है ॥६१४॥

त्यागने योग्य आलोचना दोषोंको कहकर गुरुके समीपमें आलोचना और निन्दाके गुण कहते हैं—

कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ।
होदि अचिरेण लहुओ उरुहियभारोव्व भारवहो ॥६१५॥

'कदपावो वि मणुस्सो' कृतपापोऽपि मनुष्य समर्जिताशुभकर्मसंचयोऽपि मनुष्य । अथवा पापस्याशुभकर्मणः कारणभूतासंयमादिरिह पापशब्देनोच्यते, तेनायमर्थ —कदपावोऽवि कृतासयमादिकोऽपि । 'आलोयणणिंदओ' कृतालोचन कृतनिन्दितश्च । क्व ? 'गुरुसयासे' गुरुसमीपे । 'होदि' भवति । 'अचिरेण लहुओ' लघुतम. 'उरुहियभारोव्व' अवतारितभार इव । 'भारवहो' भारस्य वोढा ॥६१५॥

भावशुद्ध्यर्था आलोचना असत्या भावशुद्धौ को वा दोष इत्याह—

सुबहुस्सुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेसु ।
ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होंति ॥६१६॥

'सुबहुस्सुदा वि संता' सुष्ठु बहुश्रुता अपि सन्त । 'जे मूढा' ये मूढा । 'सीलसंजमगुणेसु' शीले क्षमादिके धर्मे, संयमे, व्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतप सु च । 'भावसुद्धिं' परिणामेन शुद्धि । 'ण उवेंति' नोपयान्ति ते । 'दुक्खणिहेलणा' दु खैर्निपीड्या । 'होंति' भवन्ति ॥६१६॥

कृतायामालोचनायां गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणित्ता तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण ।
जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्ठवेदव्वं ॥६१७॥

'आलोयण' आलोचना । 'सुणित्ता' श्रुत्वा । 'तिक्खुत्तो' त्रि पृष्ट्वा । 'भिक्खुणो' भिक्षो । 'उपायेण' उपायेन । 'जदि उज्जुगोत्ति य' यदि ऋजुरयमिति । 'णज्जइ' ज्ञायते । [1]वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण ऋजुता । 'जहा' यथा । 'कद' कृत पाप शुद्ध्यदिति दोषः शुद्धयति तथा 'पट्ठवेदव्वं' प्रायश्चित्त दातव्य ।

गा०—'कृतपाप' अर्थात् अशुभकर्मका सचय करनेवाला भी मनुष्य । अथवा पाप अर्थात् अशुभकर्मके कारणभूत असंयम आदिको यहाँ पापशब्दसे कहा है । तब यह अर्थ होता है—असंयम आदि करनेवाला भी मनुष्य गुरुके समीप आलोचना और निन्दा करके शीघ्र ही हलका हो जाता है जैसे बोझको उतारनेपर बोझा ढोनेवाला हलका हो जाता है ॥६१५॥

भावोंकी शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है । भावशुद्धिके अभावमें दोष कहते हैं—

गा०—जो मूढ़ मुनि बहुत अच्छे बहुश्रुत विद्वान् होकर भी क्षमा आदि धर्ममें, संयममें, व्रतोंमें, ज्ञान दर्शन और तप गुणोंमें भावशुद्धि नहीं रखते वे दु:खोंसे पीडित होते है ॥६१६॥

आलोचना करनेपर गुरुको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—आलोचना सुनकर गुरु भिक्षुसे तीन बार उपायसे पूछते हैं—तुम्हारा अपराध क्या है मैं भूल गया या मैंने सुना नहीं । इत्यादि उपायसे गुरु तीन बार पूछते हैं । यदि 'वचन' कहनेके ढगसे और आचरणसे जानते हैं कि यह सरल हृदय है तो जिस प्रकार किया पापशुद्ध हो

---

[1]. ते तनुभवनेन वाचार–आ० ।

अनुग्रामीणग्रामभावान [illegible] निरतिचारत्वाभावात् ॥६१७॥

[illegible] आह—

आदुरसल्ले चोरे मालागारगयकज्ज णिवगुणो ।
आलोयणाए वक्काए उज्जुगाए य आहरणे ॥६१८॥

'आदुरसल्ले' आतुरो [illegible] पृच्छ्यते । किं भुक्तं ? [illegible] रोगस्य वृत्तिरिति । [illegible] शरीरस्य [illegible] । [illegible] 'आलोयणाए' आलोचनायां । 'वक्काए' [illegible] 'उजुगाए' ऋजुकायां 'आहरणे' दृष्टान्त । यदि [illegible] वक्रेति ग्राह्य ॥६१८॥

पडिसेवणातिचारे जदि' णो जंपदि जधाकमं सव्वे ।
ण करेंति तदो सुद्धि आगमववहारिणो तस्स ॥६१९॥

'पडिसेवणातिचारे' प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारान् । तत्र प्रतिसेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभाव विकल्पेन । द्रव्यप्रतिसेवा त्रिप्रकारा सचित्तमचित्तं मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात् । [illegible] प्रयोग –चित्तमात्र जगतत्त्व ज्ञानमात्रमिति यावत । ज्ञानस्यात्मन [illegible]

उस प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए। जो सरल हृदय नही होता उसके भावशुद्धि नही होती इसलिए व्यवहार कुशल आचार्य उसे प्रायश्चित्त नही देते। भावशुद्धिके बिना पाप दूर नहीं होता। इसलिए उसके रत्नत्रय निरतिचार नही होते ॥६१७॥

सरल या वक्र आलोचना कैसी होती है जिसके होनेपर प्रायश्चित्त दिया जाता है या नहीं दिया जाता, यह कहते हैं—

गा०-टी०—वैद्य रोगीसे तीन बार पूछता है—तुमने क्या खाया था, क्या किया रोगकी क्या दशा है ? शरीरमें लगे घावकी भी तीन बार परीक्षा की जाती है कि घाव भरा या नही ? चोरी होनेपर तीन बार पूछा जाता है कि क्या-क्या चोरीमे गया है, कैसे चोरी हुई मालाकारसे भी तीन बार पूछा जाता है कि तेरी मालाका क्या मूल्य है। राजाने जिसे करनेकी आज्ञा दी है वह तीन बार पूछता है कि क्या इस प्रकार करूँ ? इसी प्रकार आलोचना परीक्षा भी तीन बार की जाती है। अपना अपराध पुन. कहो ? ये सरल और वक्र आलोचना सम्बन्धमें पाँच दृष्टान्त हैं। यदि तीनों बार भी एकरूपसे ही कहता है तो सरल आलोचना यदि अन्य अन्यरूपसे कहता है तो वक्र आलोचना है ऐसा समझना चाहिए ॥६१८॥

गा०-टी०—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे प्रतिसेवनाके चार भेद हैं। द्रव्यप्रतिसेवनाके तीन प्रकार हैं क्योंकि सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे द्रव्यके तीन प्रकार हैं। ज्ञानको कहते हैं। कहा जाता है—जगत् तत्त्व चित्तमात्र है अर्थात् ज्ञानमात्र है। ज्ञान आत्म

---

१. [illegible]

धानं । सह चित्तेनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्यं । न विद्यते चित्तं आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्तं । मिश्रं नाम सचित्ताचित्तपुद्गलसंहतिः । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः जीवपरिगृहीताः सचित्तशब्देनोच्यन्ते । अचित्तं जीवेन परित्यक्तं शरीरं [1]तयोरुपादाय क्षेत्रादिप्रतिसेवना च योज्या । 'जदि णो[2] जपदि' न कथयेद्यदि । 'जहाकम' यथाक्रमं । 'सव्वे' सर्वान् स्थूलान्सूक्ष्मांश्चातिचारान् । 'ण करंति' न कुर्वन्ति । 'तदो' ततः । 'तस्स सोधिं' तस्य शुद्धिं । 'आगमववहारिणो' आगमानुसारेण व्यवहरन्तः ।

एत्थ दु उज्जुगभावा ववहरिदव्वा भवंति ते पुरिसा ।
संका परिहरिदव्वा जेमे [3]पदुहिं जंहि विसुद्धा ॥ [ ]

इति वचनात् सर्वमतिचारं निवेदयत एव ऋजुता, तस्यैव प्रायश्चित्तदानं ॥६१९॥

पडिसेवणादिचारे जदि [4]आजंपदि जहाक्कमं सव्वे ।
कुव्वंति तदो सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥६२०॥

स्पष्टा गाथा ॥६२०॥

यतिना निर्दोषायामालोचनायां कृतायां गणिना किं कर्तव्यमित्याशङ्कितं तद्व्यापारं कथयति—

सम्मं खवएणालोचिदम्मि छेदसुदजाणगो गणी सो ।
तो आगममीमंसं करेदि सुत्ते य अत्थे य ॥६२१॥

कथंचित् अभिन्न होता है अथवा आत्मामें रहता है इसलिए उसे चित्त शब्दसे कहते हैं। जो चित्त अर्थात् आत्माके साथ रहता है वह सचित्त है। अर्थात् जीवके शरीररूपसे स्थित पुद्गलद्रव्य सचित्त है। और जिस पुद्गलमें चित्त अर्थात् आत्मा नहीं है वह अचित्त है। सचित्त और अचित्त पुद्गलोंका समूह मिश्र है। जीवके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जिनमें जीव वर्तमान है उन पृथिवी, जल, आग, वायु और वनस्पतिको सचित्त कहते हैं। जीवके द्वारा त्यागे हुए शरीरको अचित्त कहते हैं। इन सचित्त अचित्तको लेकर क्षेत्र प्रतिसेवना, काल प्रतिसेवना और भाव प्रतिसेवना लगा लेना चाहिए। इन प्रतिसेवनाके निमित्तसे हुए सब सूक्ष्म और स्थूल दोषोंको यथाक्रम यदि नहीं कहता तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि नहीं करते। आगममें कहा है—

'जो पुरुष सरल भावसे अपने दोष कहते हैं वे प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य होते हैं। और जिनके विषयमें शंका हो वे प्रायश्चित्त देनेके योग्य नहीं हैं।'

अतः सब अतिचारोंको कहने वालेके ही सरलता होती है। उसीको प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥६१९॥

गा०—प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारोंको क्रमानुसार यदि कहता है तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते हैं ॥६२०॥

यतिके निर्दोष आलोचना करने पर आचार्यको क्या करना चाहिए? ऐसी आशंका करने पर उसे कहते हैं—

---

१ तयोरुपादानं क्षेत्रादि प्रतिसेवना योज्या–आ० मु०। २. जदि णाकुटिदि–अ०। ३ पादहि अ०। ४. आउटेदि अ०।

दुर्बलं तपोयोगामर्हमिति एवमादिकस्तन्निरामाय सावद्यविशेषणं सावद्यसंक्लिष्टं। 'गालेदि गुणे' गालयति गुणान् दर्शनज्ञानचारित्राणि। 'णवं च आदियदि' कर्म च आदत्ते अभिनवं। 'पुव्वकदं च दढं कुणदि' पूर्वार्जितं च दृढीकरोति कषायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिबन्धस्य। 'दुग्गदिभयकारणं' दुर्गतयः नारकत्वादयः विचित्रवेदना-सहस्रसंकुलास्तासु भयं वर्द्धयति, यत्कर्माशुभं तदादत्ते स्थिरयति ॥६२३॥

पडिसेवित्ता कोई पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो।
संवेगजणिदकरणो देसं घाएज्ज सव्वं वा ॥६२४॥

'पडिसेवित्ता कोई' कश्चित्कृतासंयमादिसेवनोऽपि। 'पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो' पश्चात्तापेन दह्यमान-चित्तः। 'संवेगजणिदकरणो' संसारभीरुताजनितसंयमक्रियः। 'देसं सव्वं वा घादेज्ज' आत्माभिनवसंचितकर्म-पुद्गलस्कंधैकदेशनिर्जरां वा करोति, समस्तं वा तद् घातयेत्। यदि मध्यमो मन्दो वा परिणामो देशं घात-यति। अथ तीव्रः समस्तं इति भाव. ॥६२४॥

तो णच्चा सुत्तविदू णालियधमगो व तस्स परिणामं।
जावदिएण विसुज्झदि तावदियं देदि जिदकरणो ॥६२५॥

'तो' तस्मात्। 'णच्चा' ज्ञात्वा। 'सुत्तविदू' प्रायश्चित्तसूत्रज्ञः सूरि। किं? 'तस्स परिणामं' [illegible] परापधस्य परिणाम। कथ परकीयः परिणामो ज्ञायते इति चेन् सहवासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान [illegible] मेव तत्कार्योपलम्भात्, तमेव वा परिपृच्छ्य, कीदृग्भवतः परिणामोऽतिचारसमकाल वृत्त इति। किमिव? 'णालि-यधमगोव्व' नालिक्या यो धमति सुवर्णकारः सोऽग्नेर्ज्वलावन्त विदित्वा धमन करोति, एवं सूरिरपि [illegible] तनुतरं महद्वेति विदित्वा। 'जावदिएण' यावता प्रायश्चित्तेन। 'विसुज्झदि' विशुद्धयति। 'तावदियं' [illegible] माणं प्रायश्चित्तं अल्पं महद्वा। 'देदि' ददाति। 'जिदकरणो' परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः ॥६२५॥

नहीं होता? या मेरे सम्पूर्ण चारित्र क्यों नहीं है? मेरा शरीर क्यों इतना दुर्बल है [illegible] को सहन नहीं करता? इत्यादि संक्लेश चित्त बाधारूप है। उसमें अलग [illegible] विशेषण देकर 'सावद्य संक्लिष्ट' कहा है। यह सावद्य संक्लेश सम्यग्दर्शन [illegible] चारित्र गुणोंका नाश करता है। नवीन कर्मका बन्ध करता है। पूर्व संचित [illegible] है। क्योंकि स्थिति बन्ध कषाययुक्त परिणामके निमित्तसे होता है। नाना [illegible] नाओंसे व्याप्त नारक आदि दुर्गतियोंके भयको बढ़ाता है। अशुभ कर्मको [illegible]

गा०-टी०—कोई असयम आदिका सेवन करके भी पश्चात्ताप [illegible] जलाता है अर्थात् उसे अपने कर्म पर पश्चात्ताप होता है और वह [illegible] का पालन करता है। तब वह अपने द्वारा संचित नवीन कर्म पुद्गल [illegible] करता है अथवा समस्त कर्म पुद्गल स्कन्धका घात करता है। [illegible] होते हैं तब एक देशकी निर्जरा करता है। और तीव्र होते हैं [illegible]

गा०-टी०—अतः प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता और [illegible] आचार्य उस अपराधी भिक्षुके परिणामोंको जानकर जितने [illegible] ही थोड़ा या बहुत प्रायश्चित्त देते हैं। जैसे सुवर्णकार [illegible] धौंकनी से धौंकता है। उसी प्रकार आचार्य भी उसका [illegible] प्रायश्चित्त देते हैं। दूसरेके परिणाम आचार्य कैसे जानते हैं [illegible]

'गुरुसयासे' गुरुसमीपे। 'विहरदि' वर्तते। 'सुविसुद्धप्पा' सुष्ठु विशुद्धात्मा। 'अब्भुज्जदचरणगुणकंखी' अभ्युद्यतचारित्रगुणाकांक्षी ॥६२९॥

एवं वासारत्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं।
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारम्मि ॥६३०॥

'एवं वासारत्ते' वर्षाकाले 'फासेदूण' स्पृष्ट्वा। 'विविधं' नानाप्रकारं। 'तवोकम्मं' तपःकर्म। 'संथारं' संस्तरं। 'पडिवज्जदि' प्रतिपद्यते। 'हेमंते' शीतकाले। 'सुहविहारम्मि' सुखविहारे। अनशने समुपगतस्य महान्परिश्रमो न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते ॥६३०॥

सव्वपरिग्गाइयस्स य पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओगेण।
सव्वं समारुहित्ता गुणसंभारं पविहरिज्जा ॥६३१॥

'सव्वपरिसाइयणासय' सर्वस्य ज्ञानदर्शनचारित्रातिचारस्य अतिचारात्। 'पडिक्कमित्तु' प्रतिनिवृत्तो भूत्वा। 'गुरुणिओगेण' गुरूपदेशेन। 'गुणसभारं' गुणानां समूहं। 'सव्व' कृत्स्नं 'समारुहित्ता' सम्प्राप्य। 'पविहरिज्ज' प्रवर्तेत। आलोचनागुणदोषा ॥६३१॥

कीदृशी वसतिर्योग्या का वा नेत्येतदाचष्टे उत्तरेण ग्रन्थेन तत्रायोग्यां निरूपयति—

गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य।
णत्तियरजया पाडहियडोंबणडरायमग्गे य ॥६३२॥

'गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य' गायनशाला, नर्तनशाला, गजानामश्वानां च शालायां, तिलपीडनकुम्भकारशालायां च यन्त्रशालायां रजकपाटहिकडोंबनटगृहाणां समीपे। राजमार्गस्य वा समीपभूतायां वसतौ ॥६३२॥

गा०—यह क्षपक सामाचारी करके विधिपूर्वक प्रायश्चित्त द्वारा अपने दोषोंकी विशुद्धि करता है। और अच्छी तरहसे आत्माको विशुद्ध करके स्वीकृत चारित्रमें गुणोंकी इच्छा करता हुआ गुरुके पासमें साधना करता है ॥६२९॥

गा०—इस प्रकार वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतुमें संस्तरका आश्रय लेता है। हेमन्त ऋतुमें अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नहीं होता, सुखपूर्वक हो जाता है इसलिए उसे सुखविहार कहा है ॥६३०॥

गा०—समस्त ज्ञान दर्शन और चारित्रके अतिचारोंसे शुद्ध होकर, गुरुके उपदेशसे समस्त गुणोंके समूहको धारण करके क्षपकको समाधि मरणमें लगना चाहिए ॥६३१॥

आगे कौन वसतिका योग्य है और कौन अयोग्य है यह कहते हैं। प्रथम अयोग्यका कथन करते हैं--

गा०—गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, हाथी दाँत आदिका काम करने वालोंका स्थान, कोलिक, धोबी, बाजा बजाने वाले, डोम, नट और राजमार्गके समीपका स्थान ॥६३२॥

'णिप्पाहुडियाए' संस्काररहितायां। 'सेज्जाए' वसतौ ॥६३५॥

निर्दोषा वसतिः कीदृशी वा स्थातव्या इत्यत्र वसतिं व्यावर्णयति—

सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अवियडअणंधयाराओ।
दो तिण्णि वि वसधीओ घेत्तव्वाओ विसालाओ ॥६३६॥

'सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ' अक्लेशप्रवेशनिर्गमनरूपा। 'अवियडअणधयाराओ' अविवृतद्वारा अनन्धकाराश्च अपवरको द्वे त्रीणि वा ग्राह्ये। एकत्र क्षपको वसति, अन्यस्यां अन्ये यतयो बाह्यजनाश्च धर्मश्रवणार्थमायाताः। विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्क्षपकस्य दुःसहं दुःखं स्यात्। शरीरमलत्यागोऽपि कथमप्रच्छन्ने क्रियेत। अन्धकारबहुले असंयमः स्यात्। असुखनिष्क्रमणप्रवेशनायां आत्मविराधना संयमविराधना च ॥६३६॥

अन्यच्चाचष्टे—

घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे।
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ॥६३७॥

'घणकुड्डे' दृढकुड्ये। 'सकवाडे' कपाटसहिते। 'गामबहिं' ग्रामबाह्ये देशे। 'बालवुड्ढगणजोग्गे' बालानां वृद्धानां गणस्य चतुर्विधस्य योग्ये उद्यानगृहे। 'गुहाए' गुहायां। वा 'सुण्णघरे' शून्यगृहे वा। 'सथारो होदित्ति' क्रियापदाभिसम्बन्धः ॥६३७॥

आने वाले प्राणी आकर वास नहीं करते, तथा जो संस्कार रहित वसति है उसमें साधु निवास करते हैं ॥६३५॥

वह कैसी निर्दोष वसतिमें रहना चाहिए, इसके उत्तरमें वसतिका वर्णन करते हैं—

गा०-टी०—जिसमें बिना कष्टके सुखपूर्वक प्रवेश और निर्गमन होता हो, जिसका द्वार खुला न हो तथा जिसमें अन्धकार न हो। ऐसी दो अथवा तीन विशालवसतिका ग्रहण करनी चाहिए। जघन्यसे दो वसति लेना चाहिए। एकमें क्षपक रहता है। दूसरीमें अन्य यति और धर्म सुननेके लिए आये बाहरके आदमी रहते हैं। [यदि तीन ग्रहण करते हैं तो एकमें क्षपक, एकमें अन्य यति और एकमें धर्मोपदेश होता है।] यदि वसतिका द्वार खुला हो तो शीतवायु आदिके प्रवेशसे हाडचाममात्र शेष रहे क्षपकको दुःसह दुःख होता है। खुले स्थानमें वह मलमूत्रका त्याग भी कैसे करेगा? अन्धेरी वसतिमें असंयम होगा—जीवजन्तु दृष्टिगोचर नहीं होंगे। सुखपूर्वक आना जाना सम्भव न होनेसे अपनी भी विराधना होती है और संयम की भी विराधना होती है ॥६३६॥

और भी कहते हैं—

गा०—जिसकी दीवार मजबूत हो, कपाट सहित हो, गाँवके बाहर ऐसे प्रदेशमें हो जहाँ बच्चे बूढ़े और चार प्रकारका संघ जा सकता हो, ऐसी वसतिमें, उद्यानघरमें, गुफामें अथवा शून्यघरमें क्षपकका संथरा होता है ॥६३७॥

---

१. शालाओ-मु०। २. मना अपि-आ० मु०।

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो ।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥६३८॥

'आगंतुघरादीसु वि' आगन्तुकैः स्कन्धावारायातैः सार्थिकैः कृतेषु गृहादिषु 'संथारो होदित्ति' वर्त
माणेन सम्बन्धः । उक्तानां वसतीनामलाभे 'कडएहिं खवगस्सोच्छागारो कादव्वो' कटकैः क्षपकस्य अवस्थि
तये प्रच्छादनं कार्यं । 'धम्मसवणमंडवादी य' धर्मश्रवणमण्डपादिकं च । अनेन बहुतरासंयमनिमित्तवसति
त्याग, संयमसाधनवसतिविकल्पश्च कथित । सेज्जा ॥६३८॥

एवंभूताया वसतौ संस्तर इत्थंभूत इत्याचष्टे—

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो ।
होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अह व पुव्वसिरो ॥६३९॥

'पुढवीसंथारो होदि' पृथ्वीसंस्तरो भवति । 'सिलामओ वा' शिलामयो वा । 'फलकमओ वा' फलकम
यो वा । 'तणमओ वा' तृणमयो वा 'समाधिणिमित्तं' समाध्यर्थं । 'उत्तरसिरमथ पुव्वसिर' पूर्वोत्तमाग उत्तरोत्त
मांगो वा संस्तर कार्यं । प्राची दिगभ्युदयिनेषु कार्येषु प्रशस्ता । अथवोत्तरा दिक् स्वयंप्रभाद्युत्तरदिग्गततीर्थ
कृत्सदभ्युद्देशेन ॥६३९॥

भूमिसंस्तरनिरूपणाय गाथा—

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ।
असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥६४०॥

'अघसे' अमृदी । 'समे' अनिम्नोन्नता । 'असुसिरे' असुषिरा 'अविला' । 'अहिसुया' उद्देहिका
रहिता । 'अप्पपाणे' निर्जन्तुका । 'असिणिद्धे' अनार्द्रा । 'घणगुत्ते' घना गुप्ता । 'उज्जोवे' उद्योतवती भूमि

गा०—सेनाके पड़ावके साथ आये हुए व्यापारियोंके द्वारा बनाये गये घरोंमें और आ
शब्दसे इस प्रकारके श्रमणोंके योग्य उद्यानगृह आदिमें क्षपकका सन्थरा करना चाहिए। उ
प्रकारकी वसतियोंके न मिलनेपर क्षपकके रहनेके लिए बांसके पत्तोंसे आच्छादित और प्रकाश
लिए खोली सहित घर बना देना चाहिए। तथा धर्म सुननेके लिए मण्डप आदि भी बना देन
चाहिए। इससे बहुत असंयमके निमित्त वसतिका त्याग और संयमके साधन वसतिका निर्मा
कहा ॥६३८॥

गा०—इस प्रकारकी वसतिमें इस प्रकारका सन्थर होना चाहिए, यह कहते हैं—समाधि
निमित्त सथरा पृथिवीमय, या शिलामय या फलकमय—लकड़ीका, अथवा तृणोंका होता है
उसका सिर उत्तरकी ओर अथवा पूरबकी ओर होना चाहिए, क्योंकि लोकमें माङ्गलिक कार्यों
पूरब दिशा अच्छी मानी जाती है उसीमें सूर्यका उदय होता है। अथवा उत्तर दिशामें विदे
क्षेत्रमें स्थित तीर्थंकरोंके प्रति भक्ति प्रदर्शित करनेके उद्देशसे उत्तरदिशा भी शुभ मानी जात
है ॥६३९॥

पृथ्वीमय सन्थरका कथन करते हैं—

'भूमिसंथारो' भूमिसंस्तरः । मृद्वी भूमिर्बाध्यते शरीरस्पर्शनमर्दनेन । असमाने तदात्मनो बाधा । सुषिरे बिले वा प्रविष्टा निर्गताम्तत्रस्था. पीडयन्ते । आर्द्रा चेदप्कायिकानां पीडा । अनुद्योते अपश्यत स्वयमसंयमपरिहार. । अन्ये तु सप्तम्यन्ततया व्याचक्षते । अमृदुषा अभिन्नोन्नतायामसुषिरायां इति तदयुक्तं । आधेयस्य संस्तरस्य अन्यस्याभावात् । अपि च पुढवी सिलामओ वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया संस्तरस्योक्तेः ॥६४०॥

विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कंपो सव्वदो असंसत्तो ।
समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥६४१॥

विद्धत्थो य विध्वस्त दाहात्कुट्टनाद्घर्षणाद्वा । 'अफुडिदो' अस्फुटित । 'णिक्कंपो' निश्चल । 'सव्वदो' समन्तात् । 'असंसत्तो' जीवरहित । पाषाणमत्कुणादिरहित इति यावत् । 'समपट्ठो' समपृष्ठ । 'उज्जोए' उद्योते । 'सिलामओ होदि संथारो' शिलामयो भवति संस्तर' ॥६४१॥

भूमिसमरुंदलहुओ अकुक्कुचोकंग[1] अप्पमाणो य ।
अच्छिद्दो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसथारो ॥६४२॥

'भूमिसमरुंदलहुगो' भूम्यवलग्न, महान् लघु' । [2]'अकुक्कुचोगंगि अप्पमाणो य' अचल, एकशरीर, निर्जन्तुक । 'अच्छिद्दो य' अच्छिद्र' । 'अफुडिदो' अस्फुटित । 'लण्हो' मसृण । फलगसंथारो' फलकसंस्तर ॥६४२॥

रहित हो, जन्तुरहित हो, क्षपकके शरीरके बराबर प्रमाणवाली हो, गीली न हो, मजबूत और गुप्त हो [illegible] कोमल भूमि शरीर हाथ पैरके दबावसे दब जा [illegible] । बिल होनेसे उनमे रहनेवाले या उनमे [illegible] जलकायिक जीवोको पीड़ा पहुँचती है । प्रकाशरहित भूमिमे कुछ दिखाई न देनेसे असयमसे बचाव नही होता ।

अन्य व्याख्याकार उक्त शब्दोकी सप्तमी विभक्तिपरक व्याख्या करते हैं कि कठोर भूमिमे, छिद्ररहितमें संस्तर होना चाहिए आदि । किन्तु यह युक्त नही है क्योकि आधेय संस्तर भूमिसे भिन्न नही है भूमि ही संस्तररूप होती है । तथा 'पुढवीसिलामओवा' गाथाके इस पदसे संस्तरको पृथ्वीरूप कहा है ।

विशेषार्थ—यदि भूमिमे चीटी आदिका वास होता है तो सन्यासकालमे वे क्षपकको काट सकती हैं । जन्तुसहित होनेपर प्राणिसंयमकी विराधना होती है । क्षपकके शरीरके प्रमाणसे अधिक होनेपर व्यर्थ प्रतिलेखना आदि करना होती है । शरीरके प्रमाणसे कम होनेपर क्षपकको शरीर सकोचनेसे दुःख होता है । यदि भूमि दृढ न हो तो शरीरके भारसे दबनेपर उसके अन्दर जन्तु हो तो उन्हे बाधा होती है और क्षपकको भी कष्ट होता है । प्रकट भूमि होनेपर मिथ्यादृष्टिजनोका सम्पर्क होता है ॥६४०॥

गा०—शिलामय संस्तर आगसे, कूटनेसे अथवा घिसनेसे प्रासुक हुआ हो, टूटा-फूटा न हो, निश्चल हो, सब ओरसे जीवरहित हो, अर्थात् पत्थरमें रहनेवाले खटमल आदिसे रहित हो । समतल हो, ऊँचा-नीचा न हो । प्रकाशयुक्त हो । ऐसा शिलामय संस्तर होता है ॥६४१॥

गा०—फलकसस्तर सब ओरसे भूमिसे लगा हो, विस्तीर्ण हो, हल्का हो, उठाने लाने ले

---

१. अकुडिलएगंगि आ० मु० । १. अचक्त एवंगगि—आ० ।

णिस्संधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु ।
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥६४३॥

'णिस्संधी य' ग्रन्थिरहित । 'अपोल्लो' अच्छिद्र । 'णिरुवहदो' निरुपहत. अगृलित. । समधिवास्स णिज्जन्तु मृदुस्पर्शो निर्जन्तुश्च । 'सुहपडिलेहो' सुखेन प्रतिलेखनीयः सुखेन शोध्य इति यावत् । 'मउओ' मृदु । तणसंथारो हवे चरिमो' तृणमस्तरो भवेदन्त्य ॥६४३॥

जुत्तो पमाणरइओ उभयकालपडिलेहणासुद्धो ।
विधिविहिदो सथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥६४४॥

'जुत्तो' युक्तो योग्य । 'पमाणरइदो' प्रमाणसमन्वित । नात्यल्पो नातिमहान् । 'उभयकालपडि-लेहणासुद्धो' सूर्योदयास्तमनकालद्वये प्रतिलेखनेन शुद्ध । 'विधिविहिदो संथारो' शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतसंस्तर । 'आरोहव्वो' आरोढव्य । केन ? 'तिगुत्तेण' त्रिगुप्तेन कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधेन ॥६४४॥

णिसिदित्ता अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि णिज्जवए ।
सथारम्मि णिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा ॥६४५॥

'णिसिदित्ता' स्थापयित्वा त्यक्त्वा । 'अप्पाणं' आत्मान । 'सव्वगुणसमण्णिदम्मि' सर्वगुणसमन्विते णिज्जवगे' निर्यापके । 'संथारम्मि' सस्तरे । 'णिसण्णो' निषण्णो । 'विहरदि' चेष्टते । 'सल्लेहणा विहिणा' सल्लेखना द्विप्रकारा बाह्याभ्यन्तरा चेति । द्रव्यसल्लेखना भावसल्लेखना च । आहार परिहाय शरीरसल्लेखना

जानेमें सुकर हो, अचल हो—शब्द न करता हो, एकरूप हो, जन्तुरहित हो, छिद्ररहित हो, टूटा-फूटा न हो, चिकना हो। ऐसा फलक सस्तर होता है ॥६४२॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'अप्पपाणो' के स्थानमें 'अप्पमाणो' पाठ रखकर उसका अर्थ पुरुष प्रमाण किया है अर्थात् फलक क्षपकके शरीरके प्रमाण होना चाहिए ॥६४२॥

गा०—तृणमस्तर गाँठरहित तृणोंसे बना हो, तृणोंके मध्यमे छिद्र न हो, टूटे तृण न लगे हों, मृदुस्पर्शवाला हो, जन्तुरहित हो, सुखपूर्वक शुद्धि करनेके योग्य हो, और कोमल हो। ऐसा अन्तिम तृणसस्तर होता है ॥६४३॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजी ने अपनी टीकामें 'समधिवास्स' का अर्थ 'सम्यक् रूपसे अधिवास करनेके योग्य' किया है अर्थात् जिसपर लेटनेमे खाज पैदा न हो ॥६४३॥

गा० इस प्रकार सस्तर योग्य हो, प्रमाणयुक्त हो—न बहुत छोटा हो और न बहुत बडा हो, दोनों समय अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्तके समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध किया गया हो, और शास्त्रमें निर्दिष्ट क्रमके अनुसार बनाया गया हो। ऐसे सस्तर पर अशुभ मन वचन कायका निरोध करके क्षपकको आरोहण करना चाहिए ॥६४४॥

गा०-टी०—सर्वगुणोंसे सम्पन्न निर्यापकाचार्य पर अपनेको समर्पित करके क्षपक सस्तर पर आरोहण करता है और सल्लेखनाकी विधिसे विचरता है। सल्लेखनाके दो प्रकार हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भावसल्लेखना। [illegible]

करोति। क्षपकस्य सम्यग्दर्शनादिभावनया मिथ्यात्वादिपरिणामान्कृशीकरोति। [1]एवं वसतिसंस्तरोति एवं वसतिसं[स्तरौ] निरूपितौ ॥६४५॥

निर्यापकान्निरूपयति—

पियधम्मा दढधम्मा संविग्गा वज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥६४६॥

'पियधम्मा' प्रियो धर्मो येषां ते भवन्ति प्रियधर्माणः। 'दढधम्मा' धर्मे स्थिराः। 'संविग्गा' संसारभीरवः। 'वज्जभीरुणो' पापभीरवो। 'धीरा' धृतिमन्तः। 'छंदण्हू' अभिप्रायज्ञाः। 'पच्चइगा' प्रत्ययिताः। 'पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू' प्रत्याख्यानक्रमज्ञाः। धर्मश्चारित्रं तेन प्रियचारित्रा यतयः। ततश्च क्षपकमपि चारित्रे उत्सहन्ते तत्साहाय्यं च कर्तुं। यद्यपि चारित्रेऽनुरागवन्तः सम्यग्दृष्टितया तथापि चारित्रमोहोदयाददृढचारित्रा भवन्ति इति विशेषणमुपादत्तं दृढचारित्रा इति। अदृढचारित्रा हि न असंयमं परिहर्तुं [क्षमाः]। कस्मादसंयमं परिहरन्ति पापभीरवो यस्मात्? संविग्ना विचित्रदुःखानि[2]धानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुल[ाः]। धीरा इत्यनेन परीषहसहा इत्याख्यायते। परीषहैः पराजितो न संयमं परिपालयतीति मन्यते। क्षप[कस्य] अनुक्तमपि तदिङ्गितेनावगताभिप्रायाश्च वैयावृत्ये वर्तन्ते। [3]नानभिप्रायज्ञा इति दर्शयितुं छन्दण्हू इत्युक्तम्। प्रत्ययितव्या गुरुजनानां असंयमं कुर्वन्ति क्षपके वैयावृत्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्याख्यानक्रमज्ञाः ॥६४६॥

करता है। और सम्यग्दर्शन आदि भावनासे मिथ्यात्व आदि परिणामोंको कृश करता है। इस प्रकार वसति और संस्तरका कथन किया ॥६४५॥

अब निर्यापकोंका कथन करते हैं—

गा०—जिन्हें धर्म प्रिय है, जो धर्ममें स्थिर हैं, संसारसे भीरु हैं, पापसे डरते हैं, धैर्यवान् हैं, अभिप्रायको जानते हैं, विश्वासके योग्य हैं, प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं, ऐसे यति निर्यापक होते हैं ॥६४६॥

टी०—यहाँ धर्मसे चारित्रका अभिप्राय है। अतः निर्यापक यतियोंको चारित्र प्रिय होता है। इससे वे क्षपकको भी चारित्रमें प्रवृत्ति करनेके लिए उत्साहित करते हैं और उसकी सहायता करते हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि होनेसे यति चारित्रमें अनुराग रखते हैं तथापि चारित्र मोहका उदय होनेसे चारित्रमें दृढ़ नहीं होते। इसलिए 'दृढ़ चारित्र' विशेषण दिया है। जिनका चारित्र दृढ़ नहीं होता वे असंयमका परिहार नहीं करते। पापभीरु होनेसे असंयमका परिहार करते हैं क्योंकि वे विचित्र दुःखोंकी स्थानरूप चार गतियोंमें भ्रमणके भयसे व्याकुल होते हैं। तथा 'धीर' पदसे परीषहोंको सहने वाले कहा है। जो परीषहोंसे हार जाता है वह संयमका पालन नहीं करता ऐसा माना जाता है। क्षपकके न कहने पर भी उसके संकेत मात्रसे उसका अभिप्राय जानकर वैयावृत्यमें प्रवृत्त होते हैं इसलिए निर्यापक अभिप्रायको न जानने वाले नहीं होते। यह बतलानेके लिए 'छन्दण्हु' कहा है। तथा गुरुओंके द्वारा विश्वास योग्य होते हैं कि ये असंयम नहीं करते और क्षपककी वैयावृत्यमें तत्पर रहते हैं। वे साकार और निराकार प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं। अर्थात् उक्त गुण युक्त होने पर भी जिन्होंने पहले किसी क्षपककी समाधि नहीं देखी है ऐसे यतियों

---

1. 'एवं वसतिसंस्तरोति' इति पाठो नास्ति आ० मु०। 2. विधान–अ०। 3. नानाभि–अ० मु०।

कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जुदा सुदरहस्सा ।
गीदत्था भयवंतो अडदालीसं तु णिज्जवया ॥६४७॥

'कप्पाकप्पे कुसला' योग्यमिदमयोग्यमिति भक्तपानपरीक्षाया कुशला. । 'समाधिकरणुज्जुदा' क्षपकचित्तसमाधानकरणोद्यता । 'सुदरहस्सा' श्रुतप्रायश्चित्तग्रन्था । 'गीदत्था' गृहीतसूत्रार्था. । भगवन्ते भगवन्त स्वपरोद्धरणमाहात्म्यवन्त' । 'अडदालीसं तु' अष्टचत्वारिंशत्संख्या । 'णिज्जवगा' निर्यापिका यतयः ॥६४७॥

निर्यापिका इम इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनायोत्तरप्रबन्ध —

आमासणपरिमासणचंकमणसयण-णिसीदणे ठाणे ।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा-उंटणादीसु ॥६४८॥

'आमासणपरिमासणचंकमणसयणणिसीयणे ठाणे' क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शनं आमर्शनं, समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शनं परिमर्शनं । चंकमणमितस्ततो गमनं शयनं । 'णिसीदणे ठाणे' निषद्यास्थानमित्येतेषु । 'उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउंटणादीसु' उद्वर्तने पार्श्वात्पार्श्वान्तरसंचरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आकुञ्चनमित्यादिषु च ॥६४८॥

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता ।
चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरंति ॥६४९॥

'संजदकमेण' प्रयत्नेनैव । 'खवयस्स' क्षपकस्य । 'देहकिरियासु' शरीरक्रियासु व्यावर्णितासु । 'णिच्च' नित्यं । 'आउत्ता' आयुक्ता । 'चदुरो' चत्वारो यतयः । समाधिकामा क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्तः । 'ओलग्गंता' उपासनां कुर्वन्तः । 'पडिचरन्ति' प्रतिचारका भवन्ति ॥६४९॥

को गुरु क्षपककी परिचर्यामें नियुक्त नहीं करते । किन्तु जो विश्वस्त होते है उन्हें ही नियुक्त करते है ॥६४६॥

गा०—यह योग्य है और यह अयोग्य है इस प्रकार भोजन और पानकी परीक्षामें कुशल होते हैं क्षपकके चित्तका समाधान करनेमें तत्पर रहते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त ग्रन्थोंको सुना है, जो सूत्र और अर्थको हृदयमें स्वीकार किये हैं, अपने और दूसरोंके उद्धार करनेके माहात्म्यसे शोभित है । ऐसे अड़तालीस निर्यापक यति होते है ॥६४७॥

निर्यापक क्या-क्या करते है, यह कहते है—

गा०—क्षपकके शरीरके एकदेशके स्पर्शन करनेको आमर्शन कहते है । और समस्त शरीरका हाथसे स्पर्शन करनेको परिमर्शन कहते है । इधर-उधर जानेको चंक्रमण कहते हैं । अर्थात् परिचारक मुनि क्षपकके शरीरको अपने हाथसे सहलाते है दबाते है । चलने फिरनेमें सहायता करते है । सोने, बैठने उठनेमें सहायता करते है । उद्वर्तन अर्थात् एक करवटसे दूसरी करवट दिलाते है । हाथ पैर फैलानेमें सकोचनेमें सहायता करते है ॥६४८॥

गा०—चार परिचारक मुनि मुनिमार्गके अनुसार क्षपककी ऊपर कही शारीरिक क्रियाओंमें दत्तचित्त रहते रहते है । वे क्षपककी समाधिकी कामना करते हुए उपासनापूर्वक परिचर्या करते है ॥६४९॥

'चत्तारि जणा धम्मं कहंति विकहाओ वज्जित्ता' इति पदसम्बन्धः चत्वारो धर्मं कथयन्ति विकथाः परित्यज्य । काश्च विकथा भवन्ति—

भत्तित्थिरायजणवदकंदप्पत्थणडणट्टियकहाओ ।
वज्जित्ता विकहाओ अज्झप्पविराधणकरीओ ॥६५०॥

'भत्तित्थिरायजणवदकंदप्पत्थणडणट्टियकहाओ' भक्तं भज्यते सेव्यते इति भक्तं चतुर्विधाहारः । तस्य, स्त्रीणां, राज्ञां, जनपदानां रागोद्रेकात्प्रहासमिश्राशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः तस्य अर्थस्य, नटानां, नर्तकीनां च या कथास्ताः । 'अज्झप्पविराधणकरीओ' आत्मानमधिकृत्य वर्तते इत्याध्यात्मिकं । आत्मनस्तत्त्वनिरूपणमिरूपण ध्यान (?) तस्य 'विराधणकरीओ' विराधनाकारिणी ॥६५०॥

कथं तर्हि कथयन्ति—

अक्खलिदममिलिदमव्वाइद्धमणुच्चमविलंबिदममंदं ।
कंतमभिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्त ॥६५१॥

'अक्खलिदं' अस्खलितं अन्यथा शब्दोच्चारणं शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना । 'अमिलिदं' अनाम्रेडितं । असम्मुग्धं । 'अव्वाइद्धं' अव्याहृतं अप्रतिहतं प्रत्यक्षादिना । 'अणुच्चं' नातिमहद्ध्वनिसमेतं । 'अविलंबिदं' नातिद्रुतं । 'अमंदं' नात्यन्तमन्दं । 'कंतं' श्रोत्रमनोहरं । 'अमिच्छामेलिदं' मिथ्यात्वेनानुन्मिश्रं । 'अणत्थहीणं' अभिधेयशून्यं यत्र भवति । 'अपुणरुत्तं' उक्तस्य अविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तं यथा तत्पौनरुक्त्यं न भवति ॥६५१॥

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्थं च ।
चत्तारि जणा धम्मं कहंति णिच्चं विचित्तकहा ॥६५२॥

चार परिचारक मुनि विकथा त्यागकर धर्मकथा कहते हैं ऐसा आगे कहेंगे । यहाँ विकथाओंको कहते हैं—

गा०—जो भोगा या सेवन किया जाता है वह भक्त है अर्थात् चार प्रकारका आहार । आहारकी कथा, स्त्रीकी कथा, राजाकी कथा, देशोंकी कथा । रागके उद्रेकसे हँसीसे मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है । उसकी कथा, नटोंकी और नाचनेवालियोंकी कथा विकथा हैं । ये अध्यात्मकी विराधना करती है । जो आत्मासे सम्बद्ध हो उसे आध्यात्मिक कहते हैं । आत्मतत्त्वके यथार्थ कथनको अध्यात्म कहते हैं । ये कथाएँ उसका विघात करती हैं ॥६५०॥

गा०-टी०—वे मुनि अस्खलित धर्मकथा कहते हैं । कुछका कुछ शब्द बोलना शब्दस्खलन है । विपरीत अर्थ करना अर्थस्खलन है । इस स्खलनसे रहित कथा कहते हैं । एक बातको दुहराते नहीं । सन्देहमें डालनेवाला कथन नहीं करते । प्रत्यक्ष आदिसे अविरुद्ध कथन करते हैं । बहुत जोरसे नहीं बोलते । न बहुत रुक-रुककर बोलते हैं । बहुत मन्द आवाजसे भी नहीं बोलते । कानोंको प्रिय वचन बोलते हैं । मिथ्यात्वकी बात नहीं करते । ऐसी बात नहीं कहते जिसका कुछ अर्थ ही न हो । जो बात कही हो उसे ही पुनः कहना पुनरुक्त है । वे पुनरुक्त कथन नहीं करते ॥६५१॥

'णिद्ध' प्रियं । 'मधुरं' ललितपदवर्णरचनं । 'हिदयंगमं' श्रोतृहृदयानुप्रवेशि । 'पल्हादणिज्ज पत्थं च' सुखदं पथ्यं च । 'कहंति' कथयन्ति 'णिच्चं' अनुपरतं । 'विचित्तकहा' विचित्रकथा. नानाकथाकुशला ॥६५२॥

कीदृशी क्षपकस्य कथा भणितव्या इत्येतदाचष्टे—

खवयस्स कहेदव्वा दु सा कहा जं सुणित्तु सो खवओ ।
जहिदविसोत्तिगभावो गच्छदि संवेगणिव्वेगं ॥६५३॥

'खवगस्स' क्षपकस्य । 'सा कहा' सा कथा । 'कहेदव्वा' कथयितव्या । 'सो खवगो' असौ क्षपकः । 'जं' यां कथां । 'सुणित्तु' श्रुत्वा । 'जहिदविसोत्तिगभावो' त्यक्ताशुभपरिणामः । 'गच्छदि संवेगणिव्वेगं' संसारभीरुता शरीरभोगनिर्वेदं च प्रतिपद्यते ॥६५३॥

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स ।
पाओग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥६५४॥

आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेजनी चेति चतस्रः कथाः । तासां मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्यत्रोत्तरं वदति । 'आक्खेवणी य' इति आक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतुं, आख्यातुं च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थः ॥६५४॥

तासां कथानां स्वरूपनिर्देशायोत्तरं गाथाद्वयं—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥६५५॥

'आक्खेवणी कहा सा' सा आक्षेपणी कथा भण्यते । 'जत्थ' यस्यां कथायां । 'विज्जाचरणमुवदिस्सदे' ज्ञानं चारित्रं चोपदिश्यते । एवंभूतानि मत्यादीनि ज्ञानानि सामायिकादीनि वा चारित्राण्येवंस्वरूपाणि इति । 'ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम' या कथा स्वसमयं परसमयं वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी

गा०—नाना कथाओंमें कुशल ये चार परिचारक यति प्रिय, मधुर अर्थात् ललितपद और वर्णवाली, श्रोताके हृदयमें प्रवेश करनेवाली सुखदायक हितकारी कथा निरन्तर कहते हैं ॥६५२॥

गा०—क्षपकको किस प्रकारकी कथा कहनी चाहिए, यह कहते हैं—क्षपकको ऐसी कथा कहनी चाहिए जिसे सुनकर वह अशुभ परिणामोंको छोड़े और संसारसे तथा शरीरसे विरक्त होवे ॥६५३॥

गा०—चार प्रकारकी कथाएँ होती हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी । इनमेंसे कौन योग्य ? और कौन अयोग्य है ? इसका उत्तर देते हैं—आक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी कथा क्षपकके सुनने और कहनेके योग्य है किन्तु विक्षेपणी कथा योग्य नहीं है ॥६५४॥

आगे दो गाथाओंसे उनका स्वरूप कहते हैं—

गा०-टी०—जिसमें ज्ञान और चारित्रका उपदेश हो उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं । यथा, मति आदि ज्ञान इस प्रकारके होते हैं अथवा सामायिक आदि चारित्रोंका ऐसा स्वरूप है ।

१. मत्यादि विर्दुनर आर-अ० ।

भण्यते। सर्वथा नित्यं, सर्वथा क्षणिकं, एकमेवानेकमेव वा, सदेव असदेव वा, विज्ञानमात्रमेव। शून्यमेवेत्यादिकं परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोधं प्रदर्श्य कथंचिन्नित्यं, कथंचिदनित्यं, कथंचिदेकं, कथंचिदनेकं, इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी ॥६५५॥

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरियइड्ढिगदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥६५६॥

'संवेयणी पुण कहा' संवेजनी पुनः कथा। 'णाणचरित्ततववीरियइड्ढिगदा' ज्ञानचारित्रतपोभावनाजनितशक्तिसम्पन्निरूपणपरा। 'णिव्वेजणी पुण कथा' निर्वेजनी पुनः कथा सा। 'सरीरभोगे भवोघे य' शरीरे, भोगे, भवसन्ततौ च पराङ्मुखताकारिणी। शरीराण्यशुचीनि, रसादिसप्तधातुमयत्वात् शुक्रशोणितबीजत्वात्, अशुच्याहारपरिवर्द्धितत्वात् अशुचिस्थाननिर्गतत्वात् च। न केवलमशुच्यसारमपि अनित्यकायस्वभावाः प्राणभृतः इति शरीरतत्त्वश्रवणात्[1]। तथा भोगा दुर्लभाः स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यभोजनादयो लब्धा अपि कथंचिन्न तृप्तिं जनयन्ति। अलाभे तेषां, लब्धानां वा विनाशे शोको महानुदेति। देवमनुजभवावपि दुर्लभौ, दुःखबहुलौ अल्पसुखौ इति निरूपणात्। तथा ॥६५६॥

विक्खेवणी अणुरदस्स आउगं जदि हवेज्ज पक्खीणं।
होज्ज असमाधिमरणं अप्पागमियस्स खवगस्स ॥६५७॥

'विक्खेवणी अणुरदस्स' विक्षेपण्यां परसमयनिरूपणायां अनुरक्तस्य। 'आउगं' आयुष्कं। 'जदि हवेज्ज' यदि भवेत्। 'पक्खीणं' प्रक्षीणं। 'होज्ज' भवेत् 'असमाधिमरणं'। 'अप्पागमियस्स खवगस्स' अल्पश्रुतस्य

जिस कथामें स्वसमय और परसमयकी चर्चा होती है वह विक्षेपणी है। वस्तु सर्वथा नित्य है, या सर्वथा क्षणिक है, अथवा एक ही है या अनेक ही है, अथवा सत् ही है या असत् ही है, अथवा विज्ञानमात्र ही है या शून्य ही है, इत्यादि परसमयको पूर्वपक्ष बनाकर प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे उसमें विरोध दर्शाकर वस्तुको कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक इत्यादि स्वसमयका कथन करना विक्षेपणी कथा है ॥६५५॥

गा०-टी०—ज्ञान चारित्र और तपोभावनासे उत्पन्न शक्तिसम्पदाका निरूपण करनेवाली कथा संवेजनी है। शरीर भोग और भवसन्ततिकी ओरसे विमुख करनेवाली कथा निर्वेजनी है। जैसे, शरीर अशुचि है क्योंकि वह रस आदि सात धातुओंसे बना है, रज और वीर्य उसके बीज है। अशुचि आहारसे वह बढ़ता है और अशुचि स्थानसे निकलता है। शरीर केवल अपवित्र ही नहीं है वह निस्सार भी है, क्योंकि प्राणियोंका शरीर स्वभावसे अनित्य है ऐसा शरीरके विषयमें सुना जाता है। तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला, भोजन आदि दुर्लभ भोग किसी तरह प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नहीं देते। उनके प्राप्त न होनेपर अथवा प्राप्त होकर नष्ट होनेपर महान् शोक होता है। तथा देव और मनुष्यभव भी दुर्लभ हैं, दुखसे भरे हैं, सुख अल्प है। इस प्रकारका कथन निर्वेजनी कथा है ॥६५६॥

गा०—विक्षेपणी कथामें अनुरक्तदशामें यदि क्षपककी आयु समाप्त हो जाये तो अल्प-

---

1. तत्त्वाश्रयणात्—आ० मु०।

धारस्य। यदेव पूर्वपक्षीकृतं दूषणाभिप्रायेण तदेव तत्त्वमिति ... मात्मीति मन्यते ॥६५७॥

बहुश्रुतस्य तर्हि उपयोगिनी विक्षेपणीति तन्नुदं निरस्यति—

आगममाहप्पगओ विकहा विक्खेवणी अपाउग्गा।
अब्भुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ॥६५८॥

'आगममाहप्पगओ वि' बहुश्रुतस्यापि। 'विक्खेवणी' विक्षेपणी। 'अपाउग्गा' अप्रायोग्या। 'अब्भुज्जदंमि मरणे' रत्नत्रयाराधनपरे मरणे। 'तस्स वि' बहुश्रुतस्यापि 'एदं' एतत्। 'अणायदणं' अनायतनं अनाधार ॥६५८॥

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥६५९॥

'अब्भुज्जदंमि मरणे' निकटभूते मरणे। कस्य 'संथारत्थस्स चरिमवेलाए' संस्तरस्थस्य अन्तकाले 'तिविहं वि' कहंति कथं संवेजनी, निर्वेजनी आक्षेपणी वा कथां कथयन्ति। 'तिदंडपरिमोडया' अशुभमनोवाक्काया दण्डशब्देनोच्यन्ते तद्भेदनकारिणः पुरुषाः। 'तम्हा' तस्मात् अनायतनत्वाद्विक्षेपिण्या ॥६५९॥

जुत्तस्स तवधुराए अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि।
तह ते कहेंति धीरा जह सो आराहओ होदि ॥६६०॥

'जुत्तस्स' युक्तस्य। 'तवधुराए' तपोभारेण। 'अब्भुज्जदमरणवेणुसीसम्मि' समीपीभूतमरणवंशशिरसि स्थितस्य क्षपकस्य। 'ते धीरा तह कहेंति' ते धीरास्तथा कथयन्ति। 'जह सो आराहओ होदि' यथासावाराधको भवति रत्नत्रयस्य ॥६६०॥

ज्ञानी क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होगा; क्योंकि विक्षेपणीमें दूषण देनेके लिए पहले परमत का कथन होता है। अल्पज्ञानी क्षपक उसे तत्त्व समझ बैठे तो मिथ्याज्ञान और मिथ्या श्रद्धा होनेसे रत्नत्रयकी एकाग्रता नहीं रहती ॥६५७॥

तो क्या बहुशास्त्राभ्यासी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी है? इस शंकाका निरसन करते हैं—

गा०—बहुश्रुत भी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी नहीं है; क्योंकि मरणके समय रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर रहना होता है। अतः उसके लिए भी यह कथा अनायतन है वह उसका आधार नहीं है ॥६५८॥

गा०—जब संस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल होता है और मरण निकट होता है तब अशुभ मनवचनकायको निर्मूल करनेवाले साधु संवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी इन तीन ही कथाओंको कहते हैं। अतः विक्षेपणी कथा अनायतनरूप है ॥६५९॥

गा०—जो तपका भार उठाये हुए है अर्थात् तपस्यामें लीन है और निकटवर्ती मरणरूपी बाँसके अग्रभागपर खड़ा है उस क्षपकको वे धीर परिचारक ऐसा उपदेश देते हैं जिसमें वह रत्नत्रयका आराधक होता है। अर्थात् क्षपककी स्थिति उस नटके समान है जो सिरपर बोझ

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६१॥

'चत्तारि जणा' चत्वारो यतयः। 'भत्तं' अशनं। 'पाओग्गं' प्रायोग्यं उद्गमादिदोषानुपहतं। 'उवकप्पेंति' आनयन्ति। 'अगिलाए' ग्लानिमन्तरेण। कियन्तं कालमानयाम इति संक्लेशं विना। 'छंदिय' छन्देन दृष्टं अशनं पानं वा। क्षुत्पिपासापरीषहप्रशमनसमर्थमित्येतावता तेनेष्टं न तु लौल्यात्। 'अवगददोसं' वातपित्तश्लेष्मप्रकोपाकरं। के आनयन्ति? 'अमाइणो' मायारहिताः अयोग्यं योग्यमिति ये नानयन्ति। 'लद्धिसंपण्णा' मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः। अलब्धिमन्तस्तु क्षपकं क्लेशयन्ति। मायावी अयोग्यं योग्यमिति कथयेत् ॥६६१॥

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६२॥

चत्तारि जणा पाणगं इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निर्वेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक्-पानं आनयतः ॥६६२॥

चत्तारि जणा रक्खंति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥६६३॥

तैरानीतं अशनं पानं वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिता यथा त्रसा न प्रविशन्ति, यथा वा परे न पातयन्ति ॥६६३॥

उठाये बोलने अग्रभागपर अपनी कल्याका प्रदर्शन करता है अतः परिचारक ऐसा ही प्रयत्न करते हैं जिससे वह सफल हो ॥६६०॥

गा०—चार परिचारक यति उस क्षपकके लिए उसको इष्ट खान-पान बिना ग्लानिके लाते हैं। उन्हें ऐसा संक्लेश नहीं होता कि कबतक हम इसके लिए लावें। तथा खान-पान उद्गम आदि दोषोंसे रहित होता है। और वात पित्त कफको उत्पन्न करनेवाला नहीं होता। क्षपक भी लिप्सावश आहार पसन्द नहीं करता। किन्तु भूख और प्यास परीषहको शान्त करनेमें समर्थ खान-पानकी इच्छा करता है। जो यति आहार लाते हैं वे मायावी नहीं होते, अयोग्य आहारको योग्य नहीं कहते। मायावी अयोग्यको योग्य कह सकता है। तथा वे मोह और अन्तरायकर्मोंका क्षयोपशम होनेसे भिक्षालब्धिसे युक्त होते हैं। उन्हें भिक्षा अवश्य मिल जाती है। अलब्धिमान् मुनि भिक्षा न मिलनेपर खाली हाथ लौटकर क्षपकको कष्ट पहुँचाता है ॥६६१॥

गा०—चार परिचारक मुनि क्षपकके लिए बिना ग्लानिके उद्गम आदि दोषोंसे रहित, वात पित्त कफको पैदा न करनेवाला तथा क्षपककी प्यास परिषहको शान्त करनेवाला पानक लाते हैं। वे लानेवाले यति मायारहित और भिक्षालब्धिसे सम्पन्न होते हैं। आचार्यकी अनुज्ञासे स्वयं अपनेको उपस्थित करनेवाले दो-दो परिचारक भोजन और पान अलग-अलग लाते हैं ॥६६२॥

गा०—चार यति उन यतियोंके द्वारा लाये गये खान-पानकी बिना किसी प्रकारकी ग्लानिके प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं कि उसमें त्रसादि न गिरें अथवा कोई उसमें त्रसादि

काइयमादी सव्वं चत्तारि पदिट्ठवन्ति खवयस्स ।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधिसंथारं ॥६६४॥

'काइगमादी सव्वं' पुरीषप्रभृतिकं मल सर्वं । चत्तारि चत्वार । 'पदिट्ठवंति' प्रतिष्ठाप
'पडिलेहंति य' प्रतिलिखन्ति च । 'उवधो काले' उदयास्तमनकालयोः । 'सेज्जुवधिसंथारं' वसतिमु
संस्तरं च ॥६६४॥

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जदणाए दु चत्तारि ।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खंति जदणाए ॥६६५॥

'खवगस्स' क्षपकस्य । 'घरदुवारं' गृहद्वारं । 'सारक्खंति' पालयन्ति । 'जदणाए' यत्नेन । 'च
चत्वार । असंयतान् शिक्षकाश्च निषेद्धुं द्वारपालायन्ते । 'चत्तारि' चत्वारः । 'समोसरणदुवारं' समव
द्वारं । 'जदणाए' यत्नेन । 'आरक्षंति' पालयन्ति ॥६६५॥

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादो जग्गंति तह य चत्तारि ।
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥६६६॥

'जिनणिद्दा' जितनिद्रा, 'तल्लिच्छा' निद्राजयलिप्साव । 'रादो' रात्रौ । 'जग्गंति' जागरं कुर्व
'तह य' तत्र क्षपकसकाशे । 'चत्तारि' चत्वार । 'गवेसंति खु' परीक्षा कुर्वन्ति । 'खेत्ते' क्षेत्रे स्वाध्यु
'देसपवत्तीओ' देशस्य क्षेमवार्ता ॥६६६॥

वादिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए समोसदाए दु ॥६६७॥

जन्तु न गिरा दे। वे सब क्षपककी समाधिके इच्छुक होते हैं कि उसकी समाधि निर्विघ्न
हो ॥६६३॥

गा०—चार मुनि क्षपकके सब मलमूत्र उठानेका कार्य करते हैं। और सूर्यके उदय
अस्त होनेके समय वसति, उपकरण और संथरेकी प्रतिलेखना करते हैं ॥६६४॥

गा०—चार यति सावधानतापूर्वक क्षपकके घरके द्वारकी रक्षा करते हैं। ऐसा वे अस
जनों और शिक्षकोंको अन्दर प्रवेश करनेसे रोकनेके लिए करते हैं। चार मुनि सावधानता
समवसरण द्वार अर्थात् धर्मोपदेश करनेके घरके द्वारकी रक्षा करते हैं ॥६६५॥

गा०—निद्राको जीत लेनेवाले और निद्राको जीतनेके इच्छुक चार यति रातमें क्ष
पास जागते हैं। और चार मुनि अपने रहनेके क्षेत्रमें देशकी अच्छी बुरी प्रवृत्तियोंकी प
करते हैं। अर्थात् जिस क्षेत्रमें क्षपक समाधि मरण करता है उस देशके अच्छे बुरे समाचा
खबर रखकर उनकी परीक्षा करते हैं कि समाधिमें कोई बाधा आनेका तो खतरा नहीं है ॥६
विशेषार्थ—गाथामें 'तल्लिच्छा' पाठ है और विजयोदयामें उसका अर्थ निद्राको जीत
इच्छुक किया है। किन्तु पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'तण्णिट्ठा' पाठ रखकर उसका
क्षपककी सेवामें तत्पर किया है। जितनिद्राके साथ यह पाठ संगत प्रतीत होता है ॥६६६॥

'बाहिं' बहिः क्षपकावासात् । 'असद्दपडिसं' यावत् दूरे स्थितानां शब्दो न श्रूयते तत्र स्थित्वा । 'चउरो' चत्वार पर्यायेण । 'कथाओ' चतुर्विधा कथा. पूर्वव्यावर्णिता. । कीदृग्भूतास्ते कथका अत आह— 'ससमयपरसमयविदू' स्वपरसिद्धान्तज्ञा । 'परिसाए' परिषदे । 'समोसदाए' द्राक् समागतायै ॥६६७॥

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू ।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥६६८॥

'वादी' वादिन । 'चत्तारि जणा' चत्वार । 'सीहाणुग' सिंहसमाना । 'अणेयसत्थविदू' अनेकशास्त्रज्ञ धम्मकहयाण धर्मं कथयतां । 'रक्खाहेदु' रक्षार्थं । 'विहरंति' इतस्ततो यान्ति । 'परिसाए' परिषदि ॥६६८॥

उपसंहरन्ति प्रस्तुत—

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए ।
तं णिज्जवंति खवयं अडयालीसं हि[1] णिज्जवया ॥६६९॥

'एवं महाणुभावा' एवं माहात्म्यवन्त. । 'पग्गहिदाए' प्रकृष्टया । 'समाधिजदणाए' समाधौ क्षपकस्य प्रयत्नवृत्त्या । 'तं णिज्जवंति खवयं' त निर्यापयन्ति क्षपक । 'अडदालीसं हि' अष्टचत्वारिंशत्प्रमाणा । 'णिज्जवगा' निर्यापिका ॥६६९॥

ध्यावर्णितगुणा एव निर्यापिका इति न ग्राह्य, किन्तु भरतैरावतयोर्विचित्रकालस्य परावृत्ते कालानुसारेण प्राणिनां गुणा प्रवर्तन्ते तेन यदा यथाभूता शोभनगुणा सम्भवन्ति तदा तथाभूता यतयो निर्यापिकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया ॥६७०॥

गा०—क्षपकके आवासके बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तके ज्ञाता चार यति क्रमसे एक एक करके सभामें धर्म सुननेके लिए आये हुए श्रोताओंको पूर्ववर्णित चार कथाएँ इस प्रकार कहते हैं कि दूरवर्ती मनुष्य उनका शब्द न सुन सके। अर्थात् क्षपकको सुनाई न दे इतने धीरेसे बोलते हैं। उससे क्षपकको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती ॥६६७॥

गा०—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता और वाद करनेमें कुशल चार मुनि धर्मकथा करनेवालोंकी रक्षाके लिए सभामें सिंहके समान विचरते हैं। अर्थात् धर्मकथामें कोई विवादी विवाद खड़ा कर दे तो वाद करनेमें कुशल मुनि उसका उत्तर देनेके लिए तत्पर रहते हैं ॥६६८॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार माहात्म्यशाली अड़तालीस निर्यापक यति क्षपककी समाधिमें उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए उस क्षपकको संसार समुद्रसे निकलनेके लिए प्रेरित करते हैं ॥६६९॥

ऊपर कहे गुणवाले यति ही निर्यापक होते हैं ऐसा अर्थ नहीं लेना। किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालका विचित्र परिवर्तन होता रहता है। और कालके अनुसार प्राणियोंके गुण भी बदलते रहते हैं। अतः जिस कालमें जिस प्रकारके शोभनीय गुण सम्भव हैं

---

1. मंतिणिज्ज–आ० । मं पणिज्ज–अ० ।

'जो जारिसओ कालो इत्यादिका' गाथा सुगमा। 'भरहेरवदेसु वासेसु' भरतैरावतेषु वर्षेषु। पञ्चभरता पञ्चैरावताश्चेति निर्यापकास्तादृशा सुगमा यथानुरूपा इति यावत्। 'सव्वे' निर्यापकाः ग्राह्या इत्यर्थं ॥६७०॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालम्मि संकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति ॥६७१॥

णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥६७२॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथाद्वयमिति न व्याख्यायते।

जघन्यतो द्वौ निर्यापकौ इति किमर्थमुच्यते। एको जघन्यतो निर्यापकः कस्मान्नोक्तस्य इत्यारेकायां एकस्मिन्निर्यापके दोषमाचष्टे—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च।
वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि ॥६७३॥

एको यदि निर्यापकः। 'अप्पा चत्तो' आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, परः क्षपकस्त्यक्तो भवति। 'पवयणं च' प्रवचनं च त्यक्तं भवति। 'वसणं' व्यसनं दुःखं भवति। 'असमाधिमरणं' समाधानमन्तरेण मृतिः स्यात्। 'उड्डाहो' धर्मदूषणा भवति। 'दुग्गदी चावि' दुर्गतिश्च भवति ॥६७३॥

एवं निर्यापकेणात्मा त्यक्तो भवति, एवं क्षपक इत्येतत्कथयन्ति—

खवगपडिजग्गणाए भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण।
अप्पा चत्तो तव्विवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥६७४॥

उस कालमें उन गुणवाले यति निर्यापकरूपसे ग्राह्य है यह कहते हैं—

गा०—पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रोंमें जब जैसा काल हो तब उसी कालके अनुकूल गुणवाले चवालीस निर्यापक स्थापित करना चाहिए ॥६७०॥

गा०—इस प्रकार ज्यों-ज्यों काल खराब होता जाये त्यों-त्यों देशकालके अनुसार सावधानतापूर्वक चार-चार निर्यापक कम करते जाना चाहिए। अन्तमें चार निर्यापक ही समाधिमरणको सम्पन्न करते हैं। अधिक काल खराब होनेपर कमसे कम दो निर्यापक भी होते हैं। किन्तु जिनागममें किसी भी अवस्थामें एक निर्यापक नहीं कहा ॥६७१-६७२॥

जघन्यसे दो निर्यापक क्यों कहे ? जघन्यसे एक निर्यापक क्यों नहीं कहा ? ऐसी आशंकामें एक निर्यापकमें दोष कहते हैं—

गा०—यदि एक निर्यापक होता है तो निर्यापकके द्वारा आत्माका भी त्याग होता है, क्षपकका भी त्याग होता है और प्रवचनका भी त्याग होता है। तथा दुःख उठाना होता है। क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होता है, धर्ममें दूषण लगता है और दुर्गति होती है ॥६७३॥

एक निर्यापकके द्वारा आत्मा और क्षपक इस प्रकार त्यक्त होते हैं, यह कहते हैं—

'खवगपडिजग्गणाए' इत्यनया गाथया अर्थं पदघटना 'भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण' भिक्षाग्रहणं, निद्रा, कायमलत्यागं चाकुर्वता निर्यापकेण 'खवगपडिजग्गणाए' क्षपककार्यकरणे । 'अप्पा चत्तो' आत्मा त्यक्तो भवति । अशनाग्रहणान्निद्राया अभावात् कायमलानां चानिराकरणान्महती निर्यापकस्य पीडा । 'तव्विवरीदो यदि' निर्यापको भिक्षां भ्रमति निद्रां शयनं शरीरमलनिरासार्थं याति, 'खवगो चत्तो भवदि' क्षपकस्त्यक्तो भवति ॥६७४॥

खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो ।
णाणस्स य वुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥६७५॥

'खवगस्स अप्पणो वा चाए' क्षपकस्यात्मनो वा त्यागे । 'चत्तो दु होदि जइधम्मो' त्यक्तो भवति यतिधर्मः । यतेर्धर्मो वैयावृत्त्यकरणं स परित्यक्तो भवति क्षपकमपहाय गमने । अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु त्यक्तानि भवन्ति अनिर्वर्त्यत्वात् । 'णाणस्स य वुच्छेदो' ज्ञानस्यापि व्युच्छेदो भवति, निर्यापकेन सह मुनि-मृयाति । 'तदो' तस्मात् । 'पवयणचाओ होदि' प्रवचनत्यागो भवति । प्रवचनशब्देनागम उच्यते । प्राज्ञा हि केचिदेव[1] भवन्तीति एकाकी निर्यापकः अनशनादिनातिक्लिष्टो मृतिमुपैति कः शास्त्राण्युपदिशेत्[2] कश्च धारयेदिति प्रवचनत्यागः ॥६७५॥

अगलं व्याचष्टे—

चागम्मि कीरमाणे वसणं खवयस्स अप्पणो चावि ।
खवयस्स अप्पणो वा चागम्मि हवेज्ज असमाधि ॥६७६॥

'चागम्मि कीरमाणे' त्यागे क्रियमाणे । 'वसणं खवगस्स' क्षपकस्य दुःखं भवति, प्रतिकाराभावात् । 'अप्पणो वा वसणं' निर्यापकस्य वा व्यसनं भवति अशनादित्यागात् । असमाधिमरणं व्याचष्टे—'चागम्मि'

गा०-टी०—क्षपकका कार्य करते रहनेसे निर्यापक भिक्षाग्रहण, निद्रा और मलमूत्रका त्याग नहीं कर सकता । अतः वह आत्माका त्याग करता है क्योंकि भोजन न करने से निद्रा नहीं आती । और शारीरिक मल न त्यागनेसे निर्यापकको कष्ट होता है । यदि निर्यापक भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तथा सोता है और शरीरमल त्यागने जाता है तो क्षपकका त्याग करता है ॥६७४॥

गा०-टी०—अपना अथवा क्षपकका त्याग करनेपर यतिधर्मका त्याग होता है । अर्थात् यतिका धर्म वैयावृत्य करना है । क्षपकको छोड़कर जानेपर उसका त्याग होता है । न जानेपर यतिधर्ममें आवश्यक प्रधान हैं उनका त्याग होता है । ज्ञानका भी व्युच्छेद होता है क्योंकि निर्यापकके साथ वह भी मर जाता है । और ऐसा होनेसे प्रवचनका त्याग होता है । यहाँ प्रवचन शब्दसे आगम कहा है । विद्वान् तो विरल ही होते हैं । अकेला निर्यापक उपवास आदिमें अतिखिन्न होकर यदि मर जाये तो कौन शास्त्रोंका उपदेश देगा और कौन शास्त्रोंको याद रखेगा । अतः प्रवचनका त्याग होता है ॥६७५॥

गा०—क्षपकको त्यागने पर क्षपकको दुःख होता है क्योंकि उसका कोई प्रतिकार नहीं

---

१. देव भवंतीति चे-आ० । २. दिशेद्धारयेद्-आ० ।

भत्तादीणं तत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादव्वा ।
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥६८५॥

'भत्तादीणं तत्ती' भक्तादिकथा । गृहीतार्थैरपि यतिभिस्तत्र क्षपकसकाशे न कर्तव्येति । 'आलोयणा वि हु' आलोचनागोचरातिचारविषया । 'तत्थ' क्षपकसमीपे । 'पसत्थमेव कादव्वा' यथासौ न शृणोति तथा कार्या । बहुषु युक्ताचारेषु सत्सु ॥६८५॥

पच्चक्खाणपडिक्कमणुवदेसणिओगतिविहवोसरणे ।
पट्ठवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥६८६॥

प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणादिक[2] । कस्य सकाशे सर्वं कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽसौ, न चेत्तदनुज्ञा-तस्य समीपे ॥६८६॥

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा ।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥६८७॥

'तेल्लकसायादीहिं य' तैलेन कषायादिभिश्च । 'बहुसो' बहुशो । 'गंडूसया दु' गण्डूषा । 'घेत्तव्वा' ग्राह्या । तत्र गुणं वदति—'जिब्भाकण्णाण बलं' जिह्वाया कर्णयोश्च बलं शक्ति वचने श्रवणे च । 'होहिदि'

है कि उनके मर्यादा रहित वचनोको सुनकर क्षपककी समाधिमें बाधा हो सकती है, क्योंकि कमजोर व्यक्ति ऐसे वैसे वचन सुनकर क्रुद्ध हो सकता है अथवा सक्लेशरूप परिणाम कर सकता है ॥६८४॥

विशेषार्थ—टीकामें 'असवुडाण पासं सद्दवदीणं अल्लियदु ण दादव्वं' ऐसा पाठ है। तथा 'सद्दवदीण' का अर्थ नही किया है। आशाधर जीने 'शब्दपतीनां शब्दव्रतीनां' लिखकर उसका अर्थ 'कलकल करने वाले' किया है।

गा०—आगमके अर्थके ज्ञाता यतियोंको भी क्षपकके पासमें भोजन आदिकी कथा नही करनी चाहिए और आलोचना सम्बन्धी अतिचारोंकी भी चर्चा नही करनी चाहिए। यदि करना ही हो तो बहुतसे युक्त आचार वाले आचार्योंके रहते हुए प्रच्छन्न रूपसे ही करना चाहिए जिसमें क्षपक उसे न सुन सके ॥६८५॥

गा०—प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, उपदेश, नियोग—आज्ञादान, जलके सिवाय तीन प्रकारके आहारका त्याग, प्रायश्चित्त, आदि सब प्रथम स्वीकार किये आचार्यके पास ही करना चाहिए, क्योंकि जिसे उस क्षपकने अपना निर्यापक बनाया है वही उसके लिए प्रमाण होता है। किन्तु यह निर्यापकाचार्य ऐसा करनेमें असमर्थ हो तो उसकी अनुज्ञासे अन्य भी प्रमाण होता है ॥६८६॥

विशेषार्थ—युक्त आचार वाले अनेक आचार्योंके होते हुए भी क्षपकको प्रत्याख्यान आदि प्रथम स्वीकार किये निर्यापकके पास ही करना चाहिए यह आशय उक्त गाथाका है।

गा०—तेल और कसैले आदिसे क्षपकको बहुत बार कुल्ले करना चाहिए। इससे जीभ

---

1. कर्मा—आ०। 2. दिक मे तस्य सकाशे-आ० मु०।

भविष्यति । 'तुंडं च से विसदं होदित्ति' पदसम्बन्धः । तुण्डवैशद्य अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापकव्यावर्णना समाप्ता ॥६८७॥

णिज्जावयपगासणा इत्येतद्दर्शि—

दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं ।
कह्मिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥६८८॥

'दव्वपयासमकिच्चा' द्रव्याहारस्य प्रकाशनं तं प्रति ढौकन अकृत्वा । 'जइ कीरइ' यदि क्रियते । 'तस्स' तस्य क्षपकस्य । 'तिविहवोसरणं' त्रिविधाहारत्याग । 'कम्हिवि' कस्मिश्चिदपि । 'भत्तविसेसम्मि' भक्तविशेषे । 'उस्सुगो होज्ज सो खवओ' उत्सुको भवेत्स क्षपक । आहारोत्सुक्य च चित्तं व्याकुलयति ॥६८८॥

तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि ।
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥६८९॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९०॥

'पासित्तु' दृष्ट्वा आहारमुपदर्शितं । 'कोइ' कश्चित् । 'तादी' यति । 'तीरं पत्तस्स' तीरं प्राप्तस्य । 'इमेहिं' अमीभिर्मनोज्ञैराहारै । 'किं मेत्ति' किं ममेति । 'वेरग्गमणुप्पत्तो' भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगत । 'संवेगपरायणो होदि' संसारभयत्यागे[1] प्रधानो भवति ॥६९०॥

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९१॥

और कानोंको बल मिलता है और मुख साफ होता है ॥६८७॥

इस प्रकार निर्यापकका कथन समाप्त हुआ ।

अब निर्यापकके द्वारा आहारके प्रकाशनका कथन करते हैं—

गा०—आहारका प्रकाशन अर्थात् क्षपकके सामने विविध भोजनोंको उपस्थित न करके यदि तीन प्रकारके आहारका त्याग कराया जाता है तो क्षपक किसी भी भोजन विशेषमें उत्सुक बना रह सकता है । और आहारमें उत्सुकता चित्तको व्याकुल करती है ॥६८८॥

गा०—अतः उत्तम-उत्तम भोजन पात्रोंमें अलग-अलग उसके सामने रखकर जब वह सन्तुष्ट हो जाये तो अन्तिम आहार उपस्थित करे । ऐसा करनेसे क्षपक तीनों प्रकारके आहारको छोड़ देगा ॥६८९॥

विशेषार्थ—टीकाकारने यह गाथा नहीं मानी ।

गा०—कोई यति दिखाये गये आहारोंको देखकर 'मरणको प्राप्त मुझे इन मनोज्ञ आहारोंसे क्या प्रयोजन' ऐसा विचार भोगोंमें विरक्त होकर संसारके भयको त्यागनेमें प्रमुख होता है ॥६९०॥

---

१. भयत्यागे—आ० मु० ।

देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९२॥

सव्वं भोच्चा धिद्धी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥६९३॥

मनोज्ञविषयसेवा हि पौनःपुन्येन प्रवर्तमाना अभिलाषं जनयति जन्तो । स चानुरागः कर्मपुद्गलादाने हेतुः, ततो भीमे[1] भवाम्भोधिप्रवेशने मयभूतामिति स्पष्टार्थं गाथात्रयं[2] । उत्तर प्रकाशना समाप्ता प्रपा-गणा ॥६९३॥

हाणी इति सूत्रपदं व्याचष्टे—

कोई तमादइत्ता मणुण्णरससेवेदणाए संविद्धो ।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥६९४॥

'कोई' कश्चिद्यति । 'तं' दर्शितमाहारं । 'आदयित्ता' भुक्त्वा । 'मणुण्णरससेवेदणाए' मनोज्ञरसानुभवनेन । 'संविद्धो' मूर्च्छितः । 'तं चेवणुबंधेज्ज हु' तमेवास्वादितं मनोज्ञाहारमनुबध्नीयात् । दर्शितेष्वेकं वा, 'गिद्धीए' गृद्धया ॥६९४॥

तत्थ अवाओवायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो ।
उद्धरिदु मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्ववेमाणो ॥६९५॥

गा०—कोई क्षपक भोजनका स्वाद मात्र लेकर 'मरणको प्राप्त' मुझे इस मनोज्ञ भोजनसे क्या, ऐसा विचार विरक्त हो, संसारके भयको त्यागनेमें तत्पर होता है ॥६९१॥

गा०—कोई क्षपक थोड़ा सा खाकर 'मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या' ऐसा विचार विरक्त हो संसारके भयको त्यागनेमें तत्पर होता है ॥६९२॥

गा०-टी०—कोई सब आहारको भोगकर 'मुझे बार-बार धिक्कार है। मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या प्रयोजन' इस प्रकार विरक्त हो संसारके भयसे मुक्त होनेमें तत्पर होता है।

बार-बार मनोज्ञ विषयोंका सेवन यदि चलता रहे तो उससे जीवमें उसकी अभिलाषा बनी रहती है। और वह अनुराग कर्म पुद्गलोंके ग्रहणमें कारण होता है और उससे प्राणिगण संसार समुद्रमें पड़े रहते हैं। यह स्पष्ट करनेके लिए ये तीन गाथा कही हैं ॥६९३॥

आहारका प्रकाशन समाप्त हुआ।

हानिका कथन करते हैं—

गा०—कोई क्षपक उस दिखाये आहारको खाकर मनोज्ञ रसके स्वादसे मूर्च्छित होकर तृष्णावश उस खाये आहारमें से सबको अथवा किसी एक वस्तुको ही खानेकी इच्छा करता है ॥६९४॥

---

१ सो भीम-भ-आ० मु० । २ त्रयोत्तरं अ० ।

'तस्य' तथाहारासक्तो आतापा । 'अवाओपायं' इन्द्रियसयमस्यापाय, असयमस्य च ढौकन । 'दंसेदि' दर्शयति । 'विसेसदो' विशेषेण । 'उवविसंतो' उपदिशन् । 'उद्धरिदु'' उद्धर्त्तु । 'मणोसल्ल' मन शल्य । 'सुहुमं' सूक्ष्मं । 'सण्णिव्ववेमाणो' सम्यक् प्रशमयन् ॥६९५॥

सोच्चा सल्लमणत्थं उद्धरदि असेसमप्पमादेण ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥६९६॥

'सोच्चा' श्रुत्वा वैराग्यकथा । 'सल्लं' शल्यं । 'उद्धरदि' उत्पाटयति । 'असेसं' अशेष । 'अप्पमादेण' प्रमाद विना । 'वेरग्गमणुप्पत्तो' वैराग्यमनुप्राप्त. । 'संवेगपरायणः' सवेगपर । क्षपक शल्योद्धरणपरो भवति ॥६९६॥

अणुमज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरिय ।
एक्केक्कं हावेंतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥६९७॥

'अणुसज्जमाणए पुण' कृतेऽप्याहाराभिलापस्य दोषोपदर्शने । 'अणुसज्जमाणगे' आहारे अनुरागवति क्षपके । *'समाधिकामस्स' समाधिमरणमिच्छत । 'सव्वमुवहरिय' सर्वमाहारमुपसहृत्य । कथ ?* 'एक्केक्कं हावेंतो' एकैक आहार हापयन् सूरि । 'ठवेदि' स्थापयति क्षपक । 'पोराणमाहारे' प्राक्तने आहारे ॥६९७॥

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं ।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥६९८॥

'ठविदो' स्थापित सूरिणा प्राक्तनाहारे क्षपक पश्चात्कि करोत्यत आह-'सव्वमाहार', अशन स्वाद्य, खाद्य च । '[1]अणुक्कमेण' क्रमेण । 'संवट्टेदूण' उपसहृत्य । 'पाणगपरिक्कमेण दु' पानकाख्येन परिकरेण । 'अप्पाणं' आत्मान । 'पच्छा भावेदि' पश्चाद्भावयति । हानिर्व्याख्याता । हाणित्ति ॥६९८॥

कतिप्रकार पानकमित्यारेकायाभाचष्टे—

गा०—इस प्रकार आहारमे आसक्ति होने पर आचार्य उस क्षपकके मनसे सूक्ष्म शल्यको निकालनेके लिए इन्द्रिय सयमका विनाश और असयमकी प्राप्ति बतलाते हुए विशेष रूपमे उपदेश देते हैं और इस तरह उसे सम्यक् रूपसे शान्त करते हैं ॥६९५॥

गा०—वैराग्यका उपदेश सुनकर वैराग्यको प्राप्त हुआ क्षपक प्रमाद छोड़कर समस्त अनर्थकारी शल्यको निकाल देता है और सवेगमें तत्पर होता है ॥६९६॥

गा०—आहारकी अभिलाषामें दोष दिखानेपर भी यदि क्षपक आहारमें अनुरागी रहता है तो आचार्य समाधिमरणके इच्छुक क्षपकको सब आहार दिखलाकर एक-एक आहार छुड़ाते हुए उसे अपने पूर्व आहार पर ले आते हैं ॥६९७॥

गा०—आचार्यके द्वारा पूर्व आहारपर स्थापित होनेके पश्चात् क्षपक क्रमसे अशन खाद्य स्वाद्य सब आहारोका त्याग करके पीछे अपनेको पानक आहारमे लगाता है ॥६९८॥

हानिका कथन समाप्त हुआ ।

पानकके भेद कहते हैं—

---

1. अणुपुव्वेण अनुक्रमेण-मूलारा० ।

णु' वेदनामुत्पादयेदेव । 'उदरे करिसगं' पुरीष 'अत्यंतगं' स्थितं ॥७०२॥

एवं कृतोदरशोधनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्यापकसूरिणामावेदयति—

आवज्जीवं सव्वाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ।
णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुज्जा ॥७०३॥

'आवज्जीवं' जीवितावधिकं । 'सव्वाहारं' सर्वाहारं । 'तिविहं' त्रिविधं अशनं, खाद्य, स्वाद्यं च । 'वोसरिहिदित्ति' त्यजतीति । 'णिज्जवगो आयरिओ' निर्यापक सूरि । 'संघस्स णिवेदणं कुज्जा' सङ्घ निवेदयेत् ॥७०३॥

खामेदि तुम्ह खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स ।
दावेदव्वो णेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ॥७०४॥

'खामेदि' क्षमां ग्राहयति । 'तुम्ह' युष्मान् । 'खवगोत्ति' क्षपक इति । 'तस्स चेव खवगस्स' तस्यैव क्षपकस्य । 'कुंचगो' प्रतिलेखन । 'दावेदव्वो' दर्शयितव्यं । 'णेदूण' नीत्वा । 'सव्वसंघस्स वसदीए' सर्वसङ्घस्य वसतीषु ॥७०४॥

तेन सङ्घेन क्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यमित्याचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स य णिरुवसग्गपत्तीयं ।
काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादव्वो ॥७०५॥

'आराधणपत्तीयं' रत्नत्रयाराधना क्षपकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । 'खवगस्स णिरुवसग्गपत्तीयं' क्षपकस्योपसर्गा मा भूवन्नेवमर्थं च । 'काओसग्गो' कायोत्सर्गः । 'संघेण सव्वेण' सर्वेण सङ्घेन । 'होदि कादव्वो' कर्तव्यो भवति ॥७०५॥

गाथामें आये उदर शब्दसे पेटका मल लेना चाहिए। उसको निकालना उदरमलका शोधन है। ऐसे महान् प्रयासके द्वारा पेटके मलको निकालनेका यह कारण है कि उदरमें रहा हुआ मल कष्ट देता है ॥७०२॥

इस प्रकार क्षपकके उदरसे मलकी शुद्धि हो जानेपर निर्यापकाचार्य क्षपकके योग्य जो कार्य करते हैं उसे कहते हैं—

गा०—निर्यापकाचार्य संघसे निवेदन करते हैं कि अब यह क्षपक जीवनपर्यन्तके लिए अशन, खाद्य और स्वाद्य तीनों प्रकारके सब आहारका त्याग करता है ॥७०३॥

गा०—तथा यह क्षपक आप सबसे क्षमा माँगता है। इसके प्रमाणके लिए आचार्य उस क्षपककी पिच्छिका लेकर सर्वसंघकी वसतियोंमें दिखलाते हैं। अर्थात् क्षपक सबके पास क्षमा माँगने स्वयं नहीं जा सकता, इसलिए उसकी पीछी सर्वत्र ले जाकर दिखलाते हैं कि वह आप सबसे क्षमा माँगता है ॥७०४॥

क्षपकका अभिप्राय जानकर संघको क्या करना चाहिए यह [illegible]

गा०—क्षपककी रत्नत्रयकी आराधनापूर्ण हो [illegible] कोई [illegible], इसके लिए सर्वसंघको कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥७०५॥

इय खामिय वेरग्गं अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥७१४॥

वट्टंति अपरिदंता दिवा य रादो य सव्वपरियम्मे ।
पडिचरया गणहरया कम्मरयं णिज्जरेमाणा ॥७१५॥

'वट्टंति' वर्तन्ते । 'अपरिदंता' अपरिश्रान्ता । 'दिवा य रादो य' दिने रात्रौ च । 'सव्वपरिकम्मे' सर्वपरिचरणे । 'पडिचरगा' निर्यापका । गणहरया गणान् धर्मस्थान् धारयन्तीति गणधराः 'कम्मरयं' कर्माख्यं रज 'णिज्जरेमाणा' निर्जरयन्त ॥७१५॥

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ।
सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥७१६॥

'जं' यत् । 'बद्धं रयं' बद्धं रज कर्म । यथा रजश्छादयति परस्य गुण शरीरादे. कच्छूदद्रुप्रभृतिकं दोषमावहति तद्वद्बोधादिगुणमवच्छादयति च विचित्रा विपद. तेन रज इव रज इत्युच्यते । 'भवसदसहस्स कोडीहिं' भवशतसहस्रकोटिभि । तद्रज. 'खवेंति' क्षपयन्ति । केन ? 'सम्मत्तुप्पत्तीए' श्रद्धानोत्पत्त्या । 'एगसमयेण' एकेनैव समयेन । तथा चोक्तं—सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोह क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥ [तत्त्वा० ९।४५] ॥७१६॥

एयसमएण विधुणदि उवउत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ।
अण्णयरम्मि य जोग्गे पच्चक्खाणे विसेसेण ॥७१७॥

'एगसमयेण विधुणदि' अल्पेन कालेन निर्धुनाति । 'उवउत्तो' परिणत । क्व ? 'अण्णयरम्मि जोग्गे' यस्मिन्कस्मिश्चित् तपसि । किं ? 'बहुभवज्जियं' अनेकभवसञ्चितं । 'कम्मं' कर्म । 'पच्चक्खाणे उवजुत्तो विसेसेण

गा०—इस प्रकार सर्वसंघको क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्यको धारणकर, तप और समाधिमें लीन हुआ क्षपक भवभवमें कष्ट देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१४॥

गा०—धार्मिकोंका संरक्षण करनेवाले निर्यापक मुनिगण रात दिन बिना थके उस क्षपककी समस्त परिचर्यामें लगे रहते हैं। और इस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करते हैं ॥७१५॥

गा०—असंख्यात लक्षकोटिभवोंमें जो कर्मरज बाँधा है उसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक समयमें ही जीव नष्ट कर देता है ॥७१६॥

टी०—जैसे रज अर्थात् धूल शरीर आदिके सौन्दर्यको ढाँक देती है और शरीरमें दाद खाज आदि दोष उत्पन्न करती है वैसे ही कर्म जीवके ज्ञानादिगुणोंको ढाँकता है और अनेक कष्ट देता है इसलिए उसे रजके समान होनेसे रज कहा है। असंख्यातभवोंमें संचित कर्मरज सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेपर एक समयमें ही निर्जीर्ण हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—सम्यग्दृष्टी, श्रावक, प्रमत्तविरत, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजक, दर्शनमोहका क्षपक, उपशम श्रेणिवाला, उपशान्तमोही, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोही और अरहन्तके उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥७१६॥

गा०—जिस किसी तपमें लीन हुआ आत्मा अनेकभवोंमें संचितकर्मोंको अल्पसमयमें ही

'णिधुणदि' यावज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागं परिणतः विशेषेण निरस्यति ॥७१७॥

एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसज्झाए ।
अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ॥७१८॥

'एवं' उक्तेन क्रमेण । 'पडिक्कमणाए' प्रतिक्रमणे । 'काउसग्गे य' कायोत्सर्गे च । 'विणयसज्झाए' विनयस्वाध्याययो । 'अणुपेहासु य जुत्तो' अनुप्रेक्षासु च युक्तः । 'संथारगदो' संस्तरारूढः । 'कम्मं धुणदि' कर्म शातयति । सुगमं सर्वं ॥७१८॥

इत उत्तरं अनुशासनं प्रक्रम्यते इति निगदति—

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्स दिंति अणुसिट्ठिं ।
संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कण्णजावं से ॥७१९॥

'णिज्जवगा आइरिया' निर्यापकाः सूरयः । 'अणुसिट्ठिं दिंति' श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षां प्रयच्छन्ति । 'संथारत्थस्स' संस्तरस्थस्य । 'संवेगं' संसारभीरुतां । 'णिव्वेगं' वैराग्यं च । 'जणतगं' उत्पादयन्तः । 'कण्णजाव' कर्णजापं । 'से' तस्मै क्षपकाय ॥७१९॥

णिस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंथारं ।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥७२०॥

'णिस्सल्लो' मिथ्यादर्शन, माया, निदान इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो निःक्रान्तः । तत्त्वश्रद्धानेन, ऋजुतया, भोगनिस्पृहतया वा 'कदसुद्धी' कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धिः । विज्जावच्चकरवसधिसंथारं' विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याधयः, उपसर्गाः, परीषहाः, असंयमो, मिथ्याज्ञान इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रतिविधानं तद्वैयावृत्त्यं तत्करोति य आत्मनः स वैयावृत्त्यकरस्तं । वसतिसंस्तर

निर्जीर्ण कर देता है। और जो जीवनपर्यन्त चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है वह विशेषरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१७॥

गा०—इस प्रकार संस्तरपर आरूढ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओंमें लगनेपर कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१८॥

आगे कहते हैं कि क्षपकको सूरि शिक्षा देते हैं—

गा०—निर्यापक आचार्य संस्तरपर आरूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उसके कानमें शिक्षा देते हैं। वह शिक्षा संसारसे भय और वैराग्यको उत्पन्न करती है ॥७१९॥

कानमें क्या शिक्षा देते हैं, यह कहते हैं—

गा०—हे क्षपक ! निःशल्य होकर, रत्नत्रयको निर्मल करके तथा वैयावृत्य करनेवाले, वसति संस्तर और पीछी आदि उपधिका शोधन करके अब सल्लेखना करो ॥७२०॥

टी०—मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य हैं। तत्त्वश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनको, सरलतासे मायाको और भोगोंकी निस्पृहतासे निदानको दूर करके निःशल्य बनो। व्याधि, उपसर्ग, परीषह, असंयम, मिथ्याज्ञान आदिके भेदसे विविध आपदाओंको विपदा कहते हैं। उस विपदाके आनेपर उसके प्रतिकार करनेको वैयावृत्य कहते हैं। जो क्षपककी वैयावृत्य करता है

इय खामिय वेरग्गं अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥७१४॥

वट्टंति अपरिदंता दिवा य रादो य सव्वपरियम्मे ।
पडिचरया गणहरया कम्मरयं णिज्जरेमाणा ॥७१५॥

'वट्टंति' वर्तन्ते । 'अपरिदंता' अपरिश्रान्ता । 'दिवा य रादो य' दिने रात्रौ च । 'सव्वपरियम्मे' सर्वपरिचर्ये । 'पडिचरगा' निर्यापका । गणहरया गणान् धर्मस्थान् धारयन्तीति गणधरा. 'कम्मरयं' कर्म रज 'णिज्जरेमाणा' निर्जरयन्त ॥७१५॥

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ।
सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥७१६॥

'जं' यत् । 'बद्धं रयं' बद्ध रज कर्म । यथा रजश्छादयति परस्य गुणं शरीरादेः कल्मषादिप्रभृति दोषमावहति तद्वद्बोधादिगुणमवच्छादयति च विविधा विपद तेन रज इव रज इत्युच्यते । 'भवसदसहस्सकोडीहिं' भवशतसहस्रकोटिभि । तद्रज 'खवेंति' क्षपयन्ति । केन ? 'सम्मत्तुप्पत्तीए' श्रद्धानोत्पत्त्या । 'एगसमयेण' एकेनैव समयेन । तथा चोक्तं—सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोह क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥ [तत्त्वा० ९।४५] ॥७१६॥

एगसमएण विधुणदि उवउत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ।
अण्णयरम्मि य जोगे पच्चक्खाणे विसेसेण ॥७१७॥

'एगसमयेण विधुणदि' अल्पेन कालेन निर्धुनाति । 'उवउत्तो' परिणत । क्व ? 'अण्णयरम्मि जोगे' [illegible] । किं ? 'बहुभवज्जियं' अनेकभवार्जितं । 'कम्म' कर्म । 'पच्चक्खाणे उवजुत्तो विसेसेण

गा०—इस प्रकार सबसे क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्यको धारणकर, तप और [illegible] लीन हुआ क्षपक अनेक भवोंमें कष्ट देनेवाले कर्मोकी निर्जरा करता है ॥७१४॥

गा०—परिचर्या करनेवाले निर्यापक मुनिगण रात दिन बिना थके उस क्षपक की समस्त परिचर्यामें लगे रहते हैं। और इस प्रकार कर्मोकी निर्जरा करते हैं ॥७१५॥

गा०—असंख्यात [illegible] जो कर्मरज बांधा है उसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होने [illegible] एक समयमें ही [illegible] नष्ट कर देता है ॥७१६॥

टी०—जैसे रज अर्थात् धूल शरीर आदिके सौन्दर्यको ढांक देती है और शरीरमें [illegible] आदि दोष उत्पन्न करती है वैसे ही कर्म जीवके ज्ञानादि गुणोंको ढांकता है और अने[illegible] कष्ट देता है इसलिए उसे रजके समान होनेसे रज कहा है। असंख्यात भवोंमें संचित कर्म[illegible] [illegible] उत्पन्न होनेपर एक समयमें ही निर्जीर्ण हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है— [illegible] श्रावक, [illegible], अनन्तानुबन्धीका विसंयोजक, दर्शनमोहका क्षपक, उपश[illegible] [illegible] उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा करते हैं। ॥७१६॥

गा०—[illegible] [illegible] हुआ आत्मा अनेक भवोंमें संचित कर्मोंको अल्पसमयमें [illegible]

विसुणदि' यावज्जीव चतुर्विधाहारत्यागं परिणत विशेषेण निरस्यति ॥७१७॥

एवं पडिक्कमणाए काउस्सग्गे य विणयसज्झाए ।
अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ॥७१८॥

'एवं' उक्तेन प्रमेण । 'पडिक्कमणाए' प्रतिक्रमणे । 'काउस्सग्गे य' कायोत्सर्गे च । 'विणयसज्झाए' विनयस्वाध्याययो । 'अणुपेहासु य जुत्तो' अनुप्रेक्षासु च युक्त । 'संथारगओ' संस्तरारूढ । 'कम्म धुणदि' कर्म क्षपयति । सवस्त्र गर्द ॥७१८॥

इत उत्तरं अनुशासनं प्रक्रम्यते इति निरूपयति—

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्स दिंति अणुसिट्ठिं ।
संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कण्णजावं से ॥७१९॥

'णिज्जवया आइरिया' निर्यापका सूरय । 'अणुसिट्ठि दिंति' श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षा प्रयच्छन्ति । 'संथारत्थस्स' संस्तरस्थस्य । 'संवेगं' संसारभीरुता । 'णिव्वेगं' वैराग्यं च । 'जणंतं' उत्पादयन्त । 'कण्ण-जावं' कर्णजापं । 'से' तस्मै क्षपकाय ॥७१९॥

णिस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंथारं ।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥७२०॥

'णिस्सल्लो' मिथ्यादर्शनं, माया, निदानं इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो नि क्रान्त । तत्त्वश्रद्धानेन, ऋजुतया, भोगनिस्पृहतया वा 'कदसुद्धी' कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धि । 'विज्जावच्चकरव-सधिसंथारं' विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याधय, उपसर्गा, परीषहा, असंयमो, मिथ्याज्ञानं इत्यादि-भेदेन तस्यामापदि प्रतिविधानं तद्वैयावृत्यं तत्करोति य आत्मन स वैयावृत्यकरस्त । वसतिसंथारं

निर्जीर्ण कर देता है। और जो जीवनपर्यन्त चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है वह विशेष-रूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१७॥

गा०—इस प्रकार संस्तरपर आरूढ़ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओंमें लगकर कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१८॥

आगे कहते हैं कि क्षपकको सूरि शिक्षा देते हैं—

गा०—निर्यापक आचार्य संस्तरपर आरूढ़ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उसके कानमें शिक्षा देते हैं। वह शिक्षा संसारसे भय और वैराग्यको उत्पन्न करती है ॥७१९॥

कानमें क्या शिक्षा देते हैं, यह कहते हैं—

गा०—हे क्षपक ! निःशल्य होकर, रत्नत्रयको निर्मल करके तथा वैयावृत्य करनेवाले, वसति संस्तर और पीछी आदि उपधिका शोधन करके अब सल्लेखना करो ॥७२०॥

टी०—मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य हैं। तत्त्वश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनको, सरलतासे मायाको और भोगोंकी निस्पृहतासे निदानको दूर करके निःशल्य बनो। व्याधि, उपसर्ग, परीषह, असंयम, मिथ्याज्ञान आदिके भेदसे विविध आपदाओंको विपदा कहते है। उस विपदाके आनेपर उसके प्रतिकार करनेको वैयावृत्य कहते हैं। जो क्षपककी वैयावृत्य करता है

संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि ।
बुद्धी गुणण्णिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥७२३॥

'संसारमूलहेदु' संसारस्य मूलकारणं । 'मिच्छत्तं' अश्रद्धानं । 'सव्वधा' मनोवाक्कायैः । 'विवज्जेहि'
र । 'बुद्धी' बुद्धि । 'गुणण्णिदं पि हु' गुणान्वितामपि । 'मिच्छत्तं' मिथ्यात्वं 'मोहिदं' मुग्धां । 'कुणदि'
ति । अत्रेदं विचार्यते । कथं प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न हीदं समाध्यते असंयमादिभ्यो मिथ्यात्वं प्रथममुत्प-
मिति कृतः ? यथा मिथ्यात्वं स्वनिमित्तसन्निधानाद्भवति, एवमसंयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ?
तद्धेतुरेव दर्शनमोहः प्रथमं भवति पश्चाच्चारित्रमोहादीनीत्येतदपि असत् सदा कर्माष्टकसद्भावात् ।
प्रामाण्यतो सूत्रकार. 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इति वचने मिथ्यात्वं बन्धहेतुषु
पूर्वकस्तस्मं बन्धपूर्वकश्च संसारः, संसारमूलहेतुर्मिथ्यात्वमिति बुद्धिं अर्थयाथात्म्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि
त्वं विपरीतां करोति । अन्ये तु वदन्ति । 'बुद्धी गुणण्णिया वि हु' शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेर्गु-
बुद्धेरनुमरीति ॥७२३॥

असद्भावस्तुनि सद्भावना मिता कथं विज्ञानस्योत्पादाद्धाया विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावा-
चाचष्टे—

मयतण्हियाओ उदयंत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा ।
तह य णरा वि असद्भूदं सद्भूतं ति मण्णंति मोहेण ॥७२४॥

'मयतण्हिया' मृगतृष्णिकाशब्देन आदित्यरश्मयो भौमेनोष्मणा सपृक्ता उच्यन्ते । ता अजलभूता ।
। मण्णंति उदगंति' मृगा मन्यंते उदकमिति । 'मया सतण्हगा' तृष्णाशतप्तलोचना । 'तह य' तथैव । मृगा

गा०—मिथ्यात्व संसारका मूल कारण है उसका मनवचनकायसे त्याग करो; क्योंकि
थ्यात्व गुणयुक्त बुद्धिको भी मूढ बना देता है ॥७२३॥

टी०—शङ्का—यहाँ विचारणीय यह है कि मिथ्यात्वको प्रथमस्थान क्यों दिया गया है ?
यम आदिसे मिथ्यात्व पहले उत्पन्न हुआ है यह सम्भावना भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे
थ्यात्व अपने निमित्तके होनेपर होता है वैसे ही असंयम आदि भी होते हैं तब वह प्रथम क्यों ?
कहोगे कि उसका हेतु दर्शनमोह पहले होता है पीछे चारित्रमोह आदि होते हैं तो यह भी
नहीं है क्योंकि आठों कर्म सदा रहते हैं ?

समाधान—सूत्रकारने तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—'मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और
बन्धके कारण हैं।' यहाँ उन्होंने बन्धके कारणोंमें मिथ्यात्वको प्रथम स्थान दिया है और
पूर्वक संसार होता है अतः संसारका मूल कारण मिथ्यात्व है। वह पदार्थको यथार्थ रूपसे
ननेका गुण रखने वाली बुद्धिको भी विपरीत कर देता है।

अन्य आचार्य ऐसा व्याख्यान करते हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना और धारण
ना आदि बुद्धिके गुण हैं। ऐसी गुणयुक्त बुद्धिको भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है ॥७२३॥

जो वस्तु जिस रूप नहीं है उसे ज्ञान उस रूप कैसे दिखलाता है ? ऐसी आशंका होने पर
चार्य कहते हैं कि मिथ्यात्व रूप निमित्तके सद्भावमें ज्ञान विपरीत भी होता है—

गा०—सूर्यकी किरणें पृथ्वीकी ऊष्मासे मिलकर जलका भ्रम उत्पन्न करती हैं उसे मृग-

---

१ एव सामान्यन मु०-आ० मु० ।

दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥७३७॥
दंसणभट्ठो भट्ठो ण हु भट्ठो होइ चरणभट्ठो हु ।
दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ॥७३८॥

'दंसणभट्ठो भट्ठो' दर्शनाद्भ्रष्टो भ्रष्टतमः । 'चरणभट्ठो वि' चारित्रभ्रष्टोऽपि दर्शनाद्भ्रष्टः । 'ण हु' न वा । 'भट्ठो होदित्ति' वाक्यशेषं कृत्वा संबन्धः । न तु तथा भ्रष्टो भवति चारित्रभ्रष्टः यथा दर्शनाद्भ्रष्टः । 'दंसणं' श्रद्धानं । 'अमुयत्तस्स' अत्यजतः । चारित्राद्भ्रष्टस्यापि 'परिवडणं संसारे णत्थि खु' परिपतनं संसारे नास्त्येव । असंयमनिमित्तार्जितपापसंहतेरस्त्येव संसारः । किमुच्यते परिपतनं नास्तीति ? अयमभिप्रायः—परि समन्तात्सर्वासु गतिषु चतसृषु संचरणं नास्तीति । स्वल्पत्वात्संसारः सन्नपि नास्तीति व्यवह्रियते । तथा हि स्वल्पद्रविणोऽधन इत्युच्यते । दर्शनात्तु प्रभ्रष्टस्य अर्धपुद्गलपरिवर्तनं भवत्यतिमहत्संसार-मिति निकृष्टतमो दर्शनाद्भ्रष्टः ॥७३८॥

एवंकस्य दर्शनस्य माहात्म्यं कथयति—

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ।
जादो दु सेणिगो आगमेसिं अरुहो अविरदो वि ॥७३९॥

'सुद्धे' शुद्धे । 'सम्मत्ते' सम्यक्त्वे । शङ्काद्यतिचाराभावात् । 'अविरदो वि' अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानामुदयात् हिंसादिनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । 'तित्थयरणामकम्मं तीर्थंकरत्वस्य कारणं कर्म

मज्जानुरागी हैं। किन्तु तुम जिनशासनमे रहकर सदा धर्मानुरागी रहो ॥७३६॥

गा०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टका अनन्तानन्त कालमें भी निर्वाण नहीं होता। जो चारित्रसे भ्रष्ट है किन्तु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं है उसका कुछ कालमें निर्वाण होगा। परन्तु जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है उसका निर्वाण अनन्त कालमें भी नहीं होगा ॥७३७॥

गा०-टी०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह अत्यन्त भ्रष्ट है। किन्तु चारित्रसे भ्रष्ट होने पर भी सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं है वह भ्रष्ट नहीं है। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जैसा होता है चारित्रसे भ्रष्ट वैसा नहीं होता। चारित्रसे भ्रष्ट होकर भी जो सम्यग्दर्शनको नहीं त्यागता उसका संसारमें पतन नहीं होता।

शंका—असंयमके निमित्तसे उपार्जित पाप कर्मके होनेसे उसका संसार रहता ही है। आप कैसे कहते हैं कि उसका संसारमें पतन नहीं होता ?

समाधान—हमारे कथनका अभिप्राय यह है कि उसका चारों गतियोंमें भ्रमण नहीं होता। यद्यपि संसार रहता है किन्तु स्वल्प रहता है अतः 'नहीं रहता' ऐसा कहनेमें आता है जैसे स्वल्प धन वालेको निर्धन कहा जाता है। किन्तु जो सम्यग्दर्शन पाकर उससे भ्रष्ट हो जाता है उसका संसार अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण रहनेसे महान् संसार होता है। अतः चारित्र भ्रष्टसे दर्शन भ्रष्ट अति निकृष्ट होता है ॥७३८॥

गा०-टी०—इससे सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान

अर्जयति । विनयसम्पन्नतादिरपि तीर्थंकरनामकर्मणो हेतुरेव तत्र कोऽतिशयो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने सत्येव तेषां तीर्थंकरनामकर्मणः कारणता, नान्यथेति मन्यते । 'जादो खु' जात खलु । 'सेणिगो' श्रेणिक । 'आगमेसि' भविष्यति काले । अरुहो अर्हन् 'अविरदो वि' असंयतोऽपि सन् । ननु श्रेणिको भविष्यत्यर्हन् न त्वर्हत्त्वं तस्यातीतं तेन कथमुच्यते जात इति ? भविष्यदर्हत्त्वं न निष्पन्न इति युक्तमुच्यते जात इति ॥७३९॥

कल्लाणपरंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्दंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥७४०॥

'कल्लाणपरंपरयं' कल्याणपरम्परा इन्द्रत्वं, सकलचक्रलाञ्छनता, अहमिन्द्रत्वं, तीर्थकृत्त्वमित्यादिकं लभन्ते जीवाः । 'विसुद्धसम्मत्ता' विशुद्धसम्यक्त्वा । 'सम्मद्दंसणरयणं' सम्यग्दर्शनरत्नं 'णग्घदि ससुरासुरो लोओ' सकलो लोको मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः ॥७४०॥

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ।
सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७४१॥
लद्धूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिमिदेण कालेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥७४२॥

स्पष्टार्थतया न व्याख्यायते गाथाद्वयम् अनन्तरं सम्मत्ते भावणा इत्येतद्व्याख्यानं । सम्मत्त ॥७४२॥

माया लोभके उदयमें हिंसा आदिकी निवृत्ति रूप परिणामोंसे रहित अविरत भी शंका आदि अतिचारोंसे रहित शुद्ध सम्यक्त्वके होने पर तीर्थंकर पदके कारणभूत कर्मका उपार्जन करता है।

शंका—विनय सम्पन्नता आदि भी तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रवमें कारण होते हैं तब उनसे सम्यग्दर्शनकी क्या विशेषता हुई ?

समाधान—सम्यग्दर्शनके होने पर ही विनय सम्पन्नता आदि तीर्थंकर नाम कर्मके कारण होते हैं, उसके अभावमें कारण नहीं होते। देखो, असंयमी भी श्रेणिक भविष्यमें तीर्थंकर हुआ।

शङ्का—श्रेणिक तीर्थंकर होगा, भविष्यकालमें, अभी वह हुआ नहीं है, फिर उसे 'हुआ' क्यों कहा ?

समाधान—श्रेणिकका अर्हन्तपना आगे होगा, अभी हुआ नहीं है इसलिए 'भविष्यमें हुआ' ऐसा कहा है ॥७३९॥

गा०—विशुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रपद, चक्रवर्तिपद, अहमिन्द्रपद, तीर्थंकरपद आदि कल्याणपरम्पराको प्राप्त करते हैं। मूल्यके रूपमें समस्तलोक देनेपर भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नहीं होता ॥७४०॥

गा०—सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बदलेमें यदि तीनों लोक प्राप्त होते हों तो त्रैलोक्यकी प्राप्तिसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति श्रेष्ठ है ॥७४१॥

गा०—तीनों लोक प्राप्त करके भी कुछ काल बीतनेपर वे छूट जाते हैं। किन्तु सम्यक्त्वको प्राप्त करके अविनाशी सुखवाला मोक्ष प्राप्त होता है ॥७४२॥

सम्यक्त्वभावनाका कथन समाप्त हुआ।

[illegible]

आराहणापडायं गेण्हंतस्स हु करो णमोक्कारो।
मल्लस्स जयपडायं जह हत्थो घेत्तुकामस्स ॥७५७॥

[illegible] ॥७५७॥

अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं।
चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामण्णं ॥७५८॥

[illegible] ॥७५८॥

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं।
णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७५९॥

णाणुवओगे इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध—'णाणोवओगरहिदेण' ज्ञानोपयोगरहितेन पुंसा। 'ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं' चित्तनिग्रहः कर्तुमशक्यः। कस्मात् ज्ञानमन्तरेण न शक्यश्चित्तनिग्रहं कर्तुमित्यत्राह—ज्ञानं निग्रहकरणे साधकतमं तदन्तरेण न भवति चित्तनिग्रह इत्याचष्टे। 'णाणं अंकुसभूदं'

चारित्र और सम्यक् तप विद्यमान कर्मोंको दूर करनेमें निमित्त होता है, अन्यथा नहीं होता। इसलिए भाव नमस्कार ज्ञान चारित्र और तपका प्रवर्तक होनेसे प्रधान है और संसारका उच्छेद करने वाला कहाता है ॥७५६॥

गा०—जैसे विजय पताकाको ग्रहण करनेके अभिलाषी मल्लके लिए हाथ है। हाथसे ही वह जय पताका ग्रहण करता है। वैसे ही आराधना पताका (ध्वजा) को ग्रहण करनेके इच्छुक आराधकका हाथ भाव नमस्कार है। भाव नमस्कार पूर्वक ही वह आराधनामें सफलता पाता है ॥७५७॥

गा०—सुभग नामका ग्वाला अज्ञानी था, उसे अर्हन्तके गुणोंका ज्ञान नहीं था। वह द्रव्यनमस्कारकी आराधना करके अर्थात् मुखसे णमोकार मन्त्रका जप करते हुए मरा और चम्पा नगरीमें एक श्रेष्ठीके वंशमें उत्पन्न हुआ। तथा मुनि पदको धारण कर मुक्त हुआ। इस प्रकार द्रव्यनमस्कारसे भी विपुल फलकी प्राप्ति होती है। तब भावनमस्कारका तो कहना ही क्या है। इस प्रकार भावनमस्कारका कथन समाप्त हुआ ॥७५८॥

अब ज्ञानोपयोगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानोपयोगसे रहित मनुष्य अपने चित्तका निग्रह नहीं कर सकता।

शङ्का—ज्ञानके विना चित्तका निग्रह क्यों नहीं कर सकता?

समाधान—ज्ञान चित्तका निग्रह करनेमें साधकतम है अतः उसके विना चित्तका निग्रह

---

१. प्रमात्वा-आ० मु०।

मत्तस्य तु चित्तहस्तिनः ज्ञानमङ्कुशभूतं मत्तस्य चित्तहस्तिनः। इदमत्र चोद्यते—इह चित्तशब्देन किमुच्यते ? अन्यत्र सचित्तशीतसंवृत इत्यादौ चित्तं चैतन्यमिति गृहीतं। इहापि यदि तदेव तस्य निग्रहो नाम कः ? अत्रोच्यते—विपर्ययज्ञानतया अशुभध्यानलेश्यातया वा परिणतिः[1] प्राणभृतो यस्य तस्य निरोधो यथार्थज्ञान-परिणामेन क्रियते। परिणामो हि परिणामिनं निरुणद्धि, परिणामोऽस्मा[2]द्विरुद्धस्त्वया नादातव्य इति। यथा मत्तो हस्ती न क्वचिदवतिष्ठते बन्धनमर्दनादिकं विना तद्वच्चित्तहस्त्यपि यत्र क्वचनाशुभपरिणामे प्रवर्तते इति ॥७५९॥

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं।
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥७६०॥

'विज्जा सुट्ठु पउत्ता जहा पिसाय पुरिसवसं करेदि' विद्या सुष्ठु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा पिशाच पुरुषस्य वश्य करोति। 'तह णाणं सुट्ठुवजुत्तं वसं करेदि हिदयपिसायं'। तथा ज्ञान सुष्ठु प्रयुक्त वश करोति कि ? हृदयपिशाच। चित्तं पिशाचवदयोग्यकारितया ज्ञानं समीचीन असकृत्प्रवर्तमान शुभे शुद्धे वा परिणामे प्रवर्तयति चेतनामिति यावत् ॥७६०॥

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण।
तह हिदयकिण्हसप्पो सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण ॥७६१॥

'उवसमदि किण्हसप्पो' उपशाम्यति कृष्णसर्पः। 'जह' यथा। 'मंतेण सुप्पजुत्तेण' स्वाहाकारान्ता विद्या[3] नि स्वाहाकारो मन्त्रशब्देनोच्यते। मन्त्रेण सुष्ठु प्रयुक्तेन। 'तह' तथैव। 'हिदयकिण्हसप्पो उवसमदि' हृदयकृष्णसर्प उपशाम्यति। 'सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण' सुष्ठु प्रवृत्तेन ज्ञानपरिणामेन। अशुभनिग्रहहेतुना ज्ञानस्य

नहीं होता, यह कहते हैं—मदोन्मत चित्तरूपी हाथीके लिए ज्ञान अंकुश रूप है।

शङ्का—यहाँ चित्त शब्दसे क्या लिया है ? तत्त्वार्थ सूत्रमे 'सचित्त शीत संवृत' इत्यादि सूत्रमें चित्तसे चैतन्यका ग्रहण किया है। यहाँ भी यदि चैतन्य ही लिया है तो उसका निग्रह कैसा ?

समाधान—जिस प्राणीकी परिणति विपरीत ज्ञान रूप या अशुभ ध्यान और अशुभ लेश्या रूप होती है उसका निरोध यथार्थ ज्ञानरूप परिणामसे किया जाता है। परिणाम परिणामीको रोकता है जैसे तुम्हे हमारे विरुद्ध परिणाम नहीं करना चाहिए। अतः जैसे मत्त हाथी बन्धन मर्दन आदिके बिना वशमें नहीं होता वैसे ही चित्तरूपी हाथी भी जिस किसी भी अशुभ परिणाम में प्रवृत्त होता है ॥७५९॥

गा०—जैसे सम्यक् रीतिसे साधी गई विद्या पिशाचको पुरुषके वशमें कर देती है। वैसे ही सम्यक् रूपसे आराधित ज्ञान हृदय रूपी पिशाचको वशमें करता है। अयोग्य काम करनेसे चित्त पिशाचके समान है। बार-बार प्रयुक्त सम्यग्ज्ञान चेतनाको शुभ अथवा शुद्ध परिणाममें प्रवृत्त करता है ॥७६०॥

गा०—जैसे विधिपूर्वक प्रयोग किये गये मंत्रसे कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है। वैसे ही अच्छी तरहसे भावित ज्ञानसे हृदयरूपी कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है। प्रथम गाथा (७५९) से

---

१. ति प्राकृत यस्य निरोध. अ०। २. स्मद्वि-अ० मु०। ३. द्या इति स्वा-आ० मु०।

आद्यया गाथयोक्तं । द्वितीयया चित्तस्य स्ववशवर्तित्वं ज्ञानभावनयोक्तं । अनया तु अशुभपरिणामप्रशान्ति-कारिता ज्ञानभावनया निरूप्यते ॥७६१॥

आरण्णवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए ।
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ॥७६२॥

'आरण्णवो वि मत्तो हत्थी' अरण्यचारी मत्तो हस्ती । 'णियमिज्जदे वरत्ताए' नियम्यते नियम्यते चर्मेण यथा । तथा 'मणहत्थी णियमिज्जदे' मनोहस्ती नियम्यते । 'णाणवरत्ताए' ज्ञानवरत्रेण । प्राणिना-महितकारितया, दुर्निवारतया च मनो हस्तीवेति मनोहस्तीति भण्यते । ज्ञानमशुभप्रवाहं निरुणद्धि । इत्यनयोच्यते ॥७६२॥

ज्ञानवरत्रानियमितस्य मनसो व्यापारं निरूपयत्युत्तरगाथा—

जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदुं ण सक्केइ ।
तह खणमवि मज्झत्थो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥७६३॥

'मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदुं ण जहा सक्कदि' मर्कटः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकार सन् स्थातुं न शक्नोति । 'तहा मणो विसएहिं विणा मज्झत्थो खणमवि ण होदि' तथा मनो विषयैः शब्दादि-विषयनिमित्ता रागादय इह विषयशब्दवाच्या विषयकार्यत्वात् । ततोऽयमर्थः, अत्र रागद्वेषौ विना मध्यस्थं मनो भवति । ज्ञानभावनायामसत्यां रागद्वेषयोर्वृत्तिरेव मनसो व्यापार इत्यर्थः । एतया ज्ञानं मनसो माध्यस्थ्यं करोतीत्याख्यायते । यस्माच्च मनसो माध्यस्थ्यमस्ति सन्निहितमनोज्ञामनोज्ञविषयरागद्वेषसहचारितया ॥७६३॥

तम्हा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण ।
रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥७६४॥

ज्ञानको अशुभका निग्रह करनेमें हेतु कहा । दूसरी गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा चित्त अपने वशमें होता है यह कहा । इस गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा अशुभ परिणामोंकी शान्ति होती है यह कहा ॥७६१॥

गा०—जैसे चमड़ेके कोड़ेसे जंगली भी मस्त हाथी वशमें किया जाता है । वैसे ही ज्ञान रूपी चर्मदण्डसे मन रूपी हाथी वशमें किया जाता है । प्राणियोंका अहितकारी तथा दुर्निवार होनेसे मनको हाथीकी तरह कहा है । ज्ञान अशुभ प्रवाहको रोकता है यह इस गाथासे कहा है ॥७६२॥

आगे ज्ञानरूपी चर्मदण्डसे वशमें किये गये मनका व्यापार कहते हैं—

गा०—जैसे बन्दर एक क्षण भी निर्विकार होकर ठहर नहीं सकता, वैसे ही मन एक क्षण भी विषयोंके बिना नहीं रहता । यहाँ विषय शब्दसे शब्द आदिके निमित्तसे होने वाले रागादिक लिया है क्योंकि वे विषयोंसे उत्पन्न होते हैं । इसलिए ऐसा अर्थ होता है कि रागद्वेषके बिना मन मध्यस्थ नहीं होता है । अर्थात् ज्ञान भावनाके अभावमें रागद्वेषमें प्रवृत्ति करना ही मनका व्यापार है । इस गाथासे कहा है कि ज्ञान मनको मध्यस्थ करता है । निकटवर्ती प्रिय और अप्रिय विषयोंमें रागद्वेष करनेसे मन मध्यस्थ नहीं होता ॥७६३॥

'तम्हा' तस्मात् । 'सो मणमक्कडओ' मनोमर्कट । 'उड्डहणो' इतस्तत उत्प्लवनपरः । 'रामेदव्वो णिच्चं' सर्वकालं रमयितव्य । क्व 'जिणोवदेसम्मि' जिनागमे । 'तो' ततो जिनागमरते । 'सो' मनोमर्कट । 'दोस' रागद्वेषादिकं । 'ण काहिदि' न करिष्यति । 'से' तस्य ज्ञानाभ्यासकारिण ॥७६४॥

यस्माज्ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको दोषं अशुभपरिणाम न करोति—

तम्हा णाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ।
जह विंधणोवओगो चंदयवेज्झं करंतस्स ॥७६५॥

'तम्हा णाणुवओगो' तस्माज्ज्ञानपरिणाम । 'खवगस्स विसेसदो सदा भणिदो' क्षपकस्य विशेषत सदा निरूपित । 'जह विंधणोवओगो' यथा व्यधनाभ्यासो विशेषतो भणित । कस्य ? 'चंदयवेज्झं करंतस्स' चन्द्रकवेधं कुर्वत ॥७६५॥

णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥७६६॥

'णाणपदीओ' ध्यानप्रदीप । 'पज्जलइ' प्रज्वलति । यस्य विशुद्धलेश्यस्य हृदये । तस्य संसारावर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्मीति विनाशभय नास्ति । 'जिणदिट्ठमोक्खमग्गे' जिनदृष्टे श्रुते । रत्नत्रयवृत्तिरपि मोक्षमार्ग-शब्द इह श्रुतवृत्तिर्ग्राह्या ॥७६६॥

ज्ञानप्रकाशमाहात्म्यं कथयति[1]—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ॥७६७॥

'णाणुज्जोवो' ज्ञानोद्योत एव द्योतोऽतिशयित । कस्तस्यातिशय इत्यत्र आह—'णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो' ज्ञानोद्योतस्य नास्ति प्रतिघात । 'दीवेदि' प्रकाशयति । 'खेत्तमप्प' अल्प क्षेत्र । क ? 'सूरो'

गा०—इसलिये इधर-उधर कूदने वाले मनरूपी बन्दरको जिनागममें सदा लगाना चाहिए। जिनागममें लगे रहनेसे वह मनरूपी बन्दर उस ज्ञानाभ्यास करने वालेमें रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकेगा ॥७६४॥

गा०—यत. ज्ञानाभ्यास करने पर मनरूपी बन्दर अशुभ परिणामरूप दोष उत्पन्न नहीं करता। इसलिये क्षपकके लिये सदा ज्ञानोपयोग विशेष रूपसे कहा है। जैसे चन्द्रक यन्त्रका वेध करने वालेके लिये सदा बीधनेका अभ्यास विशेष रूपसे कहा है ॥७६५॥

गा०—जिस विशुद्ध लेश्या वालेके हृदयमें ज्ञानरूपी दीपक जलता है उसको जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये आगममें प्रवृत्त रहते हुए 'मैं संसारकी भँवरमें गिरकर नष्ट होऊँगा', ऐसा भय नहीं रहता ॥७६६॥

ज्ञानरूपी प्रकाशका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—ज्ञानरूप प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है, क्योंकि ज्ञानरूपी प्रकाशमें रहनेवालेका

---

१. ज्ञानप्र-आ० ।

आदित्य । 'णाणं जगमसेसं' ज्ञानं जगदशेषं । 'वोभेदि' प्रकाशयति । समस्तवस्तुव्यापिज्ञानवदन्यः प्रकाशो नास्तीत्यर्थः ॥७६७॥

णाणं पयासओ सोधओ तवो संजमो य गुत्तियरो ।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥७६८॥

'णाणं पयासगं' ज्ञानं प्रकाशयति 'संसारं' संसारकारणं, 'मुक्तिं' मुक्तिकारणं च ॥ 'सोधवो तवो' निर्जरानिमित्तं तपः । 'संजमो य गुत्तियरो' संयमश्च गुप्तिकरः । 'तिण्हंपि' त्रयाणामपि । 'समाओगे' संयोगे । 'मोक्खो' मोक्षः । 'जिणसासणे दिट्ठो' जिनशासने दृष्टः ॥७६८॥

णाणं करणविहूणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥७६९॥
णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥७७०॥

'णाणुज्जोएण विणा' ज्ञानोद्योतेन विना । 'जो इच्छदि' यो वाञ्छति । 'मोक्खमग्गमुवगंतुं' चारित्रं तपश्च इह मोक्षमार्ग इत्युच्यते चारित्रं तपश्चोपगन्तुं । 'गंतुं कडिल्लमिच्छदि' गन्तुं दुर्गमिच्छति । कः ? 'अंधलओ' अन्धः । 'अंधयारम्मि' अन्धकारे तमसि । यथा वृक्षतृणगुल्मादिविनिचिते प्रदेशे गमनं अतिदुष्करं अप्रकाशे सति । तद्वद्धिंसादिपरिहारो जीवनिकायाकुले दुष्कर इति मन्यते ॥७७०॥

जइदा खंडसिलोगेण जमो मरणादु फेडिदो राया ।
पत्तो य सुसामण्णं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥७७१॥

'जइदा खण्डसिलोगेण' यदि तावत्खण्डेन श्लोकस्य । 'जमो राया मरणादो फेडिदो' यमो राजा मरणा-

---

पतन नहीं होता। सूर्य तो अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान समस्त जगत्को प्रकाशित करता है। आशय यह है समस्त वस्तुओंमें व्याप्त ज्ञानके समान अन्य प्रकाश नहीं है ॥७६७॥

गा०—ज्ञान संसार, संसारके कारण, मोक्ष और मोक्षके कारणोंको प्रकाशित करता है। तप निर्जराका कारण है। संयम गुप्तिकारक है। इन तीनोंके मिलनेपर जिनागममें मोक्ष कहा है ॥७६८॥

गा०—आचरणहीन ज्ञान, श्रद्धानके बिना मुनि दीक्षाका ग्रहण और संयमके बिना तप जो करता है वह सब निरर्थक करता है ॥७६९॥

गा०—ज्ञानरूप प्रकाशके बिना मोक्षमार्गको जो प्राप्त करना चाहता है, यहाँ चारित्र और तपको मोक्षमार्ग कहा है अतः जो ज्ञानके बिना चारित्र और तपको प्राप्त करना चाहता है वह अन्धा अन्धकारमें दुर्गम जाना चाहता है। जैसे प्रकाशके अभावमें वृक्ष, तृण, झाड़ी आदिसे भरे प्रदेशमें जाना अति कठिन है वैसे ही जीवोंसे भरे प्रदेशमें हिंसा आदिका बचाव कठिन है ॥७७०॥

दपगारित । 'परो य सुसामण्णो' प्राप्तश्च शोभन श्रामण्य । 'किं पुण जिणउत्तसुत्तो
प्राप्यफले आश्चर्यं । वाध्यमत्राख्यानकं च । तदुक्तं—

भवत्यर्धेनाङ्गेन जीवितार्थिना यत्किंचिदुक्तं वचन श्रुत्वा हास्यपरेण राज्ञा भ
निमित्त विश्ववेदिनो वचो भाव्यमान किमभिलषितं न प्रापयति ॥ ७७१॥

स्वल्पस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं ददातीत्येतं तत्कथयति—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे ।
उवजुत्तो कालगदो देवो जादो महड्ढओ ॥७७२॥

'दढसुप्पो सूलहदो' दृढसूर्पो नाम चौरः शूलमारूढ. । 'पंचणमोक्कारमेत्त सुद
पञ्चनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्त. सन् कालगत । 'महड्ढिओ देवो जादो' महर्द्धिकं

ण य तम्मि देसयाले सव्वो बारसविधो सुदक्खंधो ।
सक्को अणुचिंतेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण ॥७७३॥

'सव्वो बारसविधो वि सुदक्खंधो तम्मि देसयाले ण य सक्को अणुचिंतेदुं बलि
सर्वो द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कधस्तस्मिन्मरणे देशे काले च नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितराम
श्रुतस्यापि न ध्यानालम्बनं समस्तं श्रुतं किं तु किंचिदेव सूत्रं । तथा ह्युक्तं 'एकाग्रचि
[त० सू० ९।४५] ॥७७३॥

एक्कम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ।
गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥७७४॥

गा०-टी०—यदि श्लोकके एक खण्डके पाठसे राजा यम मृत्युसे बचा

उसे ग्रहण किया और वह उसकी आपत्ति दूर करनेमें निमित्त हुआ तो सर्वज्ञ
किस इच्छित वस्तुको नही देता ? अर्थात् सब देता है ॥७७१॥

आगे कहते है कि थोड़े से भी शास्त्र की भावना मरते समय महाफल दे

गा०—दृढ़सूर्प नामक चोरको सूली पर चढाया गया तो वह पंच
श्रुतज्ञानमें उपयोग लगाकर मरा अर्थात् पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करते हु
महान् ऋद्धिका धारी देव हुआ ॥७७२॥

गा०—मरते समय बलवान भी सामर्थ्यसम्पन्न मनुष्य समस्त द्वादश
अनुचिन्तन नही कर सकता । बहुत शास्त्रोका ज्ञाता भी समस्त श्रुतका ध्यान
कर सकता । किन्तु किसी एक का ही ध्यान सम्भव है । कहा भी है—एक
निरोध को ध्यान कहते हैं ॥७७३॥

'तेण एक्कम्मि वि जम्मि पदे' यस्मिन्नेकस्मिन्नपि पदे युक्तः । 'संवेगं गच्छदि' रत्नत्रये श्रद्धामुपैति । ' पुन पुन । 'तं' तत्पदं । 'मरणंते' शरीरादिवियोगकाले । 'ण मोत्तव्वं' न मोक्तव्यं । णाणुवओग ाख्यानं । णाण गदं ॥७७४॥

पञ्चमहव्वदरक्खा इत्येतद्व्याचिख्यासुराद्यमहिंसाव्रतं पालयेति कथयति—

परिहर छज्जीवणिकायवहं मणवयणकायजोगेहिं ।
जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुत्तो ॥७७५॥

'परिहर छज्जीवणिकायवहं' षण्णां जीवनिकायानां वधं मा कृथा मनोवाक्काययोगैः प्रत्येकं कृत- नुमतविकल्पैः । कालप्रमाणमाह—'जावज्जीवं' यावज्जीवं । सर्वजीवविषयसर्वप्रकारहिंसापरिहार- ् सर्वस्मिन्नेव भवपर्यायकाले प्रवृत्तत्वादहिंसाव्रतस्य महत्ता निवेदिता । 'छज्जीवणिकाय' इत्यत्र जीवनिकायानां परिगृहीता । 'मणवयणकायजोगेहिं कदकारिदाणुमोदेहिं' इत्यनेन हिंसाविकल्पाः । जावज्जीवमित्यनेन निरवशेषमनुजजीवितकालग्रहणं । 'उवजुत्तो समिदीसु' इति शेष उपयुक्त- ु समाहितचित्त । इह वा सावज्जकिरियापरिहारे इति शेष । सावद्यक्रियापरिहारप्रणिहित- ७७५॥

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं ।
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा ॥७७६॥

'जह ते ण पियं दुक्खं' यथा तव न प्रियं दुःखं । 'तहेव तेसिं पि जीवाणं दुक्खं ण पियंति' तथैव ि जीवानां न दुःखं प्रियमिति । 'जाण' जानीहि । 'एवं णच्चा' एवं ज्ञात्वा । अप्पोवमिवो आत्मो- । 'सदा होहि जीवेसु' सदा भव जीवेसु । परजीवदुःखाप्रियो भवेति यावत् ॥७७६॥

गा०—अतः जिस एक भी पदमें मन लगानेसे मनुष्यमें रत्नत्रयके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती पदको बार-बार विचारना चाहिये और मरते समय भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥७७४॥

'पंच महाव्रत रक्षा' का व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार अहिंसाव्रतके पालनका कथन है—

गा०-टी०—मन वचन काय और उनमें से प्रत्येकके कृत कारित और अनुमत भेदोंके साथ जीवोंकी हिंसा जीवन पर्यन्त मत करो। क्योंकि सब जीवोंकी सब प्रकारकी हिंसाका अहिंसा महाव्रत है सभी भवोंमें इसका पालन करना आवश्यक है। इससे अहिंसाव्रतकी सूचित की है। 'छह जीव निकाय' पदसे जीव निकायोंके सब जीवोंका ग्रहण किया है। मन काय और कृत कारित, अनुमोदनासे हिंसाके भेदोंका ग्रहण किया है अर्थात् हिंसा नौ प्रकार है, 'जावज्जीवन' पदसे मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन काल ग्रहण किया है। 'उपयुक्त' पदसे मितियोंमें सावधान चित्त व्यक्तिका ग्रहण किया है। जो व्यक्ति सावद्य कार्योंके परिहारमें दत्त- है वही जीवन पर्यन्त छह कायके सब जीवोंकी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना [illegible] ॥७७५॥

गा०—जैसे तुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही उन जीवोंको भी दुःख प्रिय नहीं है। ऐसा [illegible] सदा जीवोंके [illegible] करो अर्थात् किसी को दुःख मत दो ॥७७६॥

तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि जीवाण घादणं किच्चा ।
पडियारं कादुं जे मा तं चिंतेसु लभसु सदिं ॥७७७॥

'तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि' तृषा, क्षुधा, रोगेण, शीतेन, आतपेन बाधितोऽपि सन् । 'जीवाण घादणं किच्चा' जीवानामुपघातं कृत्वा । 'पडिगारं कादुं जे' तृडादीनां प्रतिकारं कर्तुं । 'तं मा चिंतेहि' मा कार्षीश्चिन्तां । 'लभसु सदिं' लभस्व स्मृतिं । पिबामि हिमशीतलं जलं कर्पूरक्षोदवासितं । अगाधं वा सरः सुरभिसलिलरजोभिर्गुण्ठितं प्रविश्य महागजकलभ इव निमज्जनोन्मज्जनं करोमि । ललाटे, शिरसि, पृथुले वक्षःस्थले करकाशनिपातो यदि स्यान्नूनं भवेत् । कल्हारकिसलयविरचितशयनादिलाभे वा जीवामि इति वा । आतपनि वा दिवानिशं मर्त्तं । भास्करकिरणोत्करनिकुरम्बं तमपसार्य व्यजनवातेनास्तु मे सुशीतेनास्तु वातेन प्रस्वेदो मे शरीरादपगच्छतु । हिमानी पततु । वातु वा मातरिश्वा इति वा । धाष्टर्यकवलानलोपरि सुरभिघृताक्तान् भक्षयामीति । सम्यक् क्वथितं क्षीरं शर्करामिश्रं सुखोष्णं पिबामीति वा । धगधगायमानं खादिरमग्निं कुरु । शीतेन स्फुटन्ति ममाङ्गानि इत्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः । असद्वेद्योदयाशनौ महति निपतति, को नु तस्य प्रतीकारः ? तदुपशमकालभावि एव बाह्यद्रव्याश्रयः प्रतीकार इति मनो निधेहि ॥७७७॥

रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि ।
भोगपरिभोगहेदुं मा हु विचिंतेहि जीववहं ॥७७८॥

'रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तोवि' । शब्दादिविषया प्रीती रतिः । अमनोज्ञविषयसन्निधाने या विमुखता सा अरतिः । हास्यकर्मोदयनिमित्तः परिणामो हर्षः । भय, उत्सुकता, दीनतेत्येवमादिभिर्युक्तोऽपि । 'भोगपरिभोगहेदुं' भोगोपभोगार्थं वा जीववधं मा कृथा मनसि ॥७७८॥

गा०-टी०—भूख, प्यास, रोग, शीत अथवा आतपसे पीड़ित होने पर भी जीवोंका घात करके प्यास आदिका प्रतीकार करनेका विचार मत करो। मैं कपूरके चूर्णसे सुवासित तथा बर्फसे शीतल जलका पान करूँ ? अथवा अति सुगन्धित कमलकी रजसे व्याप्त गहरे तालाबमें घुसकर मदोन्मत्त हाथी की तरह डुबकियाँ लूँ। मस्तक, सिर और विशाल छाती पर यदि ओलोंकी वर्षा हो तो उत्तम हो। अथवा यदि कमल नाल और कोमल पल्लवों आदिकी शय्या मिले तो मैं जीवित रह सकूँ। रात दिन प्यास सताती है। सूर्यकी किरणोंके समूह को दूर करके पंखेकी शीतल वायु से मेरी गर्म थकान आप दूर करें। बर्फ गिरे। शीतल पवन बहे। सुगन्धित घीमें अगार पर पके पुओं को खाऊँगा। अथवा सम्यक् रूपसे उबाले गये और शक्कर मिलाये तथा सुखकर उष्णता को लिये दूधको पीऊँ। खैरकी लकड़ीकी धक् धक् करती हुई आग जलाओ, मेरे अंग ठंडसे ठिठुर रहे हैं। इस प्रकारका प्रतिकार मनमें नहीं लाना चाहिये। यह उक्त कथनका आशय है। महान् असाता वेदनीय रूप वज्रपात होने पर उसका क्या प्रतीकार हो सकता है ? उसका उपशमन काल आने पर ही बाह्य द्रव्योंके द्वारा प्रतीकार संभव है, ऐसा मनमें विचार होना चाहिये ॥७७७॥

गा०-टी०—शब्द आदि विषयोंमें प्रीतिको रति कहते हैं। अप्रिय विषयोंके प्राप्त होनेपर उनसे विमुख होनेको अरति कहते हैं। हास्यकर्मके उदयके निमित्तसे जो भाव होता है उसे हर्ष कहते हैं।

१ दयः स नो महानिति—आ० मु०।

गृहदीपज्योतिर्नामभिस्तरुभिरत्र जीविनः ॥
पुरग्रामादयो यत्र न निवेशा न चाधिपाः ।
न कुलं कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थितिः ॥
यत्र नार्यो नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुजाः ।
रमन्ते पूर्वपुण्यानां प्राप्नुवन्तः परं फलं ॥
यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिवं यान्ति मृता अपि ।
ता भोगभूमयस्तोत्र नरास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः ॥
अभाषका एकोरुका लाङ्गुलिकविषाणिकाः ।
आदर्शमुखहस्त्यश्वविद्युदुल्कामुखा अपि ॥
हयकर्णा गजकर्णाः कर्णप्रावरणास्तथा ।
इत्येवमाद्या ज्ञेया अन्तरद्वीपजा नराः ॥
समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलाशिनः ।
वेदयन्ते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिताः ॥
कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्भूमिभुजां ।
स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्रावोच्चारभूमिषु ॥
शुक्रसिंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च ।
अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्यः सम्मूर्च्छनेन ये ॥
भूत्वाङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्रशरीरकाः ।
आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्च्छिमा नराः ॥

एतेषु कर्मभूमिजमानवानामेव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता संभवेत् इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । तथैवं

जहाँ मनुष्य मद्य, तूर्य, वस्त्र, आहार, पात्र, आभरण, माला, घर, दीप और ज्योति प्रदान करने वाले दस प्रकारके कल्प वृक्षोंसे जीवन यापन करते हैं, जहाँ पुर ग्राम आदि नहीं होते, न राजा होते हैं न कुल, न कर्म और न शिल्प होता है, न वर्ण और आश्रमका चलन होता है, जहाँ स्त्री और पुरुष निरोग रहकर पति पत्नी की तरह रमण करते हुए पूर्व जन्ममें किये पुण्य कर्मका फल भोगते हैं, और जो स्वभावसे ही भद्र होनेके कारण मरकर भी स्वर्गमें जाते हैं वे भोगभूमियाँ कही हैं। उनमें जन्म लेने वाले मनुष्य भोगभूमिज होते हैं। अभाषक—जो भाषा नहीं जानते—मूक रहते हैं, एकोरुका—जिनके एक पैर होता है, लांगूलिका जिनके पूँछ होती है, विषाणिका—जिनके सींग होते हैं, आदर्शमुखा—जिनका मुख दर्पण की तरह होता है, हस्तिमुखा—हाथी की तरह मुख वाले, अश्वमुख—घोड़ेकी तरह मुखवाले, विद्युन्मुख, बिजलीकी तरह मुखवाले, उल्कामुख, हयकर्ण—घोड़ेकी तरह कानवाले, गजकर्ण—हाथीकी तरह कान वाले, कर्ण प्रावरण—कान ही जिनका आवरण है, इत्यादि अन्तर्द्वीपज मनुष्य होते हैं। ये समुद्रके द्वीपोंके मध्यमें रहते हैं, कन्दमूल फल खाते हैं, तथा हिरणोंकी तरह चेष्टा करते हुए मनुष्यायु भोगते हैं। कर्म भूमियोंमें चक्रवर्ती, बलदेव, राजाओंकी सेनाके पड़ावोंमें मलमूत्र त्यागनेके स्थानोंमें, वीर्य, नाकके मल, कफ, कान और दाँतोंके मलमें और अत्यन्त गन्दे प्रदेशोंमें शीघ्र ही सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होकर तत्काल ही अपर्याप्त दशामें मरणको प्राप्त होनेवाले सम्मूर्छन मनुष्य होते हैं। उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। इन चार प्रकारके मनुष्योंमेंसे कर्मभूमि मनुष्योंमें ही रत्नत्रय

तस्मिन् ज्ञानावरणोदयाद्धिताहितपरीक्षाया समर्था बुद्धिर्न सुलभा। तया विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव दृष्टिरहितमिवायत लोचन, द्रविणसपद विना कुलीनत्वमिव, सुभगतामन्तरेण रूपमिव, यथार्थतारहितं वचनमिव, सत्यामपि मैती यदि नाप्तानां वच' शृणुयात् सापि विफलैव सरोजरहिता सरसीव। इहापि श्रवणं आप्तवचनगोचरमेव गृहीत, श्रवणमपि श्रद्धानरहितं सुलभमेव। इदं यथा येन प्रतिपादित तथैवेति श्रद्धानं दुर्लभ दर्शनमोहोदयात। सत्यपि श्रद्धाने चारित्रमोहोदयात् ज्ञातेऽभिरुचिते मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा। एवं 'दुरवज्जिदसामण्णं' दुःखेनार्जितश्रामण्य। मा जहतु मा त्याक्षी। 'तणं व अगणितो' तृणमिव अगणयन् ॥७८०॥

जीवघातदोषमाहात्म्य कथयति गाथाद्वयेन—

तेलोक्कजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहिं।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८१॥
जं एवं तेलोक्कं णग्घदि सव्वस्स जीविदं तम्हा।
जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोक्कघादसमो ॥७८२॥

त्रैलोक्यजीवितयोरेक गृहाणेति देवैश्चोदित' कस्त्रैलोक्य वृणीते 'स्वजीवितं त्यक्त्वा, जीवनमेव प्रहीतु वाञ्छति। तस्मादेव त्रैलोक्यस्य मूल्य जीवित सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघातो। जीवस्य [जीवितस्य] जीवादव्यभावात्'जीवस्येहवचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सम्बन्धात्। जीवस्य हतुस्त्रैलोक्यघातसमो महादोषो भवतीति यावत् ॥७८१॥

रूप परिणामो की योग्यता होती है, शेष तीन मे नही होती। इसलिये यहां उसी मनुष्य जन्मका ग्रहण होता है। उस मनुष्य जन्मको प्राप्त करके भी ज्ञानावरण कर्मके उदयसे हित अहितका विचार करनेमे समर्थ बुद्धि सुलभ नही है। उसके विना प्राप्त भी मनुष्य जन्म उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे देखनेकी शक्तिसे रहित लम्बी आँखें, धन सम्पत्तिके विना कुलीनता, सौभाग्यके विना रूप, और यथार्थतासे रहित वचन व्यर्थ है। बुद्धिके होनेपर भी यदि आप्त पुरुषोका वचन न सुने तो वह बुद्धि भी कमलोंसे रहित सरोवरकी तरह निष्फल ही है। यहाँ श्रवण भी आप्तके वचन विषयक ही ग्रहण किया है। श्रद्धान रहित सुनना भी सुलभ ही है। 'जिसने जैसा कहा है वैसा ही है' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शन मोहके उदयमें दुर्लभ है। श्रद्धान होने पर भी चारित्र मोहके उदयसे जाने हुए और रुचने वाले मार्गमे प्रवृत्ति दुर्लभ है। इस प्रकार बडे कष्टसे प्राप्त मुनिधर्मको तृणकी तरह मानकर त्यागना नहीं ॥७८०॥

टी॰—आगे दो गाथाओंसे जीवघातसे हुए दोषका महत्त्व बतलाते हैं—

गा॰—तीनों लोक और जीवनमेंसे एकको स्वीकार करो? ऐसा देवोंके द्वारा कहे जानेपर कौन प्राणी अपना जीवन त्यागकर तीनों लोकोंको ग्रहण करेगा? अत. इस प्रकार सब प्राणियोंके जीवनका मूल्य तीनो लोक है अत जीवका घात करनेवालोंको तीनों लोकोंका घात करनेके समान दोष होता है।

शङ्का—जीवितपना जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता अत 'जीवस्स' यह वचन व्यर्थ है?

समाधान—गाथामे आये 'जीवस्स' का सम्बन्ध आगेके कथनसे है—जीवके घातकको तीनों लोकोंके घातके समान दोष होता है ॥७८१-७८२॥

१ अ कोष्ठस्थ पाठो नास्ति। २ त्रैलोक्य अ-आ॰।

अहिंसाव्रतमहत्त्वं निवेदयति—

णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि ।
जह तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासम अत्थि ॥७८३॥

णत्थि अणूदो अप्पं [illegible] । 'आयासादो अणूणयं णत्थि' । [illegible] ॥७८३॥

जह पव्वदेसु मेरू उच्चावो होइ सव्वलोयम्मि ।
तह जाणसु उच्चायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा ॥७८४॥

'जह पव्वदेसु' [illegible] ॥७८४॥

[illegible]—

सव्वो हि जहायासे लोगो भूमीए सव्वदीउदधी ।
तह जाण अहिंसाए वदगुणसीलाणि चिट्ठंति ॥७८५॥

[illegible] ॥७८५॥

कुव्वस्स वि अरं तुंबेण विणा ण ठंति जह अरया ।
अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चक्कस्स ॥७८६॥

[illegible] ॥७८६॥

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सव्वाणि ।
तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥७८७॥

'तह जाण' [illegible] ॥७८७॥

गा०—जैसे अणुसे छोटा कोई अन्य द्रव्य नहीं है और आकाशसे बड़ा कोई नहीं है वैसे ही अहिंसासे महान् कोई अन्य व्रत नहीं है ॥७८३॥

गा०—जैसे सब लोकमें मेरु सब पर्वतोंसे ऊँचा है वैसे ही शीलों और व्रतोंमें अहिंसा सबसे ऊँची है ॥७८४॥

अहिंसा सर्व शीलों और गुणोंका अधिष्ठान है, ऐसा कहते हैं—

गा०—जैसे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके भेदसे सब लोक आकाशके आधार है और सब द्वीप और समुद्र भूमिके आधार हैं वैसे ही व्रत गुण और शील अहिंसाके आधार रहते हैं ॥७८५॥

गा०—[illegible] भी जैसे चक्रके आरे तुम्बीके बिना नहीं ठहरते और आरोंके बिना नेमि नहीं ठहरती, वैसे ही अहिंसाके बिना सब शील नहीं ठहरते। उसीकी रक्षाके लिए शील हैं जैसे धान्यकी रक्षाके लिए बाड़ होती है ॥७८६-७८७॥

अहिंसाव्रतमन्तरेणेतरेषां नैष्फल्यमाचष्टे—

शीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति ॥७८८॥

शीलादीनि हि संवरनिर्जरयोरुद्देशानुष्ठीयन्ते । हिंसायां तु सत्यां न तत्फलभूते संवरनिर्जरे मुक्त्यु-पायभूते इति निष्फलता कथ्यते ॥७८८॥

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥७८९॥

'सव्वेसिमासमाणं' सर्वेषामाश्रमाणां हृदयं शास्त्राणां गर्भः । सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिण्डीभूतसारो भवत्यहिंसा ॥७८९॥

जम्हा असच्चवयणादिएहिं दुक्खं परस्स होदित्ति ।
तप्परिहारो तम्हा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥७९०॥

'जम्हा असच्चवयणादिएहिं' यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मैथुनेन, परिग्रहेण च परस्य दुःखं भवति । तस्मात्तेषां असत्यवचनादीनां परिहार इति सर्वेऽपि अहिंसाया गुणाः ।

गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति जदि हवे परमधम्मो ।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥७९१॥

'गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति' गवां, ब्राह्मणानां, स्त्रीणां च वधमात्रनिवृत्तिर्यदि भवेदुत्कृष्टो धर्मः परमो धर्मः कथं न भवति या सर्वजीवदया ॥७९१॥

हिंसानिवृत्तिं उपायेन कारयन्ति कृतापकारानपि बान्धवान्स्नेहान्न मारयितुमीहन्ते जनाः । [1]तत्पुरस-

---

अहिंसाव्रतके विना शील आदिकी निष्फलता बतलाते हैं—

गा०—जीवोंकी हिंसा करनेवालेके शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निःसंगता और विषय सुखका त्याग ये सभी ही निरर्थक होते हैं ॥७८८॥

विशेषार्थ—शील आदि संवर और निर्जराके उद्देशसे किये जाते हैं। हिंसाके होते हुए मुक्तिके उपायभूत संवर निर्जरारूप फल नहीं होते। इसलिए निष्फल कहा है ॥७८८॥

गा०—सब आश्रमोंका हृदय, सब शास्त्रोंका गर्भ और सब व्रतों और गुणोंका पिण्डीभूत सार अहिंसा ही है ॥७८९॥

गा०—यतः असत्य बोलनेसे, विना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे, मैथुनसे, और परिग्रहसे दूसरोंको दुःख होता है। इसलिए उन सबका त्याग किया जाता है। अतः वे सब सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अहिंसाके ही गुण हैं ॥७९०॥

गा०—यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्रियोंके वधमात्रसे निवृत्ति उत्कृष्ट धर्म है तो सब प्राणियोंपर दया परमधर्म क्यों नहीं है? ॥७९१॥

लोग सावधानीपूर्वक हिंसासे बचते हैं। अपकार करनेवाले भी बन्धु-बान्धवोंको स्नेहवश

---

१ तत पुरस्सादुपर स-आ० ।

पूर्वजन्मसु पितृपुत्रादिभावमुपागतानां मारणमयुक्तं इति वदति—

सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहिं ।
तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥७९२॥

'सव्वे वि य' सर्वेऽपि च । 'संबंधा' सम्बन्धाः प्राप्ताः । 'सव्वेण' सर्वेण जीवेन । 'सव्वजीवेहिं' सर्वजीवैः । 'तो' तस्मात् । जीवो मारयन् सम्बन्धिन एव घातयति ॥७९२॥

तच्च सम्बन्धिहननं लोके अतिनिन्दितं—

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ।
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥७९३॥

'जीववहो अप्पवहो' जीवानां घात आत्मघात एव । जीवानां क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । यद्येकजीवघातनोद्यतः स्वयमनेकेषु जन्मसु मार्यते । एकजीवदयोद्यतोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परै रक्ष्यते । इति विषकण्टकवत् परिहार्या हिंसा दुःखभीरुणा ॥७९३॥

हिंसादोषमिहैव जन्मनि दर्शयति—

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं ।
संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारिंतए जंति ॥७९४॥

'मारणसीलो हु' मारणशीलः परहननोद्यतः । राक्षस इव जीवानामुद्वेगं करोति । सम्बन्धिनोऽपि न विश्रम्भं यान्ति मारयितरि ॥७९४॥

वधबंधरोधधणहरणजादणाओ य वेरमिह चेव ।
णिव्विसयममोजित्तं जीवे मारंतगो लभदि ॥७९५॥

मारना नहीं चाहते । तथा पूर्व नाना जन्मोंमें पिता पुत्र आदि सम्बन्ध जिनके साथ रहा है, उन जीवोंको मारना अनुचित है, यह कहते हैं—

गा०—सब जीवोंके साथ सब जीवोंके सब प्रकारके सम्बन्ध पूर्वभवोंमें रहे हैं। अतः उनको मारनेवाला अपने सम्बन्धीको ही मारता है और सम्बन्धीको मारना लोकमें अत्यन्त निन्दित माना जाता है ॥७९२॥

गा०-टी०—जीवोंका घात अपना ही घात है। और जीवोंपर की गई दया अपनेपर ही की गई दया है। जो एक बार एक जीवका घात करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें मारा जाता है। और जो एक जीवपर दया करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें दूसरे जीवोंके द्वारा रक्षा किया जाता है। इसलिए दुःखसे डरनेवाले मनुष्यको विषैले काँटेकी तरह हिंसासे बचना चाहिए ॥७९३॥

इसी जन्ममें हिंसाके दोष दिखलाते हैं—

गा०—जो दूसरोंका घात करनेमें तत्पर होता है उससे प्राणी वैसे ही डरते हैं जैसे राक्षससे। उस हिंसकका विश्वास सम्बन्धीजन भी नहीं करते ॥७९४॥

[1]'वध बन्ध उत्कोटकादिकं वधं बन्धं मारणं । रोधनं, धनहरणं । यातनाश्च वैरं विषयाद्वाडनं अभोज्यता च रोषाद्ब्राह्मणादिहननात् । 'मारेंतगो' हन्ता । 'लभदि' लभते ॥७९५॥

रुट्ठो परं वधित्ता सयंपि कालेण मरइ अंतेण ।
हदघादयाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं कालं ॥७९६॥

[2]'रुट्ठो परं वधित्ता'—रुष्टः परं वधित्वा । स्वयमपि कालेन अन्तेन—गच्छता कालेन । मरदि—मृतिमुपैति । 'हदघादगाणं'—हतस्य घातकस्य च । णत्थि विसेसो—नास्ति विशेषः । तं कालं मुत्तूण—तं कालं मुक्त्वा । पूर्वमसौ मृतः पश्चात्स्वयमिति ॥७९६॥

अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य ।
दुम्मेहवण्णरसगंधदा य से होइ परलोए ॥७९७॥

'अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य' अल्पजीवितरोगिता विरूपता, विकलेन्द्रियता दुर्बलता । 'दुम्मेहवण्णरसगंधदा य' दुर्मेधता, दुर्वर्णता, दूरसदुर्गन्धिता च । 'से' तस्य । 'होदि' भवति । 'परलोए' जन्मान्तरे ॥७९७॥

मारेदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु ।
अवसो मारिज्जंतो मरदि विधाणेहिं बहुएहिं ॥७९८॥

'मारेदि' हन्ति । 'एयमवि' एकमपि । 'जो जीवं' यो जीवं । 'सो' स । 'बहुसु जम्मकोडीसु' बह्वीषु जन्मकोटीषु । 'अवसो मरदि मारिज्जंतो' परवशो म्रियते मार्यमाणो । 'विधाणेहिं बहुगेहिं' बहुभिः प्रकारैर्मार्यमाणः ॥७९८॥

जावइयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं ।
सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥७९९॥

गा०—मारनेवाला इसी जन्ममें वध, बन्ध मारण, धनहरण, अनेक यातनाएँ, वैर, देश निष्कासन तथा रोषमें आकर ब्राह्मण आदिकी हत्या करनेपर जातिबहिष्कारका दण्ड पाता है ॥७९५॥

गा०—क्रोधी मनुष्य दूसरेको मारकर समय आनेपर स्वयं भी मर जाता है। अतः मरनेवाले और मारनेवालेमें कालके सिवाय अन्य भेद नहीं है। पहले वह जिसे मारता है वह मरता है और पीछे स्वयं भी मरता है ॥७९६॥

गा०—हिंसक परलोक अर्थात् जन्मान्तरमें अल्पायु, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय, दुर्बल, मूर्ख, कुरूप, कुरस और दुर्गन्धयुक्त होता है ॥७९७॥

गा०—जो एक भी जीवको मारता है वह करोड़ों जन्मोंमें परवश होकर अनेक प्रकारसे मारा जाकर मरता है ॥७९८॥

१. वध [illegible] वध बन्धन, रोध [illegible] धनहरण [illegible] यातनाश्च [illegible]—आ० मु० । २. रुट्ठो पर वधित्ता रुष्ट [illegible] स्वयमपि [illegible] कालेन [illegible]—आ० मु० ।

'पादोसियअधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए' पादोसिय शब्देनेष्टदारवित्तहरणादिनिमि
प्रदेष उच्यते। प्रदेष एव प्रादेषिको यथा विनय एव वैनयिकमिति। हिंसाया उपकरणमधिकरणमि
हिंसोपकरणादानक्रिया आधिकरणिकी। दुष्टस्य सत कायेन या चलनक्रिया कायिकी। परितापो दु
त्पत्तिनिमित्ता क्रिया पारितापिकी। आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकारिणी प्राणातिपातिकी। एवं पं
एते पञ्च प्रयोगा। 'हिंसाहिरिआओ' हिंसासम्बन्धिन्यः क्रिया ॥८०१॥

तिहिं चदुहिं पंचहिं वा कमेण हिंसा समप्पदि हु ताहिं।
धधो वि सिया सरिसो जह सरिसो काइयपदोसो ॥८०२॥

तिहि चदुहि पर्चाहि वा' त्रिभिर्मनोवाक्कायैः, चतुर्भिः क्रोधमानमायालोभैः, पञ्चभिः इ
न्द्रियैर्वा। 'कमेण हिंसा समप्पदि हु' क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति। ताभिर्मनसा प्रद्वेषो वच
ष्मीति वचन वाग्द्वेष। कायेन मुखवैवर्ण्यादिकरण कायद्वेष। मनसा हिंसोपकरणादानं, वाचा श
गृह्णामीति हस्तादिताडन इति अधिकरणमपि त्रिविध। मनसा उत्तिष्ठामीति चिन्ता कार्यक्रिया। वचः
ष्ठामि इति, हन्तु गाडयितुमिति उक्ति। कायेन चलन कायिकी। मनसा दुःखमुत्पादयामीति चिन
नम करोमि इति उक्तिर्वाचिका पारितापिकी क्रिया। हस्तादिताडनेन दुःखोत्पादन कायेन पारितापिकी
प्राणान्वियोजयामीति चिन्ता मनसा प्राणातिपात, हन्मीति वच वाक्प्राणातिपात। कायव्यापार
प्राणातिपात क्रोधनिमित्ता कर्मेदिचकाकेति, मानविमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता, क्रोधादिना इ

गा०—'पादोसिय' शब्दसे इष्ट स्त्री, धन हरने आदिके निमित्तसे होनेवाला को
कहलाता है। प्रद्वेष ही प्राद्वेषिक है जैसे विनय ही वैनयिक है। हिंसाके उपकरणको अ
कहते हैं। हिंसाके उपकरणोंका लेन-देन अधिकरणिकी क्रिया है। दुष्टतापूर्वक हल
कायिकी क्रिया है। परितापका अर्थ दुःख है। दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त क्रिया पारिताप
आयु इन्द्रिय और बल प्राणोंका वियोग करनेवाली क्रिया प्राणातिपातिकी है। पाँच प्र
प्रयोग हिंसासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ हैं ॥८०१॥

गा०–टी०—मन वचन काय इन तीनसे, क्रोध मान माया लोभ इन चारसे और
आदि पाँच इन्द्रियोंसे क्रमसे हिंसा होती है। मनसे द्वेष करना, वचनसे मैं द्वेषयुक्त हूँ ऐसा
वचनद्वेष है। शरीरसे मुखको विकृत आदि करना कायद्वेष है। मनसे हिंसाके उपकरण र
करना, वचनसे मैं शस्त्र ग्रहण करता हूँ ऐसा कहना, कायसे हाथ आदि भाजना ये अधि
तीन भेद हैं। मनसे विचारना 'मैं मारनेके लिए उठूँ' वचनसे कहना मैं मारनेके लिए उठ
और कायसे हलन-चलन ये तीन
मिक पारितापिकी क्रिया है। अ
आदिके द्वारा ताडन करनेमें दुः
ऐसा चिन्तन करना मानसिक प्र
पात है। शरीरसे व्यापार करन
मानके निमित्तसे, किसीमें माया

1. कायै भवा का—आ०।

'जीवगतमजीवगतं इति' जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते । न हि जीवद्रव्यमात्रमेव हिम
करणं भवति । किन्तु जीवस्य पर्यायः आस्रवस्य हिंसादिजीवपरिणामो युक्तोऽभ्यन्तरकारणं । अ
पर्यायः द्रव्यमात्रं सदा सन्निहितकार्यं स्यात्तत्कार्यवत्त्वात् वधमिव सम्पादयति । पर्यायस्तु स्वकारण
सन्निधिरेवेति । यदा स्वयं सन्ति सन्निहितसहकारिकारणास्तदैव स्वकार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति युक्ता कादा
कार्यस्येति भावः । 'समासदो दुविधमधिकरणं' समासतो द्विविधं हिंसाधिकरणं 'अट्ठुत्तरसदभेदं' अष्टोत्तर
'पढमं जीवगदमधिकरणं' प्रथमं जीवगतमधिकरणं । 'बिदियं' द्वितीयं अजीवगतमधिकरणं 'चदुभेदं'
करणं ॥८०४॥

प्रथमस्य भेदान्निरूपयति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं ।
कदकारिदाणुमोदेहिं तहा गुणिदा पढमभेदा ॥८०५॥

'सरंभसमारंभारभजोगेहि तह कसाएहिं' प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवतः सरम्भः । साध्याया
क्रियायाः साधनानां समाहारः समारम्भः । सञ्चितहिंसाद्युपकरणस्य आद्यः प्रक्रम आरम्भः । योगशब्दे
वाक्कायव्यापारा उच्यन्ते । तैः संरम्भसमारम्भारम्भयोगैः । 'तथा' तथा 'कसाएहिं' कषायैः 'कद
मोदेहिं' कृतकारितानुमोदितैः । 'तहा गुणिदा' तथा गुणिताः । 'पढमभेदा' जीवाधिकरणभेदाः । प्र
स्याच्चेतनावतो व्यापारस्यादौ सरंभस्य वचनं । अनुपाया साध्यसिद्धिर्न भवति प्रयत्नवतोऽपि तत सा
करण प्रयत्नादनन्तरमिति समारम्भो युक्तः । साध्य पुनः उपसाधनमहतो सत्या प्रक्रमते क्रियामिति

गा०-टी०—अधिकरणके दो भेद हैं—जीवगत और अजीवगत । जीवगतका अर्थ है
पर्याय । केवल जीवद्रव्य हिंसामें सहायक नहीं होता किन्तु जीवकी पर्याय होती है । हिंसा
युक्त जीवका परिणाम हिंसाका अभ्यन्तर कारण होता है । इसी तरह अजीवगतसे अजी
लेना चाहिए; क्योंकि अजीवद्रव्य तो सदा रहनेसे सदा कार्यकारी रहता है अतः कार्य सद
रहेगा । किन्तु पर्याय तो अपने कारणोंके होने पर ही होती है अतः कदाचित् होती है । ज
कारी कारण होते हैं तभी अपना कार्य करते हैं, अन्य कालमें नहीं करते । अतः कार्य
होकर कदाचित् होता है ।

इस तरह संक्षेपसे अधिकरणके दो भेद हैं । उनमेंसे प्रथम जीवाधिकरणके एक सौ
भेद हैं और दूसरे अजीवाधिकरणके चार भेद हैं ॥८०४॥

जीवाधिकरणके भेद कहते हैं—

गा०-टी०—प्राणोंके घात आदिमें प्रमाद युक्त व्यक्ति जो प्रयत्न करता है वह सर
साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनोंको एकत्र करना समारंभ है । हिंसा आदिके उपकरणोंका
हो जाने पर हिंसाका आरम्भ करना आरम्भ है । योग शब्दसे मन वचन और कायका क
लिया गया है । इन संरभ, समारम्भ, आरम्भको, योग, कषाय और कृत कारित अनुमो
गुणा करने पर जीवाधिकरणके भेद होते हैं ।

चेतन जीवका व्यापार प्रयत्नपूर्वक होता है इसलिए प्रथम सरम्भ कहा है । प्रयत्न
पर भी उपायोंके बिना कार्यसिद्धि नहीं होती, अतः सरम्भके पश्चात् समारम्भ कहा है । सा
एकत्र होनेपर कार्य प्रारम्भ होता है । अतः समारम्भके पश्चात् आरम्भको रखा है । जीवके

पश्चादुपन्यस्तः । स्वातन्त्र्यविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते तत् कृतं । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति यत्कारितं । स्वयं न करोति न च कारयति, किन्त्वभ्युपैति यत्तदनुमतं अभ्युपगमः । तत्र संरम्भस्तावदुच्यते क्रोधनिमित्तं स्वतन्त्रस्य हिंसाविषयः प्रयत्नावेशः क्रोधकृतकायसंरम्भः । मानकृतकायसंरम्भः, मायाकृतकायसंरम्भः, लोभकृतकायसंरम्भः । क्रोधकारितकायसंरम्भः, मानकारितकायसंरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः, लोभकारितकायसंरम्भः । क्रोधानुमतकायसंरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः, लोभानुमतकायसंरम्भः । इति द्वादशधा संरम्भः । क्रोधकृतकायसमारम्भः, मानकृतकायसमारम्भः, मायाकृतकायसमारम्भः, लोभकृतकायसमारम्भः । क्रोधकारितकायसमारम्भः, मानकारितकायसमारम्भः । मायाकारितकायसमारम्भः, लोभकारितकायसमारम्भः । क्रोधानुमतकायसमारम्भः, मानानुमतकायसमारम्भः, मायानुमतकायसमारम्भः, लोभानुमतकायसमारम्भः इति द्वादशधा समारम्भः । क्रोधकृतकायारम्भः, मानकृतकायारम्भः, मायाकृतकायारम्भः, लोभकृतकायारम्भः । क्रोधकारितकायारम्भः मानकारितकायारम्भः, मायाकारितकायारम्भः, लोभकारितकायारम्भः । क्रोधानुमतकायारम्भः, मानानुमतकायारम्भः, मायानुमतकायारम्भः, लोभानुमतकायारम्भश्च । इत्येवं आरम्भोऽपि द्वादशधा । एवं संपिण्डिताः कायारम्भाः षट्त्रिंशत् । एते संपिण्डिता जीवाधिकरणास्रवभेदा अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति ॥८०५॥

संरंभो संकप्पो परिदावकदो हवे समारंभो ।
आरंभो उद्दवओ सव्वणयाणं विसुद्धाणं ॥८०६॥

स्वतन्त्रता पूर्वक जो किया जाता है वह कृत है। जो दूसरेके द्वारा सिद्ध होता है वह कारित है। न स्वयं करता है न कराता है किन्तु जो करता है उसे स्वीकार करता है वह अनुमत है। इनमेंसे संरम्भके भेद कहते हैं—

क्रोधके निमित्तसे स्वतन्त्रता पूर्वक हिंसा विषयक प्रयत्न करना क्रोध कृत काय संरम्भ है। इसी तरह मान कृत काय संरम्भ, मायाकृत काय संरम्भ, लोभकृत काय संरम्भ, क्रोध कारित काय संरम्भ, मान कारित काय संरम्भ, माया कारित काय संरम्भ, लोभ कारित काय संरम्भ। क्रोधानुमत काय संरम्भ, मानानुमत काय संरम्भ, मायानुमत काय संरम्भ, लोभानुमत काय संरम्भ इस तरह बारह प्रकारका संरम्भ है। क्रोधकृत काय समारम्भ, मानकृत काय समारम्भ, मायाकृत काय समारम्भ, लोभ कृत काय समारम्भ। क्रोध कारित काय समारम्भ, मान कारित काय समारम्भ, माया कारित काय समारम्भ, लोभ कारित काय समारम्भ। क्रोधानुमत काय समारम्भ, मानानुमत काय समारम्भ, मायानुमत काय समारम्भ, लोभानुमत काय समारम्भ। इस तरह बारह प्रकारका समारम्भ है। क्रोधकृत काय आरम्भ, मानकृत काय आरम्भ, मायाकृत काय आरम्भ, लोभकृत काय आरम्भ, क्रोध कारित काय आरम्भ, मान कारित काय आरम्भ, माया कारित काय आरम्भ, लोभ कारित काय आरम्भ, क्रोधानुमत काय आरम्भ, मानानुमत काय आरम्भ, मायानुमत काय आरम्भ, लोभानुमत काय आरम्भ। इस प्रकार आरम्भ भी बारह प्रकारका है। ये मिलकर कायारम्भके छत्तीस भेद होते हैं। छत्तीस ही भेद वचन सम्बन्धी आरम्भके और छत्तीस ही भेद मन सम्बन्धी आरम्भके होते हैं। ये सब मिलकर जीवाधिकरण सम्बन्धी आस्रवके एक सौ आठ भेद होते हैं ॥८०५॥

गा०—प्रयत्नको संरम्भ कहते हैं। सन्ताप देनेको समारम्भ कहते हैं और आरम्भ सब

[illegible]

संजोयणमुवकरणाणं च तहा पाणभोयणाणं च ।
दुट्ठणिसिट्ठा मणवचिकाया भेदा णिसग्गस्स ॥८०९॥

[illegible]

[illegible] ॥८०९॥

[illegible]—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि ।
तम्हि सुहे णिस्संगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा ॥८१०॥

[illegible] ॥८१०॥

उपकरण जो जीवोंको बाधा पहुँचाते हैं उनको निर्वर्तना—रचना करना भी निर्वर्तनाधिकरण है। जैसे काठ आदि काटनेके ऐसे यन्त्र बनाना जिससे प्राणिघात होता है।

विशेषार्थ—सर्वार्थसिद्धिमें पूज्यपाद स्वामीने निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद कहे हैं एक मूल-गुणनिर्वर्तना, एक उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर वचन मन, उच्छ्वास निश्वासकी रचना मूलगुण निर्वर्तना है। लकड़ीके पट्टार चित्रकर्म आदि रचना करना उत्तर गुणनिर्वर्तना है। इन क्रियाओंसे जीवोंको कष्ट पहुँचता है। चित्रकर्ममें छेदन-भेदनकी भावना उत्पन्न होती है ॥८०८॥

संयोजनाधिकरण और निसर्गाधिकरणका स्वरूप कहते हैं—

गा०-टी०—पिच्छी आदि उपकरणोंको परस्परमें मिलाना। जैसे शीतस्पर्शवाली पुस्तक अथवा कमण्डलु आदिको धूपसे तप्त पीछीसे साफ करना उपकरण संयोजना है। एक जलमें दूसरा जल मिलाना, एक भोजनमें दूसरा भोजन मिलाना अथवा भोजनमें पेय मिलाना आदि भक्तपान संयोजना है। यहाँ इतना विशेष जानना कि जिस पेय या भोजनमें सम्मूर्छन जीव होते हैं उसे ही हिंसाका अधिकरण स्वीकार किया है, सबको नहीं। दुष्टतापूर्वक मन वचन कायकी प्रवृत्तिको निसर्गाधिकरण कहते हैं ॥८०९॥

अहिंसाकी रक्षाके उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यत छहकायके जीवोंकी हिंसाके बिना इन्द्रियजन्य सुख नहीं होता। विचित्र प्रकारके स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदिका सेवन जीवोंको पीडा करनेवाला होता है क्योंकि बहुत आरम्भसे उसकी प्राप्ति होती है। अतः जो इन्द्रियजन्य सुखमें आसक्त नहीं है वही अहिंसा की रक्षा करता है। जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह नहीं रक्षा करता। अतः आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियसुखका आदर मत करो ॥८१०॥

हिंसा कषाये प्रवर्तते, ततोऽहिंसाभिलाषिणा तत्रै परिहर्तव्या इत्युत्तरसूत्रार्थम्—

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ ।
सो जीवबहं परिहरइ सया जो णिज्जियकसाओ ॥८११॥

प्रमादो हिंसाया प्रवर्तक, स परित्याज्योऽहिंसाव्रतार्थिना इति गाथार्थ —

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होइ हु अहिंसो ॥८१२॥

फासुगु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणरइयम्मि ।
मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु ॥८१३॥

परित्यक्तारम्भे च प्रासुकभोजिनि ज्ञानभावनासहितमनसि गुप्तित्रयोपेते सम्पूर्णा भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थ ॥८१३॥

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो ।
आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ ॥८१४॥

पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरम्भ । तस्मिन्सति तदाश्रयप्राणिवधः इति जीववधो भवति । उद्गमादिदोषोपहतस्य आहारस्य भोजने जीवनिकायवधानुमोदो भवति । ज्ञानरतिमन्तरेण आरम्भे कषाये च मन प्रवर्तते ॥८१४॥

तम्हा इहपरलोए दुक्खाणि सदा अणिच्छमाणेण ।
उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥८१५॥

हिंसा कषायसे होती है। अत: अहिंसाके अभिलाषीको कषाय त्यागना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—जो जीव कषायकी अधिकता रखता है वह जीवोंका घात करता है। और जो कषायोंको जीत लेता है वह सदा जीवोंकी हिंसासे दूर रहता है। अत: प्रमाद हिंसाका कारण है। अहिंसाव्रतके अभिलाषीको प्रमादको त्यागना चाहिए ॥८११॥

गा०—उपकरणोंको ग्रहण करनेमें, रखनेमें, उठने बैठने, चलने और शयनमें जो दयालु सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह अहिंसक होता है ॥८१२॥

गा० जो आरम्भका त्यागी है, प्रासुक भोजन करता है, ज्ञानभावनामें मनको लगाता है और तीन गुप्तियोंका धारी है, वही सम्पूर्ण अहिंसाका पालक है यह उक्त गाथासूत्रका अर्थ है ॥८१३॥

गा०-टी०—पृथिवी आदिके विषयमें जो खोदना आदि व्यापार किया जाता है उसे आरम्भ कहते हैं। उसके करने पर पृथिवी आदिमें रहने वाले जीवोंका घात होता है। उद्गम आदि दोषोंसे युक्त आहार ग्रहण करने पर जीव समूहके वधकी अनुमोदना होती है, ज्ञानमें लीनता न होने पर आरम्भ और कषायमें मनकी प्रवृत्ति होती है ॥८१४॥

कारितोऽनुमतश्च । इममसंयमं भवन्तं प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्तं चानुजानामि । इत्यभिसन्धिमन्तरेण[1] तस्य वचनस्यासद्वचनस्यानुत्पत्तेरसद्वचनकारणभूतोऽभिसन्धिरात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहार्यस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न ह्यसति कारणे कार्यप्रवृत्तिरस्तीत्यसद्वचनपरिहारोऽनेन क्रमेणोपन्यस्त इति । एकदेशासद्वचनपरिहारेऽप्यसद्वचनपरिहारो भवति इत्याशङ्क्य परिहरति सर्वमिति चतुर्विधमिति तद्भेदोपन्यासः । 'पयसंजोग' एव अप्रमत्तताप्रतिपादिता । 'एवं पि समयंतो' निवृत्तिमपि संयममाचरन्नपि । 'भासादोसेण' भाषावचनं तन्निमित्तत्वाद्वाग्योगात् आत्मपरिणामो भाषाशब्देनोच्यते । भाषाद्दुष्ट भाषादोष । वाग्योगेन दुष्टेन निमित्तेन आत्तं परकर्म तेन । 'लिप्पदि' लिप्यत एव बध्यत एव आत्मा । एतेन कर्मबन्धनिमित्तदोषोद्भावनेन असद्वचनपरिहारे दार्ढ्यं करोति श्रावकस्य ॥८१७॥

प्रतिज्ञातं चातुर्विध्यं व्याचष्टे—

पढमं असंतवयणं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो ।

णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥८१८॥

'पढमं असंतवयणं' प्रथमं असद्वचनं 'संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो' सतोऽर्थस्य प्रतिषेधः । सता[2] सतो न वचनं असद्वचनमिति बोध्यं । तस्योदाहरणमाह—'णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति' एवमादिकं असत्यवचनं । मनुष्यस्य मृत्युर्नास्ति एवमादिकं वचनं । आयुषः स्थितिकालः काल इत्युच्यते । तस्मात्कालादन्यः कालोऽकालः । तस्मिन्नकाले । ननु च भोगभूमिजानामनपवर्त्यमायुरतः अकाले मरणं नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते नास्ति नरस्स

समाधान—असंयमके कृत कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकार हैं। इस पुरुषको इस असंयममें प्रवृत्त करता हूं अथवा असंयममें प्रवृत्त पुरुषकी इस वचनके द्वारा अनुमोदना करता हूं। इस अभिप्रायके बिना उस प्रकारका वचन नहीं बोला जाता। अतः उस प्रकारके वचनमें कारणभूत आत्मपरिणाम कर्मबन्धमें निमित्त होता है अतः त्यागने योग्य है। उस परिणामके त्यागने पर उसका कार्य वचन भी त्यागा जाता है, क्योंकि कारणके अभावमें कार्य नहीं होता। इसलिए असत् वचनका त्याग कहा है। यदि कोई असत् वचनके एक देशका त्याग करे तब भी असत् वचनका त्याग हो जाता है क्या? ऐसी आशंकाका परिहार करते हैं कि चारों ही प्रकारके असत्य वचनका त्याग प्रमाद छोड़कर करना चाहिए। क्योंकि अतिशय युक्त संयमका आचरण करता हुआ भी भाषादोषसे कर्मसे लिप्त होता है। यहाँ निमित्त होनेसे भाषा शब्दसे वचन योग रूप आत्मपरिणाम कहा है। दुष्ट भाषाको भाषा दोष कहते हैं। अतः दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे जो कर्म बन्ध होता है उससे आत्मा लिप्त होता है। इससे असत्य वचनको कर्मबन्धमें निमित्त होनेका दोष बतलाकर उसके त्यागमें श्रावकको दृढ़ करते हैं ॥८१७॥

असत्य वचनके चार भेद कहते हैं—

गा०-टी०—चार भेदोंमें सद्भूत अर्थका निषेध करना प्रथम असत्य वचन है। जैसे मनुष्यकी अकालमें मृत्यु नहीं होती इत्यादि वचन। आयुके स्थिति कालको काल कहते हैं। उस कालसे अन्य कालको अकाल कहते हैं। उसमें मरण नहीं होता। ऐसा कहना सद्भूतका निषेध रूप असत्य वचन है।

शङ्का—भोगभूमिके मनुष्योंकी आयु अनपवर्त्य होती है अतः मनुष्योंका अकालमें मरण

---

१. ण करेय–आ० मु०। २. सतो सदेतत् वचनं सद्वचनमि–आ०। सता सतो नमस–अ०।

अकाले मच्चुत्ति । नरशब्दस्य सामान्यवाचित्वात्सर्वनरविषय अकालमरणाभावोऽयुक्त केषुचित्कर्मभूमिजेषु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्रायः ॥८१८॥

अहवा सयबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहिं ।
अविचारिय णत्थि इह घडोत्ति तह एवमादीयं ॥८१९॥

'अथवा विवादबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहिं अविचारिय भावमिति शेषः' । स्वबुद्ध्या क्षेत्रकालभावैरभावमविचार्यमाणं अत्र नास्ति इदानी न विद्यते, 'शुक्ल कृष्णो न वेत्यनिरूप्य घटस्य भाव इत्थं अनेनप्रकारेण 'णत्थि घडो जह एवमादिगं' नास्ति घट इत्येवमादिक । ततो घटस्य अविशेषेण असंतवचनं असद्वचनमित्युदाहरणान्तरमिद ॥८१९॥

जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु ।
अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥८२०॥

'जं असभुदुब्भावणमेदं विदियं असतवयणं तु' यदसदुद्भावनं द्वितीय असद्वचनमस्योदाहरणमुत्तरं । 'अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीय' सुराणामकाले मृत्युरस्तीत्येवमादिक यथा असदेव अकालमरणमनेनोच्यते इत्यसद्वचनम् ॥८२०॥

नही होता अतः उक्त कथन उचित ही है।

समाधान—गाथामे आगत 'नर' शब्द सामान्यवाची होनेसे सभी मनुष्योंके अकालमरणका अभाव कहना अयुक्त है। किन्ही कर्मभूमिज मनुष्योंमें अकाल मरण होता है अत सत्‌का निषेध करनेसे उक्त कथनको असत्य कहा है ॥८१८॥

गा०—अथवा क्षेत्रकालभावसे अभावका विचार न करके—घट यहाँ नही है, इस समय नही है, या सफेद अथवा कृष्णरूप नही है, ऐसा न विचारकर अपनी बुद्धिसे घटका सर्वथा अभाव कहना असत्य वचन है ॥८१९॥

विशेषार्थ—किसी वस्तुका निषेध या विधि द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे होती है। न तो वस्तुका सर्वथा निषेध होता है और न सर्वथा विधि होती है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परद्रव्य क्षेत्रकालभावकी अपेक्षा अस्तिरूप है जैसे घट अपने द्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है और अन्य घटोंकी अपेक्षा नास्तिरूप है। तथा जिस क्षेत्रमें यह घट है उस क्षेत्रमें अस्तिरूप है, अन्य घटोंके क्षेत्रमें नास्तिरूप है। जिस कालमें है उस कालमें अस्तिरूप है, अन्यकालोमें नास्तिरूप है। जिस भावमें स्थित है उस भावसे अस्तिरूप है अन्यभावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भावका विचार किये बिना यह कह देना कि घट नही है यह असत्यवचनका दूसरा उदाहरण है ॥८१९॥

गा०—जो नही है उसे 'है' कहना दूसरा असत्यवचन है। जैसे देवोंके अकालमें मरण होता है ऐसा कहना। किन्तु देवोंमें अकालमरण नही होता। अतः यह असत्‌का उद्भावन करनेसे असत्यवचन है ॥८२०॥

---

१. शुक्ल कृष्णो भवत्यनिरूप्य—आ०।

अहवा जं उब्भावेदि असंतं खेत्तकालभावेहिं ।
अविचारिय अत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥८२१॥

अथवा 'जं उब्भावेदि' यद्वचनं उद्भावयति । असन्तं घटं । कथमसन्तं ? 'खेत्तकालभावेहिं' क्षेत्रान्तरकालान्तरभावेन (अ)सन्तं इहापि घटं ... अतीते अनागते वा असन्तं भावान्तरसान्निध्येन कृष्णादिरूपेण । 'अविचारिय' अविचार्य द्रव्यं तत् इत्यमसन्तं इति अस्ति घट इत्येवमादिकं सर्वथास्तित्वमसद्भावयतीति असद्वचनं ॥८२१॥

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीयं ।
अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं ॥८२२॥

'तदियं असंतवयणं' तृतीयमसद्वचनं । 'संतं जं कुणदि अण्णजादीयं' सदप्यर्थं करोति अन्यजातीयं । 'अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं' । अविचार्य गौरश्व इत्येवमादिकं । ततो अर्थविसंवादात् असद्वचनं असत्यवचनं ॥८२२॥

चतुर्थमसद्वचनमाचष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं ।
जं वा अप्पियवयणं असणवयणं चउत्थं च ॥८२३॥

'जं वा गरहिदवयणं' यद्वा गर्हितं वचनं । 'जं वा सावज्जसंजुदं वयणं' यद्वा सावद्यसंयुतं वचनं । 'जं वा अप्पियवयणं' यद्वा अप्रियवचनं । 'तं चउत्थं' चतुर्थं असत्यवचनं असद्वचनं ॥८२३॥

तेषु वचनेषु गर्हितवचनं व्याचष्टे—

गा०—अथवा जो वस्तु क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् घटका विचार न करके 'घट है' ऐसा कहना है यह असत्यवचन है ॥८२१॥

विशेषार्थ—यह पहले कहा है कि कोई वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है। जो स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सत् है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् है। जैसे जो घट इस क्षेत्रकी अपेक्षा सत् है वही अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा असत् है। जो इस कालकी अपेक्षा सत् है वही अतीत और अनागतकालकी अपेक्षा असत् है, जो स्वभावकी अपेक्षा सत् है वही भावान्तरकी अपेक्षा असत् है। अतः घट इस रूपसे सत् है और इस रूपसे असत् है ऐसा विचार न करके 'घट है' इस तरह घटको सर्वथा सत् कहना असत्का उद्भावन होनेसे असत्य वचन है ॥८२१॥

गा०—एक जातिकी वस्तुको अन्य जातिकी कहना तीसरा असत्य वचन है। जैसे बिना विचारे बैलको घोड़ा कहना ॥८२२॥

चतुर्थ असत्य वचनको कहते हैं—

गा०—जो गर्हित वचन है, सावद्ययुक्त वचन है, अप्रिय वचन है वह चतुर्थ असत्य वचन है ॥८२३॥

उनमेंसे गर्हित वचनको कहते हैं—

कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ।
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥८२४॥

'कक्कसवयण' कर्कशवचन नाम मगर्ववचनमिति केचिद्वदन्त्यन्ये असत्यवचनमिति । 'णिट्ठुरवयणं' निष्ठुरवचन । 'पेसुण्णहासवयणं च' परदोषसूचनपर वचनं पैशुन्यवचन हासावहं वचन । 'जं किंचि विप्पलावं' यत्किंचित्प्रलपन च मुखरतया । 'गरहिदवयणं' गर्हितवचन । 'समासेण' सक्षेपेण ॥८२४॥

सावद्यवचन निरूपयति—

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च ।
अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं ॥८२५॥

'जत्तो पाणवधादी दोसा जायंतीति' यस्माद्वचनाद्धेतो प्राणवधादयो दोषा जायन्ते । 'सावज्जवयण त' सावद्य वचन पृथिवीं खन[1], महिषीं दोहक (?) पयसा, प्रसूनानि चिनु । इत्येवमादिकानि 'अविचारित्ता' अविचार्य किमेव वक्तु युक्त न वेति । अथवा दोषोऽनेन वचसा न वेति अपरीक्ष्य चौरं चौरोऽयमिति वचन ॥८२५॥

परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥८२६॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ।
एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण ॥८२७॥

'हासभय' हास्येन, भयेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रद्वेषेणेत्येवमादिना कारणेन । 'एवं असंतवयणं' एतदसद्वचन । 'तु मे' त्वया । 'पत्तेण' प्रयत्नेन । 'परिहरिदव्वं' परिहर्तव्य । 'विसेसेण' विशेषेण ॥८२७॥

एवमसद्विवादं परिहार्यमुपदर्श्य सत्यवचनलक्षणमुक्तासद्वचनविलक्षणतया दर्शयति—

गा०—कर्कश वचन अर्थात् घमण्डयुक्त वचन, निष्ठुर वचन, दूसरेके दोषोंका सूचन करनेवाले वचन, हास्यवचन और जो कुछ भी बकवाद करना, ये सब संक्षेपमें गर्हित वचन है ॥८२४॥

सावद्य वचन कहते हैं—

गा०—जिस वचनसे प्राणोंका घात आदि दोष उत्पन्न होते हैं वह सावद्यवचन है । जैसे पृथ्वी खोदो । नादका पानी भैंसने पी लिया उसे पानीसे भरो । फूल चुनो आदि । अथवा ऐसा कहनेमें दोष है या नहीं, यह विचार न करके चोरको चोर कहना सावद्य वचन है ॥८२५॥

गा०—कठोर वचन, कटुक वचन, जिस वचनसे वैर, कलह और भय पैदा हो, अति त्रास देनेवाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन ये संक्षेपमें अप्रियवचन है ॥८२६॥

गा०—हास्य, भय, लोभ, क्रोध और द्वेष आदि कारणोंसे बोले जानेवाले असत्य वचनोंको हे क्षपक, तुम्हे प्रयत्नपूर्वक विशेष रूपसे नहीं बोलना चाहिए ॥८२७॥

इस प्रकार असत्यवचनोंको त्यागने योग्य बतलाकर उक्त असत्यवचनोंसे विलक्षण सत्यवचनोंका लक्षण कहते है—

---

१ खन । महिं पीतादकं पयसा पूरय—आ० । खन । महिषी पीतोदकं पयसा प्रपूरय, मु० ।
२. दर्शन्ति—आ० मु० ।

तव्विवरीदं सच्चं कज्जे काले मिदं सविसए य ।
भत्तादिकहारहियं भणाहि तं चेव य सुणाहि ॥८२८॥

'तव्विवरीदं' असत्यवचनविपरीतं। 'सच्चं' सत्यं। 'भणाहि' भण। 'कज्जे' कार्ये ज्ञानचारित्रादि शिक्षाप्रदाने, असंयमपरिहारे परस्य वा सन्मार्गस्थापनाकार्ये। 'काले' आवश्यकादीनां कालादन्य काले स्वाध्याय-कालव्यतिक्रान्तेऽवसरे। अथवा कालशब्देन प्रस्ताव उच्यते। 'मिदं' परिमितं वचनं। 'सविसए य' भवतो ज्ञानस्य विषये प्रवृत्तं वचनं। 'भणाहि' भण। ज्ञातमेव वचनानीति यावत्। भक्तादिकथारहितं भक्तस्त्रीचौरराजकथादि-रहितं। 'तं चेव य' तथाभूतमेव सत्यमेव वचनं। 'सुणाहि' शृणु। असंयतोऽपि च करोति एतावता सत्यव्रत-पालितमिति आज्ञा न कार्या। परेणोच्यमानमसत्यवचनं शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मबन्धो महानिति भावः ॥८२८॥

सत्यवचनगुणं हृदयनिर्वाणं ख्यापयति गाथोत्तरा गाथा—

जलचंदणससि मुत्तानंदमणी[1] तह णरस्स णिव्वाणं ।
ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥८२९॥

न सत्यमित्येतावता वचनं वक्तव्यं, सत्यमेव वदेद् वक्तव्यमेव नेति कथयति—

अण्णस्स अप्पणो वा वि धम्मिए विड्डंतए कज्जे ।
जं पि अपुच्छिज्जंतो अण्णेहि य पुच्छिओ जप ॥८३०॥

'अण्णस्स अप्पणो वापि' अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिके कार्ये विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि। अनति-पातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्टः इत्यर्थः ॥८३०॥

गा०—टी०—हे क्षपक, ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षारूप कार्यमें, असंयमका त्याग कराने या दूसरेको सन्मार्गमें स्थापित करनेके कार्यमें, आवश्यक आदिके कालसे भिन्नकालमें, और ज्ञानके विषयमें असत्यवचनसे विपरीत सत्यवचन बोलो। तथा भक्तकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा और राजकथासे रहित वचन बोलो—इन कथाओंकी चर्चा मत करो। तथा इसी प्रकारके सत्य वचनोंको सुनो। असंयमीका अयोग्य बात नहीं बोलना अतः यह सत्यव्रतका पालक है ऐसी आज्ञा मत करो। दूसरेके द्वारा कहे असत्यवचनको जो सुनता है उसका मन बुरा होता है और मनके बुरे होनेसे महान् कर्मबन्ध होता है ॥८२८॥

आगे सत्यवचनका गुण हृदयको सुख देता है, यह कहते हैं—

गा०—अर्थसे भरे हितकारी परिमित मधुर वचन इस जीवको जैसा सुख देते हैं वैसा सुख जल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती और चन्द्रकान्तमणि भी नहीं देते ॥८२९॥

आगे कहते हैं कि सत्य होनेसे बोलना चाहिए ऐसी बात नहीं है और सदा सत्य बोलना ही चाहिए ऐसी भी बात नहीं है—

गा०—अपना या दूसरोंका धार्मिक कार्य नष्ट होता हो तो बिना पूछे भी बोलना चाहिए। किन्तु यदि कार्य नष्ट न होता हो तो पूछनेपर ही बोलो, बिना उनके द्वारा पूछे जानेपर मत बोलो ॥८३०॥

---

१. मुत्तामणिमाला तह—आ० ।

सच्चं वदंति रिसओ रिसीहिं विहिदाउ सव्व विज्जाओ ।
मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥८३१॥

'सच्चं वदंति रिसओ' सत्यं वदन्ति यतयः । 'रिसीहिं विहिदाओ' ऋषिभिर्विहिता सर्वाविद्या । 'मिच्छसवि' म्लेच्छस्यापि । 'सिज्झंति' सिध्यन्ति । 'विज्जाओ' विद्या । 'सच्चवादिस्स' सत्यवादिनः ॥८३१॥

ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ ।
सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि ॥८३२॥

'ण डहदि अग्गी णरं' न दहत्यग्निः सत्येन नरं । जलं च तं ण बुड्डेदि' जलं च तं न निमज्जयति । 'सच्चबलियं' सत्यमेव बलं यस्यास्ति तं 'न वहति' नाकर्षति । 'तिक्खा गिरिणदीवि' तीव्रवेगा गिरिनद्यपि ॥८३२॥

सच्चेण देवदाओ णवंति पुरिसस्स ठंति य वसम्मि ।
सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेंति रक्खं च ॥८३३॥

'सच्चेण देवदाओ णमंति' सत्येन देवता नमस्यन्ति । 'पुरिसस्स ठंति य वसम्मि' पुरुषस्य च वशे तिष्ठन्ति । 'गहगहिद सच्चेण मोएइ' पिशाचग्रहणं मोचयन्ति सत्येन । 'करेंति सच्चेण रक्खं च' कुर्वन्ति सत्येन ग्रहादिरक्षा ॥८३३॥

माया व होइ विस्ससणिज्जो पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ।
पुरिसो हु सच्चवाई होदि हु सणियल्लओ व पिओ ॥८३४॥

'माया व होदि विस्ससणिज्जो' मातेव भवति विश्वसनीयः । 'पुज्जो गुरुव्व लोगस्स' पूज्यो गुरुवल्लोकस्य । क ? 'सच्चवादी पुरिसो' सत्यवादी पुरुषः । 'पिओ होदि सणियल्लओव' प्रियो भवति बन्धुरिव ॥८३४॥

सच्चं अवगददोसं वुत्तूण जणस्स मज्झयारम्मि ।
पीदिं पावदि परमं जसं च जगविस्सुदं लहइ ॥८३५॥

गा०—ऋषिगण सत्य बोलते है। ऋषियोने ही सब विद्याओंका विधान किया है। सत्यवादी यदि म्लेच्छ भी हो तो उसे विद्याएँ सिद्ध होती हैं ॥८३१॥

गा०—सत्यवादी मनुष्यको आग नहीं जलाती। पानी उसे नहीं डुबाता। जिसके पास सत्यका बल है उसे तीव्र वेगवाली नदी भी नहीं बहाती ॥८३२॥

गा०—सत्यसे देवता नमस्कार करते हैं। सत्यसे देवता पुरुषके वशमें होते हैं। सत्यसे पिशाच पकडा हुआ मनुष्य भी छूट जाता है और उसकी रक्षा देव करते है ॥८३३॥

गा०—सत्यवादी माताके समान विश्वासयोग्य, गुरुके समान पूज्य, और बन्धुके समान लोकप्रिय होता है ॥८३४॥

---

१ मणि–आ० ।

'सच्चं वुत्तूण' सत्यवचनमुक्त्वा । कीदृग्भूतं ? 'अवगददोसं' दोषरहितं । क्व ? 'जणस्स मज्झयारम्मि' जनमध्ये । 'पीदिं पावदि' परमां प्रीतिं प्राप्नोति, परां 'जसं लभदि' यशश्च लभते । 'जगविस्सुदं' जगति विश्रुतं ॥८३५॥

सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो तह वसे सया वि गुणा ।
सच्चं णिबंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥८३६॥

'सच्चम्मि संजमो' सत्याधारो तप संयमो, शेषाश्च गुणा. । 'सच्चं णिबंधणं गुणाणं' गुणानां निबन्धनं सत्यं । 'मच्छाणं उदधीव' मत्स्यानामुदधिरिव ॥८३६॥

सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि ।
अदिसंजदो य मोसेण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥८३७॥

'सच्चेण जगे होदि' सत्येन जगति भवति । 'पमाणं' प्रमाणं । यद्यप्यन्यो गुणो नास्ति । अतीव संयतो-ऽपि सतां मध्ये तृणवल्लघुर्भवति मृषावचनेनेति गाथार्थः ॥८३७॥

होदु सिहंडी व जडी मुंडी वा णग्गओ व [1]चीरधरो ।
जदि भणदि अलियवयणं विलंवणा तस्स सा सव्वा ॥८३८॥

'होदु सिहंडी' भवतु नाम शिखावान् । 'जडी मुंडी वा' नग्नश्चीवरधरो वा यद्यलीकं वदति तस्य सा सर्वा विलम्बना ॥८३८॥

जह परमण्णस्स विसं विणासयं जह च जोव्वणस्स जरा ।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं ॥८३९॥

'जह परमण्णस्स' यथा परमान्नस्य विनाशकं विषं । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादि-गुणानां विनाशकं असत्यं ॥८३९॥

गा०—जनसमुदायके बीच में दोषरहित सत्यवचन बोलनेसे मनुष्य जनताका प्रेम तथा ...में प्रसिद्ध उत्कृष्ट यश पाता है ॥८३५॥

गा०—तप, संयम तथा अन्यगुण सत्यके आधार हैं। जैसे समुद्र मगरमच्छोंका कारण है ...में मगरमच्छ पैदा होते और रहते हैं वैसे ही सत्य गुणोंका कारण है ॥८३६॥

गा०—यदि मनुष्यमें अन्य गुण न हो तब भी वह एक सत्यके कारण जगमें प्रमाण माना ...ा है। अति संयमी भी मनुष्य यदि असत्य बोलता है तो सज्जनोंके मध्यमें तृणसे तुच्छ ...ा है ॥८३७॥

गा०—भले ही मनुष्य शिखाधारी हो, जटाधारी हो, सिर मुडाए हो, नंगा रहता हो या ...र धारण किये हो, यदि वह झूठ बोलता है तो यह सब उसकी विडम्बनामात्र है ॥८३८॥

गा०—जैसे विष उत्तमोत्तम भोजनका विनाशक है, बुढ़ापा यौवनका विनाशक है वैसे असत्य वचन अहिंसा आदि गुणोंका विनाशक है ॥८३९॥

---

1. चीवर-मु० ।

मादाए वि वेसो पुरिसो अलिएण होइ एक्केण ।
किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिएण सत्तु व्व ॥८४०॥

'मादाए वि य' मातुरप्यविश्वास्यो भवत्यलीकेन एकेन पुरुषः । शेषाणां पुनर्न किं भवेदलीकेन शत्रुरिव ॥८४०॥

अलियं स किं पि भणियं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं ।
अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो ॥८४१॥

'अलियं स किंपि भणियं' सकृदप्युक्तं अलीकं सत्यानि बहूनि नाशयति । अलीकवादी पुरुषः स्वयमपि शङ्कितो भवति नितरां ॥८४१॥

अप्पच्चओ अकित्ती संभारदिकलहवेरभयसोगा ।
वधबंधभेय धणणासा वि य मोसम्मि सण्णिहिदा ॥८४२॥

'अप्पच्चओ' अप्रत्ययः । अकीर्तिः, संक्लेशः, अरतिः, कलहो, वैरं, भयं, शोकः, वधो, बन्धः, स्वजनभेदः, धननाश इत्येवमादयो दोषाः सन्निहिता मृषावचने ॥८४२॥

पापस्सासवदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ।
हिदएण अपावो वि हु मोसेण गदो वसू णिरयं ॥८४३॥

'पावस्सासवदारं' पापस्यागमद्वारमिति वदन्त्यसत्यं जिनेन्द्राः । हृदये अपापोऽपि मृषामात्रेण वसुर्गतो नरकं इत्याख्यानकं वाच्यं ॥८४३॥

परलोगम्मि वि दोसा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ।
मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥८४४॥

गा०—एक असत्य वचनसे मनुष्य माताका भी विश्वास-भाजन नहीं रहता । सब असत्य बोलनेसे दूसरोंको वह शत्रुके समान क्यों नहीं प्रतीत होगा ॥८४०॥

गा०—एक बार भी बोला गया झूठ बहुत बार बोले गये सत्यवचनोंका घात कर देता है । लोग उसके सत्यवचनको भी झूठ मानने लगते हैं । झूठ बोलनेवाला मनुष्य स्वयं भी अतिशंकित रहता है ॥८४१॥

गा०—असत्य भाषणमें अविश्वास, अपयश, संक्लेश, अरति, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बन्ध, कुटुम्बमें फूट, धनका नाश इत्यादि दोष पाये जाते हैं ॥८४२॥

गा०—जिनेन्द्रदेव असत्यको पापास्रवका द्वार कहते हैं, उससे पापका आगमन होता है । राजा वसु हृदयसे पापी नहीं था फिर भी झूठ बोलनेसे नरकमें गया । इसकी कथा कथाकोशमें है ॥८४३॥

[illegible]

'परलोगम्मि वि दोसा' परभवेऽपि दोषास्त एव अप्रत्ययादय एव भवन्त्यलीकवादिनः । यत्नेनापि परिहरतः । किं ? 'मोसादिगे दोसे' मृषादिकान्दोषान् । मृषा आदिर्येषां स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां ते मृषादयः । अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरत्र ग्राह्यः । स्तेयादिदोषान्परिहरतोऽपीत्यर्थः ॥८४४॥

भवतु नाम अप्रत्ययत्वादिका मृषावादस्य दोषा कर्कशवचनादिना परभवे इह वाथ के दोषा इत्यत्राचष्टे—

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स ।
कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादव्वा ॥८४५॥

'इहलोगिग परलोगिग दोसा' अस्मिञ्जन्मनि परत्र च ये दोषा भवन्ति अलीकवादिनः । कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्याः ॥८४५॥

उपसंहारगाथा—

एदेसिं दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिवचिदोसे ।
परिहरमाणो साधू तव्विवरीदे य लभदि गुणे ॥८४६॥

एतेभ्यो दोषेभ्यो मुक्तो भवति व्यलीकादिवचनदोषान्य परिहरति साधुः लभते चापि ? दोषप्रतिपक्षभूतान्प्रत्ययितत्वादिगुणान् । प्रत्यय., कीर्ति, असक्लेश, रति, कलहाभाव, निर्भयतादिकश्च । 'सत्त्व' ॥८४६॥

व्याख्याय सत्यव्रतं तृतीयव्रतं निगदति—

मा कुणसु तुमं बुद्धिं बहुमप्पं वा परादियं घेत्तुं ।
दंतंतरसोधणयं कलिंदमेत्तं पि अविदिण्णं ॥८४७॥

गा०—असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप दोषोंका प्रयत्नपूर्वक त्याग करनेवाले भी असत्यवादीके परलोकमें भी अविश्वास आदि दोष होते है। अर्थात् असत्यवादी मरकर भी इन दोषोंका भागी होता है ॥८४४॥

असत्य भाषणसे अविश्वास आदि दोष भले ही होते हों, किन्तु कर्कश आदि वचन बोलनेमें इस भव या परभवमें क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमें असत्यवादी जिन दोषोंका पात्र होता है, कर्कश आदि वचन बोलनेवाला भी उन्हीं दोषोंका पात्र होता है ॥८४५॥

गा०—जो साधु असत्य भाषण आदि दोषोंको दूर कर देता है वह ऊपर कहे दोषोंसे मुक्त होता है—उसमें वे दोष नहीं होते। तथा उन दोषोंसे विपरीत विश्वास, यश, असक्लेश, रति कलहका अभाव, निर्भयता आदि गुणोंका भाजन होता है ॥८४६॥

सत्य महाव्रतका कथन समाप्त हुआ।

सत्य व्रतका कथन करके तीसरे व्रतका कथन करते हैं—

---

१. ते तद्विपरीते नेति नापि—आ० मु०।

'मा कुणसु तुम बुद्धिं' मा कार्षीस्त्वं बुद्धिं । कीदृशीं ? 'परादिन्नं घेत्तुं' परकीयं वस्तु ग्रहीतुं । परकीयवस्तु विशेषणमाचष्टे—'बहुमल्लं वा' अल्पकं वा । [illegible]—'दंतंतरसोधणयं कलिदमेत्तंपि' दन्तान्तरशुद्धिकारि तृणशलाकामात्रमपि । 'अविदिण्णं' अदत्तं ॥८४७॥

जह मक्कडओ धादो वि फलं दट्ठूण लोहिदं तस्स ।
दूरत्थस्स वि डेवदि जइ वि घित्तूण छंडेदि ॥८४८॥

'जह मक्कडओ' यथा मर्कटो वानरः । 'धादो वि' तृप्तोऽपि । 'दट्ठूण फलं' दृष्ट्वापि फलं । 'लोहिदं' रक्तं । 'तस्स दूरत्थस्स वि डेवदि' दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योत्प्लवनं करोति । 'जदि वि घित्तूण छंडेदि' यद्यपि गृहीत्वा त्यजति ॥८४८॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं ।
सव्वजगेण वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि ॥८४९॥

'एवं जं जं पस्सदि' एवं यद्यत्पश्यति द्रव्यं । 'तं तं पाविदुमहिलसदि' तत्तद्द्रव्यं प्राप्तुमभिलषति । 'सव्वजगेण वि' सर्वेणापि जगता । 'लोभाइट्ठो जीवो ण तिप्पेदि' जीवो लोभाविष्टो न तृप्यति ॥८४९॥

जह मारुओ पवड्ढइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ।
जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥८५०॥

'जह मारुओ पवड्ढइ' यथा मारुतः प्रवर्द्धते । 'खणेण' क्षणेन । 'वित्थरदि' विस्तीर्णो भवति । 'अब्भयं च जहा' यथा चाभ्रं । 'जीवस्स' जीवस्य । 'तह' तथा । लोभो मन्दोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णतामुपयाति ॥८५०॥

बाह्यद्रव्यसन्निधिमपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभस्य वर्द्धते तद्वृद्धौ चाय दोष इति व्याचष्टे—

लोभे पवड्ढिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि ।
तो अप्पणो वि मरणं अगणिंतो साहसं कुणइ ॥८५१॥

गा०—हे क्षपक ! तुम पराई बहुत या अल्प वस्तुको भी ग्रहण करनेकी भावना मत करो। दाँतका मल शोधनेके लिए एक तिनका भी बिना दिया मत ग्रहण करो ॥८४७॥

गा०—जैसे बन्दर पेट भरा होनेपर भी लाल पके फलको देखकर दूरसे ही फल ग्रहण करनेके लिए कूदता है, यद्यपि वह उसे फिर छोड़ देता है ॥८४८॥

गा०—वैसे ही मनुष्य जो जो वस्तु देखता है उस उसकी प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। लोभसे घिरा मनुष्य समस्त जगत्को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता ॥८४९॥

गा०—जैसे मन्द वायु बढ़कर क्षणभरमे फैल जाती है या मेघ बढ़ते-बढ़ते आकाशमे फैल जाते हैं। वैसे ही जीवका थोड़ा-सा भी लोभ क्षणभरमे बढ़ जाता है ॥८५०॥

आगे कहते हैं कि बाह्य द्रव्यका सान्निध्य पाकर लोभकर्मका उदय होता है उससे मनुष्य-

'लोभे पवड्ढिदे पुण' लोभे प्रकर्षेण वृद्धिमुपगते पुनः । 'कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि' कार्यं अकार्यं च न मनसा निरूपयति । इदं कर्तुं युक्तं न वेति । 'तो' तत युक्तायुक्तविचारणाभावात् । 'अप्पणो मरणमवि अगणित्ता' आत्मनो मृत्युमप्यगणय्य । 'चोरियं कुणदि' चौर्यं करोति । बन्दीग्रहणतालोद्घाटनगृहप्रवेशादिकं च भयं मृत्यो कष्टतरमवश्यम्भाव्यमपि न गणयति नरश्चौर्ये प्रवृत्त इति भावः ॥८५१॥

न केवलमात्मन एवोपद्रवकारि चौर्यं अपि तु परेषामपि महतीमानयति विपदमिति कथयति—

सव्वो उवहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सव्वो वि ।
सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हियगंमि अदिदुहिदो ॥८५२॥

'सव्वो उवहिदबुद्धी' सर्वो जन उपहितबुद्धिः स्थापितचित्त । क्व ? 'अत्थे' वस्तुनि इदं भवत्विति । 'अत्थे हिदे य सव्वो वि' सर्वोऽपि जनो अर्थे हृते । 'अदिदुहिदो' अतीव दुःखितो भवति । किमिव ? 'सत्तिप्पहारविद्धोव हियये' शक्त्याख्येन शस्त्रेण हृदये विद्ध इव ॥८५२॥

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि ।
मरदि य हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥८५३॥

'अत्थम्मि हिदे' अर्थे हृते परेणापहृते 'पुरिसो' पुरुषः । 'उम्मत्तो विगदचेयणो होदि' उन्मत्तो विगतचेतनो भवति । चेतनाविशेषे ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत् । अन्यथा चैतन्यस्य विनाशाभावात् । 'मरदि य' म्रियेत वा अर्थे हृते । अर्थे हक्कारकिदो अर्थे 'हाकारं कुर्वन् । 'अत्थो जीवं खु पुरिसस्स' पुरुषस्य जीवितमर्थः ॥८५३॥

का लोभ बढ़ता है। लोभ बढ़नेपर यह दोष होता है—

गा०-टी०—लोभ बढनेपर मनुष्य 'यह करना योग्य है और यह योग्य नहीं है' इस प्रकार मनमें कार्य और अकार्यका विचार नहीं करता। युक्त अयुक्तका विचार न करनेसे अपनी मृत्युकी परवाह न करके चोरी करता है—ताले तोडकर घरोंमें प्रवेश करता है, जेल जाता है। इस प्रकार चोरीमें लगा मनुष्य मृत्युका कठोर भय उपस्थित होते हुए भी उसकी अवहेलना करता है ॥८५१॥

आगे कहते हैं कि चोरी केवल चोरी करनेवालेपर ही विपत्ति नहीं लाती किन्तु दूसरोंपर भी महती विपदा लाती है—

गा०—सभी मनुष्य धनासक्त हैं—उनका मन धनमें लगा रहता है। अतः धन चुरानेपर सभी जन हृदयमें शक्ति नामक अस्त्रसे आघात होनेकी तरह अत्यन्त दुःखी होते हैं ॥८५२॥

गा०-टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन हरे जानेपर मनुष्य पागल हो जाता है, उसकी चेतना नष्ट हो जाती है। यहाँ चेतना शब्द चेतनाके भेद ज्ञानपर्यायमें प्रयुक्त हुआ है अतः उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि चेतनाका तो विनाश होता नहीं। तथा हाहाकार करके मर जाता है। ठीक ही कहा है—धन मनुष्यका प्राण है ॥८५३॥

---

१. हारव-आ० मु०।

अडईगिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्थलोभादो ।
पियबंधु चेवि जीवं पि णरा पयहंति धणहेदुं ॥८५४॥

'अडईगिरिदरिसागर' अटवी, दरी, गिरि, सागरं, युद्ध प्रविशन्ति अर्थलोभात् । प्रियान्बन्धून् ज
च नरा जहति धननिमित्त । सर्वेभ्यो धन प्रियतम यतस्तदर्थिन सर्वं त्यजन्ति इति भावार्थो गाथाया ॥८

अत्थे संतम्मि सुहं जीवदि सकलत्तपुत्तसंबंधी ।
अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं ॥८५५॥

'अत्थे संतम्मि सुहं' अर्थे सति सुखं 'जीवदि सकलत्तपुत्तसम्बन्धी' जीवति सह कलत्रैर्भार्याभि',
बंधुभिश्च । अर्थं हरता तेषां कलत्रादीनां जीवितमेव हृतं भवति ॥८५५॥

चोरस्स णत्थि हियए दया य लज्जा दमो व विस्सासो ।
चोरस्स अत्थहेदुं णत्थि अकादव्वयं किं पि ॥८५६॥

'चोरस्स णत्थि हियए' चौरस्य नास्ति हृदये । दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा । चौरस्य
अकर्तव्यं किंचित् । धर्मार्थिन इति भावार्थ ॥८५६॥

लोगम्मि अत्थि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराधं ।
णीयल्लया वि पक्खे ण होंति चोरिक्कसीलस्स ॥८५७॥

'लोयम्मि अत्थि पक्खो' लोकेऽस्ति पक्षोऽन्यमपराधं हिंसादिकं कुर्वतो बन्धवोऽपि न पक्षतां प्रति
ते चौर्यशीलस्य ॥८५७॥

अण्णं अवरज्झंतस्स दिंति णियये घरम्मि ओगासं ।
माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्कसीलस्स ॥८५८॥

'अण्णं अवरज्झंतस्स' अन्यं अपराधं कुर्वतः ददति स्वगृहे अवकाशं । मातापि अवकाशं न ददाति चौ
र्यशीलस्य ॥८५८॥

गा०—धनके लोभसे मनुष्य जंगल, पर्वत, गुफा और समुद्रमें भटकता है, युद्ध करता
धनके लिए मनुष्य प्रियजनोंका और अपने जीवनका भी त्याग करता है। सारांश यह है
मनुष्यको धन सबसे प्रिय है उसीके लिए वह सबको छोड़ देता है ॥८५४॥

गा०—धनके होनेपर मनुष्य स्त्री पुत्र और बन्धु बान्धवोंके साथ सुखपूर्वक जीवन य
करता है। धनके हरे जानेपर उन स्त्री आदिका जीवन ही हर लिया जाता है ॥८५५॥

गा०—चोरके हृदयमें दया, लज्जा, साहस और विश्वास नहीं होते। चोर धनके लिए
भी कर सकता है उसके लिए न करने योग्य कुछ भी नहीं है ॥८५६॥

गा०—हिंसा आदि अन्य अपराध करनेवालेके पक्षमें तो लोग रहते हैं किन्तु चोरी क
वालेके पक्षमें बन्धु बान्धव भी नहीं होते ॥८५७॥

गा०—अन्य अपराध करनेवालेको लोग अपने घरमें आश्रय देते हैं। किन्तु चोरी क
वालेको माता भी आश्रय नहीं देती ॥८५८॥

परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु वेंति पावस्स ।
मोगरियवाहपरदारिएहि चोरो हु पापदरो ॥८५९॥

'परदव्वहरणमेदं' परद्रव्यापहरणमेतत् पापस्यास्रवद्वारं ब्रुवन्ति । शौकरिकात्, व्याधात्, परदाररतिप्रियाच्च चौरः पापीयान् ॥८५९॥

सयणं मित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ।
पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥८६०॥

'सयणं मित्तं' बन्धून्मित्राणि आश्रयभूतं समीपस्थं च महति दोषे बन्धवधधनापहरणादिके पातयति चौर्यं । महत्ययशसि दुःखे च निपातयति ॥८६०॥

बंधवधजादणाओ छायाघादपरिभवभयं सोयं ।
पावदि चोरो सयमवि मरणं सव्वस्सहरणं वा ॥८६१॥

'बंधवधजादणाओ' बन्ध, वधं, यातनाश्च, छायाघात, परिभव, भय, शोक प्राप्नोति । स्वयमपि चौरो मरण सर्वस्वहरण वा ॥८६१॥

णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो ण णिद्दमुवलभदि ।
तेणं तओ समंता उव्विग्गमओ य पिच्छंतो ॥८६२॥

'णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो' नित्यं दिवारात्रि शङ्कमानः न निद्रामुपलभते चौरः । समन्तात्प्रेक्षते उद्विग्नहरिण इव ॥८६२॥

उंदुरकदंपि सद्दं सुच्चा परिवेवमाणसव्वंगो ।
सहसा समुच्छिदभओ उव्विग्गो धावदि खलंतो ॥८६३॥

'उंदुरकदपि सद्दं' मूषकचलनकृतमपि शब्दं श्रुत्वा प्रस्फुरत्सर्वगात्रः सहसोत्थभयोद्विग्नो धावति स्खलन्पदे पदे ॥८६३॥

गा०—यह परद्रव्यका हरण पापके आनेका द्वार कहा जाता है। मृग पशु पक्षियोंका घात करनेवाले और परस्त्रीगमनके प्रेमीजनोंसे चोर अधिक पापी होता है ॥८५९॥

गा०—चोरीका व्यसन बन्धु, मित्र, अपने आश्रित, और निकटमें रहनेवालोंको भी वध, बन्ध, धनका हरना आदि दोषोंमें डाल देता है वे भी ऐसे बुरे काम करने लगते हैं। तथा वे महान् अपयश और दुःखके भागी होते हैं ॥८६०॥

गा०—चोर स्वयं भी बन्ध, वध, कष्ट, तिरस्कार, भय, शोक, मरण और सर्वस्व हरणका भागी होता है ॥८६१॥

गा०—चोर दिन रात पकड़े जानेकी आशंकासे सोता नहीं है और भयभीत हरिनकी तरह चारों ओर देखा करता है ॥८६२॥

गा०—चूहेके द्वारा भी किये शब्दको सुनकर उसका सर्वांग थरथर काँपने लगता है, एकदम भयसे भीत हो, घबराकर दौड़ता है और पद-पदपर गिरता उठता है ॥८६३॥

अदत्तादानदोषानुपदर्श्य दत्तं योग्यं गृहाणेति व्याचष्टे—

एदे सव्वे दोसा ण होंति परदव्वहरणविरदस्स ।
तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्तभोइस्स ॥८६९॥

देविंदरायगहवइदेवदसाहम्मि उग्गह तम्हा ।
उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामण्णसाहणयं ॥८७०॥

'देविंदरायगहवइ' देवेन्द्राणां, राज्ञां, गृहपतीनां, राष्ट्रकूटानां, देवतानां, सधर्मणां च परिग्रहं । 'उग्गह विहिणा' अवग्रहविधिना । 'दिण्णं' दत्तं । 'गिण्हसु' गृहाण । 'सामण्णसाहणयं' श्रामण्यसाधनं ज्ञानसंयमस्य वा साधनं । अदत्त ॥८७०॥

चतुर्थं व्रतं निरूपयति—

रक्खाहि बंभचेरं अब्बंभं दसविधं तु वज्जित्ता ।
णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥८७१॥

'रक्खाहि बंभचेरं' पालय ब्रह्मचर्यं । अब्रह्म दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमप्रमत्तः पञ्चविधे स्त्रीवैराग्ये ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यं पालयेत्युक्तं तदेव न ज्ञायते इत्यारेकायां तद्व्याचष्टे—

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतत्तिस्स ॥८७२॥

'जीवो बंभा' ब्रह्मशब्देन जीवो भण्यते । ज्ञानदर्शनादिरूपेण वर्द्धते इति वा । यावल्लोकाकाशं वर्धते लोकपूरणाख्यायां क्रियायां इति वा । 'जीवम्मि चेव' ब्रह्मण्येव चर्या । जीवस्वरूपमनन्तपर्यायात्मकमेव निरूप-

---

अदत्तादानके दोष बतलाकर योग्य दत्तवस्तुको ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

गा०—जो परद्रव्य हरनेका त्यागी होता है उसे ये सब दोष नहीं होते। तथा जो दत्त-वस्तुका ही उपभोग करता है उसमें उक्त दोषोंसे विपरीत गुण सदा होते हैं ॥८६९॥

गा०—हे क्षपक ! देवेन्द्र, राजा, गृहपति, देवता और साधर्मी साधुओंके द्वारा विधिपूर्वक दी गई परिग्रहको, जो ज्ञान और संयमकी साधक हो, ग्रहण कर ॥८७०॥

अदत्तविरत व्रतका कथन समाप्त हुआ।

चतुर्थ व्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! दस प्रकारके अब्रह्मको त्याग कर ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर। और पाँच प्रकारके स्त्री वैराग्यमें सदा सावधान रह ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेको तो कहा। किन्तु ब्रह्मचर्य क्या है यही नहीं जानते। इसके लिए कहते हैं—

गा०-टी०—ब्रह्म शब्दसे जीव कहा जाता है। अथवा 'वृह्' धातुसे ब्रह्म शब्द बना है उसका अर्थ होता है बढ़ना। ज्ञान दर्शन आदि रूपसे बढ़नेको ब्रह्म कहते हैं। अथवा जब सयोग केवली जिन लोकपूरण समुद्घात करते हैं तो उनके आत्म प्रदेश लोकाकाश प्रमाण बढ़कर फैल

घत्ति पि संजमंतो घेत्तूण किलिंचमेत्तमविदिण्णं ।
होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरो व्व ॥८६४॥

'घत्ति पि संजमंतो' नितरामपि संयम कुर्वन् । अदत्तं तृणमात्रमपि गृहीत्वा तृणवल्लघुर्भव
त्यविश्वासश्चोर इव ॥८६४॥

परलोगम्मि य चोरो करेदि णिरयम्मि अप्पणो वसदिं ।
तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरंपि ॥८६५॥

'परलोगम्मि य चोरो करेदि' परलोके चोर करोत्यात्मनो नरके वसतिं । कीदृग्भूतो
सुचिरं दीर्घकालं पच्यमान तीव्रवेदना अनुभवति ॥८६५॥

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिव्वदुक्खाणि ।
पाएण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरंपि ॥८६६॥

'तिरियगदीए वि तहा' तिर्यग्गतावपि चोर प्राप्नोति तीव्राणि दुःखानि । प्रायेण नीचयोनि
सुचिरमपि ॥८६६॥

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ।
ण य से धणमुवचीयदि सयं च ओलट्टदि धणादो ॥८६७॥

'माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्था नश्यन्ति हृता वा अहृता वा । न चोपचीयते
तस्य उपचितेऽपि धने स्वयं तस्मादपयाति धनात् ॥८६७॥

परदव्वहरणबुद्धी सिरिभूदी णयरमज्झयारम्मि ।
होदूण हदो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८६८॥

'परदव्वहरणबुद्धी' परद्रव्यहरणबुद्धि । 'सिरिभूदी' श्रीभूतिर्नगरमध्ये ताडितः प्रहतश्च
संसारं प्राप्त ॥८६८॥

गा०—अत्यन्त संयमका पालने वाला साधु भी बिना दिया तृणमात्र भी ग्रहण करके अ
चोरकी तरह तिनकेके समान लघु हो जाता है ॥८६४॥

गा०—चोर मरकर भी नरकमें वास करता है और वहाँ चिरकालतक तीव्र व
है ॥८६५॥

गा०—तथा चोर तिर्यञ्चगतिमें भी तीव्र दुःख पाता है। वह प्रायः चिरका
नीचयोनियोंमें ही जन्ममरण करता है ॥८६६॥

गा०—मनुष्यभवमें भी उसका धन किसीके द्वारा हर जाकर अथवा बिना
जाता है। वह धनका संचय नहीं कर पाता। धनका संचय हुआ भी तो वह स्
वंचित हो जाता है। ८६७।

'अदीदसुमरण' अतीतरतानुभूतक्रीडास्मरणं । 'अणागदभिलासो' भविष्यति काले एवं ताभिः क्रीडां करिष्यामि इति रत्यभिलाषः । 'इट्ठविसयसेवा वि य' इष्टविषयसेवापि च । 'अब्बंभं दसविधं एदं' दशप्रकारमब्रह्म । अशोभनरागस्य परद्रव्योपयोगात्तदवद्यो भवत् । तेन मधुरपयोगेन, परद्रव्यालम्बनं श्रद्धानमिति वीतरागतादिषु चरणं ब्रह्मचर्यं ततोऽन्यदिदं दशविधमब्रह्मेति निरूपितं ॥८७४॥

एवं विसग्गिभूद अब्बंभं दसविहंपि णादव्वं ।
आवादे मधुरमिव होदि विवागे य कडुयदरं ॥८७५॥

'एवं विसग्गिभूदं' विषाग्निना सदृशं एतदब्रह्म दशप्रकारमिति ज्ञातव्यं । आपाते मधुरमिव भवति विपाके तु कटुकतमं ॥८७५॥

स्त्रीविषयो रागोऽब्रह्म स च तत्प्रतिपक्षभूतवैराग्येण नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनायाचष्टे—

कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचित्तवुड्ढसेवा य ।
संसग्गदोसा वि य करंति इत्थीसु वेरग्गं ॥८७६॥

'कामकदा इत्थिकदा' कामकृता स्त्रीकृताश्च दोषा । अशुचित्वं, वृद्धसेवा, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्यं ॥८७६॥

कामकृतदोषनिरूपणा प्रबन्धेन उत्तरेण क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होंति ।
सव्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥८७७॥

'जावदिया किर दोसा' इत्यादिना यावन्तः किल जन्मद्वये, 'दुहावहा' दुःखावहा भवन्ति दोषा हिंसादयस्तान्सर्वानपि आवहति मैथुनसंज्ञा मनुष्यस्य ॥८७७॥

सातवाँ भेद है। अतीत कालमें की गई रति क्रीडाका स्मरण करना आठवाँ भेद है। भविष्य कालमें मैं उनके साथ इस प्रकार क्रीड़ा करूँगा इस प्रकार अनागत रतिमें अभिलाषा नौवाँ भेद है। इष्ट विषयोंका सेवन दसवाँ भेद है। इस प्रकार अब्रह्मके ये दस भेद हैं ॥८७४॥

गा०—इस प्रकार विष और आगके समान अब्रह्मके दस भेद जानना। यह प्रारम्भमें मधुर प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें अत्यन्त कटु होता है ॥८७५॥

स्त्री विषयक राग अब्रह्म है। वह अपने विरोधी वैराग्यसे ही नष्ट किया जा सकता है। ऐसा मानकर वैराग्यके उपायोंका कथन करते हैं—

गा०—काम विकारसे उत्पन्न हुए दोष, स्त्रियोंके द्वारा किये गये दोष, शरीरकी अशुचिता, वृद्ध जनोंकी सेवा, स्त्रीके संसर्गसे उत्पन्न हुए दोष, इनके चिन्तनसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है ॥८७६॥

आगे कामजन्य दोष कहते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमें दुःखदायी जितने भी दोष हैं मनुष्यकी मैथुन संज्ञामें वे

---

१. तं श्रद्धा-आ० मु०।

सोयदि विलवदि परितप्पदी य कामादुरो विगीयदि य ।
रत्तिंदिया य णिद्दं ण लहदि पज्झादि विमणो य ॥८७८॥

'सोयदि विलवदि' शोचते, विलपति । परितप्यते । 'कामातुरो विगीयदि य' कामातुरो विगीयते च । नक्तं दिनं निद्रां न लभते । पज्झादि विमनस्को भवति ॥८७८॥

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रण्णे वा ।
कामपिसायग्गहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ॥८७९॥

'सयणे जणे य' स्वजने परजने, शयने, आसने, ग्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनादिक्रियासु च न रमते काम-पिशाचगृहीत ॥८७९॥

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संवच्छरो व पुरिसस्स ।
सीदंति य अंगाइं होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥८८०॥

'कामादुरस्स गच्छदि खणो वि' कामव्याधितस्य गच्छति क्षणोऽपि संवत्सर इव । अङ्गानि च सीदन्ति । भवत्युत्कण्ठितश्च पुरुष ॥८८०॥

पाणिदलधरिदगंडो बहुसो चिंतेदि किं पि दीणमुहो ।
सीदे वि णिव्वाइज्जइ वेवदि य अकारणे अंगं ॥८८१॥

'पाणिदलधरिदगंडो' पाणितलधृतगण्ड, 'बहुसो चिंतेदि' बहुशश्चिन्तां करोति । किमपि दीनमुख । शीतेऽपि स्विद्यते । वेपते च अङ्गं कारणमन्यदन्तरेण ॥८८१॥

कामुम्मत्तो संतो अंतो डज्झदि य कामचिंताए ।
पीदो व कलकलो सो रदग्गिजाले जलंतम्मि ॥८८२॥

'कामुम्मत्तो' कामोन्मत्त । कामचिन्तया चिरं दह्यते । पीतताम्रद्रव इव । अरत्यग्निज्वालासु ज्वलन्तीषु ॥८८२॥

गत दोष वर्तमान हैं ॥८७७॥

गा०—कामसे पीडित मनुष्य शोक करता है, विलाप करता है, परिताप करता है, विषाद करता है, रात दिन नहीं सोता । इष्ट स्त्री आदिका स्मरण करता है और अन्यमनस्क होकर धर्म कर्म भी भूल जाता है ॥८७८॥

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यका मन स्वजनमें, अन्य मनुष्योंमें, शयनमें, आसनमें, ग्राममें, घरमें, वनमें और भोजन आदिमें नहीं रमता ॥८७९॥

गा०—कामसे पीडित मनुष्यका एक क्षण भी एक वर्षकी तरह बीतता है । उसके सब अंग वेदनाकारक होते हैं । और वह उत्कण्ठित होता है उसका मन उसीमें लगा रहता है खान-पानमें नहीं लगता । वह उसे रुचता नहीं ॥८८०॥

गा०—वह अपनी हथेलीपर गाल रखकर दीनमुखसे बहुत-सी व्यर्थ चिन्ता किया करता है । शीतकालमें भी पसीनेसे भीग जाता है । बिना कारण ही उसके अंग कांपते हैं ॥८८१॥

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे हु अलहंतो ।
घत्तदि मरिदुं बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥८८३॥

'कामातुरो' कामातुरो नरः । स्वाभिलषिते जने अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मर्तुं । पर्वतोदधिनिपातेन तरुशाखालम्बनेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥८८३॥

संकप्पंडयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण ।
विसयबिलवासिणा रदिमुहेण चितादिरोसेण ॥८८४॥

'संकप्पाण्डयजातेन' सङ्कल्पाण्डप्रसूतेन । रागद्वेषचलयमलजिह्वेन । विषयबिलवासिना रतिमुखेन चिन्तारोषेण ॥८८४॥

कामभुजगेण दट्ठा लज्जाणिम्मोगदप्पदाढेण ।
णासंति णरा अवसा अणेयदुक्खावहविसेण ॥८८५॥

'कामभुजंगेन' कामसर्पेण । लज्जानिर्मोचनदर्पदंष्ट्रेण दष्टा अनेकदुःखावहविषेणावशा नरा नश्यन्ति ॥८८५॥

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ।
दस होंति पुणो वेगा कामभुअंगावरुद्धस्स ॥८८६॥

'आसीविसेण' आशीविषेण सर्पप्राणिना दष्टस्यापि सप्तैव वेगा भवन्ति । कामभुजङ्गेन दष्टस्य दशवेगा भवन्ति ॥८८६॥

तान्दशापि वेगान्क्रमेण दर्शयति—

गा०—कामसे उन्मत्त पुरुष अन्तरंगमें कामकी चिन्तासे जला करता है। जैसे आगसे तपा तांबेका द्रव पीकर मनुष्य अन्तरंगमें जलता है वैसे ही वह इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर अन्तरंगमें जलती हुई अरतिरूप आगकी ज्वालासे जलता है ॥८८२॥

गा०—कामसे पीड़ित मनुष्य अपनी इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर प्रायः पर्वतसे गिरकर या समुद्रमें डूबकर या वृक्षकी शाखासे लटककर अथवा आगमें कूदकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥८८३॥

गा०—कामरूप सर्प मानसिक संकल्परूप अण्डेसे उत्पन्न होता है। उसके रागद्वेषरूप दो जिह्वाएँ होती हैं जो सदा चला करती हैं। विषयरूपी बिलमें उसका निवास है। रति उसका मुख है। चिन्तारूप अतिरोष है। लज्जा उसकी काचली है उसे वह छोड़ देता है। मद उसकी दाढ़ है। अनेक प्रकारके दुःख उसका जहर है। ऐसे कामरूप सर्पसे डँसा हुआ मनुष्य नाशको प्राप्त होता है ॥८८४-८८५॥

गा०—सब सर्पोंमें प्रमुख आशीविष सर्प होता है। उसके द्वारा डसे मनुष्यके तो सात ही वेग होते हैं। किन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा डसे मनुष्यके दस वेग होते हैं ॥८८६॥

उन दस वेगोंको क्रमसे कहते हैं—

विज्झायदि सुरग्गी जलादिएहिं ण तहा हु कामग्गी।
सुरग्गी डहइ तयं अब्भंतरबाहिरं इदरो ॥८९२॥

'विज्झायदि सुरग्गी' विध्याति सूर्यजनितस्तापो जलादिभिर्न तथा जलादिभिः कामाग्निः प्रशाम्यति। सूर्यग्नियोऽग्नत्वं त्वचं दहति। कामाग्निरन्तर्बहिश्च दहति ॥८९२॥

जादिकुलं संवासं धम्मं णियबंधवम्मि अगणित्ता।
कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥८९३॥

'जादिकुलं' मातृपितृवंश। 'संवासं' सहवसत.। धर्मं बान्धवानपि अगणय्य पुरुषोऽकार्यं करोति मैथुनसंज्ञामूढः ॥८९३॥

कामपिसायग्गहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि।
होइ पिसायग्गहिदो व सदा पुरिसो अणप्पवसो ॥८९४॥

'कामपिसायग्गहिदो' कामपिशाचगृहीत हितमहितं वा न वेत्ति, पिशाचेन गृहीत पुरुष इव सदा अनात्मवशो भवति ॥८९४॥

णीचो व णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि।
कामुम्मत्तो लज्जालुओ वि तह होदि णिल्लज्जो ॥८९५॥

'णीचो व णरो' नीच इव नर. कृतमपि बहुमुपकार न गणयति। कुलपुत्रोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जावानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ॥८९५॥

कामी सुसंजदाण वि रूसदि चोरो व जग्गमाणाणं।
पिच्छदि कामग्घत्थो हिदं भणंते वि सत्तू व ॥८९६॥

'कामी सुसंजदाण वि' कामी सुसंयतानामपि रुष्यति। जाग्रतां चोर इव कामग्रस्त, प्रेक्षते हित प्रतिपादयत शत्रुरिव ॥८९६॥

गा०—सूर्यसे उत्पन्न हुआ ताप तो जल आदिसे शान्त हो जाता है किन्तु कामाग्नि जलादिसे शान्त नहीं होती। सूर्यकी गर्मी तो चर्मको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि शरीर और आत्मा दोनोंको जलाती है ॥८९२॥

गा०—मैथुन संज्ञासे मूढ हुआ मनुष्य मातृवंश, पितृवंश, साथमें रहनेवाले मित्रादि, धर्म, और बन्धु बान्धवोंकी भी परवाह न करके अकार्य करता है ॥८९३॥

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकड़ा गया मनुष्य अपने हित अहितको नहीं जानता। पिशाचके द्वारा पकडे गये मनुष्यकी तरह अपने वशमें नहीं रहता ॥८९४॥

गा०—जैसे नीच मनुष्य किये गये उपकारको भुला देता है वैसे ही कुलीन वंशका भी व्यक्ति काममें उन्मत्त होकर पूर्वमें लज्जावान होते हुए निर्लज्ज हो जाता है ॥८९५॥

गा०—जैसे चोर जागते हुए व्यक्तियोंपर रोष करता है वैसे ही कामी संयमीजनोंपर रोष

१. सहवसन—आ० मु०। संवासं सहवसतो जनान् मित्रादीन्—मूलारा०।

'अयशमनार्थं' अयशः अमर्थं । दुःखं येहलोके परलोके दुष्टां गतिं, संसारमप्यनन्तं भाविनं न वेत्ति विषयामिषे गृद्ध ॥९०१॥

णिच्चं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विगयलुद्धमदी ।
बहुगं पि य अवमाणं विसयंधो सहइ माणीवि ॥९०२॥

'णिच्चं वि विसयहेदु' ज्ञानकुलादिभिर्नीच मनुष्यमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुब्धमतिः । परिभवं महान्तमपि सहते अभिमानी अपि विषयान्धः ॥९०२॥

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुत्तदुगुंछियं विगदमाणो ।
[1]वारत्तओ वि कम्मं अकासि जह लंघियाहेदुं ॥९०३॥

'णीचं वि कुणदि' नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टभोजनादिकं कुलीननिन्दितं विनष्टाभिमानः । वारत्तिगो नाम यतिर्नर्तकीनिमित्तं कर्म कृतवान् तथा कुलीन स्त्रीनिमित्तं ॥९०३॥

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ।
विसयामिसम्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तूणं ॥९०४॥

'सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ' शूरस्तीक्ष्णो मुख्योऽपि धनिनो जनस्य वशवर्ती भवति । विषयामिषाये लुब्धः कृत्वा अभिमानं रोषं मुक्त्वा ॥९०४॥

माणी वि असरिसस्स वि चडुयम्मं कुणदि णिच्चमविलज्जो ।
मादापिदरे दासं वायाए परस्स कामेंतो ॥९०५॥

'माणी वि असरिसस्स वि' मानी असदृशस्यापि चाटुं करोति । वाचा आत्मीयौ मातरं पितरं वा दास्यमानयत्यपि । तवाहं दासो गृहे भवामीति वदत्यरं कामयमानः ॥९०५॥

कि विषयासक्तिका फल संसारमें अपयश, इस लोकमें कष्ट, परलोकमें दुर्गति है तथा संसारका अन्त होना दुष्कर है ॥९०१॥

गा०—विषयोंका लोभी मनुष्य कुलीन और बुद्धिमान् होते हुए भी विषय सेवनके लिए ज्ञान और कुल आदिसे अत्यन्तहीन की भी सेवा करता है। वह विषयान्ध धनी पुरुषोंके द्वारा किये गये महान् तिरस्कारको भी सहन करता है ॥९०२॥

गा०—वह अपना सम्मान खोकर कुलीन पुरुषोंके द्वारा निन्दित उच्छिष्ट भोजन आदि नीचकर्म करता है। जैसे वारत्तक नामक कुलीन यतिने नर्तकीके लिए अत्यन्त निन्दित काम किया ॥९०३॥

गा०—विषयरूपी मांसका लोभी मनुष्य अभिमान और रोष त्यागकर शूरवीर, असहनशील और प्रमुख होते हुए भी धनी मनुष्यके वशमें हो जाता है ॥९०४॥

गा०—अभिमानी भी निर्लज्ज होकर अपनेसे नीच पुरुषका नित्य चाटुकर्म—पैर दबाना आदि करता है। अपने माता पिताको उसका दास दासी कहता है और कहता है कि मैं तुम्हारे

---

१. वारत्तिओ आ० मु०। वारत्तओ वारत्तको नाम यति—मूलारा०।

सीदं उण्हं तण्हं छुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ।
सुकुमारो वि य कामी सहइ वहइ भारमवि गरुयं ॥९१०॥

'सीदं उण्हं तण्हं' शीतं, उष्णं, तृष्णां, क्षुधां, दुःशयनं, दुराहारं कुत्सं, अध्वगमनश्रमं च सहते । मी सुकुमारोऽपि गुरुमपि भारं वहति ॥९१०॥

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लुवदि तह मलेइ धणे ।
तुण्णेइ वुणइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥९११॥

'गायदि णच्चदि' गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, लुनाति, मर्दयति, सीव्यति, पट्टवस्त्रादिवयनं करोति । याचते कुलप्रसूतोऽपि सन्विषयसुखेन आत्मानं भार्यां च पोषयितुं ॥९११॥

सेवदि णियादि रक्खदि गोमहिसिमजावियं हय हत्थि ।
ववहरदि कुणदि सिप्पं सिणेहपासेण दढबद्धो ॥९१२॥

'सेवदि णियादि' सेवते नरपत्यादीन् तृणादिकमेव । निरस्यति, रक्षति गा, महिषी अजा, आविक, हयं, हस्तिनो वा । वाणिज्यं करोति । समस्तनैपुण्यं अतीव हस्तमौदिकं करोति भार्यामनोगतस्नेहभावेन दृढबद्धः ॥९१२॥

वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ।
कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ॥९१३॥

'वेढेइ विसयहेदुं' वेष्टयति विषयहेतुनिमित्तं । आत्मानं कलत्रपाशैर्मोचयितुमशक्यैः कोशेन कोशकारकीट इव दुर्मतिः ॥९१३॥

गा०—सुकुमार भी कामी पुरुष सर्दी, गर्मी, प्यास, भूख, खोटी शय्या, खराब भोजन, मार्गमें चलनेका श्रम सहता है और भारी बोझा ढोता है ॥९१०॥

गा०—उच्चकुलमें जन्मा भी मनुष्य विषयासक्त होकर गाता है, नाचता है, दौडता है, खेत जोतता है, अन्न बोता है, खेती काटता है, अनाज निकालता है, कपडे सीता है, बुनता है ? यह सब काम विषय परवश होकर अपने और अपनी पत्नीके भरणपोषणके लिए करता है ॥९११॥

गा०—स्त्रीके स्नेहजालमें दृढतापूर्वक बंधा मनुष्य राजा आदिकी सेवा करता है, धानके खेतमें लगी घासको उखाडता है। गाय, भैंस, बकरी, भेडे, घोडा, हाथी आदि पालता है। व्यापार करता है। शिल्पकर्म-चित्रकला आदि करता है ॥९१२॥

गा०—जैसे रेशमका कीडा अपने ही मुखमेंसे तार निकालकर उससे अपनेको बाँधता है। वैसे ही दुर्बुद्धि मनुष्य विषयोंके लिए स्त्रीरूप पाशके द्वारा, जिसका छूटना अशक्य है, नित्य अपनेको बाँधता है ॥९१३॥

---

१. -मविगमय अ० आ० ।

रागो दोसो मोहो कसायपेसुण्ण संकिलेसो य ।
ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक्क कलहो य ॥९१४॥

'रागो दोसो' रागो द्वेष, अज्ञानं, कषाया, परदोषसंसूचनं, संक्लेशः, ईर्ष्या, हिंसा, मृषा, परगुणासहनं, स्तैन्यं कलहश्च ॥९१४॥

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपूरोगसोगधणणासो ।
विसयाउलम्मि सुलहा सव्वे दुक्खावहा दोसा ॥९१५॥

'जंपणपरिभव' जल्पनं परिभवः वचना परोक्षेऽपवादः । शत्रु, रोगः, शोकः, धननाश इत्यादयः । 'विसयाउलम्मि सुलहा' विषयाकुले सुलभाः सर्वेऽपि दुःखावहा दोषाः ॥९१५॥

न केवलमात्मन एव उपद्रवः अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं ।
तिलणालीए तत्ता सलायवेसो व जोणीए ॥९१६॥

'अवि य वहो जीवाणं' अपि च बहूनां जीवानां वधो भवति । मैथुनसेवया । 'जोणीए' योन्यां तिलैः पूर्णायां नालिकायां तप्तायःशलाकाप्रवेश इव ॥९१६॥

कामुम्मत्तो महिलं गम्मागम्मं पुणो अविण्णाय ।
सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ॥९१७॥

'कामुम्मत्तो' कामोन्मत्तो । स्त्रियं शरीरमात्मनश्च[1] गम्यं भोग्यं उतस्विदगम्यमभोग्यमिति अविज्ञाय इदमित्यमशुचि इति । सुलभा दुर्लभा आत्मन्यभिलाषवती च प्रार्थयते ॥९१७॥

गा०—राग, द्वेष, मोह, कषाय, पैशुन्य—दूसरेके दोष कहना, संक्लेश, ईर्ष्या, हिंसा, झूठ, असूया—दूसरेके गुणोंको न सहना, चोरी, कलह, वृथा बकवाद, तिरस्कार, ठगना, पीठ पीछे बुराई करना, शत्रु, रोग, शोक, धननाश इत्यादि सब दुःखदायी दोष विषयासक्त व्यक्तिमें सुलभ होते हैं ॥९१४-९१५॥

आगे कहते हैं कि कामी पुरुष केवल अपना ही घात नहीं करता, दूसरोंका भी घात करता है—

गा०—जैसे तिलोंसे भरी नलिकामें तपाये हुए लोहेकी सलाईके प्रवेशसे तिलोंका घात होता है वैसे ही मैथुन सेवनसे योनिमें स्थित बहुतसे जीवोंका घात होता है ॥९१६॥

गा०—काममें उन्मत्त पुरुष यह स्त्री भोगने योग्य है या अयोग्य है, सुलभ है या दुर्लभ है, मुझे चाहती है या नहीं चाहती, इत्यादि जाने बिना उसकी याचना करता है ॥९१७॥

---

१. इव गम्यं भोग्यं उतस्विदगम्यमभोग्य मिति अवि—मु० । गम्मागम्मं स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उतस्विदगम्यमभोग्यमिति टीकाकारः । अन्ये तु गम्मागम्ममित्यपि महिलाविशेषणमाहुः । तथा च तद्ग्रन्थः 'कामोन्मत्तो गम्यामगम्यां वा च दुर्लभां सुलभाम् । अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामयानिच्छाम्' । —मूलारा० ।

दट्ठूण परकलत्तं किंहिदा पत्थेइ णिग्घिणो जीवो ।
ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥९१८

'दट्ठूण परकलत्तं' परेषां कलत्र दृष्ट्वा । कथं तावत् प्रार्थयते जीवो निरस्तलज्जो ममेय भवतीति । एतस्यां प्रार्थनामात्राधिगतायां सुखं प्राप्नोति । पापं नियोगेनार्जयति ॥९१८॥

आहड्डिदूण चिरमवि परस्स महिलं लभित्तु दुक्खेण ।
उप्पित्थमवीसत्थं अणिव्वुदं तारिसं चेव ॥९१९॥

'आहड्डिदूण चिरमवि' चिरकालमभिलष्यापि । 'परस्स महिलं' परस्य महिला परस्य स्त्रियं । 'दुक्खेण लभित्तु' क्लेशेन लब्ध्वा । 'उप्पित्थं' व्याकुलवदविश्वस्तमनिर्वृत चरण इति क्रियाविशेषणत्वेन नेयं । 'तारिसो चेव' यथा तदेवाप्राप्ते पूर्वमतृप्तहृदय. पश्चादपि तथैवातृप्तहृदयस्त्वात्तादृग इत्युच्यते ॥९१९॥

कहमवि तमंधयारे संपत्तो जत्थ तत्थ वा देसे ।
किं पावदि रइसुक्खं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥९२०॥

'कथमपि तमंधकारे' केनचित्प्रकारेण परवञ्चन कृत्वा[1] । अंधकारे[2] संप्राप्त । ता यत्र तत्र वा देशे, शून्यगृहे शून्यायतने, अटव्यां च कि प्राप्नोति ? रतिसौख्य । प्रकाशे स्वाभिलषितानवयवास्तस्या पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुखं भवति । नान्यथेति भाव । किं प्राप्नोति रतिसुख भीत सन् राजपुरुषेभ्यस्तस्य वा सबन्धिभ्य । पश्यन्ति मा परे, बध्नन्ति मा, परपत्नी[3] निवाग्नं भाषण अपि तया त्वरित किं पुना रतम् ॥९२०॥

परमहिलं सेवंतो वेरं वधबंधकलहधणनासं ।
पावदि रायकुलादो तिस्से णीयल्लयादो वा ॥९२१॥

गा०—पर स्त्रीको देखकर कामान्ध पुरुष लज्जा त्याग कर प्रार्थना करता है कि यह मेरी होवे : उसमें उसे कुछ भी सुख नहीं उल्टे, पापका ही उपार्जन करता है ॥९१८॥

गा०—चिरकाल तक अभिलाषा करनेपर कदाचित् बड़े कष्टसे परस्त्रीका लाभ भी हो जाये तो उसके मिलनेसे पूर्व वह जैसा व्याकुल, अविश्वस्त और अतृप्त रहता है मिलनेपर भी वैसा ही रहता है ॥९१९॥

गा०-टी०—किसी प्रकार दूसरोको धोखा देकर अन्धकारमें किसी शून्य घरमें या जगलमें उसे पाकर भी क्या रति सुख पाता है वह कामी । प्रकाशमें कोमल शय्यापर मनकी व्याकुलताके [illegible] ता । किन्तु राज-
[illegible] कोई बाँधे नही,
[illegible] रहती है, रमण करनेकी तो बात ही क्या ? तब क्या सुख मिल सकता है ? ॥९२०॥

---

1 कृत्वा-आ० । 2 अन्धकारे-अ० । अन्धकारं आ०-अन्धकार ज० । 3 लीति वा सभा०-आ० मु० ।

'परमहिलं सेवंतो' परस्त्रियं सेवमानः, वैरं, वधं, बन्धं, कलहं, धननाशं च प्राप्नोति [1]राजमूलात् तस्याः स्वजनाद्वा ॥९२१॥

जदि दा जणेइ मेहुणसेवा [2]सदारम्मि ।
अदितिव्वं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥९२२॥

'जदि ता जणेइ' यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा । किं ? पापं स्वभार्यायां । अतितीव्रं कथं पापं न भवेत् 'परदारसेविस्स' परस्त्रीसेविनः अदत्तादानमब्रह्मेति द्वौ यतो दोषौ ॥९२२॥

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि कदे ।
जह दुक्खमप्पणो होइ तहा अण्णस्स वि णरस्स ॥९२३॥

'मादा धूदा' मातरि दुहितरि भगिन्यां परेण विप्रिये कृते कर्मणि यथा दुःखमात्मनो भवति । तथान्यस्यापि नरस्य दुःखं भवति । तन्मात्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥९२३॥

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खबीयमज्जेदि ।
णीयं गोदं इत्थीणउंसवेदं च अदितिव्वं ॥९२४॥

'एवं परजणदुक्खे' एवमन्यजनदुःखे निरपेक्षः परदाररतिप्रियो दुःखबीजं संचिनोति । किं ? असद्वेद्यं कर्म, नीचैर्गोत्रं, स्त्रीत्वं, नपुंसकत्वं च ॥९२४॥

अमणिच्छंती महिलं अवसं परिभुंजदे जहिच्छाए ।
तह य किलिस्सइ जं सो तं से परदारगमणफलं ॥९२५॥

'अमणिच्छंती महिलं' मनस्यनिच्छन्ती पुमान् स्त्रीत्वेन अवशा यथेच्छया परिभुज्यमाना यत्क्लिश्यति तदस्य जन्मान्तरपरदारगमनफलं ॥९२५॥

गा०—परस्त्रीका सेवन करने वालेके सब वैरी होते हैं। वह राजाके पुरुषोंसे अथवा उस स्त्रीके सम्बन्धियोंसे वध, बन्धन, कलह और धन नाशका कष्ट पाता है ॥९२१॥

गा०—यदि अपनी पत्नीमें भी मैथुन सेवनसे पाप कर्मका बन्ध होता है तो परस्त्री सेवीको अति तीव्र पापका बन्ध क्यों नहीं होगा, क्योंकि उसमें चोरी और अब्रह्म सेवन दो दोष हैं ॥९२२॥

गा०—अपनी माता, पुत्री और बहिनके प्रति यदि कोई अप्रिय व्यवहार करे तो जैसे हमें दुःख होता है वैसे ही दूसरोंकी माता आदिके विषयमें असद् व्यवहार करने पर दूसरों को भी दुःख होता है ॥९२३॥

गा०—इस प्रकार दूसरोंके दुःखका ध्यान न रखनेवाला परस्त्रीगामी पुरुष दुःखके बीज नीचगोत्र स्त्रीवेद और नपुंसक वेदका अति तीव्र बन्ध करता है ॥९२४॥

गा०—इस जन्ममें जो स्त्री परवश होकर जिस पुरुषके द्वारा, जिसे वह नहीं चाहती, बलपूर्वक भोगी जाती और कष्ट पाती है वह उसके पूर्वजन्ममें किये गये पर स्त्री गमनका फल है ॥९२५॥

---

१ राजपुरुषात्—आ० । २ सा पर्व सदम्मि दारम्मि—आ० मु० ।

महिलावेमविलंबी जं णीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ।
तह वि ण पूरइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥९२६॥

'महिलावेसविलंबी' स्त्रीवेषविलम्बनापर पुरुषो यन्नीचं कर्म करोति । तथापि न पूर्यते इच्छा तत्तस्य चेष्टितं परदारगमनफलम् ॥९२६॥

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु भवगयसहस्सेसु ।
अयमायामकरीओ होंति विसीला य णिच्चं से ॥९२७॥

'भज्जा भगिणी मादा' भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहस्रेषु अयश आयाम कुर्वन्त्यो भवन्ति नित्यं विशीलाश्च तस्य ॥९२७॥

होइ सयं पि विसीलो पुरिसो अदिदुब्भगो परभवेसु ।
पावइ वधबंधादि कलहं णिच्चं अदोसो वि ॥९२८॥

'होदि सयं पि' भवति स्वयमपि विशीलः, पुरुषो[2] दुर्भगश्च प्राप्नोति नित्यं च वधबन्धं आत्मा शुकलहं च अदोषोऽपि ॥९२८॥

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ।
कालगदो वि य पच्छा कडारपिंगो गदो णिरयं ॥९२९॥

'इहलोए वि महल्लं कडारपिंगो' इहलोकेऽपि महान्तं दोषं प्राप्तः कामवशङ्गतः । कालं कृत्वा पश्चान्नरके प्रविष्टः कडारपिङ्गः । आख्यानकमाख्यानकम् ॥९२९॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति पुरिसस्स बंभचारिस्स ।
तव्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥९३०॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'अन्ये' कहकर इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार लिखा है—जो पुरुष उसे न चाहनेवाली नारीको बलपूर्वक यथेच्छ भोगता है और भोगते हुए भी सुख नहीं पाता, यह उसके परस्त्री भोगका फल है जो कष्टरूप है ॥९२५॥

गा०—स्त्रीका वेश धारण करनेवाला जो पुरुष (नपुसक) नीच कर्म करता है, और यहाँ वहाँ काम क्रीडा करके भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसका यह नपुसकपना परस्त्रीगमनका फल है ॥९२६॥

गा०—परस्त्रीगामीकी भार्या, बहन, माता, पुत्री, लाखो जन्मोमें अपयश और दुःख देनेवाली सदा व्यभिचारिणी होती हैं ॥९२७॥

गा०—परस्त्रीगामी स्वय भी परभवोमे (आगामी जन्मोंमे) दुराचारी और अभागा होता है और बिना अपराधके भी कलहपूर्वक नित्य वध, बन्ध आदिका कष्ट उठाता है ॥९२८॥

गा०—कामके वशीभूत होकर कडारपिंग इसी जन्ममे महान् दोषका भागी हुआ। पीछे मरकर नरकमे गया ॥९२९॥

---

१. भवसहस्सेसु–आ० । २ परेषु–अ० आ० ।

'एदे सव्वे' एते सर्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिणः पुंस । प्रत्युत गुणा भवन्ति बहवो विरागस्य ॥९३०॥

कामग्गिणा धगधगंतेण य डज्झंतयं जगं सव्वं ।
पिच्छइ पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥९३१॥

'कामग्गिणा' कामाग्निना । धगधगायमानेन दह्यमानेन । दह्यमानं जगत्सर्वं प्रेक्षते प्रेक्षकभूत स्वयं विरतीभूत । क. ? वीतराग ॥९३१॥

इत्थिकथा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तर प्रबन्ध । कामान्धा—

महिला कुलं सवासं पदिं सुदं मादरं च पिदरं च ।
विसयंधा अगणंती दुक्खसमुद्दम्मि पाडेइ ॥९३२॥

महिला दुःखसमुद्रे पातयति विषयान्धा अगणयन्ती । किं ? कुलं सहवासिनं पतिं, सुतं, मातरं च पितरं च ॥९३२॥

माणुण्णयस्स पुरिसद्दुमस्स णीचो वि आरुहदि सीसं ।
महिलाणिस्सेणीए णिस्सेणीए व्व दीहदुमं ॥९३३॥

'माणुण्णयस्स' मानोन्नतस्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलानिश्रेणिकया निश्रेण्या दीर्घमिव द्रुमं ॥९३३॥

पव्वदमित्ता माणा पुंसाणं होंदि कुलबलधणेहिं ।
वलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य ॥९३४॥

'पव्वदमित्ता माणा' भवन्ति मानानि पुरुषाणां कुलबलधनैः । बलिभिः अक्षोभ्याणि गिरिवल्लोके प्रकाशभूतानि च ॥९३४॥

विशेषार्थ—कडारपिंगकी कथा सोमदेवके उपासकाध्ययनमें आई है।

गा०—ब्रह्मचारी पुरुषके ये सब दोष नहीं होते। प्रत्युत विरागीके इन दोषोंसे विपरीत बहुतसे गुण होते हैं ॥९३०॥

गा०—विरागी मुक्तात्माकी तरह प्रज्वलित कामाग्निसे जलते हुए सब जगत्को एक प्रेक्षकके रूपमें देखता है। अर्थात् वह केवल द्रष्टा ही रहता है उसके कष्टसे स्वयं पीडित नहीं होता ॥९३१॥

आगे 'इत्थी कथा'—स्त्री कथाका व्याख्यान करते हैं—

गा०—विषयमें अन्धी हुई स्त्री किसीकी परवाह न करके अपने कुलको, साथमें रहने वाले पति, पुत्र, माता और पिताको दुःखके समुद्रमें गिरा देती है ॥९३२॥

गा०—जैसे नसेनीके द्वारा छोटा आदमी भी ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाता है वैसे ही महिला रूपी नसेनीके द्वारा नीच पुरुष भी मानमें उन्नत पुरुष रूपी वृक्षके सिर पर चढ जाता है अर्थात् स्त्रीके कारण नीच पुरुषोंके द्वारा गर्वोन्नत मनुष्यका भी सिर नीचा हो जाता है ॥९३३॥

गा०—कुल बल और धनसे ...

ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जंति दुट्ठमहिलाहिं ।
जह अंकुसेण णिस्साइज्ज हत्थी अदिबलो वि ॥९३५॥

'ते तारिसगा माणा' तानि तथाभूतानि मानानि अवमथ्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः । यथा अङ्कुशेन निषद्यां कार्यते हस्ती अतिबलोऽपि ॥९३५॥

आसीय महाजुद्धाइं इत्थिहेदुं जणम्मि बहुगाणि ।
भयजणणाणि जणाणं भारहरामायणादीणि ॥९३६॥

'आसीय महाजुद्धाणि' आसन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिमित्तानि बहूनि भयजननानि जनाना भारत-रामायणादीनि ॥९३६॥

महिलासु णत्थि वीसंभपणयपरिचयकदण्णदा णेहो ।
लहुमेव परगयमणाओ सकुलंपि जहंति ॥९३७॥

'महिलासु' स्त्रीषु न सन्ति विस्रंभः प्रणयः, परिचयः, कृतज्ञता, स्नेहश्च । सहसा परगतचित्तास्ता स्वकुलं जहति ॥९३७॥

पुरिसस्स दु वीसंभं करेदि महिला बहुप्पयारेहिं ।
महिला वीसंभेदुं बहुप्पयारेहिं वि ण सक्का ॥९३८॥

'पुरिसस्स दु वीसंभं' पुरुषस्य विस्रम्भं जनयन्ति स्त्रियो बहुभिः प्रकारैर्युवतीविस्रम्भं नेतुं न शक्ताः पुमांसः ॥९३८॥

अदिलहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदसहस्समगणंती ।
पइं अप्पाणं च कुलं धणं च णासंति महिलाओ ॥९३९॥

'अदिलहुयगे वि दोसे' स्वल्पेऽपि दोषे कृते सुकृतसहस्रमगणय्य पतिं, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयन्ति युवतयः ॥९३९॥

उसे बलवान भी नहीं हिला सकते ॥९३४॥

गा०—किन्तु इस प्रकारके अहंकार भी दुष्ट स्त्रियोंके द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। जैसे अंकुशसे अति बलवान हाथी भी बैठा दिया जाता है ॥९३५॥

गा०—स्त्रीके कारण इस जगत्में भारत रामायण आदिमें वर्णित अनेक महायुद्ध हुए जो लोगोंके लिये भयकारक थे ॥९३६॥

गा०—स्त्रियोंमें विश्वास, स्नेह, परिचय, कृतज्ञता नहीं है। वे पर पुरुषपर आसक्त होने-पर शीघ्र ही अपने कुलको अथवा कुलीन भी पतिको छोड़ देती हैं ॥९३७॥

गा०—स्त्री अनेक प्रकारोंसे पुरुषमें विश्वास उत्पन्न करती हैं किन्तु पुरुष अनेक उपायोंसे भी स्त्रीमें विश्वास उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता ॥९३८॥

गा०—थोड़ा-सा भी अपराध होनेपर स्त्री सैकड़ों उपकारोंको भुलाकर अपना, पतिका,

---

१. णिसियाविज्जदि-मूलारा० । २ णाओ-आ० मु० ।

आसीविसो व्व कुविदा ताओ दूरेण 'णिहुदपावाओ ।
रुट्ठो चंडो राया व ताओ कुव्वंति कुलघादं ॥९४०॥

'आसीविसो व्व' आसीविष इव कुपितास्ता दूरेण ढौकितुं न शक्या. । रुष्टश्चण्डो राजेव ता. कुर्वन्ति कुलघात ॥९४०॥

अक्कदम्मि वि अवराधे ताओ वीसत्थमिच्छमाणीओ ।
कुव्वंति वहं पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिदुणो वा ॥९४१॥

'अक्कदम्मि वि' अकृतेऽपि । 'अवराधे' अपराधे । 'ताओ' ता. । 'वीसत्थमिच्छमाणीओ' स्वेच्छाप्रवृत्तिमभिलषन्त्य । 'पदिणो वधं कुव्वंति' पत्युर्वधं कुर्वन्ति, 'सुदस्स' सुतस्य, 'ससुरस्स' श्वशुरस्यापि । 'पिदुणो वा' पितुर्वा वध कुर्वन्ति ॥९४१॥

सक्कारं उवकारं गुणं व सुहलालणं च णेहो वा ।
मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चिंतेइ ॥ ९४२॥

'सक्कारं' सत्कारं सन्मान । 'उवयारं' उपकारं, 'गुणं' कुलरूपयौवनादिक गुणं च पत्युः । 'सुहलालणं' सुखेन पोषण च । 'णेहो वा' स्नेह च 'महुरवयणं च' मधुरवचन च । 'महिला' युवति । 'परगदहिदया' परपुरुषानुरक्तचित्ता । 'ण चिंतेइ' न चिन्तयति ॥९४२॥

साकेदपुराधिवदी देवरदी रज्जसुक्खपब्भट्ठो ।
पंगुलहेदुं छूडो णदीए रत्ताए देवीए ॥९४३॥

'साकेदपुराधिवदी' साकेतपुरस्य स्वामी । 'देवरदो' देवरतिसंज्ञितः । 'रज्जसोक्खपब्भट्ठो' राज्येन सौख्येन च निरा भ्रष्ट । 'पंगुलहेदु'' पङ्गुलनिमित्त गन्धर्वप्रवीणेन पङ्गुना सह जीवितुमभिलषन्त्या । 'छूडो' क्षिप्त । 'णदीए' नद्या । 'रत्ताए देवीए' रक्तानामधेयया देव्या ॥९४३॥

कुलका और धनका नाश कर देती है ॥९३९॥

गा०—क्रुद्ध सर्पकी तरह उन स्त्रियोंको दूरसे ही त्यागना चाहिए । रुष्ट प्रचण्ड राजाकी तरह वे कुलका नाश कर देती है ॥९४०॥

गा०—वे स्वच्छन्द प्रवृत्तिकी इच्छासे विना किसी अपराधके पति, पुत्र, श्वसुर अथवा पिताका घात कर देती है ॥९४१॥

गा०—परपुरुषमें जिसका चित्त लग जाता है वह स्त्री अपने पतिके, सन्मान, उपकार, कुल रूप, यौवन आदि गुण, स्नेह, सुखपूर्वक लालनपालन और मधुर वचनोंका भी विचार नहीं करती । ९४२॥

गा०—अयोध्या नगरीका स्वामी देवरति राज्य सुखसे वञ्चित हो गया उसकी रक्ता नामकी रानीने सगीतविद्यामें प्रवीण एक लगडे व्यक्तिपर आसक्त होकर अपने पतिको नदीमें फेंक दिया । ९४३॥

१. [illegible]

ईसालुयाए गोववदीए [1]गामकूडधूदिया चेव ।
छिण्णं पहदो सीसं भल्लेण पासे सीहबलो ॥९४४॥

'ईसालुयाए' ईर्ष्यावत्या । '[2]गोववदीए' गोपवतीनामधेया तया । 'गामकूडधूदिया एव' ग्रामकूटस्य दुहिता । 'सीसं छिण्णं' शिरश्छिन्नं । 'पहदो' प्रहतश्च । 'भल्लेण' भल्लया । 'पासम्मि' पार्श्वदेशे । 'सीहबलो' सिंहबलनामा ॥९४४॥

[3]वीरमदीए सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाए वाणियओ ।
पहदो दत्तो य तहा छिण्णो ओट्ठोत्ति आलविदो ॥९४५॥

'वीरमदीए' वीरमतीसंज्ञया । 'सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाए' शूलगतचोरदष्टाधरया । 'वाणियओ' वणिक्पुत्रः । 'पहदो' प्रहतः । 'दत्तो य' दत्तश्च । 'तहा' तथा । 'छिण्णो ओट्ठोत्ति' ओष्ठच्छेदोऽनेन कृत इति च । 'आलविदो' भणितः ॥९४५॥

वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हसप्पसत्तू ।
सो वीसंभं गच्छदि वीसंभदि जो महिलियासु ॥९४६॥

'वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकिण्हसप्पसत्तू' व्याघ्रे, विषे, चौरे, अग्नौ, जले, मत्तगजे, कृष्णसर्पे, शत्रौ च । 'सो विसंभं गच्छदि' स विश्रम्भं गच्छति । 'विसंभदि जो महिलियासु' विश्रम्भं यः करोति वनितासु ॥९४६॥

वग्घादीया एदे दोसो ण णरस्स तह करेज्जण्हू ।
जं कुणइ महादोसं दुट्ठा महिला मणुस्सस्स ॥९४७॥

गा०—ईर्ष्यालु गोपवतीने ग्रामकूटकी पुत्रीका सिर काट दिया और सिंहबलको कोखमें भाला भोंक दिया ॥९४४॥

विशेषार्थ—देवरति और सिंहबलकी कथा बृहत्कथाकोशमें ८५-८६ नम्बरपर है। उसमें गोमती नाम है ॥९४४॥

गा०—वीरमती एक चोरसे फँसी थी। उसे सूली दी गई तो वह उससे मिलने गई। चोरने कहा—अपने मुखका पान दो। इस बहाने चोरने उसका ओठ काट लिया। उसने कहा कि मेरे पति दत्तने मेरा ओठ काट लिया ॥९४५॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें वीरवतीकी कथाका क्रमाङ्क ८७ है ॥९४५॥

गा०—जो स्त्रियोंका विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, चोर, आग, पानी, मत्त हाथी, कृष्ण सर्प, और शत्रुका विश्वास करता है अर्थात् स्त्रीपर विश्वास ऐसा ही भयानक है जैसा इनपर विश्वास करना भयानक है ॥९४६॥

---

१. गामकूडधूदिया सीसं। छिण्ण पहदो तध भल्लएण पासम्मि।—मु०। २. गोववदीए गोपवती''—मु०। गोववदीए गोपवती संज्ञया—मूलारा०। ३. वीरमती—आ०।

'जुण्णो' वृद्धो वा 'दरिद्दो' दरिद्र । 'रोगिदो' व्याधितः । 'सो चेव' स एव युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे वा च. प्रिय. स एव 'होदि' भवति । 'से' तस्या । 'बेसो' द्वेष्य । 'णिप्पीलिदोव्व' निष्पीडित इव 'उच्छु' इक्षु । 'मालाव मिलाय गदगंधा' मालेव म्लाना नष्टगन्धा । अपहृतरस इक्षु शाभारहितनिर्गन्धमाला च यथाऽप्रिया । यौवनं, धनं, शक्तिश्च पुंसोऽतिशयस्तदभावे नैवाभाविष्यते स्त्राभिः ॥९५०॥

महिला पुरिसमवण्णाए चेव वंचइ णियडिकवडेहिं ।
महिला पुण पुरिसकदं जाणइ कवडं अवण्णाए ॥९५१॥

'महिला पुरिसमवण्णाए' वनिता पुरुषमनादरेणैव वञ्चयति । निकृत्या कपटतया च स्त्रीभि' कृता निकृति वञ्चनां शठतां च न जानन्ति पुमांस. । 'महिला पुण' वामलोचना पुन 'जाणदि' जानाति । किं ? कपटजातं 'पुरिसकदं' पुरुषेण कृत । 'अवण्णाए' अवज्ञया औदासीन्येनैव अक्लेशेनेति यावत् ॥९५१॥

नरो ह्येवं मन्यते प्रियोऽहमेतस्या इति न' च सा इत्याचष्टे—

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ त णरं महिला ।
जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥९५२॥

'जह जह मण्णेइ णरो' यथा यथा मानयति नर. तथा तथा परिभवति तं नर युवति । 'जह जह कामेदि णरो' यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा 'पुरिसं विमाणेदि' तथा तथा पुरुष विमानयति ॥९५२॥

मत्तो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविंभलाओ महिलाओ ।
दासेव सगे पुरिसे किं पि य ण गणंति महिलाओ ॥९५३॥

'मत्तो गओव्व' मत्तगज इव । 'णिच्चं' नित्य । 'ताओ मदविभलाओ' मदेन विह्वला युवतय । 'दासे व सगे पुरिसे' दासे वा स्वपुरुषे वा । 'किंचिवि' किञ्चिदपि विशेषजात । 'ण गणंति' नैव गणयन्ति । कुलीनोऽयं मान्यो भर्ता स्वामी मम । दास्या' पुत्रोऽयं अधम्य अहमस्य [२]स्वामिनीति विवेकं (न) करोति ॥९५३॥

गा०-टी०—युवावस्थामें, धनी अवस्थामें अथवा नीरोग अवस्थामें जो मनुष्य स्त्रियोंको प्रिय होता है वही मनुष्य वृद्ध, दरिद्र अथवा रोगी होने पर रस निकाली हुई ईखकी तरह अथवा गन्ध रहित मलिन मालाकी तरह अप्रिय होता है। अर्थात् रस निकाली हुई ईख और शोभा रहित गन्धहीन माला जैसे अप्रिय होती है वैसे ही यौवन धन और शक्ति पुरुष की विशेषताएँ है, उनके न रहने पर उसे स्त्रियाँ पसन्द नहीं करतीं ॥९५०॥

गा०—स्त्री पुरुषको छल कपटके द्वारा अनायास ही ठग लेती है, पुरुष स्त्रियोंके छल कपटको जान भी नहीं पाता। किन्तु पुरुषके द्वारा किये गये कपटको स्त्री तुरन्त जान लेती है उसे उसके लिये कुछ भी कष्ट उठाना नहीं होता ॥९५१॥

पुरुष समझता है कि मैं इसको प्रिय हूँ किन्तु स्त्री ऐसा नहीं समझती, यह कहते हैं—

गा०—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे वैसे स्त्री उसका निरादर करती है। जैसे जैसे मनुष्य उसकी कामना करता है वैसे वैसे वह पुरुषकी अवज्ञा करती है ॥९५२॥

गा०—मत्त हाथीकी तरह स्त्रियाँ मदसे उन्मत्त रहती हैं। वे अपने दासमें और पतिमें कुछ

---

१. न चासौ प्रिय इ–आ० मु०। २. स्वामी नेति–ज०।

अणिहुदपरगदहिदया तावो वग्घीव दुट्ठहिदयाओ ।
पुरिसस्स ताव सत्तू व सदा पावं विचिंतंति ॥९५४॥

'अणिहुदपरगदहिदया ताओ' अनिभृत परगतं हृदयमासामिति अनिभृतपरगतहृदया भवन्ति । अनिवारितागमकत्वनित्ततादोषा । 'वग्घीव दुट्ठहिदयाओ' दुष्टहृदयमासां अकृतेऽप्यपकारे यथा व्याघ्री परं मारयितुमेव कृतनिश्चेति दुष्टहृदया एवमिमा अपि । 'पुरिसस्स ताव' पुरुषस्य तावत् । 'सत्तू व सदा पावं विचिंतंति' शत्रुरिव सदा पापमेव अशुभमेव चेतसि कुर्वन्ति । यथा यो रिपुः कश्चित्कस्यचित्सर्वदा धनमस्य विनश्यतु, विनश्येच्च मरणमिति चित्तं करोति तथैव ता अपि ॥९५४॥

संझाव णरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ।
वादोव महिलियाण हिदयं अदिचंचलं णिच्चं ॥९५५॥

'संझाव णरेसु सदा ताओ होंति' सन्ध्या इव नरेषु सदा ता भवन्ति । 'खणमित्तरागाओ' अल्पकालरागा । अस्थिररागता नाम दोषः प्रकटितः । यथा सन्ध्याया रक्तता विनाशिनी । 'महिलियाणं हिदयं अदिचंचलं णिच्चं' स्त्रीणां हृदयं अतिचञ्चलं नित्यं । किमिव ? 'वादो व' वात इव ॥९५५॥

आवइयाइं तणाइं वीचीओ वालिगाव रोमाइं ।
लोए हवेज्ज तत्तो महिलाचिंताइं बहुगाइं ॥९५६॥

'आवइयाइं' यावन्ति तृणानि, 'वीचय', वालुका, रोमाणि' च जगति ततो युवतीनां चिन्ता बहव्य ॥९५६॥

आगास भूमि उदधी जल मेरू वाउणो वि परिमाणं ।
मादुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण चित्ताइं ॥९५७॥

भी अन्तर नहीं करती। यह मेरा मान्य कुलीन पति है और यह दासीका पुत्र नीच है, मैं इसको चाहती हूँ इस भेद नहीं करती ॥९५३॥

गा०—टी०—उनका चित्त निरन्तर पर पुरुषमें रहता है। तथा व्याघ्रीकी तरह उनका हृदय दुष्ट होता है। जैसे व्याघ्री कोई अपकार न करने पर भी दूसरेको मारनेका ही विचार करती है उसी तरह ये स्त्रियाँ भी होती हैं। वे शत्रुके समान सदा पुरुषके अशुभका ही चिन्तन करती हैं। जैसे किसीका कोई शत्रु सदा चित्तमें सोचता रहता है—इसका धन नष्ट हो जाये, इस पर विपत्ति आवे वैसे ही स्त्रियाँ भी सदा बुरा विचार करती हैं ॥९५४॥

गा०—सन्ध्याकी तरह स्त्रियोंका राग भी अल्प काल रहता है। जैसे सन्ध्याकी लालिमा विनाशीक है वैसे ही स्त्रियोंका अनुराग भी विनाशीक है। इससे अस्थिर रागता नामक दोष प्रकट किया है। तथा स्त्रियोंका हृदय वायुकी तरह सदा अति चञ्चल होता है ॥९५५॥

गा०—जितने तृण हैं, (समुद्रमें) जितनी लहरें हैं, बालूके जितने कण हैं तथा जितने रोम हैं उनसे भी अधिक स्त्रियोंके मनोविकल्प हैं ॥९५६॥

---

१ विनश्यतु—अ० आ०। २ भवन्त्विति—अ० आ०।

'आगासभूमि' आकाशस्य भूमेरुदधेर्जलस्य, मेरोर्वायोश्च परिमाणमस्ति । स्त्रीणां चित्त पुनर्मातुं न शक्यमस्ति ॥९५७॥

चिट्ठंति जहा ण चिरं विज्जुज्जलबुब्बुदो व उक्का वा ।
तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवदि पीदी ॥९५८॥

'जहा ण चिरं चिट्ठति' यथा न चिरं तिष्ठन्ति विद्युतः । जलबुद्बुदा उल्काश्च तथा वनितानां न कस्मिंश्चित्पुरुषे प्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥९५८॥

परमाणू वि कहंचिवि आगच्छेज्ज गहण मणुस्सस्स ।
ण य सक्का घेत्तुं जे चित्तं महिलाए अदिसुण्हं ॥९५९॥

परमाणुरपि कथंचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमागच्छेत् । वनितानां चित्तं पुन ग्रहीतुं न शक्यमति-सूक्ष्मं ॥९५९॥

कुविदो व किण्हसप्पो दुट्ठो सीहो गओ मदगलो वा ।
सक्का हवेज्ज घेत्तुं ण य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥९६०॥

'कुविदो व' कुपित कृष्णसर्पः दुष्टः सिंहो, मदगजो वा ग्रहीतुं शक्यते । न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्ट-वनिताचित्तम् ॥९६०॥

सक्कं हविज्ज दट्ठुं विज्जुज्जोएण रूवमच्छिम्मि ।
ण य महिलाए चित्तं सक्का अदिचंचलं णादुं ॥९६१॥

'सक्क हविज्ज' विद्युद्द्योतेन अक्षिस्थ रूपं द्रष्टुं शक्यं न पुनर्युवतिचित्तमतिचपलं अवगन्तु शक्यम् ॥९६१॥

गा०—आकाशकी भूमि, समुद्रके जल, सुमेरु और वायुका भी परिमाण मापना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके चित्तका मापना शक्य नहीं है ॥९५७॥

गा०—जैसे बिजली, पानीका बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नहीं रहते, वैसे ही स्त्रियोंकी प्रीति एक पुरुषमें बहुत समय तक नहीं रहती ॥९५८॥

गा०—परमाणु भी किसी प्रकार मनुष्यकी पकड़में आ सकता है। किन्तु स्त्रियोंका चित्त पकड़में आना शक्य नहीं है वह परमाणुसे भी अति सूक्ष्म है ॥९५९॥

गा०—क्रुद्ध कृष्ण सर्प, दुष्ट सिंह, मदोन्मत्त हाथीको पकड़ना शक्य हो सकता है किन्तु दुष्ट स्त्रीके चित्तको पकड़ पाना शक्य नहीं है ॥९६०॥

गा०—बिजलीके प्रकाशमें नेत्रमें स्थित रूपको देखना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके अति चंचल चित्तको जान लेना शक्य नहीं है ॥९६१॥

[1]अणुवत्तणाए गुणवयणेहि य चित्तं हरंति पुरिसस्स ।
मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिसं ण याणंति ॥९६२॥

[2]अलिएहिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ।
पुरिसस्स चलं चित्तं हरंति कवडाओ महिलाओ ॥९६३॥

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पहणदि य पावहिदएण ।
वयणे अमयं चिट्ठदि हियए य विसं महिलियाए ॥९६४॥

'महिला पुरिसं वयणेहि' वनिता पुरुषं वचनैर्हरति । हन्ति च पापेन हृदयेन । वाक्ये मधु तिष्ठति । हृदये विषं युवतीनाम् ॥९६४॥

[3]तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्ठिमंसपरिसेसं ।
उद्दाहंति वधंति य वडिमामिसलग्गमच्छं व ॥९६५॥

उदए पवेज्ज हि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ।
ण य महिलाण कदाई उज्जुयभावो णरेसु हवे ॥९६६॥

'उदए पवेज्ज हु' उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न दहेत्, शीतलो वा भवेत् । नैव वनितानां कदाचिदृजुभावः नरेषु ॥९६६॥

उज्जुयभावम्मि असन्तयम्मि किध होदि तासु वीसंभो ।
विस्संभम्मि असंते का होज्ज रदी महिलियासु ॥९६७॥

गा०—जब तक वे पुरुषको अपनेमें अनुरक्त नहीं जानती तब तक वे पुरुषके अनुकूल वर्तनके द्वारा तथा [illegible] वचनोंके द्वारा पुरुषके मनको उसी प्रकार आकृष्ट करती हैं जैसे माता बालकके मनको आकृष्ट करती है ॥९६२॥

गा०—बनावटी हास्य वचनोंसे, बनावटी रुदनसे, झूठी शपथोंसे कपटी स्त्रियाँ पुरुषके चंचल चित्तको हरती हैं ॥९६३॥

गा०—स्त्री वचनोंके द्वारा पुरुषको आकृष्ट करती है और पापपूर्ण हृदयसे उसका घात करती है। उसके वचनोंमें अमृत भरा रहता है और हृदयमें विष भरा होता है ॥९६४॥

गा०—जब वे जानती हैं कि हमारेमें अनुरक्त पुरुषके पास चाम हड्डी और मांस ही शेष है तो उस बंसीमें लगे मांसके लोभमें फँसे मच्छकी तरह संताप देकर मार डालती हैं ॥९६५॥

गा०—शिला पानीमें तिर सकती है। आग भी न जलाकर शीतल हो सकती है किन्तु स्त्रियोंका मनुष्योंके प्रति कभी भी सरल भाव नहीं होता ॥९६६॥

गा०—सरल भावके अभावमें उनमें विश्वास कैसे हो सकता है। और विश्वासके अभावमें [illegible] हो सकता है ॥९६७॥

१. २. [illegible] नेष्टम् । ३. [illegible] नेष्टा ।

'उज्जुगभावम्मि' ऋजुभावे असति कथं भवति तासु विस्रम्भ । असति विस्रम्भे का वनितासु रतिः ॥९६७॥

गच्छिज्ज समुद्दस्स वि पारं पुरिसो तरित्तु ओघबलो ।
मायाजलमहिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥९६८॥

'गच्छिज्ज' गच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबल । मायाजलवनितोदधिपारं नैव गन्तुं शक्नोति ॥९६८॥

रदणाउला सवग्घावगुहा गाहाउला च रम्मणदी ।
मधुरा रमणिज्जावि य सढा य महिला सदोसा य ॥९६९॥

'रदणाउला' रत्नसंकीर्णा सव्याघ्रा गुहेव रम्या नदी ग्राहाकुलेव मधुरा रम्या शठा सदोषा च वनिता ॥९६९॥

दिट्ठं पि सब्भावं पडिज्जदि णियडिमेव उद्देदि ।
गोधाणुलुक्कमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥९७०॥

'दिट्ठंवि' दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निकृतिमेवोपन्यस्यति ॥९७०॥

पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि ।
दोसे [1]संघादिदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥९७१॥

'पुरिसं वधमुवणेदित्ति' पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते । मनुष्यस्य दोषान्संहतान्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥९७१॥

गा०—महाबलशाली मनुष्य समुद्रको भी पार करके जा सकता है। किन्तु मायारूपी जलसे भरे स्त्रीरूपी समुद्रको पार नहीं कर सकता ॥९६८॥

गा०—रत्नोंसे भरी किन्तु व्याघ्रके निवाससे युक्त गुफा और मगरमच्छसे भरी सुन्दर नदीकी तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है ॥९६९॥

गा०—दूसरेने स्त्रीमें दोष देखा हो तो भी स्त्री यह स्वीकार नहीं करती कि मेरेमें यह दोष है। प्रत्युत यही कहती है कि मेरा यह दोष नहीं है या मैंने ऐसा नहीं किया है। इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे गोह जिस भूमिको पकड़ लेती है, बलपूर्वक छुड़ाने पर भी उसे नहीं छोड़ती। उसी प्रकार स्त्री भी अपने द्वारा गृहीत पदको नहीं छोड़ती। अन्य भी अर्थ टीकाकारोंने किया है—जैसे गोह पुरुषको देखकर उससे अपनेको छिपाती है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषको देखकर अपनेको छिपाती है कि यह मुझे न देख सके। अथवा दूसरेने कोई अच्छा कार्य किया और स्त्रीने उसे देखा भी, फिर भी वह उसे स्वीकार नहीं करती, बल्कि व्यंग रूपसे उसको बुरा ही कहती है ॥९७०॥

गा०—स्त्री वाचक शब्दोंकी निरुक्तिके द्वारा भी स्त्रीके दोष प्रकट होते हैं—पुरुषका वध करती है इसलिये उसे वधू कहते हैं। मनुष्यमें दोषोंको एकत्र करती है इसलिये स्त्री कहते हैं ॥९७१॥

---

1. सघाडेत्ति-मूलारा० ।

तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे णारी ।
पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ॥९७२॥

'तारिसओ' तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारीत्युच्यते । पुरुषं सदा प्रमत्तं करोतीति प्रमदेति निरुच्यते ॥९७२॥

[1]गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ।
जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥९७३॥
[2]अबलत्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि ।
कुम्मरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥९७४॥
[3]आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा ।
एयं महिलाणामाणि होंति असुभाणि सव्वाणि ॥९७५॥
णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ।
आयसस्सावसधो महिला मूलं च कलहस्स ॥९७६॥

'णिलओ कलीए' कलेर्निलयः । व्यलीकस्यालयः । अविनयस्याकरः । आयासस्यावकाशः । कलहस्य च मूलं युवति ॥९७६॥

सोगस्स सरी वेरस्स खणी णिवहो वि होइ कोहस्स ।
णिचओ णियडीणं आसवो महिला अकित्तीए ॥९७७॥

'सोगस्स सरी' [4]शोकनिम्नगाया नदी । वैरस्य खनि । निवहः कोपस्य । निचयो निकृतीनां । अकीर्तेराश्रयो युवतिः ॥९७७॥

गा०—मनुष्यका ऐसा 'अरि' शत्रु दूसरा नही है इसलिए उसे नारी कहते हैं । पुरुषको सदा प्रमत्त करती है इसलिये उसे प्रमदा कहते हैं ॥९७२॥

गा०—पुरुषके गलेमें अनर्थ लाती है । अथवा पुरुषको देखकर विलीन होती है इसलिए विलया कहते हैं । पुरुषको दुःखमें योजित करती है इससे युवती और योषा कहते हैं ॥९७३॥

गा०—उसके हृदयमें धैर्यरूपी बल नही होता अतः वह अबला कही जाती है । कुमरणका उपाय उत्पन्न करनेसे कुमारी कहते हैं ॥९७४॥

गा०—पुरुष पर आल—दोषारोप करती है इसलिए महिला कहते हैं । इस प्रकार स्त्रियोंके सब नाम अशुभ होते हैं ॥९७५॥

गा०—स्त्री कलहका घर है । असत्यका आश्रय है । अविनयका आवास है, कष्टका निकेतन है और कलहका मूल है ॥९७६॥

गा०—शोककी नदी है । वैरकी खान है । क्रोधका पुंज है । मायाचारका ढेर है । अपयशका आश्रय है ॥९७७॥

१-२-३ एतद् गाथात्रय टीकाकारो नेच्छति । ४. शोकस्य नदी, वैरस्यावनि —आ० मु० ।

णासो अत्थस्स खओ देहस्स य दुग्गदीपमग्गो य ।
आवाहो य अणत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥९७८॥

'णासो अत्थस्स' अर्थस्य नाशः । देहस्य क्षय. । दुर्गतेर्मार्ग. । अनर्थस्य कुल्या । दोषाणा प्रभव. ॥९७८॥

महिला विग्घो धम्मस्स होदि परिहो य मोक्खमग्गस्स ।
दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विपत्ती[1] ॥९७९॥

'महिला विग्घो' वनिता विघ्नो भवति । 'धम्मस्स' धर्मस्य । 'परिघो' मोक्षमार्गस्य । दु खानां चोत्पत्ति । सौख्याना च विपत्ति· ॥९७९॥

पासो व बंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ।
सिल्लं व विंधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥९८०॥

'पासो व बंधिदुं जे' पाश इव बंधितु । सुगमा गाथा इति नादरो व्याख्याने ॥९८०॥

सूलो इव भित्तुं जे होइ पवोढुं तहा गिरिणदी वा ।
पुरिसस्स खुप्पदुं कद्दमोव मचुव्व मरिदुं जे ॥९८१॥
अग्गीवि य डहिदुं जे मदोव्व पुरिसस्स मुज्झिदुं महिला ।
महिला णिकत्तिदुं करकचोव कंडूव पउलेढुं ॥९८२॥
पाडेदुं परसू वा होदि तह मुग्गरो व ताडेदुं ।
अवहणणं पि य चुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥९८३॥

गा०—धनका नाश करने वाली है। शरीरका क्षय करती है। दुर्गतिका मार्ग है। अनर्थके लिए प्याऊ है और दोषोंका उत्पत्ति स्थान है ॥९७८॥

गा०—स्त्री धर्ममें विघ्नरूप है। मोक्षमार्गके लिए अर्गला (साकल) है, दु:खोंकी उत्पत्तिका स्थान है और सुखोंके लिए विपत्ति है ॥९७९॥

गा०—स्त्री पुरुषको बाँधनेके लिए पाशके समान है। मनुष्यको काटनेके लिए तलवारके समान है। बींधनेके लिये भालेके समान है और डूबनेके लिये पंकके समान है ॥९८०॥

गा०—स्त्री मनुष्यके भेदनेके लिए शूलके समान है। ससार रूपी समुद्रमें गिरनेके लिए नदीके समान है। खपानेके लिए दलदलके समान है। मारनेको मृत्युके समान है ॥९८१॥

गा०—जलानेको आगके समान है। मदहोश करनेके लिए मदिराके समान है। काटनेके लिए आरेके समान है। पकानेके लिए हलवाईके समान है ॥९८२॥

गा०—विदारण करनेके लिए फरसाके समान है। तोड़नेके लिए मुद्गरके समान है, चूर्ण करनेके लिए लुहारके घनके समान है ॥९८३॥

---

1. विवत्ती-मु०, मूलारा० ।

चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरो वि थड्डमागासं ।
ण य होज्ज अदोसा भद्दिया वि कुलबालिया महिला ॥९८४॥

एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चिंतयदो ।
महिलाहितो विचित्तं उव्वियदि विसग्गिसरसीहिं ॥९८५॥

वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ।
तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ ॥९८६॥

महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीयाणं ।
तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुत्ताणं ॥९८७॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ।
तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥९८८॥

किं पुण गुणसहिदाओ इत्थिओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥९८९॥

तित्थयरचक्कधरवासुदेवबलदेवगणधरवराणं ।
जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥९९०॥

गा०—कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो जाय, सूर्य शीतल हो जाय, आकाश कठोर हो जाय, किन्तु कुलीन स्त्री भी निर्दोष और भद्र परिणामी नहीं होती ॥९८४॥

गा०—स्त्रियोंके इन तथा अन्य बहुतसे दोषोंका विचार करने वाले पुरुषोंका मन विष और अग्नि समान स्त्रियोंसे विमुख हो जाता है ॥९८५॥

गा०—जैसे पुरुष व्याघ्र आदिके दोष देखकर व्याघ्र आदिको त्याग देता है उनसे दूर रहता है वैसे ही स्त्रियोंके दोष देखकर मनुष्य स्त्रियोंसे दूर हो जाता है ॥९८६॥

गा०—स्त्रियोंमें जो दोष कहे हैं वे दोष नीच पुरुषोंमें भी होते हैं अथवा मनुष्योंमें जो बल और शक्तिसे युक्त होते हैं उनमें स्त्रियोंसे भी अधिक दोष होते हैं ॥९८७॥

गा०—जैसे शीलकी रक्षा करने वाले पुरुषोंके लिए स्त्रियां निन्दनीय हैं। वैसे ही शीलकी रक्षा करने वाली स्त्रियोंके लिए पुरुष निन्दनीय हैं ॥९८८॥

गा०—जो गुणोंसे सहित स्त्रियां हैं, जिनका यश लोकमें फैला हुआ है, तथा जो मनुष्य लोकमें देवता हैं और देवोंसे पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है ॥९८९॥

गा०—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र और गणधरोंको जन्म देने वाली महिलाएँ देवों और उत्तम मनुष्योंके द्वारा पूजनीय होती हैं ॥९९०॥

एगपदिव्वइकण्णावयाणि धारिंति कित्ति[1] महिलाओ ।
वेधव्वतिव्वदुक्खं आजीवं णिंति काओ वि ॥९९१॥

सीलवदीओ सुव्वंति महीयले पत्तपाडिहेराओ ।
सावाणुग्गहसमत्थाओ वि य काओवि महिलाओ ॥९९२॥

ओग्घेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण दड्ढाओ ।
सप्पेहिं [2]सावदेहिं य परिहरिदाओव काओ वि ॥९९३॥

सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं ।
चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥९९४॥

मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइलिदो होदि ।
सो पुण सव्वो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णा ॥९९५॥

तम्हा सा [3]पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिकिच्चा ।
सीलवदीओ भणिदे दोसे किह णाम पावंति ॥९९६॥

इत्यगदा ॥९९६॥

स्त्रीणमान्दोषानभिधाय अशुचिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

देहस्स बीयणिप्पत्तिखेत्तआहारजम्मवुड्ढीओ ।
अवयवणिग्गमअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥९९७॥

गा०—कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कौमार ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती है। कितनी ही जीवन पर्यन्त वैधव्यका तीव्र दुःख भोगती है ॥९९१॥ ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती है जिन्हे देवोंके द्वारा सन्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शीलके प्रभावसे शाप देने और अनुग्रह करनेमे समर्थ थी ॥९९२॥ कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदीके जल प्रवाहमे भी नही डूब सकी और प्रज्वलित घोर आगमे भी नही जल सकी तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नही कर सके ॥९९३॥ कितनी ही स्त्रियाँ सर्व गुणोंसे सम्पन्न साधुओं और पुरुषोंमे श्रेष्ठ चरम शरीरी पुरुषोंको जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं ॥९९४॥ सब जीव मोहके उदयसे कुशीलसे मलिन होते हैं। और वह मोहका उदय स्त्री-पुरुषोंके समान रूपसे होता है ॥९९५॥

गा०—अत. ऊपर जो स्त्रियोंके दोषोका वर्णन किया है वह स्त्री सामान्यकी दृष्टिसे किया है। शीलवती स्त्रियोमे ऊपर कहे दोष कैसे हो सकते हैं ॥९९६॥

इस प्रकार स्त्रियोंके गुण-दोषोका वर्णन सम्पूर्ण हुआ। स्त्रियोके दोषोंको कहनेके पश्चात् अशुचित्वका कथन करते हैं—

---

१ कित्तिमालाओ इति पाठान्तरं मूलारा० । २. सावज्जेहिं वि हरिदा वड्ढाण काओवि—आ०मु० ।
३. पण्णवणा आ० ।

'समिदक्खो घदपुण्णो सुगादि' कणिकाहृतं घृतपूर्णकं 'सुगादि' शुद्ध्यति। 'सुद्धसणेन' 'समिदस्स' कणिकाद्रव्यस्य। 'असुचिम्मि बीए' अशुचिबीजे तस्मिन्निष्पन्ने। 'कह देहो सो हवे सुद्धो' नाम कथं शुद्ध्यति। बीजं ॥१०००॥

शरीरनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्ध —

फललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥१००१॥

'कललगदं' कललं नाम पर्याप्तं तं गर्भं प्राप्तं बीजं दश दिनमात्रं। 'अच्छदि' आस्ते। 'क च कलुषीकृतं च। दश रात्रमात्रं अवतिष्ठते। 'थिरभूदं दसरत्तं' स्थिरभूतं यावद्दशदिनमात्रं। 'अच्छदि 'गब्भम्मि' गर्भे। 'तं बीजं' तद्बीजं ॥१००१॥

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥१००२॥

'तत्तो' स्थिरभावोत्तरकालं। 'मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि' मासमात्रं बुद्बुद इव आस्ते। घणभूदं' पुनरपि घनभूतं। 'जायदि मासेण' जायते मासेन ततोऽपि घनभावादुत्तरकाल। 'मासेण' 'मंसप्पेसीय' मांसपेशी भवति ॥१००२॥

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥१००३॥

'मासेण पंच पुलगा' मासेन पञ्च पुलका भवन्ति। 'पुणो वि मासेण' पुनरुत्तरेण मासेन। उवंगाणि य' अङ्गान्युपाङ्गानि च। 'णरस्स जायंति गब्भम्मि' नरस्य जायन्ते गर्भे ॥१००३॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती।
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००४॥

कारण गेहूँका चूर्ण शुद्ध है। किन्तु जिसका बीज अशुद्ध है उससे बना शरीर शुद्ध कैसे हो है ॥१०००॥

शरीरकी रचनाका क्रम कहते हैं—

गा०—गर्भमें स्थित माताका रज और पिताका वीर्यरूप बीज दस दिनतक कल रहता है। फिर दस दिन तक कालिमारूप होता है फिर दस दिन तक स्थिर रहता है ॥१०

गा०—स्थिर होनेके पश्चात् एक मास तक बुलबुलेकी तरह रहता है। पुनः ए तक घनभूत अर्थात् कठोररूप रहता है। फिर एकमासमें मांसके पिण्डरूप होता है ॥१००२

गा०—पाँचवें मासमें उस मांसपिण्डमेसे दो हाथ, दो पैर और सिरके रूपमें पाँच उगते हैं। छठे मासमें उस बालकके अंग और उपांग बनते हैं ॥१००३॥

विशेषार्थ—दो पैर, दो हाथ, एक नितम्ब, एक छाती, एक पीठ, एक सिर ये अ हैं। और कान, नाक, गाल, ओठ, आँख, अँगुलि आदि उपांग हैं ॥१००३॥

'अवि ताव विहिंसज्जदि' यदि तावज्जुगुप्स्यते । 'कण्ठीए मुहं' कण्ठमुखं । 'परस्स आवदह' परस्य दृष्टं । 'जिच्च सो विसिमज्जिज्जो ण होज्ज' वचमनो न जुगुप्सनीयो भवेत् । 'जस्सोडयोदृमुहो' आत्मवीक्षणात् ॥१०१५॥

जन्मादि निरूपयति—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जाणि ।
मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥१०१६॥

'बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि' बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि करोति । 'तथा चेव लज्जणिज्जाणि' तथा चैव लज्जनीयानि । 'मेज्झामेज्झं' शुच्यशुचि च । 'कज्जाकज्जं किं चि वि अयाणंतो' कार्याकार्यं किंचिदजानन् ॥१०१६॥

अण्णस्स अप्पणो वा सिंहाणयखेलमुत्तपुरिसाणि ।
चम्मट्ठिवसापूयादीणि य तुंडे मगे छुभदि ॥१०१७॥

'अण्णस्स अप्पणो वा' अन्यस्यात्मनो वा । सिंघाणकं श्लेष्माणं । मूत्र, पुरीषं, 'चम्मट्ठिवसापूयादि' चर्म अस्थि वसा पूयादिकं वा । 'तुंडे मुखे छुभदि' आत्मीये मुखे क्षिपति ॥१०१७॥

जं किं चि खादि जं किं चि कुणदि जं किं चि जंपदि अलज्जो ।
जं किं चि जत्थ तत्थ वि वोसरदि अयाणगो बालो ॥१०१८॥

'जं किं चि खादि' यत्किंचिदत्ति, यत्किंचित्करोति, यत्किंचिज्जल्पत्यलज्जः । 'जं किं चि जत्थ तत्थ वि' यत्किंचिद्यत्र तत्र वा शुच्यशुचौ वा देशे । 'वोसरदि' व्युत्सृजति । 'अयाणगो बालो' अज्ञो बालः ॥१०१८॥

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो ।
अप्पाणम्मि वि गच्छे णिव्वेदं किं पुण परंमि ॥१०१९॥

'बालत्तणे कदं' बाल्ये कृतं । सर्वमेव यदि स्मरेत आत्मन्यपि गच्छेन्निर्वेदं किं पुनरन्यस्मिन् । वदेद् ॥१०१९॥

जन्मके पश्चात् शरीरकी वृद्धिका कथन करते हैं—

गा०—बालक शुचि अशुचि और कार्य अकार्यको कुछ भी नहीं जानता । तथा निन्दनीय और लज्जाके योग्य कार्य करता है ॥१०१६॥

गा०—अपना अथवा दूसरेका कफ, मूत्र, विष्टा, चमड़ा, हड्डी, चर्वी, पीव आदि अपने मुखमें रख लेता है ॥१०१७॥

गा०—अनजान बालक जो कुछ भी खा लेता है, जो कुछ भी करता है, निर्लज्ज होकर जो कुछ भी बोलता है । जिस किसी भी पवित्र या अपवित्र स्थानमें टट्टी पेशाब कर देता है ॥१०१८॥

गा०—यदि बचपनमें किये गये सब कार्योंको याद किया जाये तो दूसरेकी तो बात ही क्या, अपनेसे ही वैराग्य हो जाय ॥१०१९॥

मत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि ।
देहम्मि रोमकोडीण होंति ¹असीदिं सदसहस्सा ॥१०२४॥

'सत्त तयाओ' सप्त त्वच. । 'कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि' सप्तैव कालेयकानि देहे । 'देहम्मि रोमकोडीण 'असीदि सदसहस्सा' शरीरे रोमकोटीनां अशीतिशतसहस्राणि ॥१०२४॥

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति ।
कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स ॥१०२५॥

'पक्कामयासयत्था' पक्वाशये आमाशये अवस्थिता. । 'अंतगुंजाओ' अन्त्रयष्टय. । 'सोलस हवंति' षोडशैव भवन्ति । 'कुणिमस्स आसया' कुथितस्य आश्रया सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥१०२५॥

थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति सत्तुत्तरं च मम्मसदं ।
णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं ॥१०२६॥

'थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति' स्थूणास्तिस्रो भवन्ति देहे । 'सत्तुत्तरं च मम्मसदं' मर्मणां शतं सप्ताधिकं । 'णव होंति वणमुहाइं' व्रणमुखानि नव भवन्ति । 'णिच्चं कुणिमं' नित्यं कुथितं स्रवन्ति यानि ॥१०२६॥

देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण ।
अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥१०२७॥

'देहम्मि' शरीरे । 'मच्छुलिंग' मस्तिष्कं । 'अंजलिमित्तो सगप्पमाणेण' स्वाञ्जलिप्रमाण परिच्छिन्नं । मेदोऽप्यञ्जलिप्रमाणं । 'ओजोवि तत्तिओ चेव' शुक्रमपि तावन्मात्रमेव ॥१०२७॥

तिण्णि य वसंजलीओ छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ।
सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि ॥१०२८॥

'तिण्णि य वसंजलीओ' तिस्रो वसाञ्जलय. । 'छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स' षडञ्जलय पित्तस्य । 'सिंभो पित्तसमाणो' श्लेष्मा पित्तप्रमाण: । 'लोहिदमद्धाढगं होदि' लोहितोऽप्यर्धाढकं भवति ॥१०२८॥

गा०—सात त्वचाएँ हैं। सात कालेयक-मांसखण्ड हैं। और अस्सी लाख करोड़ रोम हैं ॥१०२४॥

गा०—पक्वाशय और आमाशयमें सोलह आते हैं। तथा मनुष्यके शरीरमें सात मलस्थान हैं ॥१०२५॥

गा०—शरीरमें वात पित्त कफ ये तीन थूणाएं हैं। एक सौ सात मर्मस्थान हैं। नौ व्रण-मुख-मलद्वार हैं जिनसे सदा मल बहता रहता है ॥१०२६॥

गा०—तथा अपनी एक अंजुलीप्रमाण मस्तिष्क है। एक अंजुलिप्रमाण मेद है और एक अंगुलिप्रमाण वीर्य है ॥१०२७॥

गा०—तीन अंजुलिप्रमाण वसा—चर्बी है। छह अंजुलिप्रमाण पित्त है। पित्त प्रमाण ही कफ है। रुधिर आधे आढक या बत्तीस पल प्रमाण है ॥१०२८॥

---

१. सीदि आ० मु० । २. सोदी आ० मु० ।

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ।
वीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०२९॥

'मुत्तं आढयमेत्तं' मूत्रं आढकमात्रं । 'उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा' षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । 'वीसं णहाणि' विंशतिसंख्या नखानां । 'दंता बत्तीसं होंति' द्वात्रिंशद्भवन्ति दन्ताः । 'पगदीए' प्रकृत्या ॥१०२९॥

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं ।
सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच ॥१०३०॥

'किमिणो व वणो' संजातक्रिमिव्रणवत् । 'बहुगेहि किमिकुलेहिं भरिदं सरीरमिति' सम्बन्धः । बहुभिः क्रिमीणा कुलैर्भरितं । 'सव्वं देहं अप्फंदिदूण वाता ठिदा पंच' समस्तं शरीरं व्याप्य पञ्च वायव स्थिता ॥१०३०॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥१०३१॥

'एवं' अनेन प्रकारेण । 'देहम्मि सव्वे अवयवा' शरीराधारा सर्वे अवयवाः । 'कुणिमपुग्गला चेव' अशुभपुद्गला एव । 'एक्कं पि णत्थि अंगं' एकोऽपि नास्त्यवयवः । जं पूयं सुचियं च होज्ज' योऽवयवः पूतः शुचिर्वा भवेत् ॥१०३१॥

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दइदं महिलं दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज ॥१०३२॥

'परिदड्ढसव्वचम्मं' वनितो दग्धसर्वत्वक्पटलं । 'पंडुरगत्तं' पाण्डुरतनुं । 'मुयंतवणरसियं' विगलत्व 'सुट्ठु वि दइदं महिलं' प्रियतमामपि वनितां । 'दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज' द्रष्टुमपि नरो न वाञ्छति ॥१०३२॥

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरिसियाए णो [1]थगिदं ।
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्दुमिच्छेज्ज ॥१०३३॥

गा०—मूत्र एक आढक प्रमाण है । विष्ठा छह प्रस्थ प्रमाण है । स्वाभाविकरूपमें बीस नख और बत्तीस दाँत होते हैं ॥१०२९॥

गा०—जैसे घावमें कीड़े भरे रहते हैं वैसे ही शरीर बहुतसे कीड़ोंसे भरा है । समस्त शरीरको घेरे हुए पाँच वायु हैं ॥१०३०॥

गा०—इस प्रकार शरीरके सब अवयव अशुभ पुद्गलरूप ही हैं । एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र और सुन्दर हो ॥१०३१॥

गा०—जिसकी सब चमड़ी जल जानेसे शरीर सफेद वर्णका हो गया है, और उससे पीव बहता है ऐसी नारी अतिप्रिय भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नहीं चाहता ॥१०३२॥

---

1. ठिदं—आ० मु० ।

'जदि होज्ज तयाए ण थगिदं' यदि त्वचा न स्थगित भवेत्। कीदृश्या ? 'मच्छियापत्तसरिसियाए' मक्षिकापत्रसदृशि। 'तदा को णाम इच्छेज्ज कुणिमभरिदं सरीरं' को नाम वाञ्छेत् ? किं कुथितपूर्णं शरीरं। 'आलद्धुं' स्प्रष्टुं। अवयवा- ॥१०३३॥

कण्णेसु कण्णगूघो जायदि अच्छीसु चिक्कणंसूणि।
णासागूघो सिंघाणयं च णासापुडेसु तहा ॥१०३४॥

'कण्णेसु' कर्णयोः। 'कण्णगूधो' कर्णगूथ। 'जायदि' जायते। 'अच्छी सु' अक्ष्णोः। 'चिक्कणंसूणि' मलमश्रुबिन्दवश्च। 'णासागूधो' नासिकामलं। 'सिंघाणगं च' सिंघाणकं च 'णासापुडेसु' नासापुटयोः ॥१०३४॥

खेलो पित्तो सिंभो वमिया जिब्भामलो य दंतमलो।
लाला जायदि 'तुंडम्मिणिरुच्चं मुत्तपुरिसमुक्कमुदरत्थ'[2] ॥१०३५॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

सेदो जायदि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमकूवेसु।
जायंति जूवलिक्खा छप्पदियासो य सेदेण ॥१०३६॥

'सेदो जायदि' स्वेदो जायते। 'सिलेसो व चिक्कणो' चर्मकारश्लेष्मवच्चिक्कणः। 'सव्वलोमकूवेसु' सर्वलोमकूपेषु। 'जायंति' जायन्ते। 'जूका' यूका। 'लिक्खा' लिक्षाश्च। 'छप्पदिगाओ य' चर्मयूकाश्च। 'सेदेण' स्वेदेन हेतुना। एतावता प्रबन्धेन शरीरावयवा व्याख्याता ॥१०३६॥

णिग्गमण। निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विट्ठापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ।
पूदिंगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥१०३७॥

गा०—यदि शरीर मक्खीके परके समान त्वचासे वेष्टित न हो तो मलसे भरे शरीरको कौन छूना पसन्द करेगा ॥१०३३॥

गा०—कानोंसे कानका मल उत्पन्न होता है। आँखोंमें आँखका मल और आँसू रहते हैं। तथा नाकमें नाकका मल और सिंघाड़े रहते हैं ॥१०३४॥

गा०—मुखमें खखार, पित्त, कफ, वमन, जीभका मल, दन्तमल और लार उत्पन्न होते हैं। और उदरमें मूत्र, विष्टा तथा वीर्य उत्पन्न होते हैं ॥१०३५॥

गा०—शरीरके सब रोमकूपोंसे चमारके सिरेसके समान चिपचिपा पसीना निकलता है। और पसीनेके कारण लीख और जूं उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शरीरके अवयवोंका कथन हुआ ॥१०३६॥

अब मलके निकलनेका कथन करते हैं—

गा०—जैसे विष्टासे भरे और फूटे हुए घड़ेसे चारों ओरसे गन्दगी बहती है अथवा जैसे कृमियोंसे भरे घावसे दुर्गन्धयुक्त पीव बहती है वैसे ही शरीरसे निरन्तर मल बहता है ॥१०३७॥

निर्गमनका कथन समाप्त हुआ।

---

१. म्मि मूत्त पुरिसं च सु-आ० मु०। २. मिदरत्थं-ज० मु०। इदरत्थे मेहन योनिगुदयोः-मूलारा०।

'जदि होज्ज तयाए ण पिहिदं' यदि त्वचा न स्थगितं भवेत्। कीदृश्या ? 'मच्छियापत्तसरिसियाए' ...शिरःपत्रसदृशि। 'तदा को णाम इच्छेज्ज कुणिमभरिदं सरीरं' को नाम वाञ्छेत् ? किं कुथितपूर्णं शरीरं। ...स्प्रष्टुं स्प्रष्टुं। अथवा ॥१०३३॥

कण्णेसु कण्णगूधो जायदि अच्छीसु चिक्कणंसूणि।
णासागूधो सिंघाणयं च णासापुडेसु तहा ॥१०३४॥

'कण्णेसु' कर्णयोः। 'कण्णगूधो' कर्णगूथः। 'जायदि' जायते। 'अच्छी सु' अक्ष्णोः। 'चिक्कणंसूणि' ...कमश्रुबिन्दवश्च। 'णासागूधो' नासिकामलं। 'सिंघाणगं च' सिंघाणकं च 'णासापुडेसु' नासापुटयोः ॥१०३४॥

खेलो पित्तो सिंभो वमिया जिब्भामलो य दंतमलो।
लाला जायदि तुंडम्मिणिच्चं मुत्तपुरिससुक्कमुदरत्थं[1] ॥१०३५॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

सेदो जायदि सिलेसो य चिक्कणो सव्वरोमकूवेसु।
जायंति जूवलिक्खा छप्पदियासो य सेदेण ॥१०३६॥

'सेदो जायदि' स्वेदो जायते। 'सिलेसो य चिक्कणो' चर्मकारश्लेष्मवच्चिक्कणः। 'सव्वलोमकूवेसु' ...सर्वलोमकूपेषु। 'जायंति' जायन्ते। 'जूका' यूका। 'लिक्खा' लिक्षाश्च। 'छप्पदियाओ य' चर्मयूकाश्च। ...'सेदेण' स्वेदेन हेतुना। एतावता प्रबन्धेन शरीरावयवा व्याख्याता ॥१०३६॥

णिग्गमणं। निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विट्ठापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ।
पूदिगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥१०३७॥

गा०—यदि शरीर मक्खीके पंखके समान त्वचासे वेष्टित न हो तो मलसे भरे शरीरको कौन छूना पसन्द करेगा ॥१०३३॥

गा०—कानोंमें कानका मल उत्पन्न होता है। आँखोंमें आँखका मल और आँसू रहते हैं। तथा नाकमें नाकका मल और सिंघाड़े रहते हैं ॥१०३४॥

गा०—मुखमें खखार, पित्त, कफ, वमन, जीभका मल, दन्तमल और लार उत्पन्न होते हैं। और उदरमें मूत्र, विष्टा तथा वीर्य उत्पन्न होते हैं ॥१०३५॥

गा०—शरीरके सब रोमकूपोंसे चमारके सिरेसके समान चिपचिपा पसीना निकलता है। और पसीनेके कारण लीख और जूं उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शरीरके अवयवोंका कथन हुआ ॥१०३६॥

अब मलके निकलनेका कथन करते हैं—

गा०—जैसे विष्टासे भरे और फूटे हुए घड़ेसे चारों ओरसे गन्दगी बहती है अथवा जैसे कृमियोंसे भरे घावमें दुर्गन्धयुक्त पीव बहता है वैसे ही शरीरसे निरन्तर मल बहता है ॥१०३७॥

निर्गमनका कथन समाप्त हुआ।

---

१ भिम मुत्त पुरिसं च सु—आ० मु०। २. मिदरत्थ—ज० मु०। इदरत्थे मेहन योनि-...दयो—मूलारा०।

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ।
वीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०२९॥

'मुत्तं आढयमेत्तं' मूत्र आढकमात्र । 'उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा' षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । 'वीसं णहाणि' विंशतिसंख्या नखानां । 'दंता बत्तीसं होंति' द्वात्रिंशद्भवन्ति दन्ताः । 'पगदीए' प्रकृत्या ॥१०२९॥

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं ।
सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच ॥१०३०॥

'किमिणो व वणो' संजातक्रिमिव्रणवत् । 'बहुगेहिं किमिकुलेहिं भरिदं सरीरमिति' सम्बन्धः । बहुभिः क्रिमीनां कुलैर्भरितं । 'सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच' समस्तं शरीरं व्याप्य पञ्च वायवः स्थिताः ॥१०३०॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥१०३१॥

'एवं' अनेन प्रकारेण । 'देहम्मि सव्वे अवयवा' शरीराधारा सर्वे अवयवाः । 'कुणिमपुग्गला चेव' अशुभपुद्गला एव । 'एक्कं पि णत्थि अंगं' एकोऽपि नास्त्यवयवः । 'जं पूयं सुचियं च होज्ज' योऽवयवः पूतः शुचिश्च भवेत् ॥१०३१॥

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दइदं महिलं दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज ॥१०३२॥

'परिदड्ढसव्वचम्मं' परितो दग्धसर्वत्वक्पटलं । 'पंडुरगत्तं' पाण्डुरतनुं । 'मुयंतवणरसियं' [illegible] 'सुट्ठु वि दइदं महिलं' प्रियतमामपि वनितां । 'दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज' द्रष्टुमपि नरो न वाञ्छति ॥१०३२॥

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरिसियाए णो वेढिदं ।
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्धुमिच्छेज्ज ॥१०३३॥

गा०—मूत्र एक आढक प्रमाण है। विष्ठा छह प्रस्थ प्रमाण है। स्वाभाविकरूपसे बीस नख और बत्तीस दाँत होते हैं ॥१०२९॥

गा०—जैसे घावमें कीड़े भरे रहते हैं वैसे ही शरीर बहुतसे कीड़ोंसे भरा है। समस्त शरीरको घेरे हुए पाँच वायु हैं ॥१०३०॥

गा०—इस प्रकार शरीरके सब अवयव अशुभ पुद्गलरूप ही हैं। एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र और सुन्दर हो ॥१०३१॥

गा०—जिसकी सब चमड़ी जल जानेसे शरीर सफेद चकत्ता हो गया है, और उससे पीव बहता है ऐसी अपनी अतिप्रिय भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नहीं चाहता ॥१०३२॥

१. [illegible]

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पत्था ।
वीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०२९॥

'मुत्तं आढयमेत्तं' मूत्र आढकमात्र । 'उच्चारस्स य हवंति छप्पत्था' षट्प्रस्थप्रमाण पुरीषं । 'वीसं णहाणि' विंशतिसंख्या नखानां । 'दंता बत्तीसं होंति' द्वात्रिंशद्भवन्ति दन्ता । 'पगदीए' प्रकृत्या ॥१०२९॥

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं ।
सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच ॥१०३०॥

'किमिणो व वणो' सजातक्रिमिव्रणवत् । 'बहुगेहिं किमिकुलेहिं भरिदं सरीरमिति' सम्बन्धः । बहुभिः क्रिमीणां कुलैर्भरितं । 'सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच' समस्तं शरीरं व्याप्य पञ्च वाताः स्थिताः ॥१०३०॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥१०३१॥

'एवं' उक्तेन प्रकारेण । 'देहम्मि सव्वे अवयवा' शरीराश्रिताः सर्वे अवयवाः । 'कुणिमपुग्गला चेव' अशुभपुद्गला एव । 'एक्कं पि णत्थि अंगं' एकोऽपि नास्त्यवयवः । 'जं पूयं सुचियं च होज्ज' योऽवयवः पूतः शुचिर्वा भवेत् ॥१०३१॥

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दइदं महिलं दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज ॥१०३२॥

'परिदड्ढसव्वचम्मं' परितो दग्धसर्वत्वक्पटलं । 'पंडुरगत्तं' पाण्डुरतनुं । 'मुयंतवणरसियं' विगलद्व्रणं 'सुट्ठु वि दइदं महिलं' प्रियतमामपि वनितां । 'दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज' द्रष्टुमपि नरो न वाञ्छति ॥१०३२॥

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरसियाए णो [1]थगिदं ।
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्धुमिच्छेज्ज ॥१०३३॥

गा०—मूत्र एक आढक प्रमाण है। विष्टा छह प्रस्थ प्रमाण है। स्वाभाविकरूपमें बीस नख और बत्तीस दाँत होते हैं ॥१०२९॥

गा०—जैसे घावमें कीड़े भरे रहते हैं वैसे ही शरीर बहुतसे कीड़ोंसे भरा है। समस्त शरीरको घेरे हुए पाँच वायु हैं ॥१०३०॥

गा०—इस प्रकार शरीरके सब अवयव अशुभ पुद्गलरूप ही हैं। एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र और सुन्दर हो ॥१०३१॥

गा०—जिसकी सब चमड़ी जल जानेसे शरीर सफेद वर्णका हो गया है, और उससे पीव बहता है ऐसी नारी अतिप्रिय भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नहीं चाहता ॥१०३२॥

---

१. विहिद—अ० आ०।

अब्भंगादीहिं विणा गभावदो णेव जदि सरीरमिमं ।
सोभेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥१०४२॥

'अब्भंगादीहि विणा' सुगन्धतैलेन म्रक्षणं, उद्वर्तन, स्नानमालेपनमित्यादिभिर्विना । 'समावदो णेव सोभेज्ज इमं सरीरं' स्वभावत एव यदि शोभेत इदं शरीरं । 'मोरदेहुव्व' मयूरदेहवत् । 'होज्ज तो णाम सोभा' भवेत्तत् स्फुट देहस्य शोभा ॥१०४२॥

उदि दा विहिमदि णरो आलद्धुं पदिदमप्पणो खेलं ।
कघदा णिपिवेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमजलं ॥१०४३॥

'अदि दा विहिमदि णरो आलद्धुं पडिदमप्पणो खेलं' यदि तावन्नरो जुगुप्सते स्प्रष्टुमात्मनोऽपि । 'कघदा णिपिवेज्ज बुधो' कथमिदानीं पिबेद्बुध । 'महिलामुहजायकुणिमजलं' युवतिमुखगमुद्भवम- जलं ॥१०४३॥

अतो वहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चेव ॥१०४४॥

'अंतो बहिं च मज्झे' अन्तर्बहिर्मध्ये । 'को वि सारो सरीरगे णत्थि' शरीरेऽङ्गे सारभूत न किंचिदस्ति । डगो वा णिस्सारो सव्वहि चेव' साररहितः सर्वत्र चैव ॥१०४४॥

चमरीवालं खग्गिविसाणं गयदंतसप्पमणिगादी ।
दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि ॥१०४५॥

'चमरीबालं' चमरीणां रोमाणि । 'खग्गिविसाणं' खङ्गिनां मृगाणां विषाण । गजानां दन्ताः । सर्पाणा दिक च दृष्ट सारभूतं । 'ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि' नास्ति किंचित्सार मनुष्यदेहे ॥१०४५॥

से मांसभोजी जन खाते हैं वैसे ही कामीजन स्त्रीके दुर्गन्धयुक्त शरीरको तेल फुलेल आदिसे सित करके भोगते हैं ॥१०४०–१०४१॥

गा०—जैसे मोरका शरीर स्वभावसे ही सुन्दर होता है वैसे ही यदि सुगन्धयुक्त तेलसे र्दन, उबटन, स्नान, आदिके विना स्वभावसे यह शरीर शोभायुक्त होता तो उसे सुन्दर कहना त होता ॥१०४२॥

गा०—यदि मनुष्य बाहरमें पड़े अपने कफको भी छूनेमें ग्लानि करता है तो ज्ञानीपुरुष की स्त्रीके मुखसे उत्पन्न हुई दुर्गन्धयुक्त लारको कैसे पीवेगा ॥१०४३॥

गा०—अन्तरमें, बाहरमें और मध्यमें शरीरमें कुछ भी सार नहीं है। ऐरण्डके वृक्षकी ह शरीर पूर्णरूपसे नि सार है ॥१०४४॥

गा०—चमरी गायकी पूँछके बाल, गैंडे या हिरनके सींग, हाथीके दाँत, सर्पकी मणि, दि शब्दसे मयूरके पंख, मृगकी कस्तूरी आदि अवयव तो सारभूत देखे गये हैं अर्थात् इन सबके रोंमें तो कुछ सार है किन्तु मनुष्यके शरीरमें कोई सार नहीं है ॥१०४५॥

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरीरमिमं ।
सोभेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥१०४२॥

'अब्भंगादीहिं विणा' सुगन्धतैलेन म्रक्षणं, उद्वर्तनं, स्नानमालेपनमित्यादिभिर्विना । 'सभावदो चेव सोभेज्ज इमं सरीरं' स्वभावत एव यदि शोभेत इदं शरीरं । 'मोरदेहुव्व' मयूरदेहवत् । 'होज्ज तो णाम सोभा' भवेत्तत् स्फुट देहस्य शोभा ॥१०४२॥

जदि दा विहिंसदि णरो आलद्धुं पडिदमप्पणो खेलं ।
कधदा णिपिवेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमजलं ॥१०४३॥

'जदि दा विहिंसदि णरो आलद्धुं पडिदमप्पणो खेलं' यदि मानवो जुगुप्सते स्प्रष्टुमात्मनोऽपि । 'कधदा णिपिवेज्ज बुधो' कथमिदानीं पिबेद्बुध । 'महिलामुहजणिदकुणिमजलं' युवतिमुखसमुद्भवम-ध्यम्लं ॥१०४३॥

अंतो बहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चेव ॥१०४४॥

'अंतो बहि च मज्झे' अन्तर्बहिर्मध्ये । 'को वि सारो सरीरगे णत्थि' शरीरके सारभूत न किंचिदस्ति । 'एरंडगो वा णिस्सारो सव्वहि चेव' साररहितः सर्वत्र नैव ॥१०४४॥

चमरीबालं खग्गिविसाणं गयदंतसप्पमणिगादी ।
दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि ॥१०४५॥

'चमरीबालं' चमरीणां रोमाणि । 'खग्गिविसाणं' खड्गिनां मृगाणां विषाणं । गजानां दन्ताः । सर्पगजादिक च दृष्ट सारभूत । 'ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि' नास्ति किंचित्सार मनुष्यदेहे ॥१०४५॥

को मांसभोजी जन खाते हैं वैसे ही कामीजन स्त्रीके दुर्गन्धयुक्त शरीरको तेल फुलेल आदिसे सित करके भोगते हैं ॥१०४०-१०४१॥

गा०—जैसे मोरका शरीर स्वभावसे ही सुन्दर होता है वैसे ही यदि सुगन्धयुक्त तेलसे लेप, उबटन, स्नान, आदिके विना स्वभावसे यह शरीर शोभायुक्त होता तो उसे सुन्दर कहना उन होता ॥१०४२॥

गा०—यदि मनुष्य बाहरमें पड़े अपने कफको भी छूनेमें ग्लानि करता है तो ज्ञानीपुरुष ती स्त्रीके मुखसे उत्पन्न हुई दुर्गन्धयुक्त लारको कैसे पीवेगा ॥१०४३॥

गा०—अन्तरमें, बाहरमें और मध्यमें शरीरमें कुछ भी सार नहीं है। ऐरण्डके वृक्षको ह शरीर पूर्णरूपसे निःसार है ॥१०४४॥

गा०—चमरी गायकी पूँछके बाल, गेंडे या हिरनके सींग, हाथीके दाँत, सर्पकी मणि, दि शब्दसे मयूरके पंख, मृगकी कस्तूरी आदि अवयव तो सारभूत देखे गये हैं अर्थात् इन सबके रोमें तो कुछ सार है किन्तु मनुष्यके शरीरमें कोई सार नहीं है ॥१०४५॥

दाना। 'सा चेव होदि संकुडिदंगी' सैव भवति संकुचिततनुः। 'विरसा' कामरसरहिता। 'परिजुण्णा' परितो जीर्णा कम्पुटीव ॥१०४९॥

जा सव्वसुंदरंगी सविलासा पढमजोव्वणे कंता।
सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीभच्छा ॥१०५०॥

'जा सव्वसुंदरंगी' यस्याः सर्वाणि अङ्गानि सुन्दराणि। 'सविलासा' विलाससहिता। 'पढमजोव्वणे' प्रथमयौवने। 'कंता' कान्ता। 'सा चेव मदा संती' सैव मृता सती। 'होदि हु विरसा' भवति विरसा। 'बीभच्छा' जुगुप्सनीया ॥१०५०॥

शरीरगतसौन्दर्यस्याध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन। दम्पत्योः संयोगस्याध्रुवतां व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुव्वं सा वा पुव्वं मरिज्ज से कंता।
जीवंतस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिएहिं ॥१०५१॥

'मरदि सयं वा पुव्वं' म्रियते स्वयं वा पूर्वं पुमान्। 'सा वा पूर्वं म्रियेत'। 'से' तस्य पुंसः कान्ता। 'जीवंतस्स' जीवतो वा, सा जीवन्ती ह्रियते 'बलिएहिं' बलिभिः परैः। इत्थं संयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥१०५१॥

सा वा हवे विरत्ता महिला अण्णेण सह पलाएज्ज।
अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमणस्साणि ॥१०५२॥

'सा वा होज्ज विरत्ता' सा सर्वेन्द्रियरक्ता पुंसि तथापि तयोः संगतिः। 'महिला अण्णेण वा सह पलाएज्ज' सा विरक्ता पुरुषान्तरेण वा सह पलायनं कुर्यात्। 'अपलायन्ती' अपलायमाना वा। 'तगी' सा। 'करेज्ज से वेमणस्साणि' कुर्यात्तस्य चेतोदुःखानि ॥१०५२॥

शरीरस्याध्रुवतामाचष्टे—

अंगवाली, शृङ्गार हास्य आदि काम रससे रहित अत्यन्त जीर्ण झोंपडीकी तरह दिखाई देती है ॥१०४९॥

गा०—जो स्त्री यौवनके प्रारम्भमें सर्वांगसुन्दर तथा विलाससे पूर्ण थी वही मरनेपर विरस और ग्लानियोग्य दिखाई देती है ॥१०५०॥

इस प्रकार दो गाथाओंसे शरीरकी सुन्दरताको अस्थायी कहा। अब पति-पत्नीके संयोगको अस्थायी कहते हैं—

गा०—पहले पति मर जाता है अथवा पहले पत्नी मर जाती है। अथवा पतिके जीवित रहते हुए अन्य बलवान् पुरुष उसकी जीवित पत्नीको हरकर ले जाते हैं। इस प्रकार पति-पत्नी-संयोग अनित्य होता है ॥१०५१॥

गा०—अथवा पत्नी पतिसे विरक्त हो जाती है और विरक्त होकर वह दूसरेके साथ भाग जाती है। न भी भागे तो पतिके चित्तको दुःख देनेवाले कार्य करती है ॥१०५२॥

अब शरीरकी अस्थिरता बतलाते हैं—

रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि चिट्ठंति सारवेंतस्स ।
धणिदं पि सारवेंतस्स ठादि ण चिरं सरीरमिमं ॥१०५३॥

'रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि' काष्ठे उत्कीर्णानि रूपाणि कर्मणा [illegible] पाषाणे च [illegible] दन्तादिरूपपरिग्रहश्चिरं 'चिट्ठंति सारवेंतस्स' चिरं तिष्ठन्ति [illegible] । 'धणिदं पि सारवेंतस्स' नितान्तमपि संस्कुर्वत । 'ठादि ण चिरं शरीरमिमं' न तिष्ठति चिरं शरीरमिदं ॥१०५३॥

न च केवलं शरीरमेव अनित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदो व मणुयाण ।
इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं ॥१०५४॥

'मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदोव' मेघवदिमवत्फेनवदुल्कावत्सन्ध्यावज्जलबुद्बुदवच्च । 'मणुयाणं' मनुजानां । 'इंदियजोव्वणमदिरूवतेजबलवीरियमणिच्चं' इन्द्रियाणि, यौवनं, मति, रूपं तेजो, बलं वीर्यं चानित्यं ॥१०५४॥

झटिति शरीरसम्पद्व्यावर्तनं इत्याख्यानकं दर्शयति—

साधुं पडिलाहेदुं गदस्स सुरयस्स अग्गमहिसीए ।
णट्ठं सदीए अंगं कोढेण जहा मुहुत्तेण ॥१०५५॥

'साधु पडिलाहेदुं गदस्स' साधोराहारदानार्थं गतस्य । 'सुरयस्य' सुरतनामधेयस्य राज्ञः । 'अग्गमहिसीए' अग्रमहिष्या । 'सदीए' सत्या शोभनाया । 'अंगं णट्ठं' शरीरं नष्टं । 'कोढेण' कुष्ठेन 'जहा मुहुत्तेण' यथा मुहूर्तेन ॥१०५५॥

वज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुरं च खादि तंबोलं ।
कालेण य णिज्जंतो विसए सेवंति तह मूढा ॥१०५६॥

गा०—सार सम्हाल करनेपर काष्ठ, पाषाण, हाथी दाँत आदिमें अंकित किये गये स्त्री पुरुषोंके रूप चिरकाल तक रहते हैं। किन्तु यह शरीर अति सम्हाल करनेपर भी चिरकाल तक नहीं रहता ॥१०५३॥

आगे कहते हैं कि केवल शरीर ही अनित्य नहीं है किन्तु वस्तुएँ भी अनित्य हैं—

गा०—मनुष्योंके इन्द्रियाँ, यौवन, मति, रूप, तेज, बल और वीर्य ये सब मेघ, बर्फ, फेन, उल्का, सन्ध्या और जलके बुलबुलेकी तरह अनित्य हैं ॥१०५४॥

शरीररूप सम्पदा झट नष्ट हो जाती है यह एक कथा द्वारा कहते हैं—

गा०—राजा सुरत साधुको आहार देने गया। इतनेमें ही उसकी पटरानी सतीका शरीर एक मुहूर्तमें ही कोढ़से नष्ट हो गया ॥१०५५॥

गा०—जैसे मारनेके लिए कोई किसी पुरुषको ले जाये और वह पुरुष मरनेकी चिन्ता न करके शराब पिये और पान खाये। वैसे ही मूढ़ मनुष्य मृत्युकी चिन्ता न करके विषयोंका सेवन करते हैं ॥१०५६॥

'वज्झो य णिज्जमाणो' हन्तुं नियमानः । 'जह पियइ' यथा सुरां पिबति । 'खादि तबोलं' ताम्बूलं भक्षयति । तथा 'कालेण य णिज्जंता' मृत्युना नीयमाना मूढा । 'विसए सेवंति' विषयाननुभवन्ति ॥१०५६॥

वग्घपरद्धो लग्गो मूले य जहा ससप्पविलपडिदो ।
पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ मूलम्मि छिज्जंते ॥१०५७॥

'वग्घपरद्धो' व्याघ्रेणाभिद्रुत. । 'लग्गो' लग्न । 'मूलम्मि' लतायाः मूले । 'ससप्पविलपडिदो' ससर्पवति बिले पतित । 'पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ' स स्वमुखवदनपतितमधुबिन्द्वास्वादनरतिक । 'मूलम्मि' 'छिज्जंते' मूले छिद्यमाने मूषिकाभिर्यथा ॥१०५७॥

तह चेव मच्चुवग्घपरद्धो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि ।
संसारविले पडिदो आसामूलम्मि संलग्गो ॥१०५८॥

'तह चेव' तथैव । 'मच्चुवग्घपरद्धो' मृत्युव्याघ्रेण उपद्रुत । 'संसारबिले पडिदो' संसार एव बिल तस्मिन्पतित । कीदृग्भूते ? बहुदु खसर्पाकुले आशामूले । 'संलग्गो' सम्यग्लग्नः ॥१०५८॥

बहुविग्घमूसएहिं आसामूलम्मि तम्मि छिज्जंते ।
लेहदि तहवि अलज्जो अप्पसुहं विसयमधुबिंदु ॥१०५९॥

'बहुविग्घमूसगेहि य' बहुभिर्विघ्नमूषकैः । 'आसामूलम्मि तम्मि छिज्जंते' आशाख्ये मूले तस्मिश्छिद्यमाने । 'लेहदि' खादति । 'विसयविलज्जो' निर्भयो निर्लज्जश्च । 'अप्पसुह विसयमधुबिंदु' अल्पसुख विषयमधुबिन्दु । अल्पसुखनिमित्तत्वादल्पसुखमित्युच्यते । विषयमधुबिन्दु विषयशब्देन रूपादय इत्युच्यन्ते । तेषु पुरोऽवस्थितं पुद्गलस्कंधस्य वर्तमानाः कतिपया पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुबिन्दवः । अधुवम् ॥१०५९॥

गा०-टी०—जैसे पीछे लगे व्याघ्रके भयसे भागता हुआ कोई मनुष्य एक ऐसे कूपमें गिरा जिसमें सर्प रहता था। उस कूपकी दीवारमें एक वृक्ष उगा था। उसकी जड़को पकड़कर वह लटक गया। उस जड़को चूहे काट रहे थे। किन्तु उस वृक्षपर मधुमक्खियोंका एक छत्ता लगा था और उसमेंसे मधुकी बूँद टपककर उसके ओठोंमें आती थी। वह मकट मूल उसी मधुबिन्दुके स्वादमें आसक्त था ॥१०५७॥

गा०—उसी मनुष्यकी तरह मृत्युरूपी व्याघ्रसे भीत प्राणी अनेक दु.खरूपी सर्पोसे भरे संसार कूपमें पड़ा है और आशारूपी जड़को पकड़े हुए है ॥१०५८॥

गा०-टी०—किन्तु उस आशारूप जड़को बहुतसे विघ्नरूपी चूहे काट रहे हैं। फिर भी वह निर्लज्ज निर्भय होकर क्षणिक सुखमें निमित्त विषयरूपी मधुकी बूँदके आस्वादमें डूबा हुआ है। यहाँ विषय शब्दमें रूप आदिको कहा है। उसके सामने वर्तमान जो पुद्गल स्कन्धकी कुछ थोड़ी-सी पर्यायें हैं वे ही मधुकी बूँद है। उसीमें वह आसक्त है ॥१०५९॥

इस प्रकार संसारकी अनित्यताका कथन किया।

---

१. ण अभिद्रुत.-आ० मु०। २. दि विभयविल-आ० मु०।

वृद्धसेवानिरूपणाय उत्तरः प्रबन्धः थेरावा तरुणा वा इत्यादिकः । शीलवृद्धता भवति न केवलेन वयसा इत्याचष्टे—

थेरा वा तरुणा वा वुड्ढा सीलेहिं होंति वुड्ढीहिं ।
थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ॥१०६४॥

'थेरा वा तरुणा वा' स्थविरास्तरुणाश्च । 'वुड्ढा होंति' वृद्धा भवन्ति । 'सीलेहिं वुड्ढेहिं' शीलैः प्रवृद्धैः । क्षमा, मार्दवं, ऋजुत्वं, सन्तोषं इत्यादिकं शीलशब्देनोच्यन्ते । 'थेरा वा तरुणा वा' स्थविरास्तरुणाश्च । तरुणा एव । 'सीलेहिं तरुणेहिं' तरुणैः शीलैः । एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धशब्देन गृहीता । एतेषां सेवा वृद्धसेवेति वर्णितं भवति । वृद्धगुणानां सेवात स्वयमपि गुणोत्कर्षमुपैतीति मन्यते ॥१०६४॥

अपि 'चेद्वयस्यादितामवयोवृद्धानामपि समर्गो गुणवान्यतस्तेऽपि वयसैव' मन्दीभूतकामरतिदर्पक्रीडा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह णरसदि णरस्स बलरूवं ।
मंदा य हवदि कामरदिदप्पक्रीडा य लोभे य ॥१०६५॥

'जह जह वयपरिणामो' अतिक्रामति यथा यथा वयःपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंज्ञित । 'णरस्स परिणामो' प्राणिनः परिणामः नश्यति । 'तध तध से' तथा तथा तस्य 'मंदा हवंति' मन्दा भवन्ति । 'कामरदिदप्पक्रीडा' काम्यन्त इति कामा विषयास्तत्र रतिर्दर्पः, क्रीडा, 'लोभो य' लोभश्च । मन्दविषयरत्यादिपरिणामेन वृद्धेन सह संवासात् स्वयमेवापि मन्दकामादिपरिणामो भवतीति भाव ॥१०६५॥

खोभेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसण्णमवि पंकं ।
खोभेइ तहा मोहं पसण्णमवि तरुणसंसग्गी ॥१०६६॥

आगे वृद्धसेवाका कथन करते हुए कहते हैं कि केवल अवस्यासे वृद्धता नहीं होती—

गा०-टी०—अवस्थासे वृद्ध हो अथवा तरुण हो, जिसके शील अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि बढ़े हुए हैं वे वृद्ध हैं। तथा अवस्थामें वृद्ध हों अथवा तरुण हों जिनके शील तरुण हैं—वृद्धिको प्राप्त नहीं हैं वे तरुण हैं। अतः यहाँ जो शीलसे वृद्ध हैं वृद्ध शब्दसे उनका ग्रहण किया है। उनकी सेवा वृद्ध सेवा है, यह कथनका अभिप्राय है। गुणोंमें वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेसे स्वयं भी मनुष्य गुणोंमें उत्कर्षको प्राप्त होता है ॥१०६४॥

आगे कहते हैं कि अवस्थासे वृद्धोंका ससर्ग भी लाभकारी है क्योंकि अवस्थाके कारण ही उनका कामज्वर आदि मन्द हुआ है—

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यकी युवावस्था, मध्यावस्था बीतती जाती है वैसे-वैसे उसकी काम-विषयक रति, मद, लोभ आदि मन्द होते जाते हैं। इसका भाव यह है कि जिसका कामभावरूप परिणाम मन्द होता है उस वृद्धके साथ रहनेसे मनुष्य स्वयं भी मन्द कामभाव आदिसे युक्त होता है ॥१०६५॥

---

१. चेह यत्यादीनामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेपि तपसैव—आ० मु०। २ वयसैव सम्यग्भूत काम—अ०।

'खोभेदि' क्षोभयति । 'पत्थरो' शिला पतन्ती । 'जह' यथा । 'दहे' ह्रदे 'पडंतो' पतन् । 'पसण्णमवि पंकं' प्रशान्तमपि पङ्कं । 'खोभेदि' चालयति । 'तथा मोहं' । पसण्णमवि' प्रशान्तमपि । 'तरुणसंसग्गी' तरुणगोष्ठी ॥१०६६॥

कलुसीकदंपि उदगं अच्छं जह होइ कदगजोगेण ।
कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुड्ढसेवाए ॥१०६७॥

'कलुसीकदंपि उदगं' कलुषीकृतमप्युदकं । 'कदगजोगेण' कतकफलसम्बन्धेन । 'अच्छं' स्वच्छं । 'जह होदि' यथा भवति । 'कलुसोवि' कलुषितोऽपि । 'मोहो' मोह । 'उवसमदि' उपशाम्यति । 'वुड्ढसेवाए' वृद्धसेवया ॥१०६७॥

लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ।
लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥१०६८॥

'लीणो वि' लीनोऽपि । 'मट्टियाए' मृत्तिकाया । 'गंधो' गन्ध । यथा 'जलासयेण' जलाश्रयेण । 'उदीरदि' उदयमुपैति । 'लीणो वि मोहो' लीनोऽपि नरे मोह । 'उदीरदि' उदयमुपनीयते । 'तरुणासयेण' तरुणाश्रयेण तथा ॥१०६८॥

संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ।
जह तह गुट्ठीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥१०६९॥

'संतो वि' सन्नपि मृत्तिकाया गन्ध । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठ्या विना मोहो नरस्य लीनो भवति ॥१०६९॥

तरुणो वि वुड्ढसीलो होदि णरो वुड्ढसंसिओ अचिरा ।
लज्जासंकामाणावमाणभयधम्मबुद्धीहिं ॥१०७०॥

गा०—जैसे तालाबमें गिरकर पत्थर उसकी तलमें बैठी हुई पंकको उभारकर निर्मल जलको मलिन कर देता है, वैसे ही तरुणोंका संसर्ग प्रशान्त पुरुषके भी मोहको उद्रिक्त कर देता है ॥१०६६॥

गा०—और जैसे कतकफल डालनेसे गदला पानी भी निर्मल हो जाता है वैसे ही वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे कलुषित मोह भी शान्त हो जाता है ॥१०६७॥

गा०—जैसे मिट्टीमें छिपी हुई गन्ध जलका आश्रय पाकर प्रकट हो जाती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गसे मनुष्यमें छिपा हुआ मोह उदयमें आ जाता है ॥१०६८॥

गा०—और जैसे मिट्टीमें वर्तमान होते हुए भी गन्ध जलके बिना मिट्टीमें ही लीन रहती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गके बिना मनुष्यका मोह उसीमें लीन रहता है, बाहरमें प्रकट नहीं होता ॥१०६९॥

गा०—वृद्ध पुरुषोंके संसर्गसे तरुण भी शीघ्र ही लज्जासे, शंकासे, मानसे, अपमानके भयसे और धर्मबुद्धिसे वृद्धशील हो जाता है ॥१०७०॥

'तरुणो वि' तरुणोऽपि । वृद्धशीलो भवति । वृद्धैः सह संसर्गात् लज्जया, शंकया, मानेन, अपमानभयेन धर्मबुद्ध्या च ॥१०७०॥

वुड्ढो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिओ अचिरा ।
वीसंभणिव्विसंको समोहणिज्जो य पयडीए ॥१०७१॥

'वुड्ढो वि' वृद्धोऽपि तरुणशीलो भवति तरुणसंश्रितः शीघ्रं । 'विस्संभणिव्विसंको' विश्रम्भेन निःशंकः 'समोहणिज्जो य' समोहनीयेन वर्तमानः । 'पयडीए' प्रकृत्या ॥१०७१॥

सुंडपसंगम्मीए जह पादुं सुंडओभिलसदि सुरं ।
विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोट्ठीए ॥१०७२॥

'सुंडपसंगम्मीए' यथा शौण्डगोष्ठ्या । 'जह पादु सुरमभिलसदि' यथा पातुं सुरामभिलषति । तथा 'पयडीए संमोहो' तथा प्रकृत्या समोहः । 'तरुणगोट्ठीए विसए अभिलसदि' तरुणगोष्ठ्या विषयानभिलषति ॥१०७२॥

तरुणेहिं सह वसंतो चलिंदिओ चलमणो य वीसत्थो ।
अचिरेण सइरचारी पावदि महिलाकदं दोसं ॥१०७३॥

'तरुणेहिं' तरुणैः सह वसन् चलेन्द्रियश्चलचित्तः, सुष्ठु विश्वस्तः अचिरेण स्वैरचारी । 'पावदि' प्राप्नोति । 'महिलाकदं दोसं' वनिताविषयं दोषं ॥१०७३॥

पुरिसस्स अप्पसत्थो भावो तिहिं कारणेहिं संभवइ ।
[1]विरहम्मि अंधयारे कुसीलसेवाए सप्पक्खं ॥१०७४॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य अप्रशस्तो भावस्त्रिभिः कारणैः संभवति । एकान्ते, अन्धकारे, कुशीलसेवादर्शनेन च प्रत्यक्षम् ॥१०७४॥

गा०—तथा तरुण पुरुषोंकी संगतिसे वृद्ध पुरुष भी शीघ्र ही विश्वासके कारण निर्भय होनेसे और स्वभावसे ही मोहयुक्त होनेसे तरुणशील तरुणोंके स्वभाववाला हो जाता है ॥१०७१॥

गा०—जैसे मद्य पीनेवालोंके संसर्गमें मद्यपी मद्यपान करनेकी अभिलाषा करने लगता है वैसे ही स्वभावसे ही मोही जीव तरुणोंके संसर्गसे विषयोंकी अभिलाषा करता है ॥१०७२॥

गा०—जो तरुणोंकी संगतिमें रहता है उसकी इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, मन चंचल होता है, और पूरा विश्वासी होता है। फलतः शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर स्त्रीविषयक दोषोंका भागी होता है ॥१०७३॥

पुरुषमें (और स्त्रीमें भी) तीन कारणोंसे अप्रशस्तभाव अर्थात् काम सेवनकी अभिलाषा युक्भाव होता है—

गा०—एकान्तमें स्त्रीके साथ पुरुषका और पुरुषके साथ स्त्रीका होना, अन्धकारमें तथा स्त्री पुरुषके काम सेवनको प्रत्यक्ष देखनेपर ॥१०७४॥

---

१. विपदम्मि मु०, मूलारा० ।

आलोयणेण हिदयं पचलदि पुरिसस्स अप्पसारस्स ।
पेच्छंतयस्स बहुगो इत्थीयणजहणवदणाणि ॥१०७९॥

आलोकनेन आभाषणेन । हृदयं हृदयं प्रचलति । अल्पधैर्यस्य पुंसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीनां वदनजघनस्तनपुष्टजघनानि ॥१०७९॥

लज्जं तदो विहिंसं परिजयमध णिव्विसंकिदं चेव ।
लज्जालुओ कमेणारुहंतओ होदि वीसत्थो ॥१०८०॥

'लज्जं तदो विहिंसं' ततो हृदयचलनानन्तरं लज्जां विनाशयति । विश्रम्भाय परिचयमुपैति । तासां दर्शनसमीपगमनहसनादिकं करोतीति यावत् । पश्चान्निःशङ्को भवतीति मामनया सह स्थितं पश्यन्ति इति वा शङ्कां नाम्नात्करोति । लज्जावानपि नरः क्रमेण अभिहिता अवस्था उपारोहन्, विश्वस्तो भवति ॥१०८०॥

वीसत्थदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयादि ।
वीसंभादो पणयो पणयादो रदि हवदि पच्छा ॥१०८१॥

'वीसत्थदाए' विश्वस्ततया मनसः विश्रम्भमुपयाति युवतिषु । विश्रम्भात्प्रणयः प्रणयाद्रतिर्भवति ॥१०८१॥

उल्लावणसमुल्लावणेहिं वा वि अल्लियणपेच्छणेहिं तहा ।
महिलासु सइरचारिस्स मणो अचिरेण खुब्भदि हु ॥१०८२॥

'उल्लावणसमुल्लावणेहिं' संभाषणप्रतिवचनैः, ढौकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्वेच्छाचारी तस्य शीघ्रं मनश्चलति ॥१०८२॥

ठिदिगदिविलासविब्भमसहासचेट्ठिदकडक्खदिट्ठीहिं ।
लीलाजुदिदिदसम्मेलणोवचारेहिं इत्थीणं ॥१०८३॥

गा०—युवती स्त्रियोंका मुख, स्तन और स्थूल नितम्बोंको बराबर ताकते रहनेसे चंचल चित्त मनुष्यका हृदय विचलित हो जाता है ॥१०७९॥

गा०-टी०—हृदयके विचलित होनेके पश्चात् उसकी लज्जा जाती रहती है। निर्लज्ज होनेके पश्चात् वह उन स्त्रियोंको देखना, उनके समीप जाना, उनसे हँसी ठठोली करना आदिके द्वारा परिचय प्राप्त करता है। पीछे उसका यह भय जाता रहता है कि लोग मुझे इनके साथ देखेंगे। इस तरह लज्जाशील मनुष्य भी क्रमसे कही गई अवस्थाओंको प्राप्त करता हुआ स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त हो जाता है कि यह मुझसे अनुराग करती है और किसीसे यह कहेगी नहीं आदि ॥१०८०॥

गा०—अपने मनमें ऐसा विश्वास होनेसे वह स्त्रियोंमें भी विश्वास करने लगता है और प्रेमसे आसक्ति बढ़ती है ॥१०८१॥

गा०—आसक्ति बढ़नेसे परस्परमें वार्तालाप होने लगता है। बार-बार मिलना और परस्पर देखना होता है। इससे स्त्रियोंके सम्बन्धमें स्वेच्छाचारी मनुष्यका चित्त शीघ्र ही विचलित हो जाता है ॥१०८२॥

'ठिदिगदि'—स्त्रीणां स्थित्या, गत्या विभ्रमेण, नर्तनाभिप्रायेण, निगूहनेन, कटाक्षनिरीक्षणेन, शोभया, द्युत्या, क्रीडया, सहगमनागमनादिना उपचारेण च ॥१०८३॥

हासोवहासकीडारहस्सवीसत्थजंपिएहिं तहा ।
लज्जामज्जादीणं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥१०८४॥

'हासोपहासक्रीडा' हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकान्ते विश्वस्तजल्पितेन च लज्जामर्यादयो सीमातिक्रमं करोति नरः ॥१०८४॥

ठाणगदिपेच्छिदुल्लावादी सव्वेसिमेव इत्थीणं ।
सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥१०८५॥

'ठाणगदि' स्थान, गति, प्रेक्षितमुल्लापमित्यादय सर्वासामेव स्त्रीणां सविलासाः पुरुषस्य मनः सदापहरन्ति ॥१०८५॥

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ।
अग्गिसमीवे[1] व घयं मणो लहुमेव हि विलाइ ॥१०८६॥

'संसग्गीए' सहगमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मनो द्रवीभवति । अग्निनिकटस्थिता लाक्षेव ॥१०८६॥

संसग्गीसम्मूढो मेहुणसहिदो मणो हु [2]दुम्मेरो ।
पुव्वावरमगणंतो [3]लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥१०८७॥

'संसग्गीसम्मूढो' स्त्रीसंसर्गसंमूढं मनो मिथुनकर्मपरिणतं निर्मर्याद पूर्वापरमगणयदुल्लंघयेच्छीलप्राकारं ॥१०८७॥

गा०-टी०—तथा स्त्रियोंके खडे होने, गमन करने नेत्रोंके अनुराग, कटाक्ष क्षेप, हास्यपूर्ण चेष्टा, शोभा, कान्ति, क्रीडा, साथ-साथ चलना, बैठना आदि उपचारोंसे, हास उपहाससे, तथा एकान्तमें विश्वासयुक्त वार्तालापसे पुरुष लज्जा और मर्यादाकी सीमाका उल्लंघन करता है ॥१०८३-१०८४॥

गा०—सब ही स्त्रियोंका विलास सहित खडा होना, गमन करना, देखना, बोलना आदि सदा पुरुषोंके मनको हरता है ॥१०८५॥

गा०—निर्बल चित्त और स्वेच्छाचारी मनुष्यका मन स्त्रियोंके संसर्गसे उनके साथ उठने बैठने और आने जानेसे आगके पासमें रखे घी या लाखकी तरह द्रवीभूत हो जाता है ॥१०८६॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके सहवाससे मूढ-मोहित हुआ मन मैथुन संज्ञासे पीडित होकर निर्मर्याद हो जाता है और आगे पीछे न देखते हुए सुन्दर शीलरूपी परिकोटको लांघ जाता है ॥१०८७॥

---

१. वं लहुमेव म–मु० । २ दुम्मरा–मूलारा० । ३ उद्घंघदि उल्लंघयति–मूलारा० ।

इंदियकसायगण्णागारवगुरुया समावदो सव्वे ।
संसग्गिलद्धपसरस्स ते उदीरंति अचिरेण ॥१०८८॥

'इंदियकसायसण्णागारवगुरुका' इंद्रियैः, कषायैः, संज्ञाभिराहारभयमैथुनपरिग्रहविषयाभिः ऋद्धिरस-सातगौरवैश्च गुरवः । स्वभावात् सर्वे एव प्राणभृतः संसर्गलब्धप्रसरस्य सतीव अशुभपरिणामा अचिरादेवो-दयन्ते ॥१०८८॥

मादं सुदं च भगिणीमेगंते अल्लियंतगस्स मणो ।
खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुण सेसासु महिलासु ॥१०८९॥

स्पष्टार्थं ॥१०८९॥

उत्तरा—

जुण्णं पोच्चलमइल रोगियवीभस्सदंसणविरूवं ।
मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरिय च खु णरस्स ॥१०९०॥

'जुण्णं' जीर्णतरां । 'पोच्चलमइलं' नि सारमलिनां । 'रोगियबीभस्सदंसणविरूवं' व्याधितां बीभत्स-दर्शनां विरूपामपि स्त्रियं । 'मेहुणपडिगं' मैथुनकर्मनिमित्त 'पच्छेदि' प्रार्थयते । 'मणो' मनः 'तिरियं खु' पशवो वा दृष्ट्वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यक्ष्वपि नराणां प्रवृत्ति ॥१०९०॥

दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण अभिलाससुमरणं सव्वं ।
एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥१०९१॥

'दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण' दृष्टानां, अनुभूतानां, श्रुतानां च विषयाणां । अभिलाससुमरणं' अभिलाष-स्मरण । 'सव्वं एसोवि होदि महिलासंसग्गी' एषोऽपि भवति युवतिसंसर्गः । 'इत्थिविरहे' स्त्रीविरहे ॥१०९१॥

थेरो बहुस्सुदो[1] वा पच्चइओ तह गणी तवस्सित्ति ।
अचिरेण लभदि दोसं महिलावग्गम्मि वीसत्थो ॥१०९२॥

गा०—स्वभावसे ही सब प्राणी इन्द्रिय, कषाय, आहार भय मैथुन और परिग्रह विषयक संज्ञा तथा ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरवसे युक्त होते हैं। अतः स्त्रीको संसर्गका साहाय्य पाकर वे इन्द्रियादिरूप अशुभ परिणाम तत्काल प्रबल हो उठते हैं ॥१०८८॥

गा०—एकान्तमें माता, पुत्री और बहनको पाकर जब मनुष्यका मन सहसा चंचल हो उठता है तब शेष स्त्रियोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥१०८९॥

गा०—मनुष्यका मन अति बूढ़ी, सारहीन, मैली, कुचैली, रोगी, देखनेमें भयानक कुरूप स्त्रीको भी मैथुन करनेके लिए चाहता है। तथा तीव्र कामके आवेशमें पशुओंके साथ भी मनुष्य मैथुन कर्म करता है ॥१०९०॥

अन्य प्रकारसे स्त्री संसर्ग दिखलाते हैं—

गा०—स्त्रीके अभावमें देखे हुए, भोगे हुए, सुने हुए विषयोंकी अभिलाषा करना, स्मरण करना, ये सब भी स्त्री संसर्ग ही है ॥१०९१॥

---

१. हो पव्वई पमाण सणा–मु० ।

सव्वम्मि इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सदा अवीसत्थो ।
बंभं णिच्छरदि वदं चरित्तमूलं चरणसारं ॥१०९७॥

'सव्वम्मि' सर्वस्त्रीवर्गे। अप्रमत्तः सदा अविश्वस्तः, ब्रह्मव्रतमुद्वहति चारित्रस्य मूलं सारं च ॥१०९७॥

किं मे जंपदि किं मे पस्सदि अण्णो कहं च वट्टामि ।
इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढबंभव्वदो होदि ॥१०९८॥

'किं मे जंपदि' किं जल्पति मां अन्योऽयं । किं पश्यति, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति य सदानुप्रेक्षते यत्ो दृढब्रह्मचर्यव्रतो भवति ॥१०९८॥

मज्झण्हदित्तिवसूरं व इत्थिरूवं ण पस्सदि चिरं जो ।
खिप्पं पडिसंहरदि दिट्ठिं सो णिच्छरदि बंभं ॥१०९९॥

'मज्झण्हदित्तिवसूरं व' मध्याह्ने स्थितं तीक्ष्णमादित्यमिव स्त्रीणां रूपं चिरं यो न पश्यति । क्षिप्रमुपसंहरति दृष्टिं यः स निस्तरति ब्रह्मचर्यं ॥१०९९॥

एवं जो महिलाए सद्दे रूवे तहेव संफासे ।
ण चिरं जस्स मज्जदि दु मण स्रु णिच्छरदि सो बंभं ॥११००॥

'एवं जो महिलाए' एवं यो युवतिशब्दे, रूपे, स्पर्शे च चिरं मनो न सज्जते स ब्रह्म निस्तरति । 'संफासे' ॥११००॥

इह परलोए जदि दे मेहुणविसुत्तिया हवे जण्हु ।
तो होहि समुवउत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥११०१॥

'इह परलोए' इह परलोके च यदि मैथुनपरिणामो भवेत् । पंचविधे स्त्रीवैराग्ये समुपयुक्तो भव । तदुपयोगाद्विनश्यत्यसावशुभस्य परिणाम इति सूरेरादेशः ॥११०१॥

गा०—जो पुरुष सम्पूर्ण स्त्री वर्गमें प्रमाद रहित है और सदा स्त्रियोंका विश्वास नहीं करता। वह ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है जो ब्रह्मचर्य व्रत चारित्रका मूल और उसका सार है ॥१०९७॥

गा०—अन्य लोग मेरे सम्बन्धमें क्या कहते हैं? मुझे किस दृष्टिसे देखते हैं? मेरी प्रवृत्ति कैसी है? ऐसा जो सदा विचार करता है उसका ब्रह्मचर्यव्रत दृढ होता है ॥१०९८॥

गा०—जो मध्याह्नकालके तीक्ष्ण सूर्यकी तरह स्त्रीके रूपको और देर तक नहीं देखता और शीघ्र ही अपनी दृष्टिको उसकी ओरसे हटा लेता है वह ब्रह्मचर्यका निर्वाह करता है ॥१०९९॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके शब्द, रूप और स्पर्शमें जिसका मन चिरकाल तक नहीं ठहरता, वह ब्रह्मचर्यका पालक होता है ॥११००॥

इस प्रकार स्त्री संसर्गके दोषोंका कथन किया।

गा०-टी०—हे क्षपक! यदि इस लोक और परलोकमें तुम्हारे मैथुन सेवनके परिणाम हों तो पाँच प्रकारके स्त्री वैराग्यमें मनको लगाओ। अर्थात् स्त्रीकृत दोष, मैथुनके दोष, स्त्री-

'सिंगारतरंगाए' शृङ्गारतरङ्गया, विलासवेगया, यौवनजलया, विहसितफेनया, न
ह्यते ॥११०५॥

ते अदिसूरा जे ते विलाससलिलमदिचवलरदिवेगं ।
जोव्वणणईसु तिण्णा ण य गहिया इत्थिगाहेहिं ॥११०६॥

'ते अदिसूरा' ते अतिशूराः । ये विलाससलिलामतिचपलरतिवेगां यौवननदीमुत्तीर्ण
युवतिग्राहैः ॥११०६॥

महिलावाहविमुक्का विलासपुंखा कडक्खदिट्ठिसरा ।
जण्ण वधंति सदा विसयवणचरं सो हवइ धण्णो ॥११०७

'महिलावाहविमुक्का' युवतिव्याधविमुक्ताः । विलासपुंखाः, कटाक्षदृष्टिशराः । य
विषयवने चरन्तं भवति स धन्य ॥११०७॥

विब्बोगतिक्खदंतो विलासखंधो कडक्कदिट्ठिणहो ।
पगिहरदि जोव्वणवणे जमित्थिवग्घो तगो धणो ॥११०८॥

'विब्बोगतिक्खदंतो' विलासखन्धो । विभ्रमतीक्ष्णदन्तो विलासस्कन्ध कटाक्षदृष्टिन
यौवनवने य युवतिव्याघ्र स धन्य ॥११०८॥

तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।
जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥११०९

गा०—स्त्री एक नदीके समान है। उसमे शृङ्गाररूप तरगे हैं। विलास
यौवनरूप जल है तथा मन्द-मन्द हँसना ही झाग है। ऐसी स्त्रीरूपी नदी मुनिव
सकती ॥११०५॥

गा०—यह यौवनरूप नदी विलासरूप जलसे पूर्ण है अति चंचल रतिरूप
है। जो इस यौवनरूप नदीको पारकर गये और स्त्रीरूपी मगरमच्छोंने जिन्हे नही
जगतमें अति शूरवीर हैं अर्थात् जवानीमें भी जिन्हे स्त्रीकी चाहने नही घेरा वे ही
हैं ॥११०६॥

गा०-टी०—विषयरूपी वनमे विचरण करने वाले जिस पुरुषको स्त्रीरूपी शि
छोड़े गये कटाक्षदृष्टिरूपी बाणोने नही बीधा वह धन्य है। इन बाणोंमें लगा
विलास है। विलासके साथ कटाक्ष दृष्टिरूपी बाण स्त्रीरूपी शिकारी विषयरूपी वन
करने वालों पर चलाता है। जो उससे बचे रहते हैं वे धन्य हैं ॥११०७॥

गा०—स्त्री व्याघ्रके समान है भृकुटि विकार उसके तीक्ष्ण दाँत है। विला
है। कटाक्षदृष्टि उसके नख है। यौवनरूपी वनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको
व्याघ्र नही पकड़ता, वह धन्य है ॥११०८॥

गा०—तीनों लोकरूपी वनको जलाने वाली और विषयरूपी वृक्षोसे प्रज्वलि

'तेल्लोक्काडविडहणो' त्रैलोक्याटविदहनः । कामाग्निर्विषयवृक्षे प्रज्वलितो यौवनतृणसञ्चरणचतुरं यस्य दहत्यसौ धन्यः ॥११०९॥

विसयसमुद्दं जोव्वणसलिलं हसियगइपेक्खिदुम्मीयं ।
धण्णा समुत्तरंति हु महिलामयरेहिं अच्छिक्का ॥१११०॥

'विसयसमुद्दं' विषयसमुद्रं । 'योवनसलिलं' हसनगमनप्रेक्षणतरङ्गनिचितं । धन्याः समुत्तरन्ति युवतिमकरैरस्पृष्टा ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यातं ॥ चतुर्थं ॥१११०॥

पञ्चममहाव्रतनिरूपणायोत्तरप्रबन्धः —

अब्भंतरबाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि ।
कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥११११॥

'अब्भंतरबाहिरगे' अभ्यन्तरान्बाह्यांश्च । 'सव्वे गंथे' सर्वान्ग्रन्थान् । 'तुमं विवज्जेहि' वर्जय भवान् । 'कदकारिदाणुमोदेहिं' कृतकारितानुमननैः । 'कायमणवयणजोगेहिं' कायेन मनसा वाचा वा ॥११११॥

तत्राभ्यन्तरपरिग्रहभेदं निरूपयति गाथा—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा ॥१११२॥

'मिच्छत्तवेदरागा' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं मिथ्यात्वं, वेदशब्देन स्त्रीपुन्नपुंसकवेदाख्यानां कर्मणां ग्रहणं । तज्जनिताः स्त्र्यादीनामन्योन्यविषयरागाः । स्त्रियः पुंसु रागः, पुंसो युवतिषु, नपुंसकस्योभयत्र । 'हस्सादिया य छद्दोसा' हास्यं, रतिररतिः शोको, भयं जुगुप्सेति । एते षड्दोषाः । 'चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा' चत्वारस्तथा कषायाश्चतुर्दशैते अभ्यन्तराः परिग्रहाः ॥१११२॥

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं धणधण्णकुप्पभंडाणि ।
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा ॥१११३॥

गा०—इस विषयरूप समुद्रमें यौवनरूप जल है, स्त्रीका हँसना चलना देखना उसकी लहरें हैं। और स्त्रीरूप मगरमच्छ है जो इन मगरमच्छोंसे अछूते रहकर इस समुद्रको पार करते हैं वे धन्य हैं ॥१११०॥

इस प्रकार चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रतका व्याख्यान हुआ। पंचम महाव्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! कृत कारित अनुमोदना और मन वचन कायसे तुम सब अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग करो ॥११११॥ मिथ्यात्व, वेद राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं ॥१११२॥

टी०—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है। वेद शब्दसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद नामक कर्मोंका ग्रहण किया है। उनके उदयसे उत्पन्न स्त्री आदिके पारस्परिक रागको यहाँ अन्तरंग परिग्रह कहा है। स्त्रियोंका पुरुषोंमें राग, पुरुषोंका स्त्रियोंमें राग और नपुंसकोंका दोनोंमें राग पारस्परिक राग है ॥१११२॥

'बाहिरसंगा' बाह्यपरिग्रहाः। 'खेत्तं' कर्षणाद्यधिकरणं। 'वत्थु' वास्तु गृहं। 'धणं' सुवर्णादि। 'धण्णं' धान्यं व्रीह्यादि। 'कुप्पं' कुप्यं वस्त्रं। 'भंडं' भाण्डशब्देन हिङ्गुमरिचादिकमुच्यते। दुपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गादि। 'चउप्पय' शब्देन हस्त्यश्वादयश्चतुष्पदाः। 'जाणाणि' शिबिकाविमानादिकं यानं। 'सयणासणं' शयनानि आसनानि च ॥१११३॥

बाह्यमलनिराकरणमन्तरेणाभ्यन्तरकर्ममलं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रवीर्याव्याबाधत्वनाम्नामात्मगुणानां छादकं व्यापृतं न निराकर्तुं शक्यते इत्येतद्दृष्टान्तमुखेनाचष्टे—

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥१११४॥

'जह कुंडओ ण सक्को' तुषसहितस्य तण्डुलस्याभ्यन्तरं मलं बाह्ये तुषेऽनपनीते यथा शोधयितुमशक्यं। तथा बाह्यपरिग्रहमलसंसक्तस्याभ्यन्तरकर्ममलं अशक्यं शोधयितुमिति गाथार्थः। सपरिग्रहस्य कस्मान्न कर्मविमोक्षः? जीवाजीवद्रव्ये बाह्यपरिग्रहशब्देनोच्येते। तौ च सर्वदा सर्वत्र सन्निहिताविति बन्धक एवायमात्मा स्यादिति। एवं च मुक्त्यभाव इति चोदिते, न तयोः सम्बन्धहेतुता किं तु लोभादयः परिणामाः। लोभादिपरिणामहेतुकं बाह्यद्रव्यग्रहणं ॥१११४॥

अतो यो बाह्यमुपादत्तेऽभ्यन्तरपरिणाममन्तरेण नैवादत्ते इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा।
तो तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ ॥१११५॥

गा०—खेती आदिका स्थान क्षेत्र, मकान, सुवर्ण आदि धन, जौ आदि धान्य, कुप्य अर्थात् वस्त्र, भाण्ड शब्दसे हींग मिर्च आदि, दुपद शब्दसे दास दासी सेवक आदि, हाथी घोड़े आदि चौपाये, पालकी विमान आदि यान तथा शयन आसन आदि ये दस बाह्य परिग्रह हैं ॥१११३॥

बाह्य परिग्रहके त्याग किये बिना ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अव्याबाधत्व नामक आत्म गुणोंको ढाँकने वाले अभ्यन्तर कर्ममलको दूर नहीं किया जा सकता, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे तुष सहित चावलका तुष दूर किये बिना उसका अन्तर्मलका शोधन करना शक्य नहीं है। वैसे ही जो बाह्य परिग्रहरूपी मलसे सम्बद्ध है उसका अभ्यन्तर कर्ममल शोधन करना शक्य नहीं है।

शंका—परिग्रह सहित व्यक्तिका कर्मबन्धनसे छुटकारा क्यों नहीं होता। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य बाह्य परिग्रह कहे जाते हैं। और वे दोनों सदा सर्वत्र जीवके समीप रहते है अतः आत्मा सदा कर्मका बन्धक ही रहेगा। और उसे कभी मुक्ति नहीं होगी।

समाधान—ऐसा नहीं है, उन जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यके निकट रहते हुए भी लोभादि-रूप परिणाम उनमें सम्बन्धमें कारण होते हैं। लोभादिरूप परिणामोंके कारण जीव बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है ॥१११४॥

अतः जो अभ्यन्तर लोभादि परिणामके बिना बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है, वह ग्रहण नहीं करता, यह कहते हैं—

रागो लोभोमोहो' ममेदं भावो राग, द्रव्यगतगुणासक्तिर्लोभ, परिग्रहेच्छा मोहो। ममेदं भाव' ता। किञ्चित् मम भवति शोभनमिति इच्छानुगत ज्ञानं। तीव्रोऽभिलाषो य परिग्रहगत स गौरवशब्दनो- ते। एते यदोदिता परिणामास्तदा ग्रन्थान्बाह्यान् ग्रहीतुं मन करोति नान्यथा। तस्मात् बाह्य गृह्णाति रिग्रह स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामवानेवेति कर्मणां बन्धको भवति। ततस्त्याज्या परिग्रहा: ॥१११५॥

स च परिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकार्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्य'तयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसव्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो।
इहपरलोइयदोसे सव्वे आवहदि संगो हु ॥१११६॥

'चेलादिसव्वसंगच्चागो इति' दशविधा हि स्थितिकल्पा निरूपिता अचेलतादय । तत्र आचेलक्य नाम चेलमात्रत्यागो न भवति। किन्तु चेलादिसर्वसंगत्याग प्रथम स्थितिकल्पो दशानामाद्य.। 'इहपरलोगिगदोसे' हिकामुष्मिकाश्च दोषानावहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारेणाइच्छता सकल परिग्रह- त्याज्य । इति भाव ॥१११६॥

श्रुत चेलपरित्यागमेव सूचयति आचेलक्कमिति न इतरत्यागमित्याशङ्कायामाचष्टे—

देसामासियसुत्तं आचेलक्कंति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥१११७॥

'देसामासिगसुत्तं' परिग्रहैकदेशामर्शकारिसूत्र 'आचेलक्कंति' आचेलक्यमिति। 'तं खु' तत्। 'ठिदि-

---

गा०-टी०—'यह मेरा है' ऐसे भावको राग कहते हैं। द्रव्यके गुणोंमे आसक्तिको लोभ कहते हैं। परिग्रहकी इच्छाको मोह कहते हैं। मेरे पास कुछ होता तो अच्छा होता, इस प्रकारके ममत्व भावको संज्ञा कहते हैं। परिग्रहविषयक तीव्र अभिलाषाको गारव शब्दसे कहते हैं। ये परिणाम जब उत्पन्न होते है तब बाह्य परिग्रहको ग्रहण करनेका मन होता है, उनके अभावमें नही होता। अत जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करता है वह नियमसे लोभ आदि रूप अशुभ परिणाम वाला होनेसे कर्मका बन्ध करता है। अत. परिग्रह त्याज्य है ॥१११५॥

आगे कहते हैं कि यह परिग्रह त्याग हमने अपनी बुद्धिसे नही कहा, किन्तु निश्चयसे आगममें इसके पालनेका उपदेश है—

गा०—आगममें दस प्रकारका स्थितिकल्प कहा है। उसमें पहला कल्प आचेलक्य है। आचेलक्यका अर्थ केवल वस्त्र मात्रका त्याग नही है किन्तु वस्त्र आदि सर्व परिग्रहका त्याग है। यह दस कल्पोंमेंसे पहला स्थितिकल्प है। यत परिग्रह इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषों- को लाता है अत जो दोनो लोक सम्बन्धी दोषोंसे बचना चाहता है उसे सब परिग्रह छोड़ना चाहिए। यह इस गाथाका भाव है ॥१११६॥

कोई आशका करता है कि आगममें वस्त्र मात्रके त्यागकी सूचना है अन्यके त्यागकी नहीं? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—स्थितिकल्पका कथन करते हुए जो 'आचेलक्य' आदि सूत्र कहा है वह देशा-

१ ष्य तर्थेत-अ० आ०।

कल्पे' स्थितिकल्पे कल्पे प्रकृष्टं सूत्रं नियोगतो मुमुक्षूणां मतलम्बनतया स्थितं तत्स्थितमुच्यते स्थितकल्प, स्थित-प्रकार । एतदुक्तं भवति-चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलग्रन्थत्याग आचेलक्यशब्दस्यार्थ इति । तालपलंब ण कप्पदीति सूत्रे तालशब्दो न तरुविशेषवचन किन्तु वनस्पत्येकदेशस्तरुविशेषः उपलक्षणाय वन-स्पतीनां गृहीत । तथा चोक्तं कल्पे—

हरिततणोसहिगुच्छा गुम्मा वल्लीलदा य रुक्खा य ।
एवं वणप्फदीओ तालोद्देसेण आदिट्ठा ॥ इति ॥
तालेदि दलेदित्ति व तलेव जादोत्ति उस्सिदो वत्ति ।
तालादिणो तरुत्तियवणप्फदीणं हवदि णामं ॥

प्रलम्बं द्विविधं मूलप्रलम्बं च, अग्रप्रलम्बं च कन्दमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशिनमूलप्रलम्बं, अंकुरप्रवालफल-पत्राणि अग्रप्रलम्बानि । तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बं वनस्पतेरंकुरादिकं च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थस्तथेहापीति मन्यते । अथवा 'सुत्तोव आदिसद्दो' सूत्रेषु सूत्रे आदिशब्द । अचेलक्यादित्वमिति प्राप्ते । यथा 'तालपलंब-सुत्तम्मि' यथा तालप्रलम्बसूत्रे । तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलम्बमित्युक्तं । तथा चोक्तं निर्देशादिति' निश्चयेनैव सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्रं कृतम् । आदिशब्दलोपोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रे न तु देशामर्शकं भवतीति ॥१११७॥

मर्शक है। मुमुक्षुओंको जो नियमसे करना चाहिए उसे स्थित कहते है और उसके भेदोंको स्थिति-कल्प कहते हैं। उसमें 'चेल' शब्द परिग्रहका उपलक्षण है। अत आचेलक्य शब्दका अर्थ सर्व परिग्रहका त्याग है। जैसे 'तालपलंब ण कप्पदि' इस सूत्रमें ताल शब्द वृक्ष विशेष ताडका वाचक नही है, किन्तु वनस्पतिका एक देश वृक्ष विशेष सब वनस्पतियोंके उपलक्षणके लिये रखा है। कल्पसूत्रमें कहा है—

'ताल शब्दसे हरित तृण, औषधि, गुच्छा, बेल, लता, वृक्ष इत्यादि वनस्पतियोंका कथन किया है।' 'ताल शब्द तल धातुसे निष्पन्न हुआ है। तल शब्दका अर्थ ऊँचाई भी है। जो स्कन्ध रूपसे ऊँचा वृक्ष विशेष होता है वह ताल वृक्ष है। तालादिमें आदि शब्दसे वृक्ष फूल पत्ता आदि वनस्पति लेना चाहिए।

प्रलम्बके दो प्रकार है—मूल प्रलम्ब और अग्रप्रलम्ब। कन्दमूल फल जो भूमिमें रहते है वे मूल प्रलम्ब हैं। और अंकुर, प्रवाल, फल, पत्ते अग्रप्रलम्ब हैं। तालके प्रलम्बको ताल प्रलम्ब कहते है। इससे वनस्पतिके अंकुर आदिका ग्रहण होता है। अत जैसे तालप्रलम्बसूत्रमें ताल प्रलम्बसे अन्य वनस्पतियोंका ग्रहण किया है वैसे ही आचेलक्यसे अन्य परिग्रहका भी ग्रहण किया है। अथवा सूत्रमें अचेलत्वादिका आदि शब्द लुप्त हो गया है। जैसे तालप्रलम्ब सूत्रमें 'तालादि' शब्दका प्रयोग न करके 'तालप्रलम्ब' कहा है। आचेलक्य आदि सूत्रको सूत्रकारने देशामर्शक सूत्ररूपसे बताया है अर्थात् परिग्रहके एक देश वस्त्रका ग्रहण न करनेका निर्देश करके समस्त परिग्रहका त्याग बतलाया है। किन्तु ताल प्रलम्ब सूत्रमें आदि शब्दका लोप है अत वह सूत्र देशामर्शक नही है ॥१११७॥

विशेषार्थ—दस स्थितकल्पोंमें पहला स्थितिकल्प आचेलक्य है। चेलका अर्थ वस्त्र है। अतः कोई शंका करता है कि आचेलक्यसे केवल वस्त्रका ही त्याग कहा है। सब परिग्रहका

१ तार्विति।

व्रतानि न स्युः। परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठन्ति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥१११९॥

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमन्तरेण प्रत्यग्रकर्मोपचयः कथं निवार्यते। प्रत्यग्रकर्मोपचयेन कर्मणां सैवानन्तकाला संसृतिरित्येतच्चेतसि कृत्वा परिग्रहग्रहणभाविनोऽशुभान्परिणामानाचष्टे—

सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिट्ठुरविवादा।
संगणिमित्तं ईसासूयासल्लाणि जायंति ॥११२०॥

'सण्णागारवपेसुण्ण' परिग्रहसंज्ञा 'तत्सन्निधेर्गौरवं' च जायते सपरिग्रहस्य। पिशुनयति सूचयति परदोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म पैशुन्यं। परिग्रहवानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छुः परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धनं हारयति, कलहं वा करोति। धनार्थं परुषं वचो वदति, विवादं वा कुर्यात्, ईर्ष्यासूयाशल्यानि च जायन्ते। अयमेतस्मै प्रयच्छति न मह्यं इति संक्लेश ईर्ष्या। परस्य धनवत्तासहनमसूया ॥११२०॥

कोधो माणो माया लोभो हास रइ अरदि भयसोगा।
संगणिमित्तं जायइ दुगुंच्छ तह रादिभत्त च ॥११२१॥

'तहा कोधो माणो' क्रोधः परिग्रहस्तस्य परिणामो[2] दाने जायते। धन्योऽहमिति गर्वितो भवति। परो धनं दृष्ट्वा गृह्णातीति सन्निगूहनकरणान्माया च भवति। काकणिलाभे कार्षापणं वाञ्छति। तल्लब्ध्या कार्षापणसहस्रादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभः। निर्द्रविणं लोको हसतीति हास्यस्यापि कारणं। द्रव्यमात्मीयं पश्यन् तत्रानुरागो रतिः। तद्विनाशो अरतिः। तस्करैर्हरन्ति इति भयं। शोको वा। जुगुप्सते

करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है और मैथुन करता है। ऐसा करनेपर अहिंसा आदि व्रत नही हो सकते। किन्तु परिग्रहका त्याग करनेपर अहिंसादिव्रत स्थिर रहते हैं ॥१११९॥

तथा अशुभ परिणामोंके संवरके बिना नवीन कर्मोंका संचय कैसे रोका जा सकता है? और नवीन कर्मोंका संचय होनेसे वही अनन्तकालीन संसार है। ऐसा चित्तमें स्थिर करके ग्रन्थकार परिग्रहके ग्रहणमें होनेवाले अशुभ परिणामोंको कहते हैं—

गा०—टी०—परिग्रहीके परिग्रह संज्ञा और परिग्रहमें आसक्ति होती। वह दूसरेके दोषोंको इधर-उधर कहता है। परिग्रही पुरुष दूसरेका धन लेनेके लिए दूसरोंके दोष प्रकट करके उसका धन हरता है। कलह करता है। धनके लिए कठोर वचन बोलता है, झगड़ा करता है। ईर्षा और असूया करता है। यह व्यक्ति अमुकको तो देता है मुझे नहीं देता, इस प्रकारके संकल्पको ईर्षा कहते हैं। दूसरेके धनी होनेको न सहना असूया है ॥११२०॥

गा०—टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन ग्रहण किये जाने पर क्रोध होता है। मैं धनाढ्य हूँ ऐसा गर्व होता है। दूसरा व्यक्ति मेरा धन देखकर उसे ले लेगा, इस भयसे उसे छिपाता है अतः माया होती है। एक कौड़ीका लाभ होने पर एक रुपया आदिका लाभ चाहता है। या धनका लाभ होनेसे लोभ होता है। धनी निर्धनको देखकर हँसता है अतः परिग्रह हास्यका भी कारण है। अपना द्रव्य देखकर उससे अनुराग होता है। अतः परिग्रह रतिका कारण है। द्रव्यका नाश होने पर अरति होती है। उसे दूसरे हर लेंगे यह भय होता है। धन हर लेने पर शोक होता है।

---

1. सधिगौर-ज०।
2. परिणामादाने अ०। परिणामोऽदाने मु०।

वा विग्न परिग्रहं । परिग्रहपरिपालनार्थं रात्रावपि भुङ्क्ते मदीयं भोजनं परे दृष्ट्वार्थिनो भवन्ति इति मन्यमान. ॥११२१॥

गंथो भयं णराणं सहोदरा एयरत्थजा जं ते ।
अण्णोण्णं मारेदु अत्थणिमित्तं मदिमकासी ॥११२२॥

'गंथो भयं नराणां' ग्रन्थो नराणां भयं । ननु भयसंज्ञस्य कर्मण उदयादुपजात. परिणाम आत्मनो भयं न वा तुरंगादिको ग्रन्थ तथाभूतस्तत किमुच्यते ग्रन्थो भयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोष. । 'सहोदरा' सहोदरा प्रसवा अपि सन्त 'एयरत्थजा' एकरथ्यनगरे जाता । 'जं' यस्मात् । 'ते अण्णोण्णं मारेदु' अन्योन्यं हन्तु । अत्थणिमित्त' वसुनिमित्त 'मदिमकासी' बुद्धि कृतवन्त ॥११२२॥

अत्थणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेक्कमेक्केहिं ।
मज्जे मसे य विसं संजोइय मारिया जं ते ॥११२३॥

'अत्थणिमित्त' धननिमित्तं । 'अदिभय जाद' अतीव भयं जातं । 'चोराणं एक्कमेक्केहिं' चोराणा-मन्योन्यं सह । 'मज्जे मसे य विसं संजोइय' मद्ये मांसे च विष संयोज्य । 'मारिदा जं ते' यस्मात्ते मारिता ॥११२३॥

गंथो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ।
पुत्तेण चेव अत्थे हिदम्मि णिहिदेल्लए साहू ॥११२४॥

'गंथो महाभय' परिग्रहो महद्भयं । 'जं' यस्मात् । 'विहेडिदो' बाधितः । 'सावगेण संतेण' श्रावकेण सता । 'पुत्तेण चेव' पुत्रेण । 'णिहिदल्लगे अत्थे हिदंहि' निक्षिप्तेऽर्थे हृते साधुः ॥११२४॥

बिना परिग्रह होने पर ग्लानि होती है। मेरा भोजन देखकर दूसरे माँगेंगे इसलिए रातमें भी भोजन करता है। अथवा मालिककी सेवामें रहनेसे रातमें भोजन करता है। इस तरह परिग्रहके कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और रात्रि भोजन होते है ॥११२१॥

गा०-टी०— परिग्रह मनुष्यमें भय उत्पन्न करता है।

शङ्का—भय नामक कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ आत्माका परिणाम भय है। घर खेत आदि परिग्रह भय नहीं है तब आप परिग्रहको भय कैसे कहते है ?

समाधान—परिग्रह भयका कारण होनेसे भय कही जाती है। एक ही माताके उदरसे उत्पन्न हुए और एक ही नगरमे उत्पन्न हुए भी धनके लिए परस्परमें मारनेका भाव करते है ॥११२२॥

गा०—धनके कारण चोरोंका परस्परमे एक दूसरेसे भय उत्पन्न हुआ। और उन्होंने मद्य और मांसमें विष मिलाकर एक दूसरेको मार डाला ॥११२३॥

गा०—परिग्रह महाभयरूप है क्योंकि जमीनमें गाड़े गये धनको अपना पुत्र ही ले गया [illegible] पुत्र श्रावकको [illegible] सन्देह हुआ कि मेरे इस पुत्रोंमें गड़े धनको साधु जानता था। [illegible] हुआ [illegible]। इस सन्देहके कारण उस श्रावकने साधुपर कथाओं द्वारा [illegible] ॥११२४॥

णगे वि य राया सुवण्णरयणस्स अक्खाणं ॥११२५॥

णउलो विज्जो वमहो तावस तहेव च्छुदवणं ।
मिवण्णोइ इह मेदज्ज मुणिस्स अक्खाणं ॥११२६॥

ण्हादवरादं धरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ।
ज्ज दुक्खतं सहइ वहइ भारमवि गुरुय ॥११२७॥

दे णच्चइ धावइ कसइ ववइ लवदि तह मलेइ णगे ।
दि थुणइ याचइ कुलम्मि जादो वि गंथत्थी ॥११२८॥

गायति, धावति, कृषति, वपति, लवनिं करोति, मर्दनं करोति, सीव्यति, वयति, ...र्थ ॥११२८॥

णियादि रक्खइ गोमहिसिमजावियं हयं हत्थि ।
दि कुणदि सिप्पं अहो य रत्ती य गंथणिदो ॥११२९॥

पे कथाएँ इस प्रकार हैं। पहले श्रावक जिनदत्तने दूत और बन्दरकी कथा ब्राह्मणी और नेवलेकी कथा कही। फिर श्रावकने व्याघ्र और वैद्यकी कथा ड और लोपोंकी कहीं। फिर श्रावकने हाथी और तापसकी कथा कही। तब आम्रवनकी कथा कही। फिर श्रावकने पार्थक मनुष्य और शिवनिवृक्षकी ने राजा और मर्पकी कथा कही। तब श्रावकने एक चोर और सेठकी कथा मणिपालक और मेतार्यमुनिकी कथा कही ॥११२५-११२६॥

न दोनों गाथाओंमें उस श्रावक और साधुके मध्यमें हुई कथाओंके पात्रोंके कथाएँ बृहत्कथाकोशमें जिनदत्त कथानक १०२ के अवान्तरमें दी गई हैं। धन चुरानेवाला पुत्र प्रबुद्ध होकर पिताको धन अर्पित करके उन साधुके करता है। इन दोनों गाथाओंपर न तो अपराजित सूरिकी टीका है। न अमितगतिके संस्कृत पद्य ही हैं ॥११२५-११२६॥

का इच्छुक मनुष्य गर्मी, सर्दी, घाम, वायु, वर्षा, प्यास, भूख, श्रम, दुस्सह कष्ट सहन करता है और अपनी शक्तिसे भी अधिक भार

श्रेष्ठकुलमें जन्म लेकर भी धनके लिए गाता है, नाचता है, दौड़ बोता है, धान्य काटता है, मालिश करता है, कपड़े सीता है, कपड़े ... है ॥११२८॥

दिन न सोकर सेवा करता है, घर छोड़कर देशान्तर जाता है। गाय,

एवं चेट्ठंतस्स वि संसइदो चेव गंथलाहो दु ।
ण य गंथीयदि गंथो सुइरेणवि मंदभागस्स ॥११३५॥

'एवं चेट्ठंतस्स वि' एवं चेष्टमानस्यापि संशयित एव ग्रन्थलाभः । न च संचयमुपयाति ग्रन्थः । सुचिरेणापि मन्दभाग्यस्य ॥११३५॥

जदि वि कहंचि वि गंथा संचीएज्जण्ह तह वि से णत्थि ।
तित्ती गंथेहिं सदा लोभो लाभेण वड्ढदि खु ॥११३६॥

'जदि वि' यद्यपि कथंचिदपि प्रकारेण ग्रन्था. संचयमुपेयु । तथापि तस्य तृप्तिर्नास्ति ग्रन्थैः । सदा लोभो लाभेन वर्धते ॥११३६॥

जय इंधणेहिं अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवस्स ण तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥११३७॥

'जय इंधणेहिं' इन्धनैर्यथाग्नि., यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः । तथा परिग्रहैर्न तृप्यति जीवस्त्रैलोक्ये लब्धेऽपि ॥११३७॥

पडहत्थस्स ण तित्ती आसी य महाधणस्स लुद्धस्स ।
संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहसंसारी ॥११३८॥

'पडहत्थस्स' पटहस्तनामधेयस्य वणिज न तृप्तिरासीन्महाधनस्य लुब्धस्य । परिग्रहे मूच्छितमतिरसौ जातो दीर्घसंसारः ॥११३८॥

तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तस्स ।
किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥११३९॥

'तित्तीए असंतीए' तृप्तावसत्यां । 'हाहाभूदस्य' लम्पटचित्तस्य किं तत्र सुखं भवेत् । आशया गृहीतस्य ॥११३९॥

गा०—इस प्रकार नाना चेष्टाएँ करनेपर भी परिग्रहकी प्राप्तिमें सन्देह ही रहता है। क्योंकि अभागे पुरुषको चिरकाल प्रयत्न करनेपर भी धनकी प्राप्ति नहीं होती ॥११३५॥

गा०—यदि किसी प्रकार धन मिल भी जाये तो उससे सन्तोष नहीं होता; क्योंकि धन-लाभ होनेसे लोभ बढ़ता है ॥११३६॥

गा०—जैसे ईंधनसे आगको तृप्ति नहीं होती, और हजारों नदियोंके मिलनेसे लवण-समुद्रको तृप्ति नहीं होती। वैसे ही तीनों लोक मिल जानेपर भी जीवको परिग्रहसे तृप्ति नहीं होती ॥११३७॥

गा०—पटहस्त नामक वणिक्के पास बहुत धन था। किन्तु वह बड़ा लोभी था। उसे सन्तोष नहीं था। अतः परिग्रहमें आसक्त रहते हुए उसका मरण हुआ और वह दीर्घसंसारी हुआ ॥११३८॥

गा०—परिग्रहसे तृप्ति नहीं होनेपर हाय-हाय करनेवाले परिग्रहके लम्पटीको, जो सदा तृष्णासे व्याकुल रहता है, परिग्रहसे क्या सुख हो सकता है ॥११३९॥

हम्मदि मारिज्जदि या वज्झदि रुंभदि य अणवराधो वि ।
आमिसहेदुं घण्णी खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥११४०॥

'हम्मदि' आहन्यते । 'मारिज्जदि' मार्यते, बध्यते रुध्यते चानपराधोऽपि । आमिषनिमित्त लम्पट. खादते[1] यथा पक्षिभि पक्षी गृहीताहार ॥११४०॥

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ।
गंथणिमित्तं जग्गइ रक्खंतो सव्वरत्तीए ॥११४१॥

'मादुपिदुपुत्तदारेसु वि' विश्वमनोयेष्वपि मात्रादिषु विश्रंभं नोपयाति । जागर्ति सर्वरात्री· पालयन्[2] ॥११४१॥

सव्वं पि संकमाणो गामे णयरे घरे व रण्णे वा ।
आधारमग्गणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥११४२॥

'सव्वं वि संकमाणो' सर्वमपि शङ्कमान ग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवशः सदा भवति ॥११४२॥

गंथपडियाए लुद्धो धीराचरियं विचित्तमावसधं ।
णेच्छदि बहुजणमज्झे वसदि य सागारिगावसए ॥११४३॥

'गंथपडियाए लुद्धो' ग्रन्थनिमित्त लुब्धो धीरैराचरित विविक्तमावसथ नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । गृहस्थानां वा वेश्मनि ॥११४३॥

सोदूण किंचि सद्दं सग्गंथो होइ उट्ठिदो सहसा ।
सव्वत्तो पिच्छंतो परिमसदि पलादि मुज्झदि य ॥११४४॥

गा०—जैसे मांसके लिए मांसका लोभी पक्षी दूसरे मांस ले जाते पक्षीको मारता काटता है वैसे ही लोभी धनाढ्य मनुष्य बिना अपराधके ही दूसरोंके द्वारा घाता जाता है, मारा जाता है और पकड़ा जाता है ॥११४०॥

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य माता, पिता, पुत्र और पत्नीका भी विश्वास नहीं करता। और रातभर जागकर परिग्रहकी रखवाली करता है ॥११४१॥

गा०—वह सबको सदाकी दृष्टिसे देखता है कि ये मेरा धन हरनेवाले हैं। और गाँव, नगर, घर अथवा वनमें छिपनेका आश्रय खोजता फिरता है इस तरह वह सदा पराधीन रहता है ॥११४२॥

गा०—वह परिग्रहका लोभी धीर पुरुषोंके रहने योग्य एकान्त स्थानमें रहना पसन्द नहीं करता। वह बहुत जनसमुदायके मध्य गृहस्थोंके घरमें रहना पसन्द करता है ॥११४३॥

गा०—किंचित् भी शब्द सुनकर परिग्रही एकदम उठकर सब ओर देखता है, अपने धनको टटोलता है और उठकर भागता है अथवा मूर्च्छित हो जाता है ॥११४४॥

१. खादन्ते—आ० मु०। २. पालयन्—आ० मु०।

'सोढूण तिविह सद्दं' श्रुत्वा भयजननं शब्दं परिग्रहवान्गृहणोऽपि नरः सर्वा दिशः प्रेक्षमाण
द्रव्यं, पलायते, मूर्च्छति वा ॥११४४॥

तेणभएणारोहइ तरुं गिरिं उप्पहेण य पलादि ।
पविसदि य [1]दहं दुग्गं जीवाण वह करेमाणो ॥११४५॥

'तेणभएण' स्तेनभयेन । 'आरोहदि' आरोहति तरुं गिरिं वा । उन्मार्गं वा धावति । प्र
दुर्गं वा स्थानं जीवानां घातनं कुर्वन् ॥११४५॥

तह वि य चोरा धारभडा वा गच्छं हरेज्ज अवसस्स ।
गेण्हिज्ज [2]दाइया वा रायाणो वा विलुंपिज्ज ॥११४६॥

तथापि पलायनधावनादिकं कुर्वतो द्रव्यं हरन्ति चोरा वा धारभटा वा । परवशस्य दाया
राजानो वा विलुम्पन्ति ॥११४६॥

संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा ।
पहणेज्ज व मारेज्ज व मरिजिज्ज व तह य [3]हम्मेज्ज ॥११४७

'संगणिमित्त कुद्धो' रुष्टः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हन्ति, ताडयति । परं स
योजयति वा परेण वा ताड्यते मार्यते वा परैः ॥११४७॥

अहवा होइ विणासो गंथस्स जलग्गिमूसयादीहिं ।
णट्ठे गंथे य पुणो तिव्वं पुरिसो लहदि दुक्खं ॥११४८॥

'अथवा होज्ज विणासो' अथवा ग्रन्थस्य विनाशो भवेत् अग्निजलमूषकादिभिः । नष्टे
दुःखं लभते मनुष्यः ॥११४८॥

सोयइ विलवइ कंदइ णट्ठे गंथम्मि होइ विसण्णो ।
पज्झादि णिवाइज्जइ वेवइ उक्कंठिओ होइ ॥११४९॥

गा०—चोरके भयसे वृक्ष अथवा पहाड़पर चढ़ जाता है। अथवा मार्गसे न जा
से जाता है और जीवोंका घात करते हुए तालाब या किलेमें छिप जाता है ॥११४५॥

गा०—इस प्रकार दौड़-धूप करनेपर भी चोर अथवा बलवान् मनुष्य उसे प
उसके द्रव्यको हर लेते हैं। अथवा भाई वगैरह ले लेते हैं या राजा लूट लेता है ॥११४

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य क्रोध करता है, कलह करता है, विवाद कर
करता है, मारपीट करता है, दूसरोंके द्वारा मारा जाता है, पीटा जाता है, या स्वयं
है ॥११४७॥

गा०—अथवा आगसे, जलसे और मूषकों आदिसे परिग्रहका विनाश हो जा
विनाश होनेपर मनुष्यको तीव्र दुःख होता है ॥११४८॥

---

1. हदं-मू० ।   2 दाविया वा-अ० । दासिया-वा० आ० ।   3. हम्मेज्जा-

'सोयदि विलवदि' शोचति, विलपति, क्रन्दति नष्टे परिग्रहे विषण्णश्च भवति। चिन्तां करोति। न्तःसन्तापाज्जलादिकं, वेपते उत्कण्ठितो भवति ॥११४९॥

डज्झदि अंतो पुरिसो अप्पिये णट्ठे सगम्मि गंथम्मि ।
वायावि य अक्खिप्पइ बुद्धी विय होइ से मूढा ॥११५०॥

'डज्झदि' दह्यते अन्तः पुरुष आत्मीये नष्टे परिग्रहे। वागपि नश्यति बुद्धिरपि मन्दा भवति ॥११५०॥

उम्मत्तो होइ णरो णट्ठे गंथे गहोवसिट्ठो वा ।
घट्टदि मरुप्पवादादिएहिं बहुधा णरो मरिदुं ॥११५१॥

'उम्मत्तो होइ णरो' उन्मत्तो भवति नरः। नष्टे परिग्रहे ग्रहगृहीत इव चेष्टते मरुत्प्रतापादि- तुं ॥११५१॥

चेलादीया संगा संसज्जंति विविहेहिं जंतूहिं ।
आगंतुगा वि जंतू हवंति गंथेसु सण्णिहिदा ॥११५२॥

'चेलादिगा' गंगाश्चेलप्रावरणादयः परिग्रहा। 'संसज्जंति' सम्मूर्छनामुपयान्ति। 'विविहेहिं जंतूहिं' नाप्रकारैर्जन्तुभिः। 'आगंतुगा वि जंतू' आगन्तुकाश्च जन्तवः। 'गंथेसु सण्णिहिदा भवंति' ग्रन्थेषु सन्निहिता वन्ति यूकापिपीलिकामत्कुणादयः। धान्येषु कीटादयः गुडपूपादिषु रसजा तेषामादाने ॥११५२॥

आदाणे णिक्खेवे [1]सरेमणे चावि तेसि गंथाणं ।
उक्कस्सणे वेक्कसणे [2]फालणपप्फोडणे चेव ॥११५३॥

आदाने, निक्षेपे, सम्मरणे, बहिर्नयने, बन्धने, मोचने, तेषां ग्रन्थानां पाटने विधूनने च ॥११५३॥

छेदणबंधणवेढणआदावणधोव्वणादिकिरियासु ।
गंथट्ठणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥११५४॥

गा०—वह शोक करता है, विलाप करता है, चिल्लाता है, खेद-खिन्न होता है। चिन्ता करता है। अन्तरगमें सन्ताप होनेसे जलादि पीता है, काँपता है, उत्कंठित होता है ॥११४९॥

गा० अपने परिग्रहके नष्ट होनेपर पुरुष अन्दर ही अन्दर जला करता है। उसकी वाणी नष्ट हो जाती है तथा बुद्धि भी मूढ़ हो जाती है ॥११५०॥

गा०—परिग्रहके नष्ट होनेपर मनुष्य पिशाचसे पकड़े हुए मनुष्यकी तरह उन्मत्त हो जाता है। और प्रायः पर्वत आदिसे गिरकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥११५१॥

गा०—वस्त्रादि परिग्रहमें नाना प्रकार सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बाहरसे आकर भी जूं, चींटी, खटमल वगैरह बस जाते हैं। धान्यमें कीड़े लग जाते हैं। गुड़ आदि सचय करनेपर उसमें भी जीव पैदा हो जाते हैं ॥११५२॥

गा०—परिग्रहके ग्रहण करने, रखने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने,

---

१. सरारवे—अ० आ०। २. पप्पण—अ० आ०।

छेदन छेदने, मन्थने, वेष्टने, शोषणे प्रक्षालने च। सम्मर्दने परितापनहननादिकं भवति जीवानां ॥११५४॥

जदि वि [1]विकिंचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा।
होदि य विकिंचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णियय ॥११५५॥

'जदि वि विकिंचदि' यद्यपि निराक्रियन्ते जीवास्त एव संघट्टादयो दोषा भवन्ति। भवति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिवियोजना निश्चयेन ॥११५५॥

एवमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे सयं च दुक्खंति।
पावं च तण्णिमित्तं परिगिण्हंतस्स से होई ॥११५६॥

'सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे' परिग्रहा दासीदासगोमहिष्यादयो घ्नन्ति जीवान्स्वयं च दुःखिता भवन्ति। कर्मणि नियुज्यमाना कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीवकृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति ॥११५६॥

इंदियमयं सरीरं गंथं गेण्हदि य देहसुक्खत्थं।
इंदियसुहाभिलासो गंथग्गहणेण तो सिद्धो ॥११५७॥

'इंदियमयं सरीरं' इन्द्रियमयं शरीरं। स्पर्शनादिपञ्चेन्द्रियाधारत्वात्। परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकं इन्द्रियसुखार्थमेव गृह्णाति वाताऽऽतपाद्यनभिमतस्पर्शनिषेधाय। आत्मशरीरे वस्त्रालङ्कारादिभिरलङ्कृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदङ्गनागजनितप्रीत्यर्पितया अभिमत[2]मापादयति। सेवनाद्यर्थं च तत् इन्द्रियसुखाभिलाषो ग्रन्थं गृह्णतः सिध्यति ॥११५७॥

फाड़ने, झाड़ने, छेदने, बाँधने, ढाँकने, सुखाने, धोने, मलने आदिमें जीवोंका घात आदि होता है ॥११५३-५४॥

गा०—यदि वस्त्रादि परिग्रहमें जन्तुओंको अलग किया जाये तब भी वे ही दोष लगते हैं। क्योंकि उन जन्तुओंको दूर करनेपर उनका योनिस्थान छूट जाता है और इससे उनका मरण हो जाता है ॥११५५॥

इस प्रकार अचित्त परिग्रहके दोष कहकर सचित्त परिग्रहके दोष कहते हैं—

गा०—दासी-दास, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह जीवोंका घात करते हैं और स्वयं दुखी होते हैं। तथा उन्हें खेती आदि कामोंमें लगानेपर वे जो पापाचरण करते हैं उसका भागी उनका स्वामी भी होता है ॥११५६॥

इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा कर्मबन्धमें निमित्त होती है अतः मुमुक्षुको उसे छोड़ना चाहिए। परिग्रह स्वीकार करनेपर इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा अवश्य होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शरीर इन्द्रियमय है क्योंकि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंका आधार है। वस्त्र ओढ़ना आदि परिग्रह मनुष्य इन्द्रियजन्य सुखके लिए ही ग्रहण करता है। ऐसा वह हवा धूप आदिके अनिष्ट स्पर्शसे बचनेके लिए करता है। तथा वस्त्र अलंकार आदिसे अपने शरीरको

---

१. विविचदि—अ० आ० मु०। २. मतं व्याघातारः सेवना—अ० ज०।

स्वाध्यायध्यानाख्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभयं चान्तरेण न संवरनिर्जरे। तयोरभावे कुतो निरवशेषकर्मापायो भवतीति कथयति—

गंथस्स गहणरक्खणसारवणाणि णियदं करेमाणो।
विक्खित्तमणो ज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ ॥११५८॥

'गंथस्स गहणरक्खण' परिग्रहादानं, तद्रक्षण, तत्संस्कारं च नित्यं कुर्वन् व्याक्षिप्तचित्तः कथं शुभ-ध्यान कुर्यात् विमुक्तस्वाध्याय। एतदुक्तं भवति—व्याक्षिप्तचित्तस्य न स्वाध्यायः अमति तस्मिन्वस्तुयाथात्म्या-विदुष ध्येयैकनिष्ठं ध्यानं कथमिव वर्तते ॥११५८॥

परभवव्याप्य दोषं परिग्रहमुखायातमुपदर्शयति—

गंथेसु घडिदहिदओ होइ दरिद्दो भवेसु बहुगेसु।
होदि कुणंतो णिच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥११५९॥

'गंथेसु घडिदहिदओ' ग्रन्थासक्तचित्त बहुषु भवेषु दरिद्रो भवति। आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी भविष्यति। शिविकोद्वहन, उपानद्वेचन, पुरीषमूत्राधानयनं इत्यादिकं नीचं कर्म ॥११५९॥

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि धणहेदुं।
लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥११६०॥

'विविहाओ जायणाओ पावदि' विविधा यातना. प्राप्स्यति। परभवगतोऽपि धननिमित्तं लुब्ध. आशया

भूषित करके मनुष्य दूसरेमे अभिलापा उत्पन्न करता है और इस तरह उसके शरीरके संसर्गसे उत्पन्न अनुरागका इच्छुक होकर उसका सेवन करता है अतः परिग्रहको स्वीकार करनेवालेके इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा सिद्ध होती है ॥११५७॥

परिग्रह स्वाध्याय और ध्यान नामक तपमें विघ्न पैदा करता है तथा स्वाध्याय और ध्यानके विना संवर और निर्जरा नहीं होती। और संवर निर्जराके अभावमें समस्त कर्मों का विनाश कैसे हो सकता है? यह कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहको ग्रहण, रक्षण और उसके सार सम्हालमें सदा लगा रहनेवाले पुरुषका मन उसीमें व्याकुल रहता है। तब वह स्वाध्याय छूट जानेसे शुभध्यान कैसे कर सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसका चित व्याकुल रहता है वह स्वाध्याय नही कर सकता। और स्वाध्यायके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपको न जानते हुए ध्येयमें एकनिष्ठ ध्यान कैसे हो सकता है ॥११५८॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष भव-भवमें दुःख देता है यह कहते हैं -

गा०—जिसका चित्त परिग्रहमें आसक्त होता है वह भव-भवमें दरिद्र होता है। केवल पेट भरनेके लिए उसे पालकी उठाना, जूते बेचना, टट्टी पेशाब साफ करने आदिका नीच काम करना पड़ता है ॥११५९॥

गा०—परिग्रहमें आसक्त पुरुष पर भवमें भी धनके लिए अनेक कष्ट उठाता है। लोभके

प्रकृष्टया गृहीतो हा मम क्लेशशतं कुर्वतोऽपि मम धनं न भवति, जातं वा नष्टमिति कृतहाहाकारः क्लिश्यति ॥११६०॥

एदेसिं दोसाणं मुंचइ गंथजहणेण सव्वेसिं ।
तव्विवरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥११६१॥

'एदेसिं दोसाण मुचइ' पूर्वोक्तान्परिग्रहग्रहणगतान्दोषानशेषांस्त्यजेदिति दोषप्रतिपक्षभूतान्गुणानपि लभते ॥११६१॥

गंथच्चाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥११६२॥

'गंथच्चाओ' ग्रन्थत्यागः । 'इंदियनिवारणे' इत्ययमिन्द्रियशब्द उपयोगेन्द्रियविषयः सप्तमी च निमित्तलक्षणा । तेनायमर्थः—इन्द्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोऽङ्कुश इव हस्तिनो निवारणे उत्पथयानात् । 'नगरस्स खादिगा वि य' नगरस्य खातिका इव । 'असंगत्तं' निष्परिग्रहता । 'इंदियगुत्ती' इन्द्रियगुप्तिरिन्द्रियरक्षा रागोत्पत्तिनिमित्तेन्द्रियज्ञानरक्षा ॥११६२॥

सप्पबहुलम्मि रण्णे अमंतविज्जोसहो जहा पुरिसो ।
होइ दढमप्पमत्तो तह णिग्गंथो वि विसएसु ॥११६३॥

'सप्पबहुलम्मि' सर्पबहुले । 'रण्णे' अरण्ये । 'अमतविज्जोसहो' मन्त्रेण, विद्यया औषधेन च रहितः पुमान् । 'दढमप्पमत्तो होदि' नितरां अप्रमत्तो भवति । तथा निर्ग्रन्थोऽपि[1] क्षायिकश्रद्धानकेवलज्ञानयथाख्यात-

---

वशीभूत हो तृष्णामें पड़कर हाहाकार करता है कि इतना कष्ट उठानेपर भी मुझे धनकी प्राप्ति नहीं होती या प्राप्त हुआ धन भी नष्ट हो गया। और इस प्रकार दुःखी होता है ॥११६०॥

गा०—परिग्रहका त्याग करनेसे ये सब दोष नहीं होते। तथा इनके विपरीत गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥११६१॥

गा०-टी०—'इंदियणिवारणे' में आये इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगरूप इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियजन्यज्ञान है। तथा सप्तमी विभक्तिका अर्थ निमित्त है। अतः उसका अर्थ होता है—

परिग्रहका त्याग इन्द्रियज्ञानको रोकनेमें निमित्त है जैसे अंकुश हाथीको रोकनेमें निमित्त है। अर्थात् जैसे अंकुश हाथीको उन्मार्गपर जानेसे रोकता है वैसे ही परिग्रहका त्याग इन्द्रियोंको विषयोंमें जानेसे रोकता है। इन्द्रियाँ ही रागद्वेषकी मूल हैं। अथवा जैसे खाई नगरकी रक्षा करती है वैसे ही परिग्रहका त्याग रागकी उत्पत्तिमें निमित्त इन्द्रियोंसे रक्षा करता है ॥११६२॥

गा०-टी०—जैसे मंत्र, विद्या और औषधीसे रहित पुरुष सर्पोंसे भरे जंगलमें अत्यन्त सावधान रहता है। वैसे ही निर्ग्रन्थ साधु भी जो क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान और यथाख्यात

---

1. तथा निर्ग्रन्थोऽपि विषयेष्वप्रमत्तो भवति इन्द्रियजयो अप्रमत्ततायां उपायः अपरिग्रहतापीत्यनेन गाथाद्वयेनाख्यातं—ज० ।

चारित्रमन्त्रविद्यौषधिरहितो विषयारण्ये रागादिसर्पबहुले सावधानोऽपि भवेत् ॥११६३॥

रागो हवे मणुण्णे [1]गंथे दोसो य होइ अमणुण्णे ।
गंथच्चाएण पुणो रागद्दोसा हवे चत्ता ॥११६४॥

रागद्वेषयोः कर्मणां मूलयोर्निमित्तं परिग्रहः, परिग्रहत्यागे रागद्वेषौ एव त्यक्तौ भवतः । बाह्यद्रव्यं मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीजं, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दण्डाद्यन्यकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते ॥११६४॥

कर्मणां निर्जरणे उपायः परीषहसहनं । तथा चोक्तं 'पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः' [त०सू० ९।८] ते च परीषहाः सोढा भवन्ति ग्रन्थचेलप्रावरणादिकं त्यजतेति व्याचष्टे—

सीदुण्हदंसमसयादियाण दिण्णो परीसहाण उरो ।
सीदादिणिवारणए गंथे णियमं जहंतेण ॥११६५॥

''सीदुण्हदंसमसयादियाण' । ननु च दुःखोपनिपाते संक्लेशरहितता परीषहजयः, न तु शीतोष्णादयः । नहि ते आत्मपरिणामाः । अनात्मपरिणामाश्च बन्धसंवरनिर्जरादीनामुपाया न भवन्ति । योऽन्यात्मपरिणामो

चारित्ररूप मंत्र विद्या और औषधिसे रहित है अर्थात् जिसे इन सबकी प्राप्ति अभी नहीं हुई है वह रागद्वेषरूप सर्पोंसे भरे विषयरूप वनमें सावधान रहता है ॥११६३॥

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि मनमें बाह्य द्रव्यके प्रति अनुराग रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले मोहनीयकर्मका सहकारी कारण है अतः उसका त्याग करनेपर रागद्वेषरूप प्रवृत्ति नहीं होती। उसके अभावमें नवीन कर्मबन्ध नहीं होता। अतः परिग्रहका त्याग ही मोक्षका उपाय है ॥११६३॥

गा०—मनोज्ञ विषयमें राग होता है और अमनोज्ञ विषयमें द्वेष होता है। अतः परिग्रहका त्याग करनेसे राग-द्वेषका त्याग हो जाता है ॥११६४॥

टी०—कर्मबन्धके मूल रागद्वेष हैं और रागद्वेषका निमित्त परिग्रह है। परिग्रहको त्यागने पर रागद्वेषका त्याग हो जाता है। बाह्य द्रव्यको मनसे स्वीकार करना ही रागद्वेषका बीज है। उस सहकारी कारणके अभावमें केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष नहीं होते। जैसे मिट्टीके होने पर भी दण्ड आदि सहायक कारणोंके अभावमें घटकी उत्पत्ति नहीं होती ॥११६४॥

परीषहोंका सहना कर्मोंकी निर्जराका उपाय है। कहा भी है—पूर्वमें बाँधे गये कर्मोंकी निर्जराके लिए परीषह सहना चाहिए। वस्त्रादि परिग्रहका त्याग करनेसे उन परीषहोंका सहना होता है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शीत आदिका निवारण करने वाले वस्त्र आदि परिग्रहोंको जो नियमसे त्याग देता है वह शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषहोंको सहनेके लिए अपनी छाती आगे कर देता है।

शंका—दुःख आने पर संक्लेश न करना परीषह जय है। शीत उष्ण आदि परीषह जय नहीं है, क्योंकि वे आत्माके परिणाम नहीं हैं। और जो आत्माके परिणाम नहीं हैं वे बन्ध, संवर,

१ विगए आ० मु०।

मार्गो निर्जराहेतु यथा पुद्गलद्रव्यगतरूपादय । अनात्मपरिणामाश्च शीतादय क्षुत्पिपासादयो दुःखहेतव, न तु दुःख, तत् किमुच्यते क्षुत्पिपासादय परीषहा इति । नैष दोष । क्षुदादिजन्यदुःखविषयत्वात् क्षुदादिशब्दानां । तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्ण-दंशमशकनाग्न्यादीनां परीषहत्वाभ्युपगमे न विरुध्यते । 'सीदुण्हदंसमसयादियाण' शीतोष्णदंशमशकादीनां । 'परिसहाणं उरो दिण्णो' परीषहाणां उरो दत्त । येन 'सीदादिणिवारणगे' शीतादीनां निषेधकान् । 'गंथे णियदं अहंतेण' ग्रन्थान्नियतं त्यजता ॥११६५॥

देहे आदर समस्य हिंसादेरसंयमस्य मूलं परित्यक्तो भवति परिग्रहं त्यजतेत्याचष्टे—

जम्हा णिग्गंथो सो वादादवसीददंसमसयाणं ।
सहदि य विविधा बाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥११६६॥

'जम्हा' यस्मात् । 'णिग्गंथो सो' निष्परिग्रहासौ 'वादादवसीददंसमसयाणं' विविधा बाधा वातातपशीतदंशमशकानां विविधं दुःखं 'सहदि' सहते । 'तेण' सहनेन । 'सदेहे' स्वदेहे 'अणादरदा' आदराभाव । शरीरे सह्यादरश्च जहात्यसौ । हिंसादिकं त्यजति च स्वशक्त्यनिगूहनेन प्रयतते ॥११६६॥

गंथपरिमग्गणादी णिस्संगे णत्थि सव्वविक्खेवा ।
ज्झाणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्घेण वच्चंति ॥११६७॥

'गंथपरिमग्गणादी' परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वामिलब्धस्य आसतस्यगवेषणे क्लेशमस्तीति । तथा तत्स्वामिना कोऽस्य 'स्वामित्वं वा क्वासौ अवतिष्ठते इति पुनर्याञ्चा [1] लाभे सन्तोष, अलाभे दीनमनस्कता,

---

निर्जरा आदिके उपाय नही होते । जो आत्माका परिणाम नहीं है वह निर्जराका कारण नही है । जैसे पुद्गल द्रव्यके रूपादि । शीत आदि आत्माके परिणाम नहीं है । तथा भूख प्यास आदि दुःखके कारण हैं किन्तु स्वयं दुःखरूप नही हैं । तब आप कैसे कहते हैं कि भूख प्यास आदि परीषह हैं ?

समाधान—उक्त दोष ठीक नहीं है क्योंकि भूख आदि शब्दोंका अर्थ भूख आदिसे होने वाला दुःख है । अतः भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डास-मच्छर, नाग्न्य आदिको परीषह कहनेमें कोई विरोध नहीं है । अतः जो इन परीषहोंको दूर करनेके उपायोंका त्याग देता है वह शीत आदिका कष्ट होने पर भी अपने मनमें कोई संक्लेश नहीं करता ॥११६५॥

समस्त हिंसा आदि असंयमका मूल शरीरमें आदरभाव है । परिग्रहको त्यागने पर वह भी त्याग दिया जाता है, यह कहते हैं—

गा०—यतः परिग्रहका त्यागी निर्ग्रन्थ वायु, धूप, शीत, डासमच्छर आदिके अनेक कष्टोंको सहता है । उस सहनेसे उसका शरीरमें अनादरभाव प्रकट होता है । और शरीरका आदर न करने वाला समस्त हिंसा आदिको छोड़ देता है और अपनी शक्तिको न छिपाकर तपका प्रयत्न करता है ॥११६६॥

गा०-टी०—अपनेको इष्ट परिग्रहको खोजनेमें कष्ट होता है । तथा वह मिल भी जाये तो उसके स्वामीको खोजनेमें कष्ट होता है कि वह कहाँ रहता है । स्वामी मिल जाये तो उससे

---

१. स्वामित्वं च न क्वा–अ० ।

'सव्वत्थ होइ' सर्वत्र भवति गमने आगमने च 'लघुगो' लघुः । 'रूवं वेसासियं' रूपं विश्वासकारि च भवति । 'तस्स' निर्ग्रन्थस्य । वस्त्रावरणादिकमप्रच्छादितमस्त्रोऽस्मादेष मुपद्रवं करोति धनं वा स्वं चीवरादिना प्रच्छाद्य नयतीति शङ्कां कुर्वन्ति परिग्रहं दृष्ट्वा ॥११७०॥

सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ ।
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वत्थ ॥११७१॥

'सव्वत्थ अप्पवसिगो' सर्वत्र ग्रामे, नगरे अरण्ये च आत्मवशः । 'णिस्संगो' निष्परिग्रहः । 'सव्वत्थ य णिब्भओ' सर्वत्र निर्भयश्च । 'होदि य णिप्परियम्मो' भवति च निर्व्यापारः कृष्यादिक्रियारम्भरहितः । 'णिप्पडिकम्मा य' इदं कृतं इदं कर्तव्यमवशिष्टं कार्यमित्येवमस्यास्य न विद्यते ॥११७१॥

सुखार्थिनो महत्सुखं भवति सङ्गपरित्यागेनेति वदति—

भारक्कंतो पुरिसो भारं ऊरुहिय णिव्वुदो होइ ।
जह तह पयहिय गंथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ ॥११७२॥

'भारक्कंतो पुरिसो' भाराक्रान्तः पुरुषः । 'भारं ऊरुहिय' भारमवतार्य । 'णिव्वुदो होदि' सुखी भवति । यथा तथा 'णिस्संगो णिव्वुदो होदि' निष्परिग्रहः सुखी भवति । 'गंथे पयहिय' ग्रन्थान्परित्यज्य । बाधाभावलक्षणं हि सुखं सर्वमेव । तथाहि—अशनादिना क्षुधादावपगते जातं स्वास्थ्यमेव सुखमिति [1]लोके मन्यते ॥११७२॥

यस्मादेवं परिग्रहणेऽनिवृत्तो जन्मद्वयभाविनो दोषाश्च—

तम्हा सव्वे संगे अणागए वट्टमाणए तीदे ।
तं सव्वत्थ णिवारिह करणकारावणाणुमोदेहिं ॥११७३॥

गा०—अपरिग्रही सर्वत्र जाने आनेमें हल्का रहता है । उसका रूप नग्न दिगम्बर विश्वासकारी होता है । और परिग्रही परिग्रहके भारसे भारी होता है । और उसके परिग्रहको देखकर लोग शङ्का करते हैं कि यह अपने वस्त्रोंमें शस्त्र छिपाये हुए है कोई उपद्रव न करे । अथवा यह अपने चीवर आदिमें छिपाकर धन तो नहीं ले जाता ? ॥११७०॥

गा०—जो अपरिग्रही होता है वह सर्वत्र गाँव, नगर और वनमें स्वाधीन रहता है । उसे किसीका आश्रय लेना नहीं होता । और वह सर्वत्र निर्भय रहता है । उसे कृषि आदि काम करना नहीं होता । तथा इतना काम पहले कर लिया, इतना करना शेष है, इत्यादि चिन्ता उसे नहीं रहती ॥११७१॥

आगे कहते हैं कि सुखके अभिलाषीको परिग्रहके त्यागसे महान् सुख होता है—

गा०—जैसे भारसे लदा हुआ मनुष्य भारको उतारकर सुखी होता है वैसे ही परिग्रहको त्यागकर परिग्रहरहित साधु सुखी होता है । सर्वत्र सुखका लक्षण बाधाका अभाव है । लोकमें भी भोजनके द्वारा भूख प्यास चले जाने पर उत्पन्न हुई स्वस्थताको ही सुख माना जाता है ॥११७२॥

---

१. लोके—आ० मु० ।

'तम्हा' तस्मात् । 'सव्वं संगं' सर्वं परिग्रहं [illegible] । 'अणागदं' अनागतं [illegible] । 'वट्टमाणमदीदं' वर्तमानमतीतं च [illegible] 'च' भवान् । 'सव्वत्थ णिवारेहि' सर्वथा निवारय । [illegible] अनुमोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारणं येन निवार्यते ? अत्राभिप्राय अतीतपरिग्रहविषयेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्रादीति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरणं अनुरागं वा । एवं भविष्यति इत्थंभूतं मम द्रविणं इति ॥११७३॥

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावंति केइ संगा' यावन्तः केचन परिग्रहाः । 'विराधया' विनाशकाः । [illegible] रत्नत्रयस्य । 'तिविह-कालसंभूदा' कालत्रयप्रवृत्ताः । 'तेहिं तिविहेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरतः सन् 'विमुत्तसंगो' विमुक्तसङ्गः । 'जह सरीरं' त्यज शरीरं ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ।
आसं तण्हं संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एव कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीयः । सल्लेखनाराधना [illegible] आहारशरीरत्यागादिकः स एवमुक्तः । 'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सव्वत्थ' सर्वविषया [illegible] । 'आसं' आशा । 'तण्हं' तृष्णा । 'संगं' परिग्रहभूता । 'छिंद ममत्ति' ममेदमिति संकल्पं छिंधि । 'मुच्छं' मोहमिति यावत् ॥११७५॥

गा०-टी०—अतः परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोंको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे है जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोंसे बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण वा अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेमें भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अतः हे क्षपक ! तीनों कालोंका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोडकर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोंके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, राग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हों इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य है मैं इनका भोक्ता हूँ ऐसा संकल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यं निदिशत्युत्तरगाथा—

सव्वगंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥

'सव्वगंथविमुक्को' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थः । 'सीदीभूदो' शीतीभूतः । 'पसण्णचित्तो य' प्रसन्नचित्तः सन् । 'जं पावदि पीदिसुहं' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । 'न चक्कवट्टी वि तं लभदि' चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥११७७॥

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं । रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकम् विषयसुखमासेव्यमानं रञ्जयति विषयेष्विति रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, अतिशयेन गृद्धिं काङ्क्षां जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्निति अतृप्ति । यदेवंभूतं चक्रवर्तिसुखं 'णिस्संगणिव्वुइसुहस्स' निःसंगस्य यन्निर्वृतिसुखं 'तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीनां अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहव्वय ।

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

'साधेंति जं महत्थं' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्यग्रकर्मसन्दोहनिवारणं महत्प्रयो-

---

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्नचित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमें अनुरक्त करता है। तथा वह तृष्णाको बढ़ाता है। अत्यन्त गृद्धिको–लम्पटताको उत्पन्न करता है। उसमें तृप्ति नहीं है। अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

---

१. त्यागसुखमा–अ० ।

गजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्य निर्दिशत्युत्तरगाथा—

गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
वइ पीयिसुह ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥

को' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थ.। 'सोदीभूदो' शीतीभूत.। 'पसण्णचित्तो य' पावदि पीदिसुह' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मक सुख। 'न चक्कवट्टी वि त लभदि' चक्रवर्त्यपि
।

: स्वल्पताया कारणमाचष्टे—

विवागसतण्णादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥११७७॥

महाइगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुह। रागो विपाक फलमस्येति रागविपाकरूप विषय- त विषयेष्वपि रागो विपाक फल सुखस्येत्युच्यते। सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्ण, ना जनयति इति अतिगृद्धि। न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्यतृप्ति। यदेवभूत चक्रवर्तिसुख ' नि सगस्य यन्निर्वृतिसुखं तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

र्हिमादीना अन्वर्था इति दर्शयति—

ति ज महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
महल्लाइ सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

हत्थ' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजन असंयमनिमित्तप्रत्ययकर्मबन्धकनिवारण महत्प्रयो-

---

कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममे प्राप्त होता है—

वाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् प्रकारकी चिन्ताओसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्न- जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नही

सुख कम क्यो है इसका कारण कहते है—

र्तीके सुखका फल राग है क्योकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमे तथा वह तृष्णाको बढाता है। अत्यन्त गृद्धिको–लम्पटताको उत्पन्न करता

'तम्हा' तस्मात् । 'सव्वं संगं' सर्वपरिग्रहान् । 'अणागदं' अनागतान् । 'वट्टमाणगे तीदे' वर्तमानानतीतांश्च 'तं' भवान् । 'सव्वत्थ णिवारेहि' सर्वथा निवारय । करणकारावणाणुमोदेहिं' कृतकारितास्माभिरनुमोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारणं येन निवार्यते ? अयमभिप्रायः अतीतस्वस्वामिसम्बन्धेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरणं अनुरागं वा । एवं भविष्यति इत्थंभूतं मम द्रविणं इति ॥११७३॥

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावंति केइ संगा' यावन्तः केचन परिग्रहाः । 'विराधगा' विनाशकाः । कस्य ? रत्नत्रयस्य । 'तिविधकालसंभूदा' कालत्रयप्रवृत्ताः । 'तेहिं तिविधेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरतः सन् 'विमुत्तसंगो' विमुक्तसङ्गः । 'जह सरीरं' त्यज शरीरं ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ।
आसं तण्हं संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एवं कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीयः । यत्कर्तव्यमाराधनां वाञ्छता आहारशरीरत्यागादिकं स एवंभूतः । 'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सव्वत्थ' सर्वविषयां सुखसाधनगोचरां । 'आसं' आशां । 'तण्हं' तृष्णां । 'संगं' परिग्रहभूतां । 'छिंद ममत्ति' ममेदमिति संकल्पं छिन्धि । 'मुच्छं' मोहमिति यावत् ॥११७५॥

गा०-टी०—यतः परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक! तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोंको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे है जिससे उसका त्याग कराते हो?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोंमें बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण या अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेसे भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अतः हे क्षपक! तीनों कालोंका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोड़कर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक! तीन कालोंके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, संग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हों इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य हैं मैं इनका भोक्ता हूँ ऐसा संकल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यं निदिशत्युत्तरगाथा—

सव्वग्गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥

'सव्वगंथविमुक्को' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थः । 'सीदीभूदो' शीतीभूतः । 'पसण्णचित्तो य' प्रसन्नचित्तः सन् । 'जं पावदि पीदिसुहं' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । 'ण चक्कवट्टी वि तं लभदि' चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥११७७॥

रागविवागसतण्हाइगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुह । रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकरूपं विषयसुखमाभिष्वमानं रञ्जयति विषयेष्विति रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, अतिशयेन गृद्धिं काङ्क्षां जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्निन्त्यतृप्ति । यदेवमुक्तं चक्रवर्तिसुखं 'णिस्संगणिव्वुदिसुहस्स' निःसंगस्य यन्निर्वृतिसुखं 'तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीनां अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहव्वय ।

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

'साधेंति जं महत्थं' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्ययकर्मसन्दोहकनिवारणं महत्प्रयो-

---

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्नचित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमें अनुरक्त करता है। तथा वह तृष्णाको बढ़ाता है। अत्यन्त गृद्धिको—लम्पटताको उत्पन्न करता है। उसमें तृप्ति नहीं है। अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

---

१. त्यासम्भा–अ० ।

'तम्हा' तस्मात् । 'सव्वे संगे' सर्वान्परिग्रहान् । 'अणागदे' अनागतान् । 'वट्टमाणगे तीदे' वर्तमाना-नतीताश्च 'त' भवान् । 'सव्वत्थ णिवारेहि' सर्वथा निवारय । कदकारिदाणुमोदणाहिं' कृतकारिताभ्यामनु-मोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारण येन निवार्यते ? अयमभिप्रायः अतीतवस्तुनामममत्वेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरणं अनुराग वा । एवं भविष्यति इत्थंभूतं मम द्रविणं इति ॥११७३॥

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावंति केइ संगा' यावन्त केचन परिग्रहा । 'विराधगा' विनाशकाः । कस्य ? रत्नत्रयस्य । 'तिविध-कालसंभूदा' कालत्रयप्रवृत्ता । 'तेहिं तिविधेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरतः सन् 'विमुत्तसंगो' विमुक्तसङ्गः । 'जह सरीरं' त्यज शरीरं ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ।
आसं तण्ह संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एवं कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना वाञ्छता आहारशरीरत्यागादिकं स एवंभूतः । 'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सव्वत्थ' सर्वविषया सुखसाधनगोचरां । 'आसं' आशां । 'तण्हं' तृष्णां । 'संगं' परिग्रहभूतां । 'छिंद ममत्तिं' ममेदमिति सकल्पं छिंद्धि । 'मुच्छं' मोहमिति यावत् ॥११७५॥

गा०-टी०—यतः परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोंको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे हैं जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोंसे बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण या अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेसे भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अतः हे क्षपक ! तीनों कालोंका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोड़कर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोंके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, संग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हों इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य हैं मैं इनका भोक्ता हूँ ऐसा सकल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्य निर्दिशत्युत्तरगाथा—

सव्वगंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥

'सव्वगंथविमुक्को' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थ । 'सीदीभूदो' शीतीभूत । 'पसण्णचित्तो य' प्रसन्नचित्त सन् । 'जं पावदि पीदिसुहं' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मक सुख । 'न चक्कवट्टी वि तं लभदि' चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥११७७॥

रागविवागसतण्हाइगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुह । रागो विपाक फलमस्येति रागविपाकरूप विषयसुखमासेव्यमानं रञ्जयति विषयेष्विति रागो विपाक फल सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्ण, अतिशयेन गृद्धि काङ्क्षा जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्यतृप्ति । यदेवभूत चक्रवर्तिसुख 'णिस्संगणिव्वुदिसुहस्स' नि सगस्य यन्निर्वृतिसुख 'तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीना अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहव्वय ।

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइ सय महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

'साधेंति जं महत्थ' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजन असंयमनिमित्तप्रत्ययकर्मकदम्बकनिवारण महत्प्रयो-

---

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्नचित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमें अनुरक्त करता है। तथा वह तृष्णाको बढ़ाता है। अत्यन्त गृद्धिको—लम्पटताको उत्पन्न करता है। उसमें तृप्ति नहीं है। अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

---

१. त्यागस्यमा-अ० ।

गुप्तिसमितयः प्रवचनमातृकाः । 'रयणत्तयं प्रवयणं तस्स मादर इमा' । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपाय-परिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यन्तेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः किमविनष्ट एवावतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादितत्त्व-परिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा तत् किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः । किं पुन परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्ति-परिणामवत आत्मनः शरीरस्य चाभ्यर्थ्येक्यात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रतं । भाविव्रतपर्यायज्ञानपरिणतिरागमद्रव्यव्रतं । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वाऽवस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भावः आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है। रत्नत्रयरूप प्रवचनको ये माताके समान हैं। जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है? वैसा ही बना रहता तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता। यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है। तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है। जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते। तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं। किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है। आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है। भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है। व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है। उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है। 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

जन गणधरादिभीरिति [illegible]। 'महान्तिरु च सं [illegible]' [illegible] इति निर्दिष्ट। 'जं च' [illegible] [illegible] तया वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रतानां। 'रक्खट्ठं' रक्षार्थं। 'रादिभोयणणियत्ती' रात्रिभोजननिवृत्ति। रात्रौ यदि भिक्षाय पर्यटेत् [illegible]। [illegible] तस्माद्यानस्थानदेशं आगमनं वा [illegible] वा [illegible] कथं समर्थः? दिवापि दुःपरिहारान् [illegible] कथं परिहरेत्। 'कडुच्छुगं करं वा' [illegible] भाजनं वा कथं शोधयति। पदविभागिका वा [illegible] कुर्वन् कथमिव सत्यव्रतमवतिष्ठते? [illegible] स्यात्। [illegible] स्थापितं, आत्मनाले भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात्। रात्रिभोजनाद् [illegible] सम्पूर्णानि। 'अट्ठप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाः [illegible]।

प्रयोजनको साधते हैं इसलिए महाव्रत हैं। यत महान् पुरुषोंके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत हैं। और यत ये स्वयं महान् हैं—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिका इससे त्याग होता है अतः इन्हें महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरनिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप हैं। नोआगमभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन नहीं करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत हैं ॥११७८॥

गा०—टी०—उन्हीं अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है। यदि मुनि रात्रिमें भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोंका घात करता है क्योंकि रात्रिमें उनको देख सकना कठिन है। देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नहीं, ये सब वह कैसे देख सकता है? दिनमें भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोंका परिहार रात्रिमें कैसे कर सकता है। करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे बिना कैसे शोधन कर सकता है। इन सबकी सम्यक्रूपसे परीक्षा किये बिना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा। किसी भाजनमें दिनमें लाकर रखे और रात्रिमें भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा। किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं। पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

१. श्रुतेन अ० आ०।

गुप्तयश्च प्रवचनमातृका । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमा । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यन्तेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूतात्मपरिणाम उत्पन्नः कथंचित्तथैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादितत्त्वपरिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा ततः किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य बन्धं प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रतं । भाविव्रतत्वग्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रतं । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं । उपशमे *क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो* भण्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है । रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं । जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं । तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं । वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं ।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूंगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसा ही बना रहना तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता । यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है । तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है । जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते । अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं । किसीका नाम होना नामव्रत है । आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदि निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है । भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य है । व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षय क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है । उपशम अथवा क्षयोपशम *परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है । 'मैं हिंसा नहीं करता'* इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाले

गुप्तयश्च प्रवचनमातृका.। रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः। क उपमार्थः? यथा माता पुत्राणां अपाय-परिहारोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति। 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः। वीर्यान्त-रायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यन्तेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना। अथ किमिदं व्रत नाम? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे। इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः कथंचिदेवं अवतिष्ठते उत विनश्यति वा? अवस्थानमनुभवविरुद्धं। जीवादितत्त्व-परिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थंभूतोपयोगाभावात्। अथ विनश्यति? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा? असतो व्रतपरिणामस्य रक्षा ततः किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति। यदा न हिनस्मीत्यु-पयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः। किं पुनः परिणामान्तरं वाच्यम्। अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि। तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा। हिंसादिनिवृत्ति-परिणामवत आत्मनः शरीरस्य बन्धं प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाव्रतं। भाविव्रतस्यग्राहिज्ञानपरिणतात्मा आगमद्रव्यव्रतं। व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं। चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं। उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं। न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति। नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है। रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं। जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है? वैसा ही बना रहना तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता। यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है। तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है। जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते। तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं। किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है। आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है। भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है। व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है। उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है। 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः। रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः। क उपमार्थः? यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति। 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यतेऽसकृत्प्रवर्त्यते इति भावना। अथ किमिदं व्रत नाम? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे। इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः कथंचित्तथैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा? अवस्थानमनुभवविरुद्धं। जीवादितत्त्वपरिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात्। अथ विनश्यति? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा ततः किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति। यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः। किं पुनः परिणामान्तरे वाच्यम्। अत्रोच्यते---

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि। तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा। हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य बन्धं प्रत्येकत्वात् आकारे सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रतं। भाविव्रतत्वग्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रतं। व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं। चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं। उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं। न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति। नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है। रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं। जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूंगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है? वैसा ही बना रहता तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता। यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है। तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है। जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते। तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं। किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है। आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है। भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है। व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है। उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है। 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

साधयन्तीति महाव्रतानि । 'आचरिदाइ च जं महल्लेहिं' यस्मादाचरितानि म
निरुक्ति । 'जं च' यस्मात् 'महल्लाणि' स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्म
वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रतानां । 'रक्खट्ठं' रक्षणार्थं । 'रादिभोयण
नान्निवृत्ति । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावरांश्च हन्याद्दुरालोकत्वात् । न
तस्यान्नागमनदेशं, आत्मना वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमान वाहारं योग्यं न वे
कथं समर्थः ? दिवापि दुःपरिहारान् जानाति रसजसूक्ष्मानेव कथं परिहरेत् । 'कडुच्छुगं करं
भाजनं वा कथं शोधयति । पदविभागिका वा तपणागमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषया
सत्यव्रतमत्र तिष्ठते ? गुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽदत्तादानं स्यात् । क्वचि
स्थापितं, आत्मवारे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात् । रात्रिभोजनात्तु व्यावृत्ते सकलानि
सम्पूर्णानि । 'अट्ठप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्व्रतपरिपालनायां । एवं पञ्च

प्रयोजनको साधते हैं इसलिए महाव्रत है । यतः महान् पुरुषोंके द्वारा इनका आचरण
है इसलिए महाव्रत है । और यतः ये स्वयं महान् हैं—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंस
इससे त्याग होता है अतः इन्हें महाव्रत कहते है ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप हैं
सम्भाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि नि
परिणाम—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, असत्य नहीं बोलूंगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रह
करूँगा, मैथुन नहीं करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत है ॥११७८॥

गा०-टी०—उन्हीं अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा
यदि मुनि रात्रिमें भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोंका घात कर
क्योंकि रात्रिमें उनको देख सकना कठिन है । देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रस
स्थान अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा न
ये सब वह कैसे देख सकता है ? दिनमें भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जी
का परिहार रात्रिमें कैसे कर सकता है । करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको
बिना कैसे शोधन कर सकता है । इन सबकी सम्यक्रूपसे परीक्षा किये बिना पदविभागी अथ
ऐसा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोय
हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—बिना
दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायगा । किसी भाजनमें दिनमें लाकर रखे और रात्रिमें भोजन करे
तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा । किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं ।
आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक है । पाँच समितियाँ और तीन

१. गुप्तेन आ० मु० ।

गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपाय-परिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्त-रायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यन्तेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मैथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवमुप-जातपरिणाम उत्पन्नः सर्वकालमेव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादितत्त्व-परिज्ञाने तच्छ्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थम्भूतोपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपरिनाशो रक्षा तत्र किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्यु-पयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरं वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिनिक्षेपेण चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं व्रतमित्येवंशब्दमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्ति-परिणामवत आत्मनः शरीरस्य चास्य प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाव्रतं । चारित्रस्वरूपाभिज्ञानपरिणतिरनागता आगमद्रव्यव्रतं । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भवत्यागमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है। रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं। जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्मा-के द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूंगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है? वैसा ही बना रहना तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता। यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है। तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है। जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते। तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं। किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है। आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है। भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है। व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है। उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है। 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

सम्पादयन्तीति महाव्रतानि । 'आयरिदाइ च जं महल्लेहिं' यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि निरुक्ति । 'जं च' यस्मात् 'महल्लाणि' स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदमावद्धिंसादिविरम-वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रतानां । 'रक्खट्ठं' रक्षार्थं । 'रादिभोयणणियत्ती' रात्रिभोज-नवृत्ति । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावरांश्च हन्यात्दुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, अन्नावस्थानदेशं, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानं वाहारं योग्य न वेति विकल्पयितुमयं समर्थः ? दिवापि दुःपरिहारान् जानाति रसमूर्च्छानाय कथं परिहरेत् । 'कडुच्छुगं करं वा' दायिकाया-जन वा कथं शोधयति । पदविभागिका वा एषणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषया कुर्वतः कथमिव । व्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽदत्तादानं स्यात् । क्वचिद्भाजने स्थितं, आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात् । रात्रिभोजनात् व्यावृत्ते सकलानि व्रतान्यवतिष्ठन्ते पूर्णानि । 'अट्ठप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्व्रतपरिपालनायां । एवं पञ्च समितयः तिस्रो

भोजनको साधते है, इसलिए महाव्रत है । यत. महान् पुरुषोके द्वारा इनका आचरण किया जाता इसलिए महाव्रत हैं । और यत ये स्वयं महान् हैं—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिका से त्याग होता है अत. इन्हे महाव्रत कहते है ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप हैं । नोआ-नभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप रिणाम—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नही करूँगा, असत्य नही बोलूगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नही रूंगा, मैथुन नही करूंगा और न परिग्रह स्वीकार करूंगा, महाव्रत हैं ॥११७८॥

गा०-टी०—उन्ही अहिंसा आदि व्रतोकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है । दि मुनि रात्रिमे भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोका घात करता है योकि रात्रिमे उनको देख सकना कठिन है । देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका यान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नही, मत्र वह कैसे देख सकता है ? दिनमे भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवों-ा परिहार रात्रिमे कैसे कर सकता है । करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे वना कैसे शोधन कर सकता है । इन सबकी सम्यक्रूपसे परीक्षा किये विना पदविभागी अथवा षणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोया आ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—विना ी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा । किसी भाजनमे दिनमे लाकर रखे और रात्रिमे भोजन करे ी अपरिग्रहव्रतका लोप होगा । किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं ।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं । पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

---

१. श्रुतेन अ० आ० ।

गुप्तयश्च प्रवचनमातृका. । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपाय-परिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यन्तेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिंसिष्यामि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मैथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः किमवतिष्ठत एव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादितत्त्वपरिज्ञाने तच्छ्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य हिंसाद्युपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो हि अपरिहारो रक्षा तत् किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद् व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य वर्ण्य प्रत्येकत्वात् आकार सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाव्रतं । व्रतप्राभृतज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रतं । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वा परिणत चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो व्रतं आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है । रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं । जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं । तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं । वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं ।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसा ही बना रहता तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता । यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है । तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है । जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते । तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं । किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है । आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है । भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है । व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है । उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है । 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

जनं गम्यादयन्तीति महाव्रतानि । 'आयरिवाइं च जं महल्लेहिं' यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निरुक्तिः । 'जं च' यस्मात् 'महल्लाणि' स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलहिंसादिविरूपतया वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रतानां । 'रक्खट्ठं' रक्षणार्थं । 'रादिभोयणणियत्ती' रात्रिभोजनान्निवृत्तिः । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावरांश्च हन्याद्दुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, अन्नस्यावस्थानदेशं, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानमाहारं योग्यं न वेति विरूपयितुमयं कथं समर्थः ? दिवापि दुर्परिहारान् जानाति रससूक्ष्मानयं कथं परिहरेत् । 'कडुच्छुगं करं वा' दायिकाया भाजनं वा कथं शोधयति । पदविभागिका वा एषणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषया कुर्वतः कथमिव सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽदत्तादानं स्यात् । क्वचिद्भाजने स्थितं स्थापितं आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात् । रात्रिभोजनात्तु व्यावृत्ते सकलानि व्रतान्यवतिष्ठन्ते सम्पूर्णानि । 'अट्ठप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्व्रतपरिपालनाय । एवं पञ्च समितयः तिस्रो

प्रयोजनको साधते हैं इसलिए महाव्रत है । यतः महान् पुरुषोके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत है । और यतः ये स्वयं महान् है—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिका इसमे त्याग होता है अतः इन्हे महाव्रत कहते है ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप हैं । नोआगमभाव प्रकर्ष अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नही करूंगा, असत्य नही बोलूगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नही करूंगा, मैथुन नही करूंगा और न परिग्रह स्वीकार करूंगा, महाव्रत हैं ॥११७८॥

गा०–टी०—उन्ही अहिंसा आदि व्रतोकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है। यदि मुनि रात्रिमे भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोका घात करता है क्योंकि रात्रिमे उनका देख सकना कठिन है। देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नही, ये सब वह कैसे देख सकता है ? दिनमे भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोका परिहार रात्रिमे कैसे कर सकता है। करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे विना कैसे शोधन कर सकता है। इन सबकी सम्यक्रूपसे परीक्षा किये विना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—विना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलाएगा। किसी भाजनमे दिनमे लाकर रखे और रात्रिमे भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा। किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते है।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक है। पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

---

१. मुद्रित प्र० आ० ।

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्य निर्दिशत्युत्तरगाथा—

सव्वगंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ।।११७६।।

'सव्वगंथविमुक्को' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थ । 'सीदीभूदो' शीतीभूत. । 'पसण्णचित्तो य' प्रसन्नचित्त सन् । 'जं पावदि पीयिसुहं' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मक सुख । 'न चक्कवट्टी वि त लभदि' चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ।।११७६।।

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ।।११७७।।

रागविवागसतण्हाइगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं । रागो विपाक फलमस्येति रागविपाकरूप विषय-सुखमासेव्यमानं रञ्जयति विषयेष्विति रागो विपाक फल सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्ण, अतिशयेन गृद्धि काङ्क्षां जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्यतृप्ति । यदेवभूत चक्रवर्तिसुख 'णिस्संगणिव्वुदिसुहस्स' नि संगस्य यन्निर्वृतिसुख तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ।।११७७।।

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीना अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहत्त्वर्थ ।

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ।।११७८।।

'साधेंति ज महत्थ' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजन असयमनिमित्तप्रत्यग्रकर्मसमूहनिवारण महाप्रयो-

---

आगे कहते है कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्न-चित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ।।११७६।।

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमें अनुरक्त करता है । तथा वह तृष्णाको बढ़ाता है । अत्यन्त गृद्धिको—लम्पटताको उत्पन्न करता है । उसमें तृप्ति नहीं है । अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है ।।११७७।।

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

---

१ स्पष्टव्यया-अ० ।

'तम्हा' तस्मात् । 'सव्वे संगे' सर्वान्परिग्रहान् । 'अणागदे' अनागतान् । 'वट्टमाणगे तीदे' वर्तमानानतीताश्च 'त' भवान् । 'सव्वत्थ णिवारेहि' सर्वथा निवारय । करणकारावणाणुण्णाहिं' कृतकारिताभ्यामनुमोदनेन । कथ अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारणं येन निवार्यते ? अयमभिप्राय' अतीतेऽप्यतीतसम्बन्धेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा भूत्तस्मात्तदनुस्मरण अनुराग वा । एवं भविष्यति इत्थंभूतं मम द्रविणं इति ॥११७३॥

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावंति केइ संगा' यावन्त केचन परिग्रहा । 'विराधगा' विनाशका । कस्य ? रत्नत्रयस्य । 'तिविधकालसंभूदा' कालत्रयप्रवृत्ता । 'तेहि तिविधेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरत सन् 'विमुत्तसगो' विमुक्तसङ्ग । 'जह सरीरं' त्यज शरीर ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ।
आसं तण्ह संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एव कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना वाञ्छता आहारशरीरत्यागादिक स एवंभूतः । 'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सव्वत्थ' सर्वविषया सुखसाधनगोचरा । 'आसं' आशा । 'तण्हं' तृष्णा । 'संगं' परिग्रहभूता । 'छिंद ममत्ति' ममेदमिति सकल्प छिंद्धि । 'मुच्छं' मोहमिति यावत् ॥११७५॥

गा०-टी०—यत परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक. तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे है जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोंसे बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण वा अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेसे भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अत हे क्षपक! तीनो कालोका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोडकर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक! तीन कालोंके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, संग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हों इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य है मैं इनका भोक्ता हूं ऐसा सकल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्य निरूपयत्युत्तरगाथा—

सव्वग्गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥

'सव्वगंथविमुक्को' परित्यक्तसकलबाह्याभ्यन्तरग्रन्थः । 'सीदीभूदो' शीतीभूतः । 'पसण्णचित्तो य' प्रसन्नचित्तश्च सन् । 'जं पावदि पीदिसुहं' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । 'न चक्कवट्टी वि तं लभदि' चक्रवर्त्यपि न लभते ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥११७७॥

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं । रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकरूप विषयनिष्ठमात्रं स्पृशति विषयेष्वपि रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, येन गृद्धिं भृशं जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्यतृप्ति । यदेवंभूतं चक्रवर्तिसुखं 'णिस्संगणिव्वुदिसुहस्स' निःसंगस्य यन्निर्वृतिसुखं तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीनां अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहाव्रत ।

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

'साधेंति जं महत्थं' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्यग्रकर्मसम्वरनिवारण महाप्रयो-

---

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्न-चित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमें राग उत्पन्न करता है। तथा वह तृष्णाको बढ़ाता है। अत्यन्त गृद्धिको—लम्पटताको उत्पन्न करता है। उसमें तृप्ति नहीं है। अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

---

१. त्यागकृभा–अ० ।

'तम्हा' तस्मात् । 'सव्वे संगे' सर्वान्परिग्रहान् । 'अणागदे' अनागतान् । 'वट्टमाणे तीदे' वर्तमाना-नतीतांश्च 'त' भवान् । 'सव्वत्थ विवारेहि' सर्वथा निवारय । कदकारिदाणुमोदेहि' कृतकारितानु-मोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारणं येन निवार्यते ? अत्राभिप्राय अतीतस्वस्वामिसम्बन्धेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति । मा कृथास्तदनुस्मरणं अनुरागं वा । एवं भविष्यति इत्थंभूतं मम द्रविणं इति ॥११७३॥

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावंति केइ संगा' यावन्त केचन परिग्रहा । 'विराधया' विनाशका । कस्य ? रत्नत्रयस्य । 'तिविध-कालसंभूदा' कालत्रयप्रवृत्ता । 'तेहिं तिविधेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरत सन् 'विमुत्तसगो' विमुक्तसङ्ग । 'जह सरीरं' त्यज शरीर ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेय सव्वत्थ ।
आसं तण्हं संगं छिंद ममत्ति च मुच्छं च ॥११७५॥

'एव कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना वाञ्छता आहारशरीरत्यागादिकं स एवंभूत' । 'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सव्वत्थ' सर्वविषया गुणसाधनगोचरा । 'आसं' आशा । 'तण्हं' तृष्णा । 'संगं' परिग्रहभूता । 'छिंद ममत्ति' ममेदमिति सकल्पं छिन्धि । 'मुच्छं' मोहमिति यावत् ॥११७५॥

गा०-टी०—यत. परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक: तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोंको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे हैं जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोंसे बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण या अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेसे भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अत. हे क्षपक ! तीनों कालोंका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोड़कर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोंके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, संग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हों इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य हैं मैं इनका भोक्ता हूँ ऐसा संकल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्य निर्दिशत्युत्तरगाथा—

सव्वग्गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥

'सव्वगंथविमुक्को' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थः । 'सीदीभूदो' शीतीभूतः । 'पसण्णचित्तो य' प्रसन्नचित्तः सन् । 'जं पावदि पीदिसुहं' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । 'ण चक्कवट्टी वि तं लभदि' चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥११७७॥

रागविवागसतण्हाइगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं । रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकरूपं विषयसुखमासेव्यमानं रञ्जयति विषयेष्विति रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, अतिशयेन गृद्धिं काङ्क्षां जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्यतृप्ति । यदेवंभूतं चक्रवर्तिसुखं 'णिस्संगणिव्वुदिसुहस्स' निःसंगस्य यन्निर्वृतिसुखं 'तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीनां अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहव्वयं ।

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

'साधेंति जं महत्थं' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तस्याभिनवकर्मसमूहस्य निवारणं महत्प्रयो-

---

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागमें अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्नचित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमें अनुरक्त करता है। तथा वह तृष्णाको बढ़ाता है। अत्यन्त गृद्धिको—लम्पटताको उत्पन्न करता है। उससे तृप्ति नहीं है। अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

---

१. त्यागरूपमा-अ० ।

'तम्हा' तस्मात् । 'सव्वे संगे' सर्वान्परिग्रहान् । 'अणागदे' अनागतान् । 'वट्टमाणगे तीदे' वर्तमाना-नतीतादच 'त' भवान् । 'सव्वत्थ णिवारेहि' सर्वथा निवारय । करणकारावणाणुण्णाहिं' कृतकारिताभ्यामनु-मोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारणं येन निवार्यते ? अयमभिप्रायः अतीतम्वस्वामिसम्बन्धेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरणं अनुरागं वा । एवं भविष्यति इत्यभूतं मम द्रविणं इति ॥११७३॥

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावंति केइ संगा' यावन्तः केचन परिग्रहाः । 'विराधगा' विनाशकाः । कस्य ? रत्नत्रयस्य । 'तिविध-कालसंभूदा' कालत्रयप्रवृत्ताः । 'तेहिं तिविधेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरतः सन् 'विमुत्तसंगो' विमुक्तसङ्गः । 'जह सरीरं' त्यज शरीरं ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ।
आसं तण्हं संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एवं कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीयः । यत्कर्तव्यमाराधना वाञ्छता आहारशरीरत्यागादिकं स एवंभूतः । 'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सव्वत्थ' सर्वविषया सुखसाधनगोचरा । 'आसं' आशा । 'तण्हं' तृष्णा । 'संगं' परिग्रहमूला । 'छिंद ममत्तिं' ममेदमिति सङ्कल्पं छिन्धि । 'मुच्छं' मोहमिति यावत् ॥११७५॥

गा०-टी०—यतः परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक, तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोंको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे हैं जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोंसे बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण या अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेसे भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अतः हे क्षपक ! तीनों कालोंका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोड़कर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोंके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, संग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हों इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य हैं मैं इनका भोक्ता हूँ ऐसा सङ्कल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्छा है ॥११७५॥

गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपाय-परिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यन्तेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः सर्वकालमेव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादितत्त्वपरिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा तत् किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद् व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य चान्योन्यबन्धात् आकारे सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रतं । भाविव्रतज्ञस्वविषयविज्ञानपरिणतिरहित आत्मा आगमद्रव्यव्रतं । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो व्रतज्ञस्य आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है। रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं। जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसा ही बना रहता तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता। यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है। तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है। जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते। तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं। किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है। आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है। भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है। व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है। उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है। 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

अतं महाव्रतानीति [illegible]। 'आचरिदाइं च जं महल्लेहिं' [illegible] इति निरुक्तं। 'जं च' यस्मात् 'महल्लाणि' [illegible] महान्ति वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रतानां। 'रक्खट्ठं' रक्षणार्थं। 'रादिभोयणणियत्ती' रात्रिभोजनान्निवृत्ति। रात्रौ यदि भिक्षाय पर्यटति [illegible] त्रसान् स्थावरांश्च हिनस्ति। [illegible], तदाहारस्थानदेश, आगमनं वा उच्छिष्टस्य वा निपातनं [illegible] कथं समर्थः? दिवापि दुःपरिहारान् जानाति स्वसूक्ष्मान् [illegible]। 'कडुच्छुगं करं वा' [illegible] भाजनं वा कथं शोधयति। पदविभागिकां वा एषणासमितिं [illegible] कथमिव तिष्ठते? सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तस्याहारस्य ग्रहणादस्तादानं स्यात्। [illegible] स्थापितं, आत्मना भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात्। रात्रिभोजनात् [illegible] सम्पूर्णानि। 'अट्ठप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाः [illegible]। [illegible]

प्रयोजनको साधते है इसलिए महाव्रत है। यत महान् पुरुषोंके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत हैं। और यत ये स्वयं महान् हैं—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिसे इससे त्याग होता है अतः इन्हें महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध निरूप है। भोआगमभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन नहीं करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत हैं ॥११७८॥

गा०–टी०—उन्हीं अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है। यदि मुनि रात्रिमें भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोंका घात करता है क्योंकि रात्रिमें उनका देख सकना कठिन है। देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नहीं, ये सब वह कैसे देख सकता है? दिनमें भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोंका परिहार रात्रिमें कैसे कर सकता है। करछुल, अथवा देनेवालेका हाथ अथवा पात्रको देखे विना कैसे शोधन कर सकता है। इन सबकी सम्यक्रूपसे परीक्षा किये विना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—विना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा। किसी भाजनमें दिनमें लाकर रखे और रात्रिमें भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा। किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं। पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

---

१. श्रुतेन अ० आ०।

गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपाय-परिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्त-रायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षिणात्मना भाव्यन्तेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना । अथ किमिदं व्रत नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मैथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः सर्वकालमेव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादितत्त्व-परिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्यमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा तत् किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्यु-पयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्ति-परिणामवत आत्मनः शरीरस्य च बन्धं प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रतं । भाविव्रतग्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रतं । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वा व्यवस्थित. चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्त कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो व्रतमित्यागमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है। रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं। जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्मा-के द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसा ही बना रहता तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता। यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है। तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है। जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते। तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं। किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है। आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है। भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है। व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है। उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है। 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम

जनं सम्पादयन्तीति महाव्रतानि। 'आयरिवाइ च जं महल्लेहिं' यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निरुक्तिः। 'जं च' यस्मात् 'महल्लाणि' स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलहिंसादिविरतितया वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रतानां। 'रक्खट्ठं' रक्षणार्थं। 'रादिभोयणणियत्ती' रात्रिभोजनान्निवृत्तिः। रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावरांश्च हन्यात् दुरालोकत्वात्। न च दायकागमनमार्गं तस्यान्नादेस्थानदेशं, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानं वाहारं योग्यं न वेति निरूपयितुं कथं समर्थः? दिवापि दुःपरिहारान् जानाति स्थूलसूक्ष्मानपि कथं परिहरेत्। 'कडुच्छुगं करं वा' दायिकायाः भाजनं वा कथं शोधयति। पदविभागिका वा एषणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषया कुर्वतः कथमिव सत्यव्रतमवतिष्ठते? सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽदत्तादानं स्यात्। क्वचिद्भाजने दिवा स्थापितं, आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात्। रात्रिभोजनात् व्यावृत्ते सकलानि व्रतान्यवतिष्ठन्ते सम्पूर्णानि। 'अट्ठप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्व्रतपरिपालनायां। एवं पञ्च समितयः तिस्रः

प्रयोजनको साधते हैं इसलिए महाव्रत है। यत. महान् पुरुषोंके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत हैं। और यत ये स्वयं महान् है—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिका इससे त्याग होता है अत इन्हे महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप हैं। नोआगमभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नही करूँगा, असत्य नही बोलूगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन नहीं करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत हैं ॥११७८॥

गा०—टी०—उन्ही अहिंसा आदि व्रतोकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है। यदि मुनि रात्रिमे भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोका घात करता है क्योंकि रात्रिमे उनको देख सकना कठिन है। देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नहीं, ये सब वह कैसे देख सकता है? दिनमे भी जिनका परिहार कठिन है उन स्थूल अतिसूक्ष्म जीवोंका परिहार रात्रिमे कैसे कर सकता है। करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे बिना कैसे शोधन कर सकता है। इन सबकी सम्यक्रूपसे परीक्षा किये बिना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायगा। किसी भाजनमे दिनमे लाकर रखे और रात्रिमे भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा। किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं।

आठ प्रवचन माता महाव्रतोकी रक्षक हैं। पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

---

१ धुतेन अ० आ०।

गुप्तयश्च प्रवचनमातृका. । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमा. । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणा अपाय-परिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वा । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यतेऽसकृत्प्रवर्त्यते इति भावना । अथ किमिद व्रत नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः कथंचित्तथैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्ध । जीवादितत्त्व-परिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्यमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा तत किमुच्यते व्रताना रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्यु-पयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादय सन्ति परिणामा । कि पुन परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रत कस्यचिद्व्रतमिति कृता सज्ञा । हिंसादिनिवृत्ति-परिणामवत आत्मन. शरीरस्य बन्ध प्रत्येकत्वात् आकार सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रत । भाविव्रतत्वग्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रत । व्रतज्ञस्य शरीर त्रिकालगोचर, ज्ञायकशरीरं व्रत । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामा स भाविव्रत । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थित. चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्त कर्म व्रत । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रत नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है । रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं। जैसे माता पुत्रोकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोकी रक्षा करती हैं। तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्मा-के द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा [illegible]
नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, [illegible]
क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट [illegible]
क्योंकि जीवादि तत्त्वोको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमे प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता। यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है। तब यह कैसे कहा कि व्रतोकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है। जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते। तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं। किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है। आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अत हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है। भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है। व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है। उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है। 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

जनं सम्पादयन्तीति महाव्रतानि । 'आयरिदाइं च जं महल्लेहिं' महद्भिराचरितानि [illegible] इति निरुक्तिः । 'जं च' यस्मात् 'महल्लाणि' स्वयं महान्ति तानि महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलहिंसादिविरतितया वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रतानां । 'रक्खट्ठं' रक्षार्थं । 'रादिभोयणणियत्ती' रात्रिभोजनान्निवृत्तिः । रात्रौ यदि भिक्षाय पर्यटति त्रसान्स्थावरांश्च हन्यादहरशनोऽहं [illegible] । न च दातुरागमनमार्गं, तस्यान्नावस्थानदेशं, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं दीयमानमाहारं योग्यं न वेति निरूपयितुं कथं समर्थः ? दिवापि दुर्परिहारान् जानाति स्वसूक्ष्मान् कथं परिहरेत् । 'कडुच्छुगं करं वा' दायिकायाः भाजनं वा कथं शोधयति । पदविभागिका वा एषणासमित्यालोचनां सम्यगकुर्वतः कथमिव सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽदत्तादानं स्यात् । क्वचिद्भाजने दिवा स्थापितं, आत्मवागे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात् । रात्रिभोजनात् व्यावृत्ते सर्वाणि व्रतान्यवतिष्ठन्ते सम्पूर्णानि । 'अट्ठप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातरश्च महाव्रतपरिपालनायां । तत्र पञ्च समितयः तिस्रो

प्रयोजनको साधते हैं, इसलिए महाव्रत हैं। यत महान् पुरुषोंके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत है। और यत ये स्वयं महान् हैं—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिका इससे त्याग होता है अत इन्हे महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप हैं। नोआगमभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नही करूँगा, असत्य नही बोलूँगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नही करूँगा, मैथुन नही करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत हैं ॥११७८॥

गा०—टी०—उन्ही अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है। यदि मुनि रात्रिमे भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोंका घात करता है क्योंकि रात्रिमे उनको देख सकना कठिन है। देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नही, ये सब वह कैसे देख सकता है ? दिनमे भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोंका परिहार रात्रिमे कैसे कर सकता है। करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे विना कैसे शोधन कर सकता है। इन सबकी सम्यक्‌रूपसे परीक्षा किये विना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा। किसी भाजनमे दिनमे लाकर रखे और रात्रिमे भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा। किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं। पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

---

१. श्रुतेन अ० आ० ।

गुप्तयश्च प्रवचनमातृका.। रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः। क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति। 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यतेऽभ्यस्यते इति भावना। अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे। इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः किमविनष्टस्तिष्ठत्येवं उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्धं। जीवादितत्त्वपरिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात्। अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा ततः किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति। यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः। किं पुनः परिणामान्तरे वाच्यम्। अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि। तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता सज्ञा। हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य बन्धं प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाव्रतं। भाविव्रतस्वरूपाहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रतं। व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं। चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं। उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं। न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति। नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है। रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं। जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं। वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं वारवार की जाती हैं वे भावना हैं।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा [illegible]
नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, [illegible]
क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट [illegible]
क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता। यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसकी विनाशसे बचाना रक्षा है। तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है। जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते। तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं। किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है। आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है। भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है। व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है। उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है। 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है। चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे [illegible]